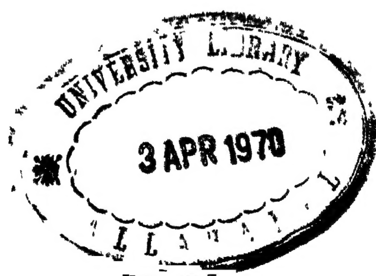
आधुनिक हिन्दी कविता में ध्वनि

आधुनिक हिन्दी-कविता में ध्वनि

डॉ० कृष्णलाल शर्मा





ग्रन्थम

रामबाग, कानपुर

ग्रन्थम, कानपुर

मूल्य : पन्द्रह रुपये

● प्रकाशक :
ग्रन्थम
रामबाग, कानपुर
● प्रकाशन तिथि :
नवम्बर, १९६४
● मुद्रक :
इरा प्रेस, लखनऊ



भूमिका

संस्कृत साहित्य मे ध्वनि की सुदीर्घ एवं पुष्ट परम्परा रही है। काव्य-शास्त्र के अनेक सम्प्रदायों मे से इसी की सर्वाधिक चर्चा हुई है। आनन्दवर्धन के समय तक काव्य के विविध तत्वो का परस्पर सम्बन्ध निश्चित नही हो पाया था। यह उन्ही की मेधाशक्ति का कार्य था जो रस, अलंकार तथा रीति का काव्य के मूल्यांकन मे उचित महत्व प्रतिष्ठित हुआ। इसके अतिरिक्त भविष्य मे सभी कालों के लिए उपादेय ध्वनितत्व की व्याख्या भी उन्होने की। इस दृष्टि से आनन्दवर्धन काव्यशास्त्र के सबसे बडे आचार्य ठहरते है। वस्तुत: काव्य के मूल्यनिर्धारण का सुस्पष्ट मार्ग उन्ही के द्वारा निश्चित किया गया। उस समय तक काव्य-सौन्दर्य के विभिन्न उपकरणो का विश्लेषण तो हुआ था; किन्तु उन सबको लेकर व्यावहारिक आलोचना की पद्धति पर सब मौन है। आनन्दवर्धन ने यह पद्धति भी दी। अत: वे भारत के प्रथम आलोचक के गौरव से भी मण्डित है।

अपने शोधकार्य मे मैं इसी विचार से प्रवृत्त हुआ हूँ कि यद्यपि ध्वनि-तत्व का विवेचन तत्कालीन काव्य-सामग्री को लेकर हुआ है; किन्तु आधुनिक काव्य की आलोचना भी इस प्रतिमान से सफलतापूर्वक हो सकती है। २० वी शती की नई कविता अनेक बाह्य प्रभावों के कारण प्राचीन काव्य से इतनी दूर है कि आरम्भ मे प्राचीन पद्धति के आलोचको को उसे उचित आदर देने मे कठिनाई हुई। शनै: शनै: नवीन प्रतिमानों का आविर्भाव हुआ और पहले की तिरस्कृत रचनाए अपना उचित स्थान पाती गयी। शंका हुई कि उक्त अव्यवस्था का कारण क्या है? उसी का समाधान खोजते-खोजते प्रस्तुत शोध प्रबन्ध की रूप-रेखा तैयार हो गई।

कविता मूलत: मनुष्य के अन्त:करण से सम्बन्धित है। कभी वह भाव रूप होती है तो कभी विचार रूप। दोनों ही अवस्थाओ मे भेद केवल प्राधान्य का है। अत: यदि १० वी शती की कविता ध्वनि के संस्पर्श से आदर पा सकती है तो आधुनिक युग मे श्रेष्ठ कही जाने वाली कविताओं का भी ध्वनि से निकट अथवा दूर का सम्बन्ध होना चाहिए। इस खोज मे उन नए-नए तत्वों को भी ले लेना होगा जिनसे ध्वनि की सीमाओ को विस्तार मिला है।

व्यंजना भाषा की अनिवार्य गति है। शब्द-शक्तियाँ भाषा की सामर्थ्य के अनेक रूप ही है जो आन्तरिक एकता के सूत्र से परस्पर बधे हैं। व्यजना प्रथम दो के अतिरिक्त होते हुए भी उनमे झकार बन कर समाई हुई है। ध्वनि के अभिधामूला और लक्षणामूला होने का यही रहस्य है। व्यजना-व्यापार अपनी सूक्ष्म गति के कुछ स्थूल निष्कर्ष उपमान तथा प्रतीकादि के रूप में छोड जाता है; आलोचना करते समय व्यजना का अध्ययन इन्हीं के सन्दर्भ में होता है।

ध्वनि सम्प्रदाय समन्वयवादी था। इसी कारण से वह इतना पूर्ण भी हो सका। इस प्रसंग में कुछ प्राचीन मान्यताओं का पुनर्मूल्यांकन भी किया गया है। अब तक रसनिष्पत्ति का सूत्र शास्त्रीय पृष्ठभूमि पर ही परखा जाता है। यह आश्चर्य की बात है कि नाटक से सम्बन्धित एक सिद्धान्त को श्रव्य काव्य से भी ज्यों का त्यों सम्बद्ध कर दिया गया है। विभावो और अनुभावो के वर्णन से रहित गीतिकाव्य क्या रस-निष्पत्ति मे शून्य है ? व्यवहार में तो ऐसा नहीं है। इसलिए रसानुभूति को व्यावहारिक दृष्टिकोण मे भी परखना पड़ा है।

व्यवहार की दृष्टि से ध्वनि के इतर उपकरणो के विश्लेषण में किसी भी मानदण्ड को लेकर कविता का गुण-दोष विवेचन केवल बौद्धिक प्रक्रिया नही है। कविता से प्राप्त आनन्द के प्रति तटस्थ रहकर की गई आलोचना एकांगी होती है। व्यंग्य, रस, अलंकार और गुणों को खोज निकालना बुद्धि का कार्य है और तुक, लय तथा छन्द आदि में व्यक्त प्रवाह और सगीत मे मग्न होना हृदय का स्वभाव है। इस प्रकार इतर उपकरण परोक्ष रूप से रसानुभूति में विशेष सहायक होते है।

ध्वनि के नवीन भेदो को प्राप्त करने मे लक्षण ग्रन्थों से अधिक लक्ष्य ग्रन्थों की सहायता ली गई है। वस्तु-ध्वनि के उपभेद विशेषत. आधुनिक कविता को ध्यान मे रख कर किए गए है। संस्कृत में वस्तु का विश्लेषण नही मिलता और आलोच्यकाल की कविता का पूर्ण आकलन बिना इसके सम्भव नहीं है। इस प्रकार प्राचीन प्रतिमानों को नयी परिस्थितियों के आलोक मे देखने का यह प्रयास मात्र है। दृष्टि की पूर्णता भविष्य में अन्य विद्वानों की खोजों द्वारा प्राप्त हो सकेगी, ऐसा विश्वास है।

अब जब कि कार्य समाप्त हो गया है और मैं चार वर्षों के इस सुदीर्घ काल पर पुनः दृष्टिपात करता हूँ तो स्वयं को डा० रामयतन सिह 'भ्रमर' का विशेष ऋणी पाता हूँ, जिनके सुयोग्य निर्देशन में यह दुरूह कार्य पूर्ण हो सका। समय-समय पर कार्य की गुरुता से जब मेरा धैर्य टूटने लगता तब आपके ही के अंगुली निर्देश से वह सरल बन जाता और मैं फिर नवीन उत्साह

से कार्यरत होता। आदरणीय डा० भगीरथ मिश्र, आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी तथा आचार्य व्यकटेश दीक्षितार का भी मै विशेष आभारी हूँ जिनके अमूल्य सुझावों द्वारा लक्षणा तथा व्यंजना की गुत्थियाँ सुलझाने मे सहायता मिली। वस्तु-ध्वनि के सम्बन्ध में नवीन दृष्टिकोण देने के लिए आदरणीय डा० मिश्र का मै विशेष आभारी हूँ।

अन्त मे, डा० नगेन्द्र के ऋण को मै किन शब्दों मे व्यक्त करूँ? यदि काव्यशास्त्र की पुस्तकों पर आपके द्वारा लिखी गई विस्तृत भूमिकाएँ न प्राप्त होती तो इस कार्य के पूर्ण होने मे और कितना समय लगता, नही कहा जा सकता और फिर भी यह इस स्तर तक पहुँच पाता, इसमे सन्देह है। इसके साथ ही मै उन सभी विद्वानो तथा मित्रों का कृतज्ञ हूँ जिनके ज्ञान का लाभ, प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से, मैने इस प्रबन्ध मे उठाया है।

कृष्णलाल शर्मा

विनायक चतुर्थी, बैशाख सवत् २०१९
बम्बई।

ध्वनि-सम्प्रदाय के प्रवर्तक

आचार्य आनन्दवर्धन

को

विषयानुक्रमणिका

प्रथम खण्ड : सैद्धान्तिक पक्ष

परिशिष्ट :

● तृतीय अध्याय : ७५-९०

१—पूर्व आधुनिक काल मे ध्वनि-विवेचन के अभाव के कारण, ध्वनि के प्रथम समर्थक कुलपति मिश्र, देव का काव्य-विवेचन, आधुनिक काल के प्रथम आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी-रसवादी, ध्वनि के अन्य समर्थक, श्री सुधांशु, प० रामदहिन मिश्र, प० रामचन्द्र शुक्ल की रस-ध्वनि के सम्बन्ध मे आपत्ति, डा० नगेन्द्र का मत, काव्यशास्त्र के अन्य आचार्य, फुटकर निबन्धों मे ध्वनि की चर्चा, डा० हरद्वारीलाल शर्मा का मत, छायावादी लेखकों द्वारा किये गए इस ओर सकेत। पृ० ७५ से ८२।

२—पश्चिम के विचारकों का वर्ग-विभाजन, सुकरात, प्लेटो, अरस्तू की अनुकरण की नवीन व्याख्या, काव्य-शब्द का चयन, फार्मेलिस्ट वर्ग, इमोशनलिस्ट वर्ग, मनोवैज्ञानिको द्वारा काव्य की व्याख्या, भाषा शास्त्रियो के विभिन्न मत, कवियो द्वारा विभिन्न सन्दर्भो मे व्यजना की स्वीकृति, पोप द्वारा सौन्दर्य का विश्लेषण, साहित्य शास्त्रियो मे ए०सी० ब्रैडले का मत, रिचर्ड्स द्वारा निर्देशित अर्थ के चार प्रकार, काव्यानुभूति मे छः संस्थान, टिलियर्ड महाशय द्वारा आब्लीक पोएट्री की व्याख्या, ध्वन्यर्थ के सहायक तत्व। पृ० ८२ से ९०।

● चतुर्थ अध्याय : ९१-१४३

१—ध्वनि-वर्गीकरण का प्रथम आधार, शब्दार्थ, शब्दगत-ध्वनि की शर्तें, अर्थ के नियामक तत्व, शब्दगत लक्षणामूला ध्वनि, अर्थगत ध्वनि के नियामक तत्व, उभयशक्त्युद्भव ध्वनि। पृ० ९१ से ९६।

२—अभिधा विचार, सकेत-ग्रह सम्बन्धी अनेक मत, वाच्यार्थ ग्रहण के आठ कारण, अभिधेयार्थ के नियामक तत्व, लक्षणा विचार, लक्ष्यार्थ ग्रहण की चार स्थितिया, मीमांसको द्वारा निश्चित लक्षणा के नौ प्रकार, पतंजलि के तद्योग के चार प्रकार, गौतम द्वारा निर्दिष्ट लक्षणा के दस प्रकार, कुछ अन्य प्रकार, लक्षणा का वर्गीकरण, शब्दगत तथा वाक्यगत लक्षणा का भेद, अरस्तू का लक्षणा विचार। पृ० ९६ से १०५।

३—रस-व्यंजना सम्बन्धी आचार्य शुक्ल की आपत्तियाँ, रस-ध्वनि का रामनरेश वर्मा द्वारा समाधान, ध्वनि-विभाजन में आनन्दवर्धन का दृष्टिकोण, रस-ध्वनि के आठ प्रकार, सरस उक्ति मे रस-ध्वनि की प्रतिष्ठा, सिद्धान्त निरपेक्ष रस-ध्वनि, वीरगाथा काल, भक्तिकाल, सिद्धान्त सापेक्ष रीतिकालीन कविता, नये युग की नई दृष्टि, आधुनिक युग मे काव्यात्म,

● पंचम अध्याय १४४-१६०

● षष्ठ अध्याय १६१-१६६

द्वितीय खण्ड : व्यावहारिक पक्ष

प्रथम खण्ड

***

सैद्धान्तिक पक्ष

१

भाषा में व्यंजना का प्रवेश

Language is a purely human and non-instinctive method of communicating ideas, emotions, desires by means of a system of voluntarily produced symbols.

—*Sapir*

मनुष्य अपनी ज्ञानेन्द्रियो के माध्यम से शेष सृष्टि के सम्पर्क मे आता है। इस सम्पर्क के सस्कार अपने अपने ढग से मन (यहाँ मन से तात्पर्य है विचार, भाव और सकल्प का समन्वित रूप) मे सकलित होते रहते है। कालान्तर मे यह संकलन बाह्य और आभ्यन्तर जगत् दोनो से सम्बन्धित होकर दुहरा हो जाता है। आभ्यन्तर सस्कार हम उसे कहेगे जो बाहर से प्राप्त सस्कारो के आपस मे ही मिलने जुलने से पैदा होता है।[1] इन्ही सस्कारो, क्रोचे की भाषा में सवेदनो, को निश्चित रूप देने और प्रेषणीय बनाने के लिए भाषा की आवश्यकता होती है। किसी भी प्रकार का साधारण से साधारण भाव या विचार बिना शब्द-संकेत के गति नही पा सकता। विचार शक्ति का प्रथम उन्मेष ही भाषा के अव्यक्त-आभ्यन्तर-रूप के आविर्भाव का हेतु बना।[2] इस प्रकार भाषा शब्द-सकेतो के रूप मे देश और काल मे आबद्ध जगत् को रूपान्तरित करने का सबसे बड़ा साधन है।[3] यह भाषा की आवश्यकता की प्रथम स्थिति है।

दूसरी और अधिक महत्त्वपूर्ण स्थिति है अब तक न जाने गए सत्य का पता लगाना।[4]

---

1. *W. Basil worsfold :* Judgement in Literature : P. 12

2. Reason was incapable of action without a word-symbol, and the first moment of rationality must have also been the first beginning of interior language.

   —*Prof. R. A. wilson:* The Miraculous Birth of Language: P 152.

3. Ibid : P. 156

4. ....Language is not merely the means by which truth (somehow already known without the instrument of speech) is more or less adequately expressed, but is rather the means by which the not -yet- known is discovered.

   —*Wilker Marshall Urban .* Language and Reality : P. 29

यही समस्त मानव संस्कृति का आधार है। भाषा के इसी कार्य से ज्ञान-भण्डार मे अभिवृद्धि होती है। इन दोनो रूपों मे भाषा का इतिहास मानव सभ्यता का इतिहास है। सभ्यता जितने पूर्ण रूप में भाषा मे प्रतिबिम्बित होती है उतनी और किसी मे नही।[1] आगे चलकर उससे अन्य कार्य भी लिये जाने लगे किन्तु उसकी आवश्यकता के मूल मे चिन्तन और अभिव्यक्ति ही है।

भाषा का आरम्भ कब हुआ यह हमारे क्षेत्र से बाहर का विषय है। किन्तु उसके निरन्तर परिवर्तित होनेवाले रूप से यह अवश्य सिद्ध होता है कि वह कभी पूर्ण नहीं हो पाई। लगभग हर पचास वर्ष बाद हम निश्चित रूप से जान सकते है कि भाषा के कितने प्रयोग पुराने होकर व्यवहार से निकल गये है और कितने नये प्रयोग आ गये है। हमारे संस्कार वास्तव मे इतने विविध और बहुसंख्यक है कि पूर्वजो से प्राप्त मौखिक या लिखित संकेत[2] पर्याप्त नही होते। 'इड' (मनुष्य की सहजात प्रवृत्तियाँ) का एक भाग ज्यो-ज्यों विकसित होता हुआ 'इगो' का रूप धारण करता जाता है[3] त्यों-त्यों वह अपने अनुभवों को व्यक्त करने के लिए भाषा मे नवीन प्रयोगों की आवश्यकता अनुभव करता है। ऐसी अवस्था मे या तो पुराने शब्दों का नये अर्थ में प्रयोग होता है या सर्वथा नये शब्दों को गढा जाता है।[4] इस प्रकार समय-समय पर भाषा की सीमाओं को विस्तृत करने का प्रयास होता रहता है।

उपर्युक्त प्रयास जिन तत्त्वों को लेकर आगे बढता है वे हैं भाषा के दो आधार[5]—

(१) बोला गया या लिखा गया संकेत, और

(२) संकेत में अभिव्यक्तीकरण का गुण।

भाषा का सम्पूर्ण विकास इन दोनो आधारो का संघर्ष ही है। इनमे से द्वितीय अधिक महत्वपूर्ण है क्योंकि प्रथम तो द्वितीय का ही व्यक्त रूप है (सुना जानेवाला, दिखाई देनेवाला या स्पर्श किया जानेवाला)।

भाषा का दूसरा आधार विकसित होता हुआ स्थूल से सूक्ष्म और भौतिक से आध्यात्मिक क्षेत्र की ओर बढ़ता है। उदाहरणार्थ, 'अस्त' शब्द एक पार्थिव व्यापार की ओर इंगित करता है किन्तु विशेष सन्दर्भ में प्रयुक्त होकर समाज के नैतिक पतन आदि सूक्ष्म व्यापारों की ओर भी संकेत कर सकता है जो केवल बुद्धि-गम्य या हृदय-गम्य

1. *Maria Pei* : The Story of Language : P. 188
2. वैशेषिक दर्शन : पृ० १४४.
3. *Sigmund Freud* : An outline of Psycho-Analysis : P. 2
4. *Wilber Marshall Urban* : Language and Reality : P. 190
5. The ideal of Language....includes both that of expressiveness and of pure notation. Ibid : P. 184

है। इसी को भाषा की ऊर्ध्व-गति कहा जाता है।[1] मुहावरों के पीछे भाषा की यही प्रवृत्ति काम करती है। इस सम्पूर्ण प्रक्रिया में एक शब्द नये नये अर्थों को ग्रहण करता हुआ ऐसी अर्थ व्यजना से युक्त हो जाता है जिसकी आरम्भ मे कल्पना भी नही हो सकती।

उपर्युक्त विवेचन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते है कि जब सामान्य व्यवहार तक मे विचारो एव मनोभावो की विविधता, सूक्ष्मता तथा जटिलता की अभिव्यक्ति के लिए भाषा का साधारण प्रयोग व्यर्थ सिद्ध होता है तब उस सम्पूर्ण व्यापार[2] (जिसमें वातावरण, उद्वेग, प्रतिक्रिया और स्मृतियाँ मिले जुले रूप मे है) को, जो काव्य का प्राण है कैसे व्यक्त कर सकता है। इसके लिए कवि जिन अन्य सहायक तत्त्वो को अपनाता है वे हैं प्रतीक, उपमान, बिम्ब और भाषा की शक्तियाँ।

* * *

भाषा वह दर्पण है जिसका प्रत्येक अग जगत् के किसी न किसी विचार या व्यापार को अपने मे समेटे हुए है। अतएव वह उस विचार या व्यापार का प्रतीक कहा जा सकता है जो उसके माध्यम से मानस-पट पर अकित होता है।[3] यही बात काव्य के उन प्रतीकों के बारे में भी कही जा सकती है जो व्यापारो और विचारो के अतिरिक्त भावों को भी जगाते है।[4] काव्य के प्रतीक की यह विशेषता है कि उसका रूप अपनी सार्थकता प्रमाणित कर चुकने के बाद किसी अतिरिक्त भाव की भी व्यजना करता है।

यही पर व्यंजक शब्द और प्रतीक के अन्तर को भी समझ लें।

प्रतीक एक विशिष्ट प्रकार का व्यजक शब्द है। हर प्रतीक व्यजक शब्द तो है किन्तु प्रत्येक व्यजक शब्द प्रतीक नही होता। विशेष सन्दर्भ मे प्रयुक्त होने पर एक शब्द व्यजना शक्ति सम्पन्न हो जाता है। उसकी व्यजना शक्ति जब पूर्वा पर सम्बन्ध व तोड़ देने पर भी नष्ट नही होती और इस प्रकार जब वह अपनी ही शक्ति से विचार केन्द्र बन जाता है तो प्रतीक संज्ञा से अभिहित होता है। उदाहरण के लिए, 'झझा' शब्द जब अपनी ध्वनि से आँधी-पानी का बोध करा देता है तो उसके रूप की सार्थकता पूरी हो जाती है। किन्तु इससे आगे बढकर जब वह किसी हृदय की व्यथा

1. Ibid : P. 184
2. The poet does not find the word to project the 'plain sense' of the experience he wishes to express. He finds to express the whole infinitely complicated business of its happening to him.
   —*Elizabeth Drew :* Discovering Poetry : P. 28
3. *Edward Sapir:* Selected writings of E. Sapir in Language, Culture and Personality : Ed. by David G. Mandelbaum : P. 564
4. Ibid : P. 565

और क्षोभ की ओर सकेत करता है जो अपनी सार्थकता के अतिरिक्त कार्य करता है।[१] इसी शब्द में यदि इतनी शक्ति आ जाय कि सन्दर्भ से अलग रह कर भी व्यथा का अर्थ दे सके तो वह प्रतीक कहलाएगा। छायावादी युग मे वातावरण की विशेषता के कारण उसमें यह शक्ति आ गई थी। अत. उस दायरे मे 'झंझा' व्याकुल अन्तस् का प्रतीक कहा जा सकता है।

काव्य-प्रतीक की भाव या विचार जगाने की क्रिया का सम्बन्ध कवि कर्म से है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने 'कविता क्या है' शीर्षक निबन्ध मे इस बात को पर्याप्त स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है कि ज्यों-ज्यो मनुष्य के क्रिया कलापो पर सभ्यता का आवरण चढ़ता चला जा रहा है त्यों-त्यों कवि-कर्म कठिन होता जा रहा है।[२] इस प्रसग में उन्होंने परोक्ष रूप से प्रतीक की कार्य-पद्धति की ओर ही सकेत किया है। प्रतीको का अध्ययन मनुष्य के व्यवहारों के अध्ययन के अतिरिक्त और कुछ नही है।[३] ये व्यवहार जितने ही सहज भावित, सामान्य और प्राचीन होंगे[४] उनको व्यक्त करनेवाले प्रतीक की शक्ति भी उसी अनुपात में अधिक होगी। सम्बन्ध जितना पुराना होगा मनुष्य के हृदय के उतने ही निकट होगा।

दूसरी बात यह कि किसी दृश्य को देखकर हमारे मन तथा मस्तिष्क पर जितना प्रभाव पड़ता है उतना सुनने या कल्पना करने से नही होता। इसका कारण यह है कि प्रत्यक्ष दर्शन में हमारी सभी मनोवृत्तियाँ एक ही दिशा में केन्द्रित हो जाती है। अतएव प्रतीक भावोद्‌बोधन के लिए जिस व्यापार की ओर सकेत करता है वह ऐसा होना चाहिये कि उसके दृश्यमान रूप (visual form) को कल्पित करने में कोई कठिनाई न हो। रंग रेखा रहित अव्यक्त वेदना या मानुष 'अर्थ' या 'आत्मलोक' प्रतीक के माध्यम से आकार पाता है, प्रकट होता है।[५] संक्षेप मे, प्रतीक अमूर्त को मूर्तरूपता प्रदान कर कार्य सिद्धि करता है। दृश्यमान रूप की यह शक्ति केवल इसी लिए अधिक नहीं है कि वह अन्य रूप-विधानों की अपेक्षा अधिक सामान्य है प्रत्युत् इस कारण भी कि वह सर्वव्यापक है। अन्य इन्द्रियों से सम्बन्धित सूक्ष्म से सूक्ष्म रूप-विधान भी किसी न किसी प्रकार इससे सम्बन्धित है।[६]

अतएव प्रतीक विधान के समय हमारे सम्मुख दो बातें रहती है। प्रथम, प्रतीक

१ नामवर सिंह : छायावाद : पृ० ८८
२. चिन्तामणि भाग १ : पृ० १४४
३. आगडन एण्ड रिचर्ड्स : द मीनिंग आव मीनिंग : पृ० ९
४. पद्मा अग्रवाल : सिम्बालिज्म — ए साइकालाजिकल स्टडी : पृ० १३
५. डॉ० हरद्वारी लाल शर्मा : साहित्य और कला : पृ० २८
६. सी० डे० ल्यूइस : द पोएटिक इमेज — द क्लार्क लेक्चर्स : पृ० १८

जिसका प्रतिनिधित्व करता हो उसके साथ किसी न किसी प्रकार की समानता रखता हो अन्यथा दोनो में एक सूत्रता का सम्बन्ध नही रहेगा, द्वितीय, उसमे भाव या विचार जगाने की शक्ति हो अन्यथा काव्य के उद्देश्य की पूर्ति नही होगी। इन दोनो आधारो पर यदि प्रतीक की परिभाषा निश्चित की जाय तो इस प्रकार होगी—'किसी अन्य स्तर की समानुरूप वस्तु द्वारा किसी अन्य स्तर के विषय का प्रतिनिधित्व करनेवाली वस्तु प्रतीक है।'[1] इस परिभाषा के साथ संक्षिप्तता, सुस्पष्टता, सहज ग्राह्यता, सौन्दर्योद्बोधन[2] आदि काव्य के वे गुण भी ध्यान मे रखने चाहिये जो उसे ज्ञान के अन्य क्षेत्रों से अलग करते है। काव्य-प्रतीक में इन सभी गुणों का आ जाना स्वाभाविक है। इसीलिए जिन प्रतीकों मे ये गुण जितने अधिक होते हैं वे उतने ही सफल और स्थायी होते है। सिद्ध सम्प्रदायवालो ने भी अनेक प्रतीको को गढा था किन्तु वे सौन्दर्योद्बोधक न होकर केवल सम्प्रदाय विशेष के विचारों के प्रचार के लिए ही थे जिस कारण से काव्य मे उनका अधिक प्रचलन न हो सका। दूसरी ओर कमल, भ्रमर ऐसे प्रतीक है जो आज हजारो वर्षो से अपने उसी उच्चासन पर विराजमान है। इस दृष्टिकोण से काव्य-प्रतीक के दो भेद हो सकते है—(१) भावोद्बोधक, और (२) विचारोद्बोधक।[3] यह विभाजन केवल प्रधानता की दृष्टि से है। भावना या कल्पना जगानेवाले प्रतीको के साथ भाव या मनोविकार भी लगे रहते है। अत दोनो मे से किसी एक का भी शुद्ध उदाहरण चुनना कठिन है।[4]

दूसरे प्रकार का विभाजन आधार भेद को लेकर हो सकता है। आधार भेद से तात्पर्य है प्रतिनिधित्व करनेवाली और होनेवाली वस्तुओ मे साम्य का आधार। यह साम्य मुख्यतः तीन प्रकार का है—(१) सादृश्य (रूप की समानता) (२) साधर्म्य (धर्म या गुण, क्रिया आदि की समानता) तथा (३) शब्द-साम्य (केवल शब्द या नाम का साम्य)।[5] काव्य मे केवल प्रथम दो से प्रयोजन है। इनके अतिरिक्त एक चौथा प्रकार प्रभाव-साम्य[6] भी है जो प्रथम दो मे निहित भी रह सकता है और अलग भी। आधुनिक युग मे नवीन धारा की कविताओ मे प्रभाव साम्य पर ही अधिक दृष्टि रखी जाती है। कारण यह है कि काव्य-प्रतीक द्वारा जो वस्तु सम्प्रेषित

---

१. हिन्दी साहित्य कोश : ज्ञान मण्डल लिमिटेड : पृ० ४७१

२. पद्मा अग्रवाल : सिम्बालिज्म — ए साइकालाजिकल स्टडी : पृ० ११

३. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : चिन्तामणि भाग २ : पृ० १०९

४. लक्ष्मीनारायण 'सुधांशु' : काव्य में अभिव्यंजनावाद : पृ० ११६

५. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : चिन्तामणि भाग २ : पृ० २२०

६. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : चिन्तामणि भाग २ : पृ० २२१

होनी है वह है तो रूप-विधान ही किन्तु उसका लक्ष्य इससे आगे बढ़कर सौन्दर्योद्बोधन और भावोद्बोधन भी होता है ।[1]

सौन्दर्योद्बोधन के लिए ही कवि प्रतीक के अतिरिक्त उपमान और बिम्ब का भी प्रयोग करता है । इन दोनो से उसके अन्तर पर भी विचार कर लेना आवश्यक है ।

आचार्य शुक्ल अलंकार में उपमान का आधार सादृश्य या साधर्म्य मानते हैं और प्रतीक का आधार भावना जाग्रत करनेवाले की शक्ति । उनके अनुसार सब उपमान प्रतीक नही होते । पर जो प्रतीक भी होते हैं वे काव्य की बहुत अच्छी सिद्धि करते हैं ।[2] अनेक विद्वान् इसमे पूरी तरह सहमत है ।[3]

हमारे विचार से आचार्य शुक्ल का भेद-स्थापन पूर्ण स्पष्ट नही है । यदि उपमानो का आधार केवल सादृश्य और साधर्म्य ही मानें तो प्रभाव-साम्य के आधार पर लाए गये उपमानो का क्या होगा । स्वयं शुक्ल जी ने चतुर्थ प्रकार के उपमानों के बहुत से उदाहरण दिये हैं । इससे उनका मत स्वय ही खण्डित हो जाता है ।

दूसरी ओर यदि प्रतीक योजना मे ही भावोद्बोधन मानें तो केवल लक्ष्य को देखते हुए उपमान-योजना का प्रयत्न ही निष्फल समझना चाहिये । सत्य तो यह है कि काव्य मे उपमानों का विधान उसके प्रभाव को बढ़ाने के लिए ही होता है । केवल चमत्कार के लिए अप्रस्तुत विधान का उतना आदर सहृदयजन नही करते । काव्य के प्रभावोद्पादन का आधार भावोद्बोधन ही है । केवल 'कमल-कोमल-कर' कहते समय भी क्या हमारे मन में कोमलता का भाव, और उतने ही अंशों में रति भाव, नही जाग जाता ? और क्या यही इसका प्रयोजन भी नहीं है ?

सच तो यह है कि सादृश्य-साधर्म्य या भाव-विचार जगाने की शक्ति तो वे सामान्य गुण है जो प्रतीक और उपमान दोनों मे पाये जाते है । उनमें भेद स्थापित करनेवाली वस्तु है विस्तार । एक ही वस्तु किसी प्रसग मे जब अंग होकर आती है तो उपमान कहलाती है और सम्पूर्ण प्रसग में घट जाने पर प्रतीक बन जाती है । प्रतीक में अपनी परिभाषा के अनुसार प्रतिनिधित्व करने की शक्ति होनी चाहिए । उदाहरणार्थ, 'जल' शब्द यदि शीतलता, पतलापन या अधोगामी प्रवृत्ति की व्यंजना के लिए प्रयुक्त होता है तो 'उपमान' है और यदि सब लोगों की आत्मा का प्रतिनिधित्व करता है तो 'प्रतीक' है ।

---

१. आर्थर साइमन्स : द सिम्बालिस्ट मूवमेण्ट इन लिटरेचर : पृ० २

२. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : चिन्तामणि भाग २ : पृ० ११०

३. लक्ष्मीनारायण 'सुधांशु' : काव्य में अभिव्यजनावाद : पृ० ११८

बिम्ब से प्रतीक का भेद कार्य पद्धति को लेकर है। जैसे प्रतीक भाषा की शक्ति को बढाता है उसी प्रकार विम्ब भी काव्य मे सक्षिप्तता, व्यजकता और भास्वरता लाता है। अन्तर यह है कि दोनों एक दूसरे के ठीक विपरीत कार्य करते है। प्रतीक सदैव किसी वस्तु विशेष का ही प्रतिनिधित्व करता है इसलिए सन्दर्भ से अलग रहकर भी शक्ति सम्पन्न बना रहता है। दूसरी ओर बिम्ब का ग्रहण सश्लिष्ट रूप मे ही होता है। वह अपनी पृष्ठभूमि मे एक वृहत्तर भावधारा को सजोए होता है। इनके अतिरिक्त बिम्ब अधिक स्वच्छन्द और नाना अर्थ व्यंजक होता है जब कि प्रतीक अचूक रूप से एकार्थ व्यजक होता है। प्रतीक अधिक परम्परागत और समाज-स्वीकृति सापेक्ष होता है। बिम्ब अपेक्षाकृत कम, लगभग नही।[1]

साहित्य मे प्रतीक विचार या भाव जगाने के अतिरिक्त अन्य कार्य भी करता है। जैसे, प्रयोक्ता के लिये पलायन का पथ तैयार करना, सत्य के कटु पक्ष पर झीना सा आवरण डाल देना, अलकरण के साधन जुटाना आदि।[2] गंगावतरण का सम्पूर्ण प्रसग इसके अन्तिम कार्य का सुन्दर उदाहरण है।

प्रश्न हो सकता है कि प्रतीक रूप मे ग्रहण होनेवाली वस्तुओ मे इतनी शक्ति सम्पन्नता आती कहाँ से है ? आचार्य शुक्ल इसके तीन कारण बतलाते है[3] :—

१—स्वरूपगत आकर्षण,

२—चिर परिचित आरोप का बल, और।

३—वशानुगत वासना की दीर्घ परम्परा का प्रभाव।

कमल, भ्रमर और सिंह क्रम से इनके उदाहरण स्वरूप प्रस्तुत किये जा सकते है। इन तीनो मे से किसी एक भी कारण के न रहने से प्रतीक या तो भावोद्बोधन ही न कर पायेगा और करेगा भी तो नही के बराबर।

* * *

भावाभिव्यक्ति मे सहायक तत्त्वो के प्रसग मे पहले भाषा की शक्ति का उल्लेख कर आए है। यहाँ उसी पर विचार करते है।

भाषा की स्थिति उसकी गति मे है। देश कालानुसार उसमे नये नये शब्द जुडते चले जाते है। फिर भी समय समय पर भाषा के साधारण प्रयोग द्वारा जब भाव प्रेषणीय नहीं बन पाता तो उसके विशेष, वक्र, प्रयोग का आश्रय लिया जाता है। प्रतीक और उपमान दूसरे प्रकार के प्रयोग का परिणाम है। यह भाषा का

---

१. केदारनाथ सिंह : कल्पना और छायावाद : पृ० ७३

२. हिन्दी साहित्य कोश : ज्ञान मण्डल लिमिटेड : पृ० ४७३

३. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : चिन्तामणि भाग २ : पृ० १११

लाक्षणिक प्रयोग है। किन्तु काव्य का अन्तिम प्रयोजन प्रभावोत्पादन या रस निष्पत्ति रहा जिसके लिए अन्य उपादानों के निष्फल हो जाने पर 'व्यंजना' का आविर्भाव हुआ। ध्यान देने की बात है कि साहित्य की प्रभावोत्पादकता दर्शन आदि मे भिन्न है। ज्ञान दर्शन तथा नीति शास्त्र मे भी मिलता है किन्तु साहित्य में वह कान्ता-सम्मित होने के कारण आनन्दयुक्त भी है।[1] इसी से दर्शन और नीति मे उपमानो और प्रतीको के रहते हुए भी व्यजना का समावेश नहीं हो पाया।

व्यजना तथा अन्य शब्द शक्तियों पर विचार शब्द और अर्थ के प्रसंग में हुआ है। प्राचीन भारतीय भाषा शास्त्रियो ने उक्त सम्बन्ध को कई प्रकार से परखा है। वैयाकरणों ने शब्द की अर्थ मे प्रवृत्ति को 'वृत्ति' सज्ञा दी। विश्वनाथ ने साहित्य-दर्पण मे इसी के लिए 'शक्ति' का प्रयोग किया है। इन्हीं नामों को साथ जोड़कर शब्द तथा अर्थ का भी नामकरण हुआ, जैसे—व्यंजक शब्द या व्यग्यार्थ।

वृत्ति के मुख्य तीन भेद है—अभिधा, लक्षणा और व्यंजना। कुछ विद्वानों ने 'तात्पर्या'[2] नाम की एक अन्य वृत्ति पर भी विचार किया और व्यंजना को उसी के अन्तर्गत ले लिया है। कुमारिल भट्ट द्वारा प्रतिपादित अभिहितान्वयवादी मत के अनुसार 'वाक्यार्थ' वस्तुत: 'पदार्थ' नही है उससे भिन्न प्रकार का अर्थ है जो तात्पर्य वृत्ति से प्रकाशित होता है। पद पहले पदार्थ की प्रतीति कराते है फिर आकांक्षा, योग्यता और आसक्ति से युक्त पदार्थ काव्यार्थ को प्रत्यायित करते है।[3] कुछ ध्वनि विरोधी आचार्यों के लिए यह वृत्ति बड़ी काम की रही। किन्तु व्यजना जिस ठोस आधार पर खड़ी है उसके कारण कोई भी इसके सम्मुख अधिक दिनों तक न टिक सका।

अभिधा वृत्ति—लोक व्यवहार प्रत्येक शब्द का एक प्रचलित अर्थ निश्चित कर देता है। सुनने के साथ ही सबसे पहले उसका ग्रहण होता है। यह साक्षात् संकेतित अर्थ के नाम से भी पुकारा जाता है। इस अर्थ को देनेवाली वृत्ति अभिधा है। नागेश भट्ट ने अभिधा के स्थान पर 'शक्ति' का प्रयोग किया है।[4] इस वृत्ति की बौद्धिक प्रक्रिया का नाम शक्तिग्रह या संकेतग्रह है।[5] मम्मट इस शक्ति से युक्त शब्द को वाचक और अर्थ को वाच्यार्थ कहते है।[6] आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का मुख्य अर्थ भी यही है।

---

१. ····its ends, pleasure and exaltation.
—*Leigh Hunt:* Selected Essays. P. 320

२. मम्मट : काव्य प्रकाश : पृ० २४,

३. मम्मट : काव्यप्रकाश : पृ० २४

४. कपिल द्विवेदी आचार्य : अर्थ विज्ञान और व्याकरण दर्शन : पृ० २३७

५. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : रस-मीमांसा : पृ० ३७१

६. साक्षात्संकेतित योर्थमभिधत्ते स वाचकः। मम्मट : काव्य प्रकाश : पृ० २८

लक्षणा वृत्ति—काव्य के चमत्कार के लिए कभी-कभी मुख्यार्थ का बाध होता है अथवा मुख्यार्थ के बाधित न होने पर भी उसमे कोई चमत्कार नही होता। इसके दो कारण प्रसिद्ध है—रूढि और प्रयोजन। ऐसे अवसरो पर अनुपपन्न मुख्यार्थ से सम्बद्ध अन्य अर्थ का ज्ञान जिस शक्ति के द्वारा होता है वह लक्षणा है।

अन्य अर्थ के बोध के इस प्रकार दो कारण हुए—अन्वयानुपपत्ति और मुख्यार्थ से लक्ष्यार्थ का सम्बन्ध। नागेश ने लक्षणा पर विचार करते समय इन्ही दोनों का वर्णन किया है। सक्षेप मे उनका मत है—अन्वय आदि की सिद्धि न होने से एको भिन्न अर्थ का ग्रहण होता है। उसके अनुपपन्न अर्थ से सम्बन्ध के ज्ञान के द्वारा ज शक्ति विषयक संस्कार उद्‌बुद्ध होता है, उससे प्राप्त बोध का नाम लक्षणा है।[1] अतः यह स्पष्ट है कि लक्षणा के विषय मे मुख्यार्थ का बाध होना चाहिये। यहाँ 'बाध' का अर्थ केवल योग्यता का अभाव न लेकर प्रयोक्ता के प्रयोजन रूप कथन की अनुपपत्ति भी है।

व्यजना वृत्ति—काव्य मे ऐसे अनेक स्थल आते है जहाँ अभिधेयार्थ मे कोई सौन्दर्य नही होता, लक्ष्यार्थ की शर्तें पूरी नहीं होती तो भी प्रसगादि से ऐसा अर्थ निकलता है जो सर्वथा नवीन चमत्कारजनक होता है। इस नवीन अर्थ को प्रत्यायित करनेवाली वृत्ति व्यजना है। यहाँ 'सर्वथा नवीन' पद महत्वपूर्ण है। हमने लक्षणा के सम्बन्ध मे देखा कि लक्ष्यार्थ यद्यपि नवीन अर्थ ही होता है फिर भी मुख्यार्थ से उसका दूर का सम्बन्ध बना ही रहता है। किन्तु व्यग्यार्थ मुख्यार्थ से स्वतन्त्र होता है। वह मुख्यार्थ के विपरीत हो सकता है, मुख्यार्थ से उसका विषय भेद हो सकता है, इनके अतिरिक्त व्यग्यार्थ अनेक भी हो सकते है। व्यंजना अभिधा और लक्षणा के आगे की स्थिति है। इसीलिए कहा कहा गया है कि जहाँ अभिधा और लक्षणा के अपना अपना काम कर चुकने पर भी कार्य की सिद्धि नही होती वहाँ व्यजना का आविर्भाव होता है।[2]

इन वृत्तियों पर आगे विस्तार से विचार किया जायगा। यहाँ हमारा उद्देश्य भाषा मे व्यजना के प्रवेश की आवश्यकता और परिस्थिति पर विचार करना था। पूर्व उल्लिखित प्रतीक और उपमान इसके विशिष्ट प्रयोग है। व्यजना का अस्तित्व इनसे अलग नही अपितु इन्ही मे है। प्रतीक और उपमान अपना कार्य इसी के द्वारा करते हैं। किन्तु यह नहीं समझना चाहिए कि व्यजना केवल इन्ही दो प्रकार के शब्दों में पायी जाता है। अवसरानुकूल वह सभी शब्दों की सम्पत्ति है।

---

१. कपिल द्विवेदी आचार्य : अर्थ विज्ञान और व्याकरण दर्शन : पृ० २५५

२. विरतास्वभिधाद्यासु ययार्थो बोध्यते परः

सा वृत्तिर्व्यंजना नाम शब्दस्यार्थादिकस्य च ॥२,१२॥ विश्वनाथः साहित्यदर्पण,

अन्त मे हम अपने मुख्य विषय ध्वनि पर आते है। व्यजना शब्द वैयाकरणों मे बहुत पहले से प्रचलित था किन्तु काव्य मे इसकी महत्ता का प्रतिपादन बहुत बाद में आनन्दवर्धन ने किया। यह कार्य उन्होंने ध्वनि मत की स्थापना द्वारा किया। अब तक ध्वनन व्यापार केवल व्यंजना में ही समझा जाता रहा था और यह कोई प्रमाण नही था कि व्यग्यार्थ मुख्यार्थ से अधिक सुन्दर हो ही। आनन्दवर्धन ने इस व्यापार के मूल मे शब्द की तीनों वृत्तियाँ मानी और यह शर्त लगा दी कि ध्वनि काव्य में व्यंग्यार्थ मुख्यार्थ से श्रेष्ठ होना ही चाहिए। इस प्रकार उनके मत से काव्य के उसी स्थान पर ध्वनि होती है जहाँ शब्द या अर्थ स्वयं को गौण बनाकर व्यग्य अर्थ को प्रधानता दें।[1] व्यंग्य अर्थ के गौण होने पर गुणीभूत और उतना भी न होने पर काव्य चित्र काव्य कहलाएगा।

२

ध्वनि के व्युत्पत्त्यर्थ

अलंकारिक ध्वनि का अनेक अर्थों मे प्रयोग करते हैं। 'ध्वनतीति ध्वनि.' के आधार पर वे वाच्य वाचक से भिन्न व्यग्य अर्थ का बोध कराने वाले शब्द, अर्थ आदि के लिये ध्वनि शब्द का प्रयोग करते हैं।[2] लोचनकार द्वारा की गई इसकी व्याख्या[3] के आधार पर विद्वानो[4] ने ध्वनि के पाँच व्युत्पत्त्यर्थ लिये है :—

(१) ध्वनति यः स व्यंजकः शब्द. ध्वनि—जो ध्वनित करे या कराये वह व्यंजक शब्द ध्वनि है।

(२) ध्वनति ध्वनयति वा यः स व्यजको अर्थ. ध्वनि—ध्वनित करे या कराये वह व्यंजक अर्थ ध्वनि है।

(३) ध्वन्यते इति ध्वनि—जो ध्वनित किया जाय वह ध्वनि है। इसमे व्यग्यार्थ के तीनो रूप-रस, वस्तु और अलंकार आ जाते है।

---

१. यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ।
व्यंक्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः ॥१।१३॥

—आनन्दवर्धन : ध्वन्यालोक

२. आनन्दवर्धन : ध्वन्यालोक : पृ० १०३

३. अर्थो पि वाच्यो वा ध्वनतीति, शब्दो प्येवम्। व्यंग्यो वा ध्वनयत इति व्यापारो वा शब्दार्थयोर्ध्वननमिति। कारिकया तु प्राधान्येन समुदाय एव काव्य रूपो मुख्यतया ध्वनिरिति प्रतिपादितम्।

—ध्वन्यालोक लोचन सहितः पृ० १०५

४. डॉ० नगेन्द्र : हिन्दी ध्वन्यालोक, भूमिका : पृ० २४

(४) ध्वन्यते अनेन इति ध्वनि—जिसके द्वारा ध्वनित किया जाय वह ध्वनि है। इससे शब्द अर्थ के व्यापार व्यंजना आदि शक्तियों का बोध होता है।

(५) ध्वन्यते स्मिन्निति ध्वनि—जिसमें वस्तु, अलकार और रसादि ध्वनित हो उस काव्य का नाम ध्वनि है।

ये अर्थ मात्र व्याख्या के लिए है। सामान्यत. जब ध्वनि का प्रयोग किया जाता है तो उसका सम्बन्ध वस्तु-रस, अलकार, वस्तु—से जोड़ा जाता है।

* * *

ध्वनि की स्थापना

यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि आनन्दवर्धन के पूर्व भी ध्वनि सिद्धान्त मौखिक रूप मे विद्वानो की चर्चा का विषय रहा होगा। दक्षिण मे भी इसकी मान्यता पहुँच चुकी थी। हाँ, काश्मीर, जो उस समय आलकारिको का गढ था, मे इस पर विषद चर्चा होती रही होगी। ऐसे ही विद्वानो मे से व्यजनावादियो के विचारो को आनन्दवर्धन ने सुष्ठु रूप दिया है। तो भी शास्त्र-सम्मत व्यवस्थित सिद्धान्त के स्वरूप निर्धारण का श्रेय आनन्दवर्धन को अवश्य मिलना चाहिए। ग्रन्थ के प्रारम्भ मे ही उन्होने जिन ध्वनि विरोधियों[1] का उल्लेख किया है वह कल्पना-जन्य ही नही प्रतीत होता। अवन्तिवर्मा की सभा मे ध्वनि के पक्ष और विपक्ष मे अनेक चर्चाएँ अवश्य होती रही होगी। इस दिशा मे विरोधियो का वर्णन करनेवाली कारिका मे, 'बुधै' और उसी की वृत्ति मे 'परम्परया' शब्द ध्यान देने योग्य है। लोचनकार 'परम्परया' की व्याख्या मे कहते है—"अविच्छिन्नेन प्रवाहेण तैरेतदुक्तम्। विनापि विशिष्ट पुस्तकेषु विवेचनादित्यभिप्रायः।"[2] अर्थात् पुस्तको में अलिखित अखण्ड मौखिक प्रवाह। इससे स्पष्ट है कि न केवल आनन्दवर्धन के काल मे वरन् उनके पूर्व भी आलकारिक इस पर चर्चा कर चुके थे और अधिकाश विद्वान् इसके पक्ष में रहे होंगे। इसी से 'बुधै.' पद का प्रयोग किया गया है इसके साथ ही 'केचिद्' शब्द विरोधियो की अल्प संख्या का द्योतक है। विद्वानो के बीच यह सिद्धान्त कितना प्रचलित हो गया था इसके लिए डॉ० कृष्णमूर्ति हमारा ध्यान 'समाम्नातपूर्वः' की ओर आकर्षित करते है—

Moreover, the special significance of the upsarg 'Sam' in Samamnatpurvah is also to be taken into account.

---

१. काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति बुधैर्यः समाम्नातपूर्व-
स्तस्याभाव जगदुरपरे भाक्तमाहुस्तमन्ये।
केचिद्वाचां स्थितमविषये तत्त्वमूचुस्तदीयं
तेन ब्रूमः सहृदयमनः प्रीतये तत्स्वरूपम्॥ १, १॥ ध्व० लो० सहित

२. वही : पृ० ३११

'Sam' may be paraphrased as 'Samyak' meaning 'well', with great jnterest.'

Dhvanyaloka and its Crjtics: P. 45

अर्थात् 'सम' उपसर्ग 'सम्यक्' का अर्थ देता हुआ यह सिद्ध करता है कि ध्वनि को मान्यता देनेवाले इस पर अच्छी तरह विचार कर चुके थे।

ध्वनि की परम्परा को पहले से चली आती हुई मानने का एक कारण यह भी है कि आनन्दवर्धन की शती में ही किन्तु कुछ वर्ष पूर्व कन्नड़ भाषा मे लिखे दक्षिण के एक अलंकार ग्रन्थ 'कविराज मार्ग्ग' मे ध्वनि का उल्लेख मिलता है। इस ग्रन्थ के रचयिता 'नृपतुग' कर्नाटक के राजा थे। उनका जीवन काल ई० सन् ८१५ से ८७७ माना गया है। इस तथ्य को प्रमाणस्वरूप ग्रहण कर यह निःसकोच कहा जा सकता है कि नृपतुग को ध्यन्यालोक का कोई ज्ञान नही था। अतएव 'कविराज मार्ग्ग' में आया ध्वनि का उल्लेख अवश्य ही उस परम्परा के व्यापक प्रभाव की ओर इगित करता है जो आनन्दवर्धन के पहले से चली आ रही थी। यह परम्परा बडी अव्यवस्थित रही होगी क्योंकि नृपतुग का विवेचन उसके किसी निश्चित रूप को उपस्थित नही करता। भामहट और दण्डी की परम्परा में ये अलकारवादी आचार्य थे। इनका ग्रन्थ बहुत कुछ 'काव्यालंकार' और 'काव्यादर्श' का कन्नड़ रूपान्तर है। इनके मत से ध्वनि विभाजन—शब्द ध्वनि और अर्थ ध्वनि—भी सिद्धान्त की अविकसित अवस्था का परिचायक है।[2]

नृपतुंग द्वारा ध्वनि का उल्लेख होने पर भी यह सिद्ध नहीं होता कि कर्नाटक के अन्य विद्वान भी इसको मानते थे। काश्मीर की भाँति यहाँ भी उसके बहुत से विरोधी रहे होगे। यह दूसरी बात है कि इसी सत्य को ये प्रकारान्तर से स्वीकार करते थे। 'कविराज मार्ग्ग' के पश्चात् दूसरा महत्त्वपूर्ण अलकार ग्रन्थ नागवर्मा द्वितीय कृत 'काव्यावलोकमम् मिलता है। इसका काल १२ वी शती का मध्य निश्चित

1, प्रतीत होता है कि यह आलोचना करते समय डॉ० कृष्णमूर्ति के सामने ध्वन्यालोक की केवल निर्णय सागर वाली प्रति थी। बाल प्रिया टीका सहित पुस्तक में उक्त कारिका की वृत्तिमें 'सम्यक्' शब्द भी दिया हुआ है। इसमें कल्पना के लिए स्थान ही नहीं रह जाता। आचार्य विश्वेश्वर इसी पाठ को प्रमाणिक मानते हैं—हि० ध्व० : पृ० ६,

2. dhvaniy embud alamkaram
dhavaniyisugam sabdadindam arthade dushyam
nenevud idam intu kamalado
l animisha—yugam oppi torpudd int idu chodyam: 208:

—*Nripatunga:* Kavirajmargga. P. 64

किया गया है। इसके रचयिता ने अर्थालंकारों के प्रकरण मे 'भाव' अलकार का लक्षण दिया है—'जहाँ वितर्क क्रम से अभीष्ट अर्थ का ग्रहण हो और जो शब्दार्थ से बिल्कुल भिन्न हो।"[1] ध्वनि के लक्षण से यद्यपि यह लक्षण भिन्न नही है तथापि ध्वनि को स्वीकार न करने के कारण हम इसे ध्वनिवादियो की परम्परा में नही ले सकते।

उपर्युक्त विवेचन से यह सिद्ध हो जाता है कि आनन्दवर्धन ध्वनि के प्रथम उद्भावक नही थे। अब दूसरा प्रश्न यह है कि आलकारिकों को यह ध्वनि शब्द मिला कहाँ से। इसके सकेत ध्वन्यालोक मे ही मिल जाते है।

प्रथम उद्योत की १३वी कारिका के अन्तिम अंश 'सूरिभि. कथित.' की व्याख्या करते हुए आनन्दवर्धन लिखते है, 'प्रथम विद्वान् वैयाकरण हैं क्योकि व्याकरण सब विद्याओ का मूल है। वे (वैयाकरण) सुने जाने वाले 'वर्णो' मे 'ध्वनि' शब्द का व्यवहार करते है। उनके मत से प्रेरणा लेकर उसी पद्धति पर काव्य तत्त्वार्थदर्शी विद्वान् (आलंकारिक) ध्वनन व्यापार की समानता होने से शब्द ध्वनि, अर्थ ध्वनि, व्यग्य ध्वनि, व्यजना व्यापार और ध्वनि काव्य इन पाँचो अर्थो में 'ध्वनि' का व्यवहार करते है।"

उक्त वृत्ति मे आनन्दवर्धन ने वैयाकरणो के जिस सिद्धान्त की ओर सकेत किया है वह है 'स्फोट सिद्धान्त'।

स्फोट सिद्धान्त वैयाकरणो की अद्भुत मेधाशक्ति का परिचायक है। वैशेषिक दर्शन मे शब्द के तीन हेतु माने गए हैं—सयोग, विभाग और शब्द।[2] तार्किकों के मत से प्रथम शब्द संयोग या विभाग से ही उत्पन्न होता है किन्तु देश भेद से वह (प्रथम शब्द) हमे साक्षात् नही सुनाई पड़ता। उस शब्द से वायुमण्डल मे क्रमिक शब्द-धारायें उत्पन्न होती है। तज्जन्य क्रमिक शब्द-धारा मे से ही कोई हमारे कानो से आकर टकराती है और हम समझते है कि हमने शब्द सुना। कान से आकर टकरानेवाली शब्द-लहरी चूँकि शब्द से उत्पन्न है इसलिए शब्दल कहलाती है।[3] इस प्रक्रिया में काल के जिस अश मे शब्द-धारा का हमारे कान से सयोग होता है उसी मे शब्द का ग्रहण भी होता है। धारा के आगे बढ जाने पर शब्द सुनाई देना बन्द हो जाता है।

---

1. Kramadindarthantharaman
   Samanisuvodukti bhavamene pesarvadegum: 147 :
   —*Nvgvarma:* Kavyavalokamam : P. 101
२. संयोगाद्विभागाच्च शब्दाच्च शब्दनिष्पत्ति : ॥२, २, ३१॥
   —वैशेषिक दर्शन : पृ० १४४
३. वैशेषिक दर्शन : पृ० १४४

शंका होती है कि जब शब्द इतना शीघ्र तिरोभूत हो जाता है तब समुदाय रूप पद या वाक्य का ग्रहण कैसे हो सकता है ? इसके साथ दूसरी शका यह भी हो सकती है कि पद के विभिन्न वर्ण स्वतन्त्र रूप मे कोई अर्थ नही देते, अर्थात् स्वतन्त्र वर्ण अर्थ हीन होता है। अतएव जब पद के अंग अर्थ हीन है तो उनका समूह रूप पद भी अर्थहीन होना चाहिये किन्तु ऐसा है नहीं। इन्ही शंकाओ के समाधान के लिए वैयाकरणों ने 'स्फोट' की कल्पना की।

'स्फोट' क्या है ? "स्फुटति अर्थः यस्मात् स. स्फोटः"। अर्थ को प्रस्फुटित करने-वाला तत्त्व स्फोट है। श्रूयमाण वर्णों से, जिन्हे ध्वनि भी कहते हैं और नाद भी, बुद्धि में समस्त वर्णों का समुदाय रूप 'नित्य शब्द' अभिव्यक्त होता है। इसी का नाम 'स्फोट' है। जब वैयाकरण शब्द को नित्य कहते है तो उनका अभिप्राय स्फोट रूप शब्द की नित्यता से होता है। इसकी नित्यता के सम्बन्ध मे भर्तृहरि का कथन है—विकृत ध्वनियाँ शब्द की अभिव्यक्ति मे वृत्ति भेद को बनाती है किन्तु स्फोटात्मा उससे भिन्न होने के कारण वे उसे नष्ट नही करती।[1] ये विकृत (श्रूयमाण) ध्वनियाँ जिस प्रकार के समुदाय को अभिव्यक्त करती है स्फोट उसी की सज्ञा से अभिहित होता है। जैसे—पद स्फोट, वाक्य स्फोट आदि।[2]

मीमासक इसके विपरीत श्रुयमाण शब्दो मे अन्तिम वर्ण को अर्थ का व्यजक कहते है। उनके मत से श्रूयमाण और अर्थ के बीच मे स्फोट नाम के तत्त्व को मानने की कोई आवश्यकता नही है। वह परोक्ष वस्तु है और परोक्ष से प्रत्यक्ष में किसी प्रकार की सहायता नही मिल सकती।[3] उनके अनुसार ध्वनियाँ अपना अपना सस्कार ग्राहक तत्त्व, बुद्धि, पर छोड़ती जाती है। पद के अन्तिम वर्ण के कान में पड़ते ही पूर्व ध्वनियो के सस्कार भी शीघ्र उससे मिल कर अर्थ को प्रकाशित करते है।[4] इसलिए शब्द और अर्थ के बीच मे 'स्फोट' नाम की अदृष्ट वस्तु मानने की कोई आवश्यकता नही है।

---

१. शब्दस्योर्ध्वमभिव्यक्तेर्वृत्तिभेदं तु वैकृताः।
ध्वनयः समुपोहन्ते स्फोटात्मा तैर्न भिद्यते॥
—वाक्यपदीयम् : पृ० ७५

२. कौण्डभट्ट : व्र वैयाकरणभूषणं : पृ० २३६

३. वर्णा वा ध्वनयो वापि स्फोटं न पदवाक्ययोः
व्यंजन्ति व्यंजकत्वेन यथा दीप प्रभादयः॥१३१॥
नार्थस्य वाचकः स्फोटो वर्णेभ्यो व्यतिरेकतः।
घटादिवन्न दृष्टेन विरोधो धर्म्यसिद्धितः॥१३३॥
—श्लोकवार्तिक व्याख्या : पृ० ४७३

४. वही : स्फोट प्रकरण : श्लोक ९६,९७

कुछ आधुनिक विद्वान् ध्वनिवादियों की 'व्यजना' की कल्पना के सूत्र साख्य, वेदान्त और शैव दर्शन मे ढूँढते है। उनकी मान्यता है कि व्यजना शक्ति वास्तव मे किसी नये अर्थ की उत्पत्ति न कर उसी अर्थ को प्रकट करती है जो पहले से अप्रकटित दशा मे वर्तमान है। साख्यो के अनुसार भी कोई नया नही है, वह उपादान कारण मे पहले से ही विद्यमान है। ऐसे ही वेदान्तियो के मत से मोक्ष दशा भी पहले से विद्यमान है जो अच्छादक (माया) के हट जाने पर व्यक्त होती है।[1]

शैव दर्शन से व्यजना का सम्बन्ध जोड़ने का आधार सम्भवत: लोचनकार की ये पक्तियाँ है :—

स्फुटीकृतार्थ वैचित्र्यवहिः प्रसरदायिनीम्।
तुर्यां शक्तिमहं वन्दे प्रत्यक्षार्थनिर्दशिनीम्॥[2]

अर्थात् तुरीया शक्ति अर्थ वैचित्र्य को प्रकट कर उसे फैलाती है तथा प्रत्यक्ष अर्थो का निर्देश करती है। मैं उस तुरीया शक्ति (व्यजना शक्ति, आनन्द शक्ति) की वदना करता हूँ।

शैव दर्शन मे शिव की शक्ति के दो रूप 'विद्या' और 'अविद्या' कहे गए है। 'अविद्या' मोह उत्पन्न करती है 'विद्या' उसे हटा कर आनन्द के दर्शन कराती है। 'अविद्या' के तीन अग है—ज्ञान, इच्छा और क्रिया। 'विद्या' का गुण है आनन्द। इन्ही चारो का सम्बन्ध कुछ विद्वान् अभिधा, लक्षणा, तात्पर्या और व्यजना से जोडते है।[3]

आनन्दवर्धन इस बात से पूरी तरह परिचित थे कि जिस प्रकार मीमासको ने स्फोट का विरोध किया उसी प्रकार उनके मत का भी बड़ा विरोध होगा। इसलिए उन्होने ध्वनि विरोधियो के सम्भाव्य तर्कों का स्वय उल्लेख कर खण्डन किया। ध्वन्यालोक मे ऐसे तीन प्रकार के विरोधियो—अभाववादी, भाक्तवादी (ध्वनि को गौण, लक्षणागम्य कहनेवाले) और अनिर्वचनीयवादी—की चर्चा है।[4] अलकार सर्वस्व के टीकाकार जयरथ ने विमर्षिणी मे दो कारिकायें उद्धृत की है। जिनमे ध्वनि विरोधी बारह मतो का वर्णन है।

तात्पर्याशक्तिरभिधालक्षणानुमिती द्विधा।
अर्थापत्तिः क्वचित्तंत्रं समासोक्त्याद्यलंकृतिः॥
रसस्य कार्यता योगो व्यापारान्तरबाधनम्।
द्वादशेत्थ ध्वनेरस्य स्थिता विप्रतिपत्तयः॥[5]

---

१. डॉ० भोलाशंकर व्यास : ध्वनि सम्प्रदाय और उसके सिद्धान्त : पृ० ३०
२. ध्वन्यालोक लो० सहित : पृ० ५५४
३. डॉ० भोलाशंकर व्यास : ध्वनि सम्प्रदाय और उसके सिद्धान्त : पृ० ३१-३२
४. प्रथम उद्योत—१ कारिका
५. रुय्यक : अलकार सर्वस्व, विमर्षिणी सहित : पृ० ११

उक्त कारिकाओं मे बारहो मत पूर्ण स्पष्ट नही हैं। वे कुछ इस प्रकार हो सकते हैं :—

(१) तात्पर्य—इसका अनुमोदन मीमांसकों ने किया है।

(२) अभिधा—यह अति प्राचीन मीमांसकों द्वारा अनुमोदित है।

(३) और (४) दो प्रकार की लक्षणा हैं—अजहत् स्वार्था और जहत् स्वार्था।

(५) और (६) दो प्रकार के अनुमान—इनके सम्बन्ध में कुछ भी कहना सम्भव नहीं है।

(७) अर्थापत्ति—अनुमान पक्ष का थोड़ा सुष्ठु रूप।

(८) तंत्र—श्लेषालंकार की भाँति द्वयर्थक अभिव्यक्ति।

(९) समासोक्ति आदि अलंकार—प्रतीयमान अलकारो मे ध्वनि को अन्तर्भुक्त कर लेनेवाला मत।

(१०) रसकार्यता—रस निष्पत्ति की व्याख्या मे लोल्लट आदि का उत्पत्तिवादी मत। यह प्रधानत: रस-ध्वनि का विरोधी है।

(११) भोग—रस कार्यता की भाँति यह भी भट्टनायक आदि का रस-ध्वनि के विरोध में भुक्तिवादी मत है।

(१२) व्यापारान्तरबाधनम्—डॉ० वी० राघवन का अनुमान है कि स्यात् इसका संकेत कुन्तक की वक्रोक्ति की ओर है। महामहोपाध्याय श्री कुप्पुस्वामी शास्त्री की धारणा है कि यह अनिर्वचनीयवाद की ओर इंगित है।[1]

किन्तु जयरथ उक्त सब मतो का आनन्दवर्धन द्वारा उल्लिखित तीनों मतों में अन्तर्भाव कर लेते हैं। ध्वन्यालोककार ने ध्वनि-स्थापना के लिये खण्डन और मण्डन दोनों पद्धतियो को अपनाया है। इस प्रसग मे उन्होंने व्यंग्यार्थ को वाच्यार्थ से अलग करने के लिये पाँच प्रकार के भेद बतलाये हैं। पहले चार एक ही विषय को लेकर और अन्तिम विषय भेद को लेकर। वे इस प्रकार है :—

(१) कही वाच्च विधि-रूप होने पर भी प्रतीयमान निषेध रूप होता है,

(२) कभी वाच्य प्रतिषेध रूप होने पर प्रतीयमान विधि रूप होता है,

(३) वाच्य विधि रूप होने पर भी प्रतीयमान अनुभयात्मक हो सकता है,

(४) इसी प्रकार वाच्य प्रतिषेध रूप होने पर प्रतीयमान अनुभयात्मक हो सकता है और (५) स्थल विशेष पर वाच्य का विषय एक व्यक्ति है और प्रतीयमान का दूसरा।

---

१. डॉ० वी० राघवन : भोजाज् शृंगार प्रकाश जिल्द १, खण्ड १, पृ० १४९

अन्त मे वे यह कहकर विषय को समाप्त कर देते है कि ये भेद और भी अनेक प्रकार के हो सकते है, यहाँ उनका सकेत मात्र किया गया है।

साहित्यदर्पणकार ने इन्हे नौ वर्गो मे विभाजित किया है। वे है :—

(१) बोद्धृ-भेद—वाच्यार्थ के बोद्धा पद-पदार्थ मे निपुण वैयाकरण हुआ करते है जब कि व्यग्यार्थ के बोद्धा सहृदय।

(२) स्वरूप-भेद—वाच्यार्थ और व्यग्यार्थ मे विधि-निषेध का अन्तर रहता है।

(३) सख्या-भेद—एक वाक्य से वाच्यार्थ सदा एक ही निकलता है किन्तु व्यग्यार्थ अनेक निकल सकते है।

(४) निमित्त-भेद—वाच्यार्थ के लिये केवल शब्द ज्ञान की आवश्यकता है। व्यग्यार्थ के लिए विशिष्ठ-प्रतिभा-नैर्मल्य की।

(५) कार्य-भेद—वाच्यार्थ का कार्य बोध मात्र करा देना है। व्यग्यार्थ का उद्देश्य आनन्द प्रदान करना है।

(६) प्रतीति-भेद—वाच्यार्थ की प्रतीति केवल शब्द-बोध रूप हुआ करती है। व्यग्यार्थ की प्रतीति चमत्कारमय लगा करती है। वास्तव में यहाँ पाँचवे प्रकार के भीतर ही समा सकता है।

(७) काल-भेद—वाच्यार्थ का बोध पहले और व्यग्यार्थ का बाद मे होता है।

(८) आश्रय-भेद—वाच्यार्थ का आश्रय केवल शब्द है। व्यग्यार्थ का आश्रय शब्द, शब्दैक देश, शब्दार्थ, वर्ण और सघटना सब हो सकते है।

(९) विषय-भेद—यह आनन्दवर्धन का पाँचवाँ भेद है।[1]

ये ठोस प्रमाण सिद्ध कर देते है कि आनन्दवर्धन ने प्रतीयमान की आधार शिला पर जो सिद्धान्त प्रतिपादित किया वह कुछ नवीन कहने मात्र के लिए नही था। इसकी एक पुष्ट परम्परा थी तभी आगे होनेवाले बडे-बड़े प्रहार भी इसे नही हिला सके।

३

ध्वनि का पूर्वापर सम्बन्ध

ध्वनि सम्प्रदाय मे प्रतीयमान अर्थ को शीर्ष स्थान प्राप्त है। काव्य के प्रत्येक तत्त्व का महत्त्व उसी को लेकर है। किन्तु यह नही समझना चाहिए कि आनन्दवर्धन के पहले किसी आलकारिक का ध्यान इसके सौन्दर्य की ओर नही गया था।

---

१. बोद्धृस्वरूप सख्यानिमित्तकार्य प्रतीतिकालानाम्।
आश्रयविषयादीनां भेदाद्भिन्नो भिधेयतो व्यंग्यः ॥५,२॥
—साहित्यदर्पण : पृ० ४०९

अब तक निर्मित अनेक अलंकार प्रतीयमान अर्थ से ही अलंकारत्व को प्राप्त हुए थे। ऐसे ही अलंकारो मे ध्वनि का आरम्भिक सूत्र ढूंढा जा सकता है।[1]

भामह ने द्वितीय परिच्छेद मे 'प्रतिवस्तूपमा' का लक्षण स्थिर करते हुए लिखा "जहाँ सादृश्य के वाचक शब्दो का प्रयोग न होते हुए भी सादृश्य की प्रतीति हो।"[2] इसी परिच्छेद मे 'आक्षेप' का लक्षण दिया है—"जहाँ प्रतिषेध इष्ट अर्थ हो। वह सचमुच प्रतिषेध न हो प्रतिषेध की प्रतीति मात्र हो। तब प्रतिषेध की आवश्यकता क्या ? यह बात को विशेष ढंग से कहने का प्रकार है।"[3] इन दोनो ही उदाहरणों मे ध्वनि के अर्थ मे प्रयुक्त प्रतीयमान के बीज मिल जाते हैं। इसी प्रकार 'गमन' का प्रयोग समासोक्ति अलंकार का लक्षण स्थिर करते हुए आया है—"जिसमे एक अर्थ के कथन से दूसरे अर्थ पर पहुँचा जाय।"[4] ठीक यही भाव पर्यायोक्त की परिभाषा स्थिर करने मे आया है। "जहाँ किसी अन्य (वाच्य वाचक वृत्ति से भिन्न) प्रकार के द्वारा अभीष्ट अर्थ का अभिधान किया जाय।"

भामह के समसामयिक दण्डी भी इन शब्दो का प्रयोग करते हैं। व्यतिरेक का लक्षण देते हुए उसका एक प्रकार ये वह भी मानते है—"जहाँ समान धर्म के वाचक के न रहते हुए भी सादृश्य की प्रतीति हो।"[5] रसवत् अलकार के लक्षण मे तो लगता है जैसे रस-ध्वनि का ही परिचय दिया जा रहा हो—"रस के द्वारा रति आदि स्थायी भाव के रूप मे से उत्पन्न सहृदयो को आनन्द देनेवाले भाव के कथन को रसवत् अलंकार कहते हैं।"[6] अर्थालंकारो का उपसहार करने के पूर्व ये 'भाविक' अलंकार का उल्लेख करते है जो उनके मत से और कुछ काव्य का स्थायी भाव ही है—"उस महाकाव्य आदि के विषयान्तर्गत गुण अर्थात् चमत्कारजनक धर्म विशेष को भाविक अलंकार कहते हैं। कवि का अभिप्राय ही वह भाव है जो काव्य की समाप्ति-पर्यन्त विद्यमान रहता है।"[7] इसको और स्पष्ट करते हुए लिखते है—"क्रम पूर्वक वर्णन प्रस्तुत करने की सामर्थ्य से गम्भीर विषय की अभिव्यक्ति करना यह सब उस भाव पर आश्रित है। इस प्रकार यह भाविक माना जाता है।"[8]

---

१. डॉ० वी० राघवन : भोजाज श्रृंगार प्रकाश, जिल्द १, खण्ड १, पृ० १४५
२. भामह : काव्यालंकार, उद्यान वृत्ति सहित : पृ० ४३
३. वही : पृ० ५२
४. वही : पृ० ५५
५. दण्डी : काव्यादर्श : २, १८९
६. दण्डी : काव्यादर्श : २, २७५
७. वही : पृ० २ ,३६४
८. वही : २, ३६६

जयापीड (ई० सन् ७७९-८१३) की सभा के उद्भट विद्वान् उद्भट भामट्ट और दण्डी की परम्परा मे आते है । अपने अलकार ग्रन्थ मे इन्होंने 'पर्यायोक्त' का लक्षण इस प्रकार दिया है—

पर्यायोक्तं यदन्येन प्रकारेणाभिधीयते ।
वाच्यवाचकवृत्तिभ्यां शून्येनावगात्यना ॥[1]

अर्थात् ऐसा कथन जिसमे वाच्य वाचक के स्थान पर कोई और प्रकार अपनाया गया हो । इस तरह ग्रहण किया हुआ परोक्ष अर्थ भी मूल मे वाच्यार्थ का ही भाव होता है किन्तु उसे विशेष प्रभावशाली बनाने के लिए उस ढग से रखा जाता है । इसके आगे उद्भट ने पर्यायोक्त का जो उदाहरण[2] दिया वह रस-ध्वनि के अन्तर्गत आ जाता है जिसमे अनुभावो के वर्णन से रस की व्यंजना होती है ।

यहाँ स्मरण रखना चाहिये कि दण्डी का काल ई० की छठी शताब्दी माना गया है जिस समय अलकार सम्प्रदाय उठ ही रहा होगा । इसलिऐ आनन्दवर्धन ने रस-ध्वनि और रसवत् अलंकार मे जो अन्तर स्थापित किया है उसका सकेत भी उस काल मे ढूंढना अनुचित होगा । हम केवल इतना ही विचार कर सकते है कि यद्यपि अलंकारो के क्षेत्र मे आचार्य व्यंग्यार्थ का अनुभव तो कर रहे ते किन्तु उसका स्थान तथा अन्य अलंकारो से भेद निश्चित नही कर पाये थे । यह काम आनन्दवर्धन ने किया । रसादि अलकार रस-ध्वनि के कितने निकट है इसकी ओर भट्ट देवशकर पुरोहित ने अलकार मंजूषा (ई० सन् १७६५-६६) मे "अब हम सात अन्य अलकारो (रसवत्, प्रेय, ऊर्षस्वि, समाहित, भावोदय, भावसन्धिः और भावशबलता) का उल्लेख करते है जो ध्वनि की सी प्रकृति रखते हुए भी अलकारों मे परिगणित होते है ।"[3] कहकर सकेत किया है । इससे हम समझ सकते है कि आनन्दवर्धन के पहले भी आलंकारिकों को रस-ध्वनि का अभास हो गया था ।[4]

आनन्दवर्धन से लगभग अर्धशताब्दी पूर्व वामन का काल है । इनके अलंकार ग्रन्थ, काव्यालकार सूत्र मे ध्वनि सम्बन्धी कुछ अद्भुत सूत्र मिलते है । वस्तुतः साहित्य के सम्बन्ध में सभी सत्विचारको के सिद्धान्तों मे कुछ न कुछ साम्य अवश्य

---

१. उद्भट : काव्यालंकार सार संग्रह, लघुवृत्ति सहित : पृ० ५५
२. येनलम्बालकः साश्रः करघातारुणस्तनः ।
अकारि भग्नवलयो राजासुरवधूजनः ॥
—वही, पृ० ५५
३. अथान्यानपि सप्तालंकारानामनन्ति । ते च ध्वनिरूपा अप्यलंकारत्वे परिगणिताः।
वही, पृ० २२६
४. इस सम्बन्ध में अपने विचार हमने द्वितीय अध्याय के प्रसंग दो में रखे है ।

मिल जाता है। इसका एक कारण यह भी है कि ध्वनि-सम्प्रदाय समन्वयवादी था। उसके प्रवर्तक आरम्भ से ही यह उद्देश्य लेकर चले थे कि ध्वनि की सीमा इतनी विस्तृत हो कि उसमे पिछले तो क्या भविष्य मे सम्भव सम्प्रदाय भी समा जाँय। अतएव रीति का-भी ध्वनि मे समाहार हुआ है। रीति के बाह्य तत्त्वों—वर्ण-योजना और समास का अन्तर्भाव वर्ण-ध्वनि और रचना-ध्वनि में किया गया है।

वामन ने वक्रोक्ति (सादृश्याल्लक्षणा वक्रोक्तिः)[1] अर्थ प्रौढि के समास[2] और साभिप्रायत्व[3] मे व्यंग्य-अर्थ को स्वीकार किया है।

इन सब पूर्व लिखित सूत्रो और कुछ मौखिक चर्चाओ के आधार पर आनन्द-वर्धन ने अपना युग प्रवर्तनकारी ग्रन्थ ध्वन्यालोक लिखा जिसका एक मात्र उद्देश्य ध्वनि को काव्य की आत्मा सिद्ध करना था। ग्रंथ के प्रथम उद्योत में लेखक ने 'प्रतीयमान' की 'वाच्य' से श्रेष्ठता, प्रतीयमान के प्रकार व ध्वनि का लक्षण प्रतिपादित किया है। दूसरे उद्योत मे ध्वनि के उपभेद और अलंकार तथा रस का विवेचन है। तीसरे उद्योत मे रस का विस्तार से औचित्य आदि ध्वनि के अन्य प्रकाशक तत्त्वो की पृष्ठ-भूमि मे विचार किया गया है। चौथे और अन्तिम उद्योत मे रस-ध्वनि की प्रधानता और त्रिविध सादृश्य मुख्य विषय है।[4] आनन्दवर्धन के कोई डेढ़ सौ वर्षों बाद अभिनवगुप्त ने लोचन द्वारा ध्वन्यालोक की विस्तृत व्याख्या की जिससे इस सम्प्रदाय की जड़ पूरी तरह जम गई।

ध्वन्यालोक के प्रणयन के पश्चात ध्वनि का विवेचन दो रूपो—खण्डन, मण्डन में मिलता है।

अभिनवगुप्त के पहले ही प्रतिहारेन्दुराज की काव्यालकार सार संग्रह पर लघुवृत्ति मिलती है। ये ध्वनि से परिचित होते हुए भी ध्वनि विरोधी हैं। ग्रन्थ के अन्त मे इन्होने ध्वनि पर विचार किया है किन्तु प्रतीत होता है ये इसे ठीक ठीक समझ नही पाए हैं। इन्होने ध्वनि के समस्त भेदो का पर्यायोक्त और अप्रस्तुत प्रशसा मे समाहार करने का प्रयत्न किया है।[5] इनके ध्वनि सम्बन्धी ज्ञान के सम्बन्ध मे

---

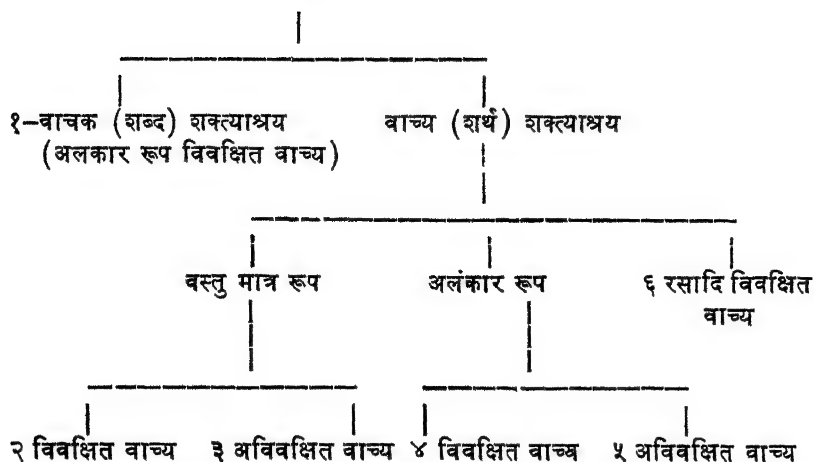
१. काव्यालंकार सूत्र : ४, ३, ८।

२. व ३. वही : ३, २, २ और इसकी वृत्ति।

४. संवादो ह्यन्यसादृश्यं तत्पुनः प्रतिबिम्बवत्।
आलेख्याकारवत्तुल्यदेहिवच्च शरीरिणाम् ॥४, १२॥

५. अतश्च पर्यायोक्तप्रस्तुतप्रशंसयोरेव यथाक्रमं विवक्षिता विवक्षितवाच्ययोः सर्वध्वनि भेदसामान्यभूतयोर्ध्वनिभेदयोरन्तर्गतिर्वाच्या।
—काव्यालंकार सार संग्रह, लघुवृत्ति सहित—पृ० ९१

निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि वह अधूरा था क्योकि सम्पूर्ण प्रसंग मे अनेक परस्पर विरोधी बाते आई है। एक स्थल पर ये लिखते है कि त्रिविध प्रतीयमान अर्थ (रस, वस्तु, अलकार) विवक्षित और अविवक्षित वाच्य रूप मे छ. प्रकार का होता है।[1] दो पृष्ठ बाद ही ये फिर लिखते है कि रस-ध्वनि मात्र विवक्षित ही होती है। वस्तु और अलकार ध्वनि ही विवक्षित और अविवक्षित होकर चार प्रकार की होती है।[2] इनका अन्तिम ध्वनि-विभाजन निम्न मानचित्र द्वारा प्रस्तुत किया जा सकता है.—



इन षट् भेदों में से दो अविवक्षित वाच्य को छोड़कर शेष के स्वत सम्भवी और कवि प्रौढोक्ति सिद्ध दो प्रकार के होने से आठ प्रकार हुए। इनमे प्रथम दो भी जोड़ देने से कुल दस प्रकार होते है। ये दसों भेद पद और वाक्य मे प्रकाशित होने से ध्वनि के बीस प्रकार हो जाते है।[4]

इस विवेचन से हम समझ सकते है कि उक्त विद्वान् का ध्वनि सम्बन्धी ज्ञान कितना अविकसित और भ्रमपूर्ण था। उद्भट के टीकाकार और अलकारवादी होने का यह स्वाभाविक परिणाम था। इन्होने उसी सिद्धांत का समर्थन किया जिसका आनन्दवर्धन ने खण्डन किया था। ध्वन्यालोक के प्रश्नोत्तरी शैली से स्पष्ट है कि

१. वही : पृ० ८९
२. वही : पृ० ९१
३. वही (अंग्रेज़ी टिप्पणी भाग) : पृ० १७४
४. वही : पृ० ९१-९२

आचार्यों का एक वर्ग मौखिक रूप से ध्वनि को अलकार के अन्तर्गत समझता था। सब अलंकारो की टीका के बाद प्रतिहारेन्दुराज लिखते हैं—"कैश्चित्सहृदयैर्ध्वनिर्नाम व्यंजकत्वभेदात्मा काव्यधर्मो मिहिताः। स कस्मादिह नोपदिष्टः। उच्यते। एष्वेवा-लकारेष्वन्तर्भावात्।" इसके बाद वे कुछ उद्धरण लेकर सिद्ध करते हैं कि इनमे पर्या-योक्त श्लेष और रसवत् अलकार है न कि ध्वनि।

सबसे अधिक आश्चर्य की बात यह है कि ये उक्त स्थलों में सच्चा सौन्दर्य वाच्यार्थ में देखते हैं न कि व्यग्यार्थ में। ये निर्भीकतापूर्वक लिखते है—यत्तु वाच्य-शक्त्याश्रय "याते गोत्रविपर्यये श्रुतिपथम्" हत्यायावसंलक्ष्यक्रम रसादि व्यग्यनिष्ठ व व्यंजकत्वमुक्तं तत्रापि वाच्यस्य विवक्षितत्वमेव।[1] सम्भवतः आचार्य शुक्ल को वाच्यार्थ मे काव्य का सौन्दर्य कहने की प्रेरणा यही से मिली थी।

ध्वनि मत के तत्काल विरोधियो मे दूसरा स्थान भट्टनायक का है। ये रस के समर्थक थे किन्तु उसे व्यग्य न मानकर स्वसवेद्य समझते थे। ध्वनि का खण्डन रस का स्वसंवेद्यत्व सिद्ध करने के लिए किया है। इनके द्वारा लिखित हृदयदर्पण का व्यक्तिविवेककार ने उल्लेख किया है—अदृष्टदर्पणा यत्र धी।[2] इस पर राजानक रुय्यक की व्याख्या—'दर्पणा हृदयदर्पणाख्यो ध्वनिध्वस ग्रन्थोऽपि,' भी इस अनुमान को पुष्ट करती है कि व्यक्तिविवेक की भाँति हृदयदर्पण मे भी ध्वनि का खण्डन किया गया होगा। अभिनवगुप्त ने रस-सूत्र की व्याख्या के प्रसग मे भट्टनायक के विचार दिये हैं। इन्होंने रस व्यापार को सिद्ध करने के लिए अभिधा के अतिरिक्त भावकत्व और भोगीकरण दो विशेष व्यापारो की कल्पना की।

किन्तु उक्त दोनो सूत्रो से यह स्पष्ट नहीं होता कि हृदयदर्पण की रचना प्रधानतः ध्वनि के खण्डन के लिए हुई थी अथवा रस-सूत्र की व्याख्या के लिए जिसमें ध्वनि की चर्चा प्रसगत आ गई है। डॉ० एस० के० डे इन्हे निश्चित रूप से ध्वनि का खण्डन करनेवालो के साथ समझते है। रस की व्याख्या उसका एक अग बनकर आई है।[3]

इस पंक्ति मे तीसरे और चौथे आचार्य धनंजय और उनके छोटे भाई धनिक है। प्रतीत होता है धनिक भी रस सम्प्रदाय मे दीक्षित थे। इनके विचार से स्थायी भाव सामाजिक के मन मे पहले से रहते है। काव्य द्वारा उनका पूर्ण विकास मात्र होता है। इनका विश्वास है कि पाठक न केवल विभावानुभाव द्वारा भावों का

---

१. उद्भट : काव्यालंकार सार : पृ० ८३

२. महिम भट्ट : व्यक्ति विवेक : पृ० ६

३. हिस्ट्री आव संस्कृत पोएटिक्स, जिल्द २ : पृ० २३१

बोध करता है अपितु साथ साथ अनुभव भी करता चलता है । इसलिए कविता का रस से व्यजक और व्यंग्य का नही भावक और भाव्य का सम्बन्ध है—

अतो न रसादीना काव्येन सह व्यग्यव्यंजक भावः । किं तर्हि भाव्यभावक सम्बन्धः ।[1]

जहाँ तक शब्द शक्ति का प्रश्न है ये व्यजना के स्थान पर तात्पर्यशक्ति को ही स्वीकार करते है । यह शक्ति कोई ऐसी वस्तु नही है जो एक बार प्रयोग मे लायी जाने के बाद समाप्त हो जाय । वह आवश्यकतानुसार चाहे जहाँ तक प्रसारित हो सकती है—

तात्पर्यानतिरेकाच्च व्यंजकत्वस्य न ध्वनि. ।

*　　　*　　　*

ऐतावत्येय विश्रान्तिस्तात्पर्यस्येति किं कृतम् ।
यावत्कार्य प्रसारित्वात्तात्पर्य न तुलाघृतम् ।।[2]

तात्पर्यशक्ति मे ध्वनि का समाहार करनेवाले व्यक्तियो की पक्ति में आगे चलकर भोज हुए । इनका दृष्टिकोण समन्वयवादी था । दोनो मे समता स्थापित करते हुए इन्होने कहा कि ध्वनि तात्पर्य का ही काव्यमय रूप है । साधारणत. जो तात्पर्य है काव्य विशेष मे वही ध्वनि है । अतः ध्वनि स्वतत्र न होकर तात्पर्य का ही एक भेद है ।[3]

सामान्यत. यह समझा जाता है कि कुन्तक ने अपना वक्रोक्ति-सम्प्रदाय ध्वनि-सम्प्रदाय के विरोध मे उठाया ।[4] सच यह है कि अब तक आचार्यों ने काव्य की आत्मा के सम्बन्ध मे तो खूब विचार किया था किन्तु वह आत्मा जिस शरीर मे रहती है उस पर कुछ नही कहा था । माना रीति, ध्वनि या रस काव्य की आत्मा है किन्तु काव्य मे यह तत्त्व आता कैसे है ? कुन्तक ने इस व्यावहारिक पक्ष पर ही प्रकाश डालने का प्रयास किया है ।

कुन्तक ध्वन्यालोक और उसके रचयिता दोनो से भलीभाँति परिचित थे । 'प्रतीयते' पद की व्याख्या मे ये स्पष्ट कहते है कि ध्वनिकार ने व्यग्य व्यजक भाव

---

१. दशरूपक : चतुर्थ प्रकाश : पृ० ९६

२. दशरूपक : पृ० ९५

३. 'तात्पर्य, यस्य काव्येषु ध्वनिरिति प्रसिद्धिः । तदुक्तम्
'तात्पर्यमेव वचसि ध्वनिरेव काव्ये'
—डॉ० वी० राघवन : भोजाज़ श्रृंगार प्रकाश, जिल्द १, खण्ड १, पृ० १२४

४. डॉ० नगेन्द्र : हिन्दी वक्रोक्ति जीवित की भूमिका : पृ० १९४

का अच्छी तरह समर्थन किया है इसलिए उसे दुबारा यहाँ कहने से क्या लाभ।[1] इससे सिद्ध है कि ध्वनि का खण्डन करना कुन्तक का उद्देश्य नहीं था। ध्वनि की स्वीकृति में ये प्रतीयमान और व्यंग्य दोनो का प्रयोग करते हैं।

(क) 'उदारस्व· ·· '[2] कारिका की वृत्ति मे 'प्रतिपादन' पद के उचित प्रयोग के समर्थन में ये लिखते हैं कि यहाँ वाच्य रूप में इसलिए नही कहा गया है क्योंकि प्रतिपादन व्यग्य रूप से भी सम्भव है।[3]

(ख) 'प्रतीयते' क्रिया पद की व्याख्या ही यह है कि जहाँ शब्दों का वाचकत्व रूप व्यापार न होकर प्रतीतिकारित्व रूप व्यापार हो।[4]

(ग) 'रूढिवैचित्र्यवक्रता, प्रतीयमान धर्मों के बाहुल्य के कारण से नाना प्रकार की होती है।[5]

(घ आनन्दवर्धन अलंकार ध्वनि को एक अलग भेद मानते हैं। कुन्तक भी कुछ अलंकारों के द्विविध रूप की व्याख्या करते हैं। एक शब्द और दूसरा प्रतीयमान। शब्द कवि परम्परा में प्रसिद्ध, उसका प्रतिपादन करने मे समर्थ वाचक शब्द से कहा हुआ होता है और प्रतीयमान वाक्यार्थ की सामर्थ्य से बोधित होता है।[6]

(ङ) पर्यायवक्रता की व्याख्या और उसका उदाहरण देते हुए ये एक स्थान पर लिखते है कि ध्वनिवादियों के मत मे यही शब्द शक्ति मूल सलक्ष्यक्रम व्यग्य पद ध्वनि का विषय होता है।[7] कुन्तक के मत से अनेक श्लिष्ट पदों के प्रयोग से वाक्य-ध्वनि का उदाहरण बनता है।[8]

उपर्युक्त उदाहरण हमारी धारणा को पर्याप्त स्पष्ट कर देते है। अब प्रश्न यह है कि ये प्रतीयमान को स्थान कौन सा देते थे? काव्य शब्द की व्याख्या और अर्थ की प्रतीति के सन्दर्भ मे इन्होने इस पर भी प्रकाश डाला है।

---

१. यस्माद् ध्वनिकारेण व्यंग्यव्यंजकभावोऽत्र सुतरां समर्थितस्तत् किं पौनरुक्त्येन।
— वक्रोक्तिजीवत — पृ० १९६

२. वही : पृ० ३,१

३. वही : पृ० २९४

४. प्रतीयते इति क्रियापद वैचित्र्यस्यायमभिप्रायो यदेवंविधे विषये शब्दानां वाचकत्वेन न व्यापारः, अपितु वस्त्वन्तरवत्प्रतीतिकारित्वमात्रेणेति युक्तियुक्तमप्येतदिह नातिप्रतन्यते। — वही : पृ० १९६

५. वही : पृ० २०१

६. वही : पृ० ४५५

७. वही : पृ० २११

८. वही : पृ० २१२

इस प्रसंग मे कुन्तक तात्पर्यवादियों से प्रभावित प्रतीत होते है। काव्य-शब्द वह है जो कवि के विशेष अर्थ के कथन की क्षमता रखता हो।[1] इसी वाचकत्व के अन्तर्गत प्रतीयमान अर्थ भी आ जाता है। बोध्यत्व की समानता होने से द्योत्य और व्यग्य दोनो मे वाच्यत्व रहता है।[2]

इस प्रकार ऊपर से देखने पर यद्यपि कुन्तक अभिधावादी लगते है किन्तु इनकी अभिधा सकीर्ण आद्या शब्दवृत्ति नही है। वह अत्यन्त व्यापक है, इतनी कि उसमे लक्षणा और व्यजना भी समा जांय।

कुन्तक ने जिस वक्रोक्ति को इतना महिमा मण्डित किया उसकी ओर भामह बहुत पहले सकेत कर चुके थे।[3] बीच के आचार्य वक्रोक्ति को दूसरे ही अर्थ में (अलंकार रूप मे) समझते आ रहे थे। कुन्तक ने उसके मूल भाव को समझा और उसी की नीव पर काव्य की सर्वथा नवीन व्याख्या की। इस प्रयत्न मे वे ध्वनि-सम्प्रदाय से कितने प्रभावित थे यह दोनो के ग्रन्थो की तुलना करने पर स्पष्ट हो जाता है। डॉ० नगेन्द्र ने दोनो मे निम्न तीन प्रकार के साम्य दिखलाए है जो दोनो की अपने अपने विषयो की परिभाषाओ के आधार पर है।[4]

(१) दोनो मे प्रसिद्ध वाच्य अर्थ और वाचक शब्द का अतिक्रमण है। आनन्दवर्धन का सूत्र 'यत्रार्थ. शब्दो वा ' ही कुन्तक की शब्दावली मे 'शास्त्र-दिप्रसिद्ध शब्दार्थोपनिबन्धव्यतिरेकि' का रूप धारण कर लेता है। दोनो के मत मे साधारण का त्याग और असाधारण की विवक्षा है।

(२) ध्वनि तथा वक्रोक्ति दोनो मे वैचित्र्य की समान वांछा है। आनन्द ने 'अन्यदेव वस्तु' के द्वारा और कुन्तक ने 'विचित्रा अभिधा' के द्वारा इसको स्पष्ट किया है। (यह पहले भेद का ही प्रकारान्तर से कथन है।)

(३) दोनो इस वैचित्र्य सिद्धि को अलौकिक प्रतिभाजन्य मानते है।

परिभाषागत साम्य से अधिक इनमे भेद-प्रस्तारगत साम्य है। ध्वनि का चमत्कार जैसे सुप, तिङ, वचन, कारक, कृत, तद्धित, समास, उपसर्ग, निपात, काल, लिंग, रचना, अलकार, वस्तु तथा प्रबन्ध मे है, वैसे ही वक्रोक्ति का विस्तार भी पद पूर्वार्ध, और पदपरार्ध से लेकर प्रकरण तथा प्रबन्ध तक है। इस प्रकार हम देखते है कि

१. वही : पृ० ४१

२. वही : पृ० ३७

३. सैषा सर्वैव वक्रोक्तिरनयाऽर्थो विभाव्यते।
यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलंकारोऽनया विना॥ २,८५॥ काव्यालकार

४. डॉ० नगेन्द्र : हिन्दी वक्रोक्तिजीवित की भूमिका : पृ० १९३

दोनो सिद्धान्तों मे विभेद होते हुए भी साम्य के प्रभूत लक्षण हैं। कुछ आधुनिक विद्वान् इस विभेदगत साम्य को जीव के दृष्टान्त द्वारा समझाने का प्रयत्न करते हैं। चेतन एव जड का सघात रूप भासित होनेवाले जीव मे जितने अशो मे आत्मा की सत्ता शरीरातिरिक्त मानी जाती है उतने ही अंशो मे ध्वनि काव्य की आत्मा है। किन्तु जैसे जीव का व्यवहार दोनो के योगपथ में होता है उसी प्रकार वक्रोक्ति विशिष्टाभिधा भी वाच्य और व्यंग्य दोनो के साथ व्यवहृत होती है।[1] तात्पर्य यह कि वक्र उक्ति ध्वनि रूप आत्मा को धारण करनेवाला शरीर है।

ध्वनि का प्रतिज्ञाबद्ध होकर विरोध करनेवाले आचार्य महिम भट्ट हुए। इन्होने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'व्यक्ति विवेक' मे एक मात्र अभिधा वृत्ति ही मानी है।[2] उससे प्राप्त अर्थ वाच्य है और शेष, लक्ष्यार्थ और व्यंग्यार्थ, अनुमेय हैं।[3] ध्यान देने की बात है कि ये रस, वस्तु और अलंकार का विरोध नही करते। विरोध यह है कि ये तीनों व्यग्य नही हैं, अनुमेय हैं।[4] मम्मट और विश्वनाथ ने महिम भट्ट का खण्डन करते हुए यह निष्कर्ष निकाला कि रस, वस्तु और अलंकार किसी भी दशा में पद, पदाश या अर्थ आदि के द्वारा अनुमित नहीं हो सकते क्योकि अभिधेयार्थ और व्यंग्यार्थ मे परस्पर विरोध-विधि-निषेध-की व्याख्या अनुमान के आधार पर नही हो सकती।

उपर्युक्त कुछ विरोधी मतों को छोड़कर आनन्दवर्धन के पश्चात् के सभी बड़े-बड़े आचार्यों और सकलित ग्रन्थों में ध्वनि का समर्थन मिलता है। सबसे पहले यहाँ अग्निपुराण को लेते हैं।

अग्निपुराण का समय बड़ा ही विवादग्रस्त है। अनुसन्धान करनेवाले अधिकाश विद्वान् इस बात पर सहमत है कि वह पुराण ७ वी शती के बाद ही रचा गया है और इसका काव्य शास्त्रीय भाग तो सम्भवतः १०५० के भी बाद लिखा गया है।[5] यह किसी एक व्यक्ति की कृति न होकर विश्वकोष के रूप में सकलन मात्र है।[6] अग्निपुराण को साहित्य शास्त्र का प्रामाणिक ग्रन्थ मानकर उद्धृत करनेवाले प्रथम आलंकारिक कविराज विश्वनाथ हैं जिन्होने काव्य प्रयोजन की प्रामाणिकता मे इसका

---

१. रामनरेशवर्मा : वक्रोक्ति और अभिव्यंजना : पृ० ९८
२. शब्दस्यैकाभिधा शक्ति। महिम भट्ट : व्यक्ति विवेक : पृ० १०५
३. तत एव तदनुमिता द्वा लिंगभूतायदर्थान्तरमनुमीयते सो नुमेयः। स च त्रिविधः। वस्तुमात्रलंकारारसादश्चेति। — वही : पृ० ३९
४. पी० वी० काणे : द हिस्ट्री आव संस्कृत पोएटिक्स : पृ० ९
५. पी० वी० काणे : द हिस्ट्री आव संस्कृत पोएटिक्स : पृ० ९
६. अग्निपुराण का काव्यशास्त्रीय भाग, रामलाल वर्मा द्वारा सम्पादित : पृ० ४

उद्धरण दिया है ।[१] इसके पहले अपराक टीका और अद्भुत सागर आदि केवल धर्म-ग्रन्थो मे इसका उल्लेख हुआ है ।[२] डॉ० एस० के० डे० का मत ठीक इसके विपरीत है । अग्निपुराण मे ध्वनि का उल्लेख प्रसगतः ही मिलता है जैसा ध्वन्यालोक के पूर्व रचे गये ग्रन्थों मे हुआ है । बाद के आचार्यो ने यदि ध्वनि को किसी अलकार के अन्तर्गत लिया भी है तो इसके पहले ध्वनि का अलग से खण्डन अवश्य किया है । इससे सिद्ध है कि अग्निपुराण का काव्यशास्त्रीय भाग आनन्दवर्धन के समसामयिक आचार्य द्वारा लिखित है ।[३]

इस ग्रन्थ के नवे अध्याय में कुछ अलंकारो के लक्षण मे ऐसा लगता है जैसे ध्वनि का ही पिष्टपेषण किया जा रहा हो । अभिव्यक्ति अलंकार का लक्षण है—भाव प्रकटीकरण । इसके दो भेद है—श्रुति तथा आक्षेप । श्रुति से तात्पर्य है शब्द द्वारा स्व अर्थ का समर्पण ।[४] अभिव्यक्ति के दूसरे प्रकार 'आक्षेप' की व्याख्या करते हुए वे लिखते है—"जहाँ कर्णेन्द्रिय द्वारा अप्राप्य किसी अन्य अर्थ की प्रतीति होती है वह आक्षेप का विषय है । इसे ध्वनि भी कहते है क्योकि इसकी प्रतीति ध्वनि से होती है ।[५] स्पष्ट है कि ध्वनि को सीधे-सीधे शब्दो मे स्वीकृत करनेवाला ग्रन्थ ध्वन्यालोक के बाद का ही हो सकता है ।

आनन्दवर्धन और अभिनव के पश्चात् ध्वनि के सबसे बड़े समर्थक मम्मट हुए । आश्चर्य की बात यह है कि ध्वनि विरोधियो का अनेक प्रकार से खण्डन करने पर भी उन्होने काव्य की परिभाषा[६] देते हुए ध्वनि को छोड़ दिया । आलोचको की धारणा है कि ध्वन्यालोक की स्थापनाओं तथा उसके पहले के आचार्यो की मान्यताओ को एक सूत्रता मे लाने के कारण ही इनकी परिभाषा ऐसी बन पडी है ।[७] इनके मत से गुण रस के धर्म है । ध्वनि सम्प्रदाय मे भी रस-ध्वनि काव्य से श्रेष्ठ है । अतः इनके 'सगुणो' मे ही ध्वनि का संकेत मिल जाता है ।[८]

---

१. किंच काव्यस्योपादेयत्वमग्निपुराणेऽप्युक्तम् । साहित्यदर्पण : पृ० १०
२. पी० वी० काणे : द हिस्ट्री आव संस्कृत पोएटिक्स : पृ ९
३. डॉ० एस० के० डे० : हिस्ट्री आव संस्कृत पोएटिक्स, जिल्द १, खण्ड १, पृ० १०४
४. प्रकटत्वमभिव्यक्तिः श्रुतिराक्षेप इत्यीपि ।
तस्या भेदौ, श्रुतिस्तत्र शाब्द स्वार्थसमर्पणम् ।।९, ७।। अग्निपुराण
५. श्रुतेरलभ्यामानोऽर्थो यस्माद्भाति सचेतनः ।
स आक्षेपो ध्वनिः स्याच्च ध्वनिना त्यज्यते यतः ।।९, १४।। वही,
६. तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलङ कृतिपुनः क्वापि । —काव्यप्रकाश : पृ० ९
७. हिन्दी साहित्य कोष : पं० ज्ञानमण्डल लि० : पृ० ३६३
८. डॉ० भोलाशकर व्यास : ध्वनि सम्प्रदाय और उसके सिद्धान्त : पृ० ३२९

इसके अनन्तर कविराज विश्वनाथ और पडितराज जगन्नाथ उल्लेखनीय आचार्य है। काव्य की परिभाषा के सम्बन्ध में मतभेद होते हुए भी दोनों ने अपने अपने ग्रन्थों मे ध्वनि और उसके उपभेदो का सविस्तार वर्णन किया है।

आधुनिक युग में आकर काव्य की आत्मा सम्बन्धी विचार-विरोध शिथिल पड़ गया है। विद्वान् यह अनुभव करने लगे है कि काव्य को काव्य विशेषत्व प्राप्त करने के लिये रस, अलंकार, ध्वनि, औचित्य आदि सभी की आवश्यकता है और वे किसी एक का खण्डन दूसरे के मण्डन के लिए नही करते। किन्तु हाल ही मे एक ग्रंथ निकला है 'हिन्दी काव्य में अन्योक्ति'। इसके विद्वान् लेखक ने प्राचीन पद्धति का अनुसरण करते हुए ध्वनि का अन्तर्भाव अन्योक्ति मे करने का प्रयत्न किया है। इसके लिए इन्हें अन्योक्ति की सीमा को अत्यन्त विस्तृत करने की आवश्यकता पडी है। अन्योक्ति एक अलकार विशेष के अतिरिक्त शैली और ध्वनि भी है।[1] अन्योक्ति (अलकार) मे प्रतीक द्वारा प्रस्तुत का प्रतिपादन व्यग्य रूप में होता है। कभी कभी यह प्रयास सम्पूर्ण ग्रथ मे दिखाई पड़ता है तब वह शैली विशेष की सज्ञा से अभिहित होता है। इसके तीसरे ध्वनि रूप के प्रसग मे लेखक भोज की भाँति समन्वय करता हुआ लिखता है कि अन्योक्ति ध्वनि अलकार और पद्धति रूप अन्योक्तियो मे होती है, पद्धति रूप मे तो वह अधिक मात्रा मे होती है।[2] ऐसी अवस्था मे हमारी समझ मे यह नही आता कि उसका फिर तीसरा भेद मानने की आवश्यकता ही क्या है। सम्भवतः इनका उद्देश्य ध्वनि और अन्योक्ति की कार्य पद्धति में समानता दिखलाना रहा है।

रस सिद्धान्त के प्रवर्तक भरत मुनि ने रस निष्पत्ति के लिए अनेक शर्तें—विभाव, अनुभाव, सचारी—लगा दी थी। ये सब नाटक और प्रबन्ध काव्यो मे तो पूरी की जा सकती थी मुक्तक मे उनका पूरा होना कठिन था। साथ ही उनको काव्य की परिधि से बाहर भी नही किया जा सकता था। इसके अतिरिक्त काव्य के मुक्तक प्रकार मे सदैव रसाभिव्यक्ति उद्देश्य रहता भी नही। अतः ऐसे काव्य को भी काव्यत्व की सीमा मे ले आने के लिये आनन्दवर्धन को ध्वनि तत्त्व का विश्लेषण करना पडा जो एक वर्ण से लेकर प्रबन्ध तक मे हो सकता है। आधार के ठोस होने के कारण से यह धारा आगे भी न केवल अखण्ड रूप से बहती रही अपितु पीन से पीनतर होती गई।

---

१. डॉ० संसार चन्द्र : हिन्दी काव्य में अन्योक्ति : पृ० १२

२. वही : पृ० १६

द्वितीय अध्याय

भारतीय आलोचना-सम्प्रदाय

सृजन के साथ साथ मनुष्य सृष्टि की आलोचना भी करता चलता है। यह भी उसकी सहजात वृत्ति है। नित्य प्रति के जीवन मे स्थूल वस्तुओ की उपादेयता ही उनकी उत्कृष्टता का मापदण्ड है। मन की वृत्तियो से सम्बन्ध रखनेवाली कला की कसौटी तैयार करना उतना सहज रही है। इसके अतिरिक्त, कलाकृतियो के रूपविधान मे परिवर्तन इतना शीघ्र होता है कि उसके सौन्दर्य का आकलन करनेवाले मानो को सतत विकासशील रहना पड़ता है। एक युग के मानो को दूसरे युग मे ज्यो का त्यो स्वीकार कर लेने पर बहुत सी नई बाते अस्पृष्ट रह जाती है और पूर्व मानो को पूरी तरह छोड़ देने पर पुरानी रचनाये झूठी पड़ जाती है। अतएव प्राचीन और नवीन के उचित समन्वय की सदैव वाछा रहती है।

काव्य के विषय मे आलोचना के प्रथम युग से ही आलोचको की सूक्ष्म दृष्टि उस तत्त्व की खोज मे रही है जिसके अस्तित्व से उसका काव्यत्व सिद्ध होता है। विभिन्न आचार्यों ने अपनी अपनी धारणानुसार इसका उत्तर दिया जिनमे से छः मत—(१) रस, (२) अलंकार, (३) रीति, (४) औचित्य, (५) ध्वनि और (६) वक्रोक्ति—अधिक मान्य होकर सम्प्रदाय रूप मे भी प्रतिष्ठित हुए। ये सभी निजी दृष्टिकोण से काव्य की विशिष्ठता खोजने के कार्य में प्रयत्नशील रहे। सस्कृत काव्य-शास्त्र इन्ही के खण्डन-मण्डन का रोचक इतिहास है।

हमारे विचार से इनमे से कोई एक मत बिना दूसरे की शक्ति का आश्रय लिये खड़ा नही रह सकता। सबने किसी एक को मुख्य और शेष को गौण स्थान देने का प्रयास किया है। 'अमुक सिद्धान्त पूर्ण है' यह बात तभी कही जा सकती थी यदि उसमें दूसरे मतो का समाहार करने का प्रयत्न न होता। अलंकार सर्वस्व की टीका मे समुद्रबन्ध ने इन मतो के उदय के कारण की बडी सुन्दर व्याख्या की है। इनके अनुसार विशिष्ट शब्द और अर्थ—जो पार्वती परमेश्वर की भाँति अलग दिखाई पड़ने पर भी एक है—ही काव्य है। काव्य मे शब्द और अर्थ की विशिष्टता तीन प्रकार से सम्भव है—धर्म से, व्यापार से और व्यग्य से। धर्म के नित्य और अनित्य दो प्रकार हैं। नित्य धर्म गुण हैं और अनित्य धर्म अलंकार। अतः धर्मगत वैशिष्ठ्य से काव्य की आत्मा की खोज करनेवाले दो सम्प्रदाय हुए—रीति सम्प्रदाय और अलंकार सम्प्रदाय। व्यापार मूलक वैशिष्ट्य भी दो प्रकार का होता है। वक्रोक्ति

और भोजकत्व । वक्रोक्ति की कल्पना भामहट ने की थी जिसकी विस्तृत व्याख्या कुन्तक ने की । भोजकत्व व्यापार के समर्थक भट्टनायक हुए जिन्होने रस-सूत्र की व्याख्या मे इसका आश्रय लिया । अत. वे रस-सम्प्रदाय के अन्तर्गत ही आ जाते है । व्यग्य के आधार पर शब्दार्थ में वैशिष्ट्य माननेवाले आचार्य ध्वनि-सम्प्रदाय के प्रतिष्ठाता आनन्दवर्धन हुए । इस प्रकार इन पाँच आचार्यों ने पाँच की विशिष्टताओं की व्याख्या और महत्त्व प्रतिपादन द्वारा अपने अपने मत की स्थापना की ।[1] इनमे यदि औचित्य भी जोड़ दे तो छ: की सख्या पूरी हो जाती है । यहाँ ध्वनि को केन्द्र मान कर उनकी व्याख्या प्रस्तुत की जा रही है ।

१

रस और ध्वनि

रस-आनन्द-जीवन का मूल है । मनुष्य ससार के समस्त व्यवहारों मे इसी की कल्पना मे प्रेरित होता है । वह कोई ऐसा काम नही करना चाहता जो उसे दु.ख दे । आनन्द का निम्न स्तर, सुख, ससार की सभी उपादेय वस्तुओ से मिल जाता है किन्तु मनुष्य समाज ने कलाओं को जन्म इस उद्देश्य से दिया कि उनसे प्राप्त कुछ उच्च कोटि का आनन्द हो । अत: सब कलाओ में श्रेष्ठ साहित्य के निर्माण मे भी उसकी यही वृत्ति कार्य कर रही है । प्रक्रिया भेद से साहित्य का रस अन्य स्थूल रसों की अपेक्षा कही श्रेष्ठ है । उसकी इसी उत्कृष्टता पर बल देने के लिये उसे ब्रह्मानन्द सहोदर की सज्ञा दी गई । जिस प्रकार षट्रसों से युक्त भोजन हमारी रसना को तुष्ट करता हुआ भी आत्मा को तृप्त करता है उसी प्रकार काव्य-दृश्य और श्रव्य—भी हमारी आखो और कानो को तृप्त करता हुआ आत्मा को भी आह्लादमय बनाता है ।

शंका हो सकती है कि क्या काव्य की सभी प्रकार की रचनाओ का प्रभाव सामाजिक पर आनन्द रूप ही होता है ? इसका उत्तर रस प्रक्रिया का विश्लेषण करते समय खोजेंगे । यहाँ इतना बता देना आवश्यक है कि साधारणतया रसा-स्वादन की प्रक्रिया में विषय (मिष्ठान्न पुष्प आदि) प्रमुख होता है आस्वादनकर्ता

१. इह विशिष्टो शब्दार्थो काव्यम् । तयोश्च वैशिष्ट्यं धर्ममुखेन व्यापारमुखेन व्यंग्यमुखेन वेति त्रय: पक्षा: । आद्येऽप्यलंकारतो गुणतो वेति द्वैविध्यम् । द्वितीयेऽपि भणितिवैचित्र्येण भोगकृत्वेनवेति द्वैधम् । इति पंचसु पक्षेष्वाद्य उद्भटादिभिरगी कृतिः, द्वितीयो वामनेन. तृतीयो वक्रोक्ति जीवित कारेण, चतुर्थो भट्टनाकेन पंचम आनन्दवर्धनेन ।

—अलंकार सर्वस्व, समुद्रबन्ध की टीका सहित पृ० ४

गौण। पुष्प सबको अच्छा लगता है, उससे आह्लाद प्राप्त करने के लिए विशेष पात्रता की आवश्यकता नही पड़ती। किन्तु काव्य-रस के आस्वादन में पात्रता का भी उतना ही महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसीलिए ध्वन्यालोककार स्थान-स्थान पर कहते है कि 'ध्वनि का लक्षण सहृदय व्यक्तियो के आनन्द के लिए कर रहा हूँ' या 'यह ध्वनि काव्य सहृदयो को आनन्द देता है।' लोचनकार ने इस प्रकरण मे सहृदय का लक्षण दिया है—येषा काव्यानुशीलनाभ्यासवशाद्विशदीभूते मनोमुकुरे वर्णनीयतन्मयीभवनयोग्यता ते स्वहृदयसंवादभाज सहृदयाः।[1] इससे स्पष्ट है कि काव्य-रस अन्य सामान्य रसो से भिन्न है। सीधे शब्दो मे कह सकते है कि किसी नाटक को देखते या काव्य को पढते समय जो आनन्द मिलता है तथा जो संसार के इतर सुख-दुखो को भुलाने मे समर्थ होता है वही नाट्य या काव्य-रस है।

आज साहित्य मे जितने रसो की सख्या मान्य है आरम्भ मे उतनी ही नही थी। मनुष्य का मन विविध भावो से पूर्ण है। अतएव समय समय पर भरत द्वारा मान्य केवल आठ रसो[2] की सख्या में वृद्धि होती गई। विशेष बात यह है कि भरत ने रसो का सम्बन्ध नाटक से जोड़ा था। उनकी दृष्टि केवल उन्ही पर थी जिनका प्रदर्शन रगमंच पर सम्भव था। बाद मे आलंकारिकों ने श्रव्य-काव्य से भी रस का घनिष्ठ मम्बन्ध देखा तो स्वभावतः उनका ध्यान कुछ अन्य भावो के परिपाक की ओर भी गया। इसके अतिरिक्त युग के अनुकूल नये नये विषय भी भावों के आलम्बन होने लगे। और इस प्रकार रसो की सख्या बढ़ चली।

यायावरीय राजशेखर ने काव्य मीमासा मे रस सिद्धान्त के प्रथम आचार्य के रूप मे 'नन्दिकेश्वर' का नाम लिया हे और नाट्याचार्य के रूप मे भरत मुनि का[3] किन्तु राजशेखर के समर्थन मे कोई अन्य प्रमाण न मिलने के कारण से भरत मुनि ही रस-सम्प्रदाय के भी प्रथम आचार्य माने गए है। रसो, भावो और व्यभिचारियो की सख्या गिनाते समय ही उन्होने इस पर भी प्रकाश डाला है नाटक मे रस की प्रतीति किस प्रकार होती है। रस-निष्पत्ति के उनके सूत्र—विभावानुभाव व्यभिचारि सयोगाद्रसनिष्पत्ति—ने ही कालान्तर मे अनेक व्याख्याताओ को जन्म दिया और इस सम्प्रदाय की परम्परा आगे बढी। इस तरह भरत मुनि ही रस-सम्प्रदाय के प्रथम आचार्य ठहरते है।

---

१. ध्वन्यालोक, लोचन सहित : पृ० ३८

२. शृंगारहास्य करुणा रौद्रवीरभयानकाः।
बीभत्साद्भुतसंज्ञो चेत्यष्टो नाट्ये रसाः स्मृताः ॥६, १६॥ नाट्य शास्त्र

३. रूपकनिरूपणीयं भरतः, रसाधिकारिकं नन्दिकेश्वरः।— प्रथम अध्याय : शास्त्र-संग्रह।

यहाँ हम जान बूझ कर भरत को रस-सिद्धान्त का जन्मदाता नही कह रहे है क्योंकि यह निश्चित है कि रस की मान्यता उनके काफी पहले से चली आ रही थी। राजशेखर द्वारा उल्लिखित नन्दिकेश्वर कोई प्रामाणिक आचार्य रहे हों या नही किन्तु नाट्यशास्त्र मे रस का इतने विस्तार में प्रामाणिक विवेचन यह सिद्ध करता है कि आचार्यों में यह सुदीर्घ काल से चर्चा का विषय रहा होगा। हमारी धारणा की सत्यता का एक और प्रमाण यह भी है कि भरत ने स्वयं अपने कथन को आप्त वाक्य से सिद्ध करने के लिए अनेक आर्या तथा अनुष्टुप छन्द उद्धृत किये हैं। 'अत्रार्ये' रस-विचार-मुखे' ये दो आर्या छन्द दूसरे ग्रन्थ से लिये गए प्रतीत होते हैं।[1] हाँ, नाटक मे रस की प्रतीति की सम्पूर्ण प्रक्रिया व्यवस्थित करने का श्रेय भरत को अवश्य है।

भरत के मत से मुख्य रस केवल चार ही हैं—शृंगार, रौद्र, वीर और वीभत्स। शेष चार इन्ही की शाखायें हैं। शृंगार से हास्य, रौद्र से करुण, वीर से अद्भुत, और वीभत्स से भयानक रस की उत्पत्ति हुई।[2] यह इनकी अपनी सूझ थी।

अपने विशाल ग्रन्थ नाट्यशास्त्र में इन्होंने श्रव्य-काव्य के गुण तथा अलंकार तत्त्वों पर भी विचार किया है किन्तु रस-निष्पत्ति मे सहायक वस्तुओ के रूप मे ही।[3] इस दृष्टि-कोण ने भविष्य में आनन्दवर्धन जैसे आलंकारिकों के मार्गदर्शन का कार्य किया।

भरत के बाद दूसरे प्रमुख आलंकारिक भामह हुए। इनके मत से अलंकार काव्य का अनिवार्य तत्त्व है।[1] विद्वानो की धारणा है कि ये रस-सिद्धान्त के विरुद्ध अलकार-सिद्धान्त के प्रतिपादक थे। रस को स्वीकार अवश्य किया किन्तु गौण स्थान में। प्रेयः एवं रसवत्[2] अलकारो के रूप में इन्होने रस का अलंकारों मे

---

१. डा० एस० के० डे० : स्टडीज़ इन दि हिस्ट्री आव संस्कृत पोएटिक्स : पृ० २१

२. डा० डे० का यह निष्कर्ष काव्यमाला वाले संस्करण पर आधारित है। अन्य संस्करणों में उक्त पंक्ति नहीं मिलती।

२. शृंगाराद्धि भवेद्धास्यो रौद्रत्तु करुणो रसः।
वीराच्चैवोद्भुतोत्पत्तिर्वीभत्साच्च भयानकः ॥६, ३९॥ नाट्यशास्त्र : काशी सं० सिरीज़ संस्करण।

३. एवमेते ह्यलंकारा गुणादोशाश्च कीर्तिताः।
प्रयोगमेषां च पुनः वक्ष्यामि रससंश्रायम् ॥१७, १०८॥ वही।

४. भामह : काव्यालंकार : १, १३

५. वही : ३, ५ और ६

अन्तर्भाव कर लिया है। इसी प्रसग मे ऊर्जस्वित अलकार[1] का भी उल्लेख हुआ है जो वस्तुत किसी वीर का अपने पराक्रम पर भरोसा व्यक्त करता है। प्रेय, रसवत् तथा ऊर्जस्वि मन की स्थितियों से सम्बन्ध रखने के कारण से अर्थ चमत्कार की पक्ति से निकल कर रसाभिव्यक्ति की कोटि मे चले जाते है किन्तु फिर भी उन्हे अर्थ चमत्कार से सम्बन्ध रखने वाले अलकारो के साथ रखना इनके रस-विरोधी होने का प्रमाण है। हम इससे सहमत नही हैं।

रसवत् के विवेचन से भामह यह प्रकट करते है कि वे रस-सिद्धान्त से पूर्ण भिज्ञ है किन्तु रस पूर्ण स्थलो मे रसवत् अलकार मान लेने मात्र से वे रस-विरोधी नही कहला सकते। इनके समस्त अलकारो का मूल वक्रोक्ति है इसलिए रसवत् के मूल मे भी ये अवश्य ही वक्रोक्ति स्वीकार करते होगे। वस्तुतः इनके सामने नाट्य-शास्त्र की प्रतिद्वन्द्विता का प्रश्न था। नाटक मे रस की प्रतीति विभावानुभाव से होती है और काव्य मे वक्रोक्ति से। अभिनवगुप्त ने इसी को लक्ष्य कर इनकी 'सेषा सर्वैव वक्रोक्तिरनयाऽर्थो विभाव्यते' पक्ति मे 'भाव्यते' की व्याख्या इस प्रकार की है—

प्रमदोद्यानादिः विभावता नीयते। विशेषण च भाव्यते रसमयी क्रियते।[2] अर्थात् अर्थ के चमत्कार की भाँति रस का चमत्कार भी वक्रोक्ति से आविर्भूत होता है।

भामह की भाँति दण्डी भी रस से पूर्ण परिचित हैं। इनके अनुसार महाकाव्य मे विभिन्न वृत्तान्तो का सविस्तार वर्णन तथा रस और भावो की लडी जुडी होनी चाहिए।[3] एक दूसरे स्थल पर ये लिखते है—'यह माना कि सभी अलकार रस का सचार करते है।'[4] अतः इन्हे भी रस को लेकर अभाववादी या भाक्त नही कहा जा सकता। प्रश्न इनके सम्मुख भी यही था कि रस पूर्ण स्थलों के सौन्दर्य को कैसे व्यक्त किया जाय . अत. इन्होने भी इस सम्बन्व में भामह का अनुसरण किया।

वामन रसो को 'कान्ति' गुण के अन्तर्गत समेट लेते है—दीप्तरसत्व कान्तिः।[5] जिस रचना के शृगार आदि रस दीप्त हो वह दीप्तरस हुई। इसी का भाव दीप्तरसत्व 'कान्ति' नामक अर्थ गुण है।[6] इतना सब होने पर भी यह निश्चित रूप से नही कहा जा सकता कि वामन रस का कहाँ तक समर्थन करते थे। इस ओर इनका ध्यान शायद इतना भी नही था जितना भामह और दण्डी का।

---

१. वही : ३, ७
२. ध्वन्यालोक, लोचन सहित : पृ० ४६७
३. अलकृतमसंक्षिप्तं रसभावनिरन्तरम् ॥ १, १८ ॥ काव्यादर्श
४. काम सर्वोप्यलकारो रसमर्थं निषिंचति ॥ १, ६२ ॥ वही
५. वामन : काव्यालंकार सूत्र : ३, २, १५
६. वही : उक्त सूत्र की वृत्ति

इस परम्परा मे उद्भट का स्थान विशेष महत्वपूर्ण है। यद्यपि ये भी रस का समावेश प्रेयः, रसवत् एवं ऊर्जस्वित अलकारों मे कर लेते हैं[1] किन्तु इन अलंकारो की इनकी परिभाषाएँ स्वतन्त्र है जिससे प्रतीत होता है कि ये प्रकारान्तर से भरत के भाव और रस के भेद को स्वीकार करते हैं। उदाहरण के लिए, प्रेय' अलकार इनके मत से वहाँ है जहाँ भाव उद्बुद्ध दशा में हो और रसवत् वहाँ जहाँ भाव परिपक्व होकर रस की कोटि में पहुँच गया हो।[2] इसी सम्बन्ध मे इनका कहना है कि इस प्रक्रिया में स्थायी, संचारी, विभाव और अभिनय के साथ-साथ अभीष्ट रसस्व शब्द से वाच्य भी हो सकता है।[3] यहाँ भाव, विभाव आदि पारिभाषिक शब्दो के प्रयोग मे यह स्पष्ट हो जाता है कि उद्भट ने रस के सिद्धान्त को खूब समझा है। रस मे किसी प्रकार अनौचित्य आ जाने पर ये ऊर्जस्वि अलकार मानते हैं।[4] बाद के आचार्यों ने इसे रसाभास कहा है।

उद्भट की सबसे बडी विशेषता इस बात में है कि इन्होंने समाहित अलंकार की नवीन व्याख्या में नवें शान्त रस का प्रतिपादन किया। दण्डी आदि ने उक्त अलंकार उस स्थल पर माना था जहाँ कार्य आरम्भ होने के पूर्व ही दैवयोग से पूरा हो जाय[5] किन्तु उद्भट के अनुसार वह वहाँ है जहाँ रस, भाव और तदाभासों की शान्ति हो जाय—

रसभावतदाभास वृत्ते प्रशमबन्धनम्।
अन्यानुभावनिः शून्य रूपं यत्तत्समाहितम्॥[6]

इस माला में आनन्दवर्धन के पूर्व एक और उल्लेखनीय आचार्य रुद्रट हैं। इन्होंने ही सबसे पहले अपने विवेच्य विषयो में रस को स्थान दिया। पहले के नवों रसों को स्वीकार करते हुए इन्होंने 'प्रेयात'[7] नाम के एक और रस की कल्पना की है। इसी प्रसंग में इन्होंने लिखा कि शृंगार की भाँति ही निर्वेद की परिपक्वावस्था भी 'रस' कोटि की मानी जानी चाहिये।

---

१. उद्भट : काव्यालंकार संग्रह, निर्णयसागर प्रेस : पृ० ४७
२. वही : पृ० ४७ से ४९
३. रसवद्दर्शित स्पष्ट शृंगारादिरसादयम्।
 स्वशब्दस्थायि संचारि विभावाभिनयास्पदम्॥ वही : पृ ४९
४. अनौचित्यप्रवृत्तानां कामक्रोधादिकारणात्।
 भावनां च रसानां च बन्ध ऊर्जस्वि कथ्यते॥ वही॥ पृ० ४९
५. काव्यादर्श : २, २९८
६. काव्यालंकार : पृ ५२
७. काव्यालंकार, नमिसाधु की टीका सहित : १२, ३

अब तक हम देख रहे है कि रस सम्बन्धी सभी कल्पनायें पूर्ण व्यवस्थित नही है। काव्य के अन्य तत्त्वो से उसका उचित सम्बन्ध नही स्थापित किया गया है। यह कार्य आनन्दवर्धन द्वारा सम्पन्न हुआ। इनके हाथों रस-ध्वनि की प्रतिष्ठा हो जाने पर रस को उचित स्थान मिल गया। इनके बाद के सभी आचार्यो (भले ही वे ध्वनि-विरोधी रहे हो) ने रस के महत्त्व को समझा। इसके प्रति आग्रह यहाँ तक बढ़ा कि विश्वनाथ ने काव्य की परिभाषा ही रसात्मक वाक्य के रूप मे की। आनन्दवर्धन के पहले के आलकारिको का इतना विवेचन करने का अभिप्राय केवल इतना ही था ये सब रस की प्रमुखता स्पष्टतः भले न स्वीकार कर सके हों किन्तु उसके प्रति उपेक्षित नही थे। इस प्रकार सस्कृत काव्य शास्त्र के अन्तिम आचार्य पडित राज जगन्नाथ तक रस-सम्प्रदाय की अटूट शृखला मिलती है।

आनन्दवर्धन ने ध्वन्यालोक की प्रथम कारिका मे ही 'ध्वनि ही काव्य की आत्मा' की घोषणा की। किन्तु ध्वनि का वर्गीकरण करते समय रस-ध्वनि को ही सर्वश्रेष्ठ ठहराया।[1] बाद के आचार्यो ने इस ऊपरी सतह पर दिखाई देनेवाले विरोध पर अत्यन्त कडे प्रहार किये। हमारी दृष्टि से इसमे कोई विरोध नही है आत्मा प्रत्येक जीवित मनुष्य मे होती है किन्तु क्या सब मनुष्य समान होते है। उनके स्तरो का नियर्ण कुछ अन्य गुणो के आधार पर किया जाता है जिनका सम्बन्ध केवल मनुष्य के शरीर से ही नही अपितु शरीर आत्मा युक्त सम्पूर्ण व्यक्तित्व से होता है। इसी भाँति काव्य वही है जिसमे ध्वनि का पुट होता है और श्रेष्ठ काव्य वह जिसमे रस-ध्वनि का प्रधान पुट हो। ध्वनि एक विशाल तत्त्व है जिसकी परिधि मे अनेक वस्तुओ के साथ साथ सर्वाधिक प्रमुख तत्त्व रस भी है। अस्तु।

आनन्दवर्धन के समकालीन भट्टलोल्लट आदि आचार्यो ने भरत के रस-सूत्र के प्रकाश में रस-प्रतीति की व्याख्या करना आरम्भ कर दिया था। इसके पहले के आचार्यों के सम्बन्ध में हमने देखा कि भरत को छोडकर किसी ने इस पर विचार नही किया। काव्य मे रस नाम की वस्तु से वे अपरिचित नही है, उसके सौन्दर्य को अस्वीकार भी नही करते है, किन्तु वह आनन्द रूप मे कैसे परिणत होता है या काव्य मे उसके वर्णन की पद्धति क्या है इस पर सब मौन है। आनन्दवर्धन का मुख्य विषय या प्रेरणा स्रोत रस प्रतीति ही है। ध्वन्यालोक के अधिकाश भाग मे रस-ध्वनि, रस उपकारक अथवा रस बाधक तत्त्वों का विश्लेषण हुआ है। इसके लिए सबसे पहले इन्हे व्यंजना की प्रतिष्ठा करनी पड़ी। किन्तु एक बार ऐसा हो जाने पर व्यजना से सिद्ध होनेवाले अन्य कार्यो-वस्तु एव अलकार व्यजना की ओर सकेत करना भी नही भूले है। अतः भरत के पश्चात् आनन्दवर्धन ही रस के सबसे बड़े व्याख्याता हुए। इनके मत से

---

१. ध्वन्यालोक : २, ३.

विभावादिकों के वर्णन से रस व्यंजित होता है और यही व्यंजना रसानुभूति मे परिणत होती है। वाचक शब्दो से रस केवल अनूदित होता है, उसका बोध मात्र होता है प्रतीति नही।

आनन्दवर्धन के बाद अभिनवगुप्त ने 'अभिनव भारती' का प्रणयन कर रस तत्त्व की पुन. व्याख्या की। इस प्रसग में इन्होने रस-सम्प्रदाय के अन्य आचार्यों का भी उल्लेख किया है। खेद है कि उनके ग्रन्थ मूल रूप मे अप्राप्य है।

उत्तरकालीन सस्कृत साहित्य और हिन्दी के पूर्व आधुनिक कालो मे यह परम्परा पिष्ट पोषित रूप में बढती रही। आधुनिक युग मे आचार्य रामचन्द्र शुक्ल इसके बड़े भारी समर्थक रहे। रस मीमासा मे इन्होने इस पर मनःशास्त्र की वैज्ञानिक दृष्टि से भी विचार किया है।

रस के सम्बन्ध में आचार्यों ने मुख्यतः दो बातो पर विचार किया है :—

(१) रस-प्रक्रिया, अर्थात् काव्य का सम्बन्ध सामाजिक के आनन्द से कैसे जुड़ता है।

(२) रस का अलौकिकत्व, अर्थात् काव्यानन्द अन्य सुखो से कैसे भिन्न है और क्या वह सदैव सुखात्मक ही होता है ?

रस-प्रक्रिया को समझाने के लिए भरत के रस-सूत्र की व्याख्या करनेवाले तीन आचार्यों का 'अभिनव भारती' में उल्लेख हुआ है। अभिनव ने इनका खण्डन कर अपने मत का प्रतिपादन किया है।

(१) भट्टलोल्लट—ये उत्पत्तिवादी है (तत्र विभावाश्चित्त वृत्तेः स्थाय्यात्मिकाया उत्पत्तौ कारणम्)।[1] ये निष्पत्ति का अर्थ उत्पत्ति, अभिव्यक्ति और पुष्टि लेते हैं। रस मुख्य रूप से अनुकार्य में उत्पन्न होता है (विभावादि उसमे सहायक होते हैं) और अनुकरण करने के कारण नट मे गौण रूप से। विभाव रस की उत्पत्ति, अनुभाव अभिव्यक्ति और व्यभिचारी पुष्टि करते है। यह रस सम्बन्धी मीमासकों की व्याख्या है। इसमे सामाजिक की पूर्ण उपेक्षा की गई है। नट मे उत्पन्न रस का सामाजिक से क्या सम्बन्ध है इस पर भट्टलोल्लट ने कुछ नही कहा।

(२) शंकुक—इन्होंने अनुमिति का आश्रय लेकर पूर्व पक्ष मे उठी कठिनाई का समाधान करने का प्रयत्न किया। सामाजिक नट के कृत्रिम अनुभावों द्वारा कृत्रिम व्यभिचारी के संयोग से उसमें रस का अनुमान कर लेता है। नट में सामाजिक की राम की प्रतीति, सम्यग्ज्ञान, मिथ्या ज्ञान, संशय और सादृश्यमात्र से बिलकुल भिन्न होती है। उसी विलक्षणता के बल पर नटगत रसादि का अनुभव उसे भी होता है। यही रसानुभूति है। 'निष्पत्ति' की व्याख्या 'अनुमिति' करने से यह मत अनुमितिवादी कहलाया। यह नैयायिकों का मत है।

(३) **भट्टनायक**—अनुमान के वायवी तत्व से प्रत्यक्ष रसमयता असम्भव है। शंकुक ने सामाजिक को किंचित् स्पर्श किया। पूरी तरह दर्शक की दृष्टि से सूत्र की व्याख्या करनेवाले भुक्तिवादी आचार्य भट्टनायक ने काव्य-व्यापार के तीन रूपो—अभिधा, भावकत्व और भोजकत्व—की कल्पना की। प्रथम व्यापार से शब्दार्थ की प्रतीति होती है, द्वितीय व्यापार से पात्रो का साधारणीयकरण होता है और अन्तिम व्यापार से रजस् और तमस् भावो का शमन तथा सत्त्व भाव का एकान्तिक उदय होता है। सात्त्विक भाव के उदित होने से ही रस भुक्ति की दशा उत्पन्न होती है। यह सांख्य दृष्टिकोण है।

भट्टनायक के द्वितीय और तृतीय व्यापार शुद्ध कल्पना प्रसूत है इससे इनका मत भी त्रुटिपूर्ण है। हाँ, इनकी साधारणीकरण की कल्पना अवश्य महत्त्वपूर्ण है।

(४) **अभिनवगुप्त**—सबके अन्त मे आते है अभिव्यक्तिवादी आचार्य अभिनव-गुप्त। इन्ही का मत अधिकाश विद्वानो को मान्य है। इनके मत की मुख्य बाते ये है:—

(क) प्रत्येक सामाजिक मे स्थायी भाव वासना रूप मे विद्यमान रहता है।

(ख) विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी स्थायी भाव की व्यजना करते है।

(ग) ये भाव सामान्य रूप से ग्रहण होते है, अर्थात् रसोद्बोधक तत्त्वो के प्रति हमारी भावना राग-द्वेष और उदासीनता से परे होती है। यह साधारणी-करण है।

(घ) रस की अभिव्यक्ति के समय अनुभवकर्ता स्वय को भी सामान्य रूप मे ही ग्रहण करता है।

(ङ) रस अलौकिक आनन्द रूप है क्योंकि संसार मे जो वस्तु शोक-भय उत्पन्न करती है वह काव्य की सीमा मे प्रवेश करते ही अलौकिक हो जाती है अतः आनन्ददायी बन जाती है।

उक्त मत का विवेचन

इसमें कोई सदेह नही कि प्रत्येक सामाजिक मे अनेक भाव वासना रूप से विद्य-मान रहते है। किन्तु इसका क्या प्रमाण है कि व्यंग्य रस उन्ही भावो द्वारा अभि-व्यक्त है। किसी वस्तु के सम्यग्ज्ञान द्वारा अपने किसी अनुभव या अनुभूति का जाग जाना और बात है तथा उस वस्तु से अनुभूति जागना और बात है। किसी नई वस्तु से प्राप्त अनुभूति ऐसी भी हो सकती है जिसका पहले की किसी अनुभूति से मेल न बैठता हो। नाटक का दर्शन स्वयं में पूर्ण, ससार की अन्य घटनाओं से भिन्न एक अलग घटना है। यदि वह पूर्व अनुभूति जगाने का साधन मान लिया जाय तो संसार मे उसी प्रकार की घटना को भी पूर्व अनुभूति जगानेवाली ही मानना होगा। तब

प्रथम अनुभूति को जगानेवाली घटना कौन सी होगी ? हम इस बात को अस्वीकृत नही करते कि काव्य पूर्वानुभूति नही जगाता। मानव जीवन से सम्बन्ध रखने के कारण उसका यह कार्य नितान्त स्वाभाविक है। पर इस मनोवैज्ञानिक सत्य को भी नही भुलाया जा सकता कि प्रत्येक घटना का देश-काल भिन्न होने से, दो कालों मे भावक की मन.स्थिति एक न होने से, प्रत्येक का प्रभाव अलग अलग पड़ता है। अभिनवगुप्त पूर्व अनुभूनि को ही महत्त्वपूर्ण समझते प्रतीत होते है और वर्तमान अनुभूनि को उसी के अन्तर्गत अनुमान कर लेते है।

रसोद्बोधन मे साधारणीकरण का तत्त्व भट्टनायक से लिया गया है। इस सम्बन्ध मे आधुनिक मनोवैज्ञानिको का कहना है कि दर्शक नट में अनुकार्य की कल्पना करता हुआ उसके विशेषत्व को कभी नही भूलता।[1] राजा दुष्यन्त का अभिनय करनेवाले नट राजा की पोशाक इसलिए पहिनते है कि लोग उसके सामान्य व्यक्तित्व को भूल जाँय। उसकी सामान्य से सामान्य भंगिमा और भाषा उसके उच्च कुलोत्पन्न होने का आभास देती है। ऐसा न होने पर रस-भग समझा जाता है। रगमच के पर्दे और सगीत इसी भ्रम को पुष्ट करनेवाले होते है कि दर्शक जो कुछ देख रहा है वह आज का नही वरन् सैकडों वर्ष पहले का वातावरण है। नाटक की सारी तैयारी एक इसी उद्देश्य को लेकर होनी है कि सामाजिक नट के सामान्य व्यक्तित्व को भुलाकर उसमे राजा दुष्यन्त नामक विशिष्ट व्यक्ति की प्रतीति करने में समर्थ हो। यदि रसानुभूति फिर भी उसके राज पुरुषत्व को भुलाकर ही सम्भव है तो उस सबकी आवश्यकता क्यों ?

दूसरी बात यह कि दर्शक जब तक इस बात को पूरी तरह नही जान लेता कि वह किस व्यक्ति का अनुकरण कर रहा है, उसका नाम क्या है, वंश क्या है उसकी विशिष्ट प्रकृति क्या है तब तक उसे आनन्द ही नही आ सकता। इन्ही सब का पता लगाने के लिए वह काव्य पढता या नाटक देखता है। अत. यह निर्विवाद है कि रस रूप में ग्रहण भाव साधारण के नही विशेष के होते हैं।

डॉ० गुप्त साधारणीकरण का शुद्ध अभिधेयार्थ लेते प्रतीत होते है। अभिनवगुप्त की व्याख्या अत्यन्त सरल है। उसे यों समझा जा सकता है। विशिष्ट अनुकार्य के भावो को विशिष्ट रूप में ग्रहण करते हुए सामाजिक उनका सम्बन्ध सर्वसाधारण से जोड़ता है और ऐसा करते समय यह भी समझता है कि प्रतीति की यह प्रक्रिया प्रत्येक दर्शक के मन में चल रही है। साधारण का अर्थ है निर्वैयक्तिक। यही कारण है कि सब प्रकार के भावों को अनुभव करते हुए भी हम अपने स्थान पर बैठे रहते

---

१. डॉ० राकेश गुप्त : सायकालाजिकल स्टडी इन रस : पृ० ५७

है। यदि कोई निर्वैयक्तिक अनुभूति की सीमा से निकलकर वैयक्तिक अनुभूति में प्रवेश कर जाता है (अर्थात् नाटक मे वर्णित भावो से सम्बन्ध स्वयं से जोड ले) तो निश्चय ही वह रगमंच पर भी शठनायक को दण्ड देने के लिए पहुँच सकता है।

भारतीय काव्य-शास्त्र का साधारणीकरण का सिद्धान्त कला के उपभोग की एक मात्र व्याख्या है और सौन्दर्य शास्त्र को सबसे बडी देन है।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने साधारणीकरण की एक दूसरी ही व्याख्या की। वह है—"पाठक या श्रोता के मन मे जो व्यक्ति विशेष या वस्तु विशेष आती है वह जैसे काव्य मे वर्णित 'आश्रय' के भाव का आलम्बन होती है। वैस ही सब सहृदय पाठको या श्रोताओ के भाव का आलम्बन बन जाती है।"[1] आचार्य जी की यह व्याख्या उनके स्थायी भावो की परिभाषा (वे ही स्थायी भाव कहला सकते हैं जो सब सहृदयो मे समान रूप से आश्रय पा सके)[2] से प्रभावित है। यदि उन्होने अपनी मान्यता का पुन परीक्षण किया होता तो इसकी उलझनो से स्वय चकित रह जाते।

यदि नट के मन मे उठा भाव दर्शको के मन मे भी उठता है तो इसका अर्थ यह हुआ कि राम रूप नट के साथ साथ दर्शक भी सीता के प्रति रति का अनुभव करते है। फिर भावानुभव के पश्चात् जिन अनुभावो का प्रदर्शन नट करता है उन्ही का प्रदर्शन दर्शक भी क्यो नही करते (शायद समूह मे होने के कारण से डरते है)। कभी ठीक इसका उलटा होता है। उधर नट क्रोध का प्रदर्शन कर रहा है इधर दर्शक हर्षध्वनि कर रहे है, उधर लका के जलने का दृश्य उपस्थित है इधर लोग तालियाँ पीट रहे है।

इस शका के समाधान के लिए कहा जा सकता है कि दर्शक अपनी प्रकृति के अनुकूल पात्रों के भावो को ही हृदय मे स्थान देता है। तब क्या शेष पात्रों का अभिनय भावहीन ही रह जाता है। यदि कोई कहे 'सबके' तो वह भी असम्भव है। नाटक मे नट और नटी परस्पर भावो के आलम्बन और आश्रय होते है। बेचारा दर्शक अकेले ही इस द्विविध व्यक्तित्व का भार कैसे वहन कर सकता है। इससे स्पष्ट है कि नाटक में नट के भाव का आलम्बन सभी के भाव का आलम्बन नही होता। अत· यह निश्चित रूप से स्वीकार करना पड़ेगा कि काव्य मे प्रदर्शित या वर्णित भाव और रस उस भाव और रस से भिन्न है जिनकी अनुभूति सामाजिक को उनके दर्शन या पठन से होती है।

अन्तिम बात के अलौकिकत्व पक्ष पर डॉ० राकेश गुप्त की यह आपत्ति है काव्य के रसास्वादन के सभी उपकरण—एक पक्ष में काव्य (रगमंच पर प्रदर्शित विभाव,

---

१. चिन्तामणि, भाग १ : पृ० २२९
२. रस-मीमांसा : पृ० २०५

अनुभाव तथा उद्दीपन) और दूसरे पक्ष मे सामाजिक के अपने भाव तथा उसके 'विकार'—लौकिक ही है। अतः उन सबकी क्रिया प्रतिक्रिया से अलौकिक रस की निष्पत्ति नही हो सकती।[१] काव्य-रस के सुखात्मक होने पर भी इन्हे आपत्ति है। यह स्वाभाविक है क्योंकि उसके आधार को ही ये झूठ मानते है।

रामचन्द्र और गुणचद्र कृत 'नाट्यदर्पण' का प्रमाण[२] देते हुए डॉ० गुप्त ने सिद्ध किया है कि करुण, रौद्र, बीभत्स और भयानक रसो की अनुभूति दुखात्मक ही होती है किन्तु फिर भी ऐसे स्थलो को बार बार पढने या ऐसी घटनाओ को बार बार देखने की इच्छा इसीलिए होती है यह मनुष्य का स्वभाव है।[३] इस संबध मे इनका उदाहरण है—

एक वृद्ध व्यक्ति के पास एक दुखिया आती है। यदि दुखिया उस वृद्ध का विश्वास प्राप्त कर ले तो कोई कारण नहीं कि वृद्ध उसकी दुःख कथा को न सुने। सामान्य जीवन में तो अपरिचित व्यक्ति पर अविश्वास भी किया जा सकता है किंतु काव्य के सभी पात्र बाहर भीतर से पहचाने हुए होते है। अतः कोई कारण नहीं कि उसके दुःख से हम दुखी न हो।

यहाँ विद्वान् डॉक्टर मनुष्य स्वभाव की दुहाई देकर सभी उलझनो से मुक्त हो गए।

अंग्रेजी के प्रसिद्ध आलोचक और नाट्य साहित्य के अधिकृत विद्वान् एलरडाइस निकाल ने इसकी और भी विचित्र व्याख्या की है। उनकी धारणा है कि दुखात्मक नाटकों को देखते समय हम कुछ काल के लिए नाटककार की श्रेणी मे आ बैठते हैं। हम जानते हैं कि पात्र कल्पित हैं इसलिए उन्हे कष्ट भोगते देखकर वही आनन्द आता है जो एक लड़के को तितली को तडपता हुआ देखकर आता है।[४] इस मत की असम्भाव्यता स्वय सिद्ध है। भारतीय मान्यता के प्रकाश मे काव्य का प्रयोजन ही उसका प्रत्याख्यान कर देता है। इसकी दूसरी त्रुटि यह है कि इसमे काव्य द्वारा भावोद्बोधन और व्यावहारिक जीवन में भावोद्बोधन की प्रक्रिया में कोई भेद नही किया गया है।

दोनों का अन्तर इस प्रकार समझा जा सकता है :

---

१. डॉ० राकेश गुप्त : सायकालाजिक स्टडीज् इन रस, भूमिका भाग : पृ० ५

२. वही : पृ० ७५ से ७७ तक

३. स्थायी भाव : श्रितोत्कर्षो विभाव-व्यभिचारिभिः।
स्पष्टानुभावनिश्चेय. सुख-दुःखात्मको रसः ॥३, ७॥ नाट्यदर्पण

4. We stand for a moment alongside the dramatist creator, and smile at the puppets....but perhaps in the world of theatre, where we know that the figures are unreal, we retain enough of the spirit of the boy who loves to see a butterfly struggling on a pin.

—*An Introduction to Dramatic Theory:* P. 87

(१) डॉ० गुप्त के अनुसार मन की जिस वृत्ति के कारण से वृद्ध दुखिया की कहानी ध्यान से सुनता है वही वृत्ति मनुष्य को नाटक के करुणाजनक स्थलो को बार बार देखने की प्रेरणा देती है। शंका हो सकती है कि एक बार दुखिया की कहानी सुन लेने पर भी क्या वृद्ध बार बार उसे सुनने की इच्छा रखेगा। इसी प्रकार जिस भयकर दुर्घटना को देखकर वह चीख उठा था क्या वैसी दुर्घटनाये बार बार देखना पसद करेगा। रसानुभूति को सुखात्मक मानते समय प्रश्न केवल यही नही है करुण प्रसंगो को सामाजिक इतने मनोयोग से क्यो देखता है बल्कि यह भी कि सब कुछ जान लेने पर भी, यहाँ तक कि अमुक स्थल पर उसके आँसू आ जायँगे, वह एक ही बार उसे देखकर सन्तुष्ट क्यों नही हो जाता। उधर वृद्ध दुखिया की कथा दो तीन बार से अधिक नही सुनेगा, सुनेगा भी तो आँसू शायद ही आयें।

(२) दूसरा प्रश्न यह कि नाटक के सम्पूर्ण अभिनय तथा घटनाओ को अवास्तविक समझते हुए भी भाव का आलम्बन कैसे बन जाने देते है ? हम जानते है कि खलनायक का अभिनय करनेवाला व्यक्ति जीवन मे कितना सीधा है फिर भी आक्रोश का भाव जाग उठता है। यह आक्रोश अनुकरण कर्ता के प्रति होता है या अनुकार्य के प्रति ? क्या व्यावहारिक जीवन मे भी ऐसी जानकारी प्राप्त हो जाने पर उक्त भाव जागेगा ? यदि नही, तो स्पष्ट है कि काव्य द्वारा भावोद्बोधन की प्रक्रिया व्यावहारिक जीवन के भावोद्बोधन से भिन्न है। प्रथम मे यह प्रक्रिया त्रिकोण बनाती है और द्वितीय मे सरल रेखा।

(३) इसी से मिलता जुलता एक और प्रश्न है। यदि प्रत्यक्ष जीवन में किसी पुतले को गढे मे ढकेल दिया जाय तो किसी के मन मे कोई भाव नही जागेगा (जागेगा भी तो हर्ष का) किन्तु चलचित्र मे यह जानते हुए भी जो कुछ दिखाई दे रहा है सब छाया मात्र है, ऐसा कोई दृश्य आ जाने पर दिल बैठ जाता है। छाया रूप नायिका के सुख दुख के हम भागी बनते ही है।

(४) एक और बात की ओर प्राचीन आचार्यो का ध्यान नही गया, आधुनिक मनोवैज्ञानिको का गया भी तो कोई उचित समाधान प्रस्तुत नही किया। नाटक मे नट द्वारा प्रदर्शित अनुभाव वस्तुत भावजन्य नही होते। नट का ध्यान आलम्बन विभाव पर उतना नही होता जितना इस पर कि वह कौन सी ऐसी भंगिमा प्रदर्शित करे कि दर्शक उसमें अमुक भाव जगा हुआ प्रतीत करे। कारण स्पष्ट है। वह स्वय दुष्यन्त नही है। यह भी सम्भव है कि शकुन्तला का अभिनय कोई पुरुष पात्र कर रहा हो। चलचित्र के निर्माण में आलम्बन के स्थान पर कैमरा होता है। और इन सबके अतिरिक्त वे परिस्थितियाँ भी नही होती जिनमे प्राकृतिक रति भाव जागता है (क्योकि पर्दे प्रकाश इत्यादि के द्वारा उत्पन्न वातावरण की कृत्रिमता को वह शायद ही कभी भूलता हो)। यदि थोडी देर के लिए मान भी लिया जाय कि नट मे रत्यादि

भाव जागते हैं तो भी यह नहीं कहा जा सकता कि तज्जन्य अनुभाव सर्वस्वीकृत ढंग के ही हों। प्राकृत भावो के जाग जाने पर नट एक और कठिनाई मे पड सकता है कि वह प्राकृत या अप्राकृत में मे किन अनुभावो का प्रदर्शन करे। इससे सिद्ध है कि नाटक मे आलम्बन और अनुभाव मे जनक और जन्य का सम्बन्ध नही होता। इधर दर्शक भी इन सबकी अवास्तविकता का ज्ञान रखने के कारण से नट के अनुभावों से उसके अनुभावों का अनुमान, जो बुद्धिगम्य है, करता है अनुभव नही करता। इस तथ्य से एक और कठिनाई सामने आती है।

(५) बुद्धिगम्य व्यापार भावगम्य कैसे बनता है ?

इन सब प्रश्नों से यह निष्कर्ष निकलता है कि दर्शक मे व्यंजित रस नाटक या काव्य मे व्यग्य, रस कोटि तक पहुँचा भाव नही है। करुण रस पूर्ण नाटक को इसलिए नही देखते कि दूसरे के दु:ख का भागी बनना मनुष्य का स्वभाव है और ऐसे स्थलो की अनुभूति प्रत्यक्ष जीवन की दुखात्मक अनुभूति जैसी नही होती है।

अपने मत के प्रतिपादन के लिए हम सबसे पहले इस बात पर विचार करेंगे कि दर्शक नाटक देखने क्यों जाता है ? जिस कथा को वह देखने जा रहा है उससे मिलती जुलती वह अनेक कथाओ को जानता है या उसी कथा से थोडा बहुत या पूर्ण परिचित भी हो सकता है। इसलिए केवल कथा के व्यग्य भाव का आकर्षण उसके लिए नहीं हो सकता। वह अतिरिक्त वस्तु क्या है जो दर्शक के आकर्षण का केन्द्र है।

दो व्यक्ति चलचित्रों की बातचीत करते चले जा रहे हैं। एक चित्र की फोटोग्राफी की बहुत तारीफ करता है दूसरा नायिका के अभिनय और निर्देशन की। एक को रंगमच की सजावट बडी भायी दूसरे को प्राकृतिक दृश्य। नाटक मे दर्शक कथा से अधिक पर्दे, सजावट और अभिनय पर मुग्ध होते देखे जाते हैं। हम काव्य-रस को सामाजिक के मुग्ध होने की दशा के अर्थ मे लेते है। यह मुग्धता तभी सम्भव है जब अभिनय वास्तविकता और सामाजिक की कल्पना के अधिक निकट होता है। धनुष-भग के समय परशुराम बने व्यक्ति के मन मे क्रोध जागा या नही कौन जाने किन्तु यह सभी देखते हैं कि उसने क्रोध भाव का प्रदर्शन किया। और यह अभिनय जितना ही स्वाभाविक होगा सामाजिक उतना अधिक ही मुग्ध होगा। विलाप करती हुई परित्यक्ता सीता की कल्पना हम भी कर सकते हैं किन्तु उस कल्पना से आँसू नहीं बहते। रगमंच पर उसी का सफल अभिनय देखकर हृदय करुणा-विगलित हो जाता है। इसका कारण यह है कि भाव को अनुभावों के भौतिक रूप में परिणत होने के लिए जिन प्रेरक तत्त्वो की आवश्यकता है रंगमंच पर वे प्रत्यक्ष देखने को मिलते हैं। श्रव्य काव्य मे यही कार्य विशद् वर्णन द्वारा सम्पन्न होता है। इस तरह अनुकूल परिस्थिति में सहअनुभूति और प्रतिकूल परिस्थिति में विरोधी अनुभूति (जो

सुखमय और दुखमय दोनो हो सकती है) के साथ-साथ मनोमुग्धता भी रहती है। मुग्धता की स्थिति अपेक्षित अभिनय या वर्णन के देखने सुनने से उत्पन्न होती है। इन दोनो का विलक्षण मिश्रण ही काव्य-रस को आनन्द रूप और अलौकिक बनाता है—अलौकिक से तात्पर्य केवल इतना ही कि ससार की किसी अन्य वस्तु से ऐसी अनुभूति नही प्राप्त होती।

उपर्युक्त विवेचन इस बात को भी स्पष्ट कर देता है कि भरत ने जिस रस के निष्पन्न होने की बात कही है वह सामाजिक में होता है। रस-दशा का सीधा सम्बन्ध हृदय से है—चेतन से न कि अचेतन से। तब यह 'सरस वाक्य है' या 'यह उक्ति रसात्मक है' या 'यहाँ रस-ध्वनि है' कहने का क्या अर्थ ?

हमने पहले भी सकेत किया है कि 'रस ध्वनि की आत्मा है' कहकर आनन्दवर्धन अपने ही पूर्व कथन का विरोध करते प्रतीत होते है। किन्तु विरोध वास्तव मे है नही। जिस वाक्य को पढकर हृदय मे किसी ऐसे तीव्र अभाव का अनुभव हो—अपने सम्बन्ध मे, वक्ता के सम्बन्ध मे या रचयिता के सम्बन्ध मे—कि उस मुग्धावस्था में हृदय की अन्य सभी वृत्तियाँ शान्त हो जाँय तो वह रसात्मक कहलाएगा। इस मुग्धावस्था का स्तर और प्रकृति रस-ध्वनि की कोटि निर्धारित करते है। यह उस ध्वनि के सम्बन्ध में है जिसमे बुद्धि की अपेक्षा हृदय अधिक रमे। इसकी विपरीत स्थिति मे वस्तु एव अलंकार ध्वनि होती है।

डॉ० एस० के० डे० ने रसानुभूति के प्रसंग मे एक बड़ा सुन्दर प्रश्न उठाया है। इनका कहना है कि केवल रस-व्यजना के प्रसग मे ही रसानुभूति की चर्चा क्यो की जाती है ? क्या वस्तु और अलकार-ध्वनि से युक्त काव्य आनन्ददायी नही होता ? वहाँ हम रस क्यो नही मानते ? ये इन दोनो ध्वनियो को भी रस-ध्वनि की कोटि का ही मानने के पक्ष मे है।[1] ऐसा न करके सस्कृत काव्य-शास्त्र ने कला पक्ष को भाव पक्ष समझ लेने की भूल की है।

---

1. Again the theory maintains that feelings alone can be raised to the state of aesthetic relish by the idealizing capacity of poetry; but there is no adequate reason why the poetic intention of a descriptive matter, or even of a mere ornamental idea, can not become an aesthetic fact or Rasa . But as soon as mere matter or idea, like mere feeling, becomes a part of paet c intention, it becomes a form of its spiritual activity, an aesthetic fact capable of being equally wall realished. It is not enough to say that a matter or ornament may be suggested, it is necessary to recognize that matter or idea can in poetic creation stand on the same footing as feeling, on which alone stress need not be laid.

—*Some Problems of Sanskrit Poetics : P. 34*

हमारी धारणा है कि आनन्दवर्धन ने ध्वनि-सिद्धान्त द्वारा इस भूल को सुधार लिया है। रस-ध्वनि का सविस्तार वर्णन करने के बाद भी सभी प्रकार की ध्वनियाँ काव्य को उत्तम बनानेवाली होती है। समस्त ध्वनि-काव्य एक ही वर्ग के अन्तर्गत है। आनन्दवर्धन काव्य का सौन्दर्य ध्वनि मे मानते है न कि रस मे।

तब रस-ध्वनि की श्रेष्ठता की घोषणा क्यो ?

इसका कारण समूचे भारतीय समाज का काव्य के प्रति दृष्टिकोण है। भामह काव्य को धर्म, अर्थ, काम, और मोक्ष का प्रदाता समझते है।[१] मम्मट की दृष्टि से काव्य अनिष्ट का नाशक और परम आनन्द देनेवाला है।[२] इनको देखते हुए मनुष्य की वृत्तियों का परिष्कार रस-ध्वनि द्वारा सम्भव है। शेष दो व्यग्य से सिद्ध होने और काव्यानुभूति की सीमा मे आने पर भी इसके समकक्ष निश्चित रूप से नही हो सकते। प्रमाण इसका यह है कि रसपूर्ण स्थलो को पढते समय हमारी आखों मे आँसू आ जाते है। क्या अन्य ध्वनि-स्थलो पर भी ऐसा होता है ? नही, फिर भी वस्तु या अलंकार-ध्वनि अपने चमत्कार से कुछ काल के लिए मन को रमाए रखती है। उतने ही अंशों मे वह रस-ध्वनि के निकट है। वस्तु और अलकार-ध्वनियों के रस मे पर्यवसित होने का यही अर्थ है।[३] इसलिए हमारा सुझाव है कि रसानुभूति के स्थान पर काव्यानुभूति का प्रयोग हो रस के स्थलो पर वह भावात्मक होगी और शेष स्थलों पर क्रमशः ज्ञानात्मक और क्रियात्मक।

२

अलंकार और ध्वनि

सम्प्रदाय के रूप मे अलकार सम्प्रदाय रस सम्प्रदाय की भाँति ही अत्यन्त प्राचीन है। वैसे अलकारो का व्यवहार ऋग्वेद मे भी हुआ है। डॉ० डिके ने अपने खोजपूर्ण ग्रन्थ "द अली बिगिनिंग आफ पोएटिक्स इन ऋग्वेद" मे यही प्रमाणित करने का प्रयत्न किया है कि उपमा, रूपक, अनुप्रास का ऋग्वेद में प्रभूत प्रयोग हुआ है। शब्द की लक्षणा शक्ति का भी आश्रय लिया गया है। जहाँ तक अलकार-शास्त्र के पारिभाषिक शब्दो के प्रयोग का प्रश्न है केवल 'उपमा' शब्द ही मिलता है जिसका सायण ने अर्थ किया है— उपमान या दृष्टान्त।[४] आगे चलकर भास्क ने उपमा का विशद विवेचन किया है।

१. काव्यालंकार : १, २ ॥

२. काव्यप्रकाश : १, २ ॥

३. ...रस एव वस्तुत आत्मा, वस्त्वलंकारध्वनी तु सर्वथा रसं प्रति पर्यवस्येते इति
—अभिनवगुप्त : ध्व०लो० सहित : पृ० ८५.

४. बलदेव उपाध्याय : भारतीय साहित्य शास्त्र, खण्ड १ : पृ० १४

निघण्टु मे इदमिव, इदं आदि बारह पदो का संग्रह है जिन्हे उपमा नाम दिया गया है।[1] वस्तुत अलकारों के मूल में काम करनेवाली वृत्ति मानव को स्वभावत. उसकी प्रेरणा देती है। जाने अनजाने दिन भर मे असख्य अलंकारो का प्रयोग मनुष्य कर जाता है। अलकारो के स्वाभाविक स्फुरण से किसी को आपत्ति नही हो सकती क्योकि उनसे वाणी की शोभावृद्धि ही होती है।

प्रतीत होता है आरम्भ मे काव्य के सभी शोभा धायक गुण अलकार सज्ञा से अभिहित किये जाते थे। इसके अन्तर्गत रस और गुण भी समा जाते थे। दण्डी का 'काव्यशोभाकरान् धर्मानलकारान् प्रचक्षते'[2] कथन इसी ओर संकेत करता है। यह भी सम्भव है कि काव्य का परीक्षण करते समय सबसे पहले आलोचको की दृष्टि इसी पर पड़ी हो। फिर जैसे जैसे काव्य के अन्य गुणो की खोज होती गई उनका नामकरण होता गया। सब कुछ हो जाने पर भी आचार्यो को लगा कि अलंकार काव्य का अपरिहार्य तत्त्व है। कुछ न होते हुए भी अलकार से काव्य एक विशेष ऊँचाई तक उठ आता है।

अलकार इतिहास के काल-विभाजन के लिए आनन्दवर्धन को मध्यबिन्दु माना जा सकता है। उनके पहले का युग मुख्यतः आलोच्य ग्रन्थो के प्रणयन का था। आचार्य अलकारो के उदाहरणो के लिए स्वय रचना करते थे। यह ऊर्ध्वमुखी विकास का युग था। इसमे काव्य के अनेक तत्त्व सामने आए किन्तु उनकी ठीक ठीक व्यवस्था न हो पाई।

उपमादि के अर्थ मे 'अलकारो' की विस्तृत व्याख्या करनेवाला प्रथम ग्रन्थ भामह कृत काव्यालकार मिलता है। इसके पूर्व भरत के नाट्यशास्त्र मे केवल चार अलकारो—उपमा, दीपक, रूपक, और यमक—का निर्देशन मिलता है।[3] इससे अधिक के लिए उस ग्रथ मे स्थान भी नही था क्योंकि उसका मुख्य विषय दृश्य काव्य था। फिर भी यदि वे चाहते तो इसके साथ ही कुछ और नाम भी जोड़ सकते थे पर शायद उस युग मे केवल इन्हे ही मान्यता प्राप्त थी।

हमारा विश्वास है कि काव्य के लिए अलकार को अनिवार्य[4] मानने वाले भामह प्रथम आचार्य नही है। नाट्य शास्त्र के प्रणयन के पश्चात् या उसके पहले से,

---

१. पी० वी० काणे : हिस्ट्री आव संस्कृत पोएटिक्स : पृ० ३२५
२. काव्यादर्श : २,१
३. उपमा, दीपकं चैव रूपकं यमकं तथा।
काव्यस्यैते ह्यलंकाराश्चत्वारः परिकीर्तिताः॥१७,४३॥
४. श्रुतिपेशलत्वसम्पादकेन बन्धस्य कोमलत्वमात्रेण काव्यव्यपदेशोचिता चारुता गिरां न जायते। वक्रयोरभिधेयशब्दयोर्घटना तु वाचामलकृतिः।
—भामह : काव्यालकार : पृ० १७

विद्वानों[1] मे श्रव्य-काव्य सम्बन्धी चर्चा आरम्भ हुई होगी। उपमा-दीपक को ज्यों का त्यों ग्रहण करने मे कोई कठिनाई नही थी। भामह ने प्रथम वर्ग मे जिन अलंकारो को रखा वे सर्वमान्य थे।[2] भरत द्वारा गिनाये गये अलकारों में अनुप्रास एक और जुड़ गया था। उलझन थी रस एव भाव को ग्रहण करने मे। नाटक मे सब कुछ प्रत्यक्ष होने मे विभाव अनुभाव के प्रदर्शन से उसकी अभिव्यक्ति में कोई कठिनाई नहीं थी किन्तु श्रव्य काव्य मे इसे किस वर्ग के अन्तर्गत रखा जाय? रस तत्व से भामह अपरिचित नही थे, उसकी अवहेलना करने का भी कोई विचार नही था। प्रश्न था काव्य में उसके स्थान निर्धारण का। वास्तव मे इन्होने इसी कठिनाई का प्रेयः, रसवत् और ऊर्जस्वि अलकारो की कल्पना द्वारा समाधान किया है। हम उन व्यक्तियों से सहमत नही है जो यह कहते है कि भामह ने रस को अलंकारो की श्रेणी मे रखकर उसके महत्व को गौण कर दिया है। बात ठीक इसके विपरीत है। स्वाभाविक रूप से जिन स्थलों पर उस समय के प्रचलित अलंकार आ जाते थे उनका सौन्दर्य तत्तद्लंकारों की संज्ञा द्वारा प्रकट हो जाता था किन्तु जहाँ उनमें से कोई भी अलकार नही है फिर भी काव्य मे रमणीयता—भावोद्बोधन की शक्ति—है उन स्थलो का सौन्दर्य कैसे प्रकट किया जाय? इसी समस्या के समाधान के फलस्वरूप उक्त अलंकारों (प्रेयः आदि) की खोज हुई है। "विभावानुभाव···· " का अक्षरशः पालन करनेवाला युग बाद में आया और उसकी त्रुटियो से भी विद्वान अपरिचित नहीं हैं। सभी रसध्वनि के प्रसगो में यह चरितार्थ नही होता है यह हमने आगे के अध्याय में दर्शाया है।

अतः दृश्य-काव्य की पद्धति पर ही श्रव्य-काव्य की आलोचना न करते हुए भी रस एवं भाव तत्त्व को काव्य की शोभा स्वीकार कर भामह ने इनमे अपनी दृढ़ आस्था प्रकट की है। जिस प्रकार आनन्दवर्धन ध्वनि के व्यवस्थापक होते हुए भी रस के सबसे बडे समर्थक थे। उसी प्रकार भामह भी अलंकारों के समर्थक होते हुए भी रस के प्रति पूर्ण आस्थावान थे। वे किसी न किसी प्रकार से रस के

---

१. भामह ने मेधावी का उल्लेख किया है जो सम्भवतः इस क्षेत्र में उनके पूर्वज रहे होंगे—
यथासंख्यमथोत्प्रेक्षामलंकारद्वयं विदुः।
संख्यानमिति मेधावी नोत्प्रेक्षाऽभिहिता क्वचितः ॥२,८८॥—काव्यालंकार
इस छन्द के आधार पर डॉ० डे ने कल्पना की है कि उत्प्रेक्षा अलंकार मेधावी की खोज हो सकता है।

२. अनुप्रासः सयमको रूपकं दीपकोपमे।
इति वाचामलंकाराः पंचैवान्यैरुदाहृताः ॥२,४॥ भामह : काव्यालंकार

है। यदि कोई निर्वैयक्तिक अनुभूति की सीमा से निकलकर वैयक्तिक अनुभूति में प्रवेश कर जाता है (अर्थात् नाटक में वर्णित भावो से सम्बन्ध स्वय से जोड ले) तो निश्चय ही वह रंगमंच पर भी शठनायक को दण्ड देने के लिए पहुँच सकता है।

भारतीय काव्य-शास्त्र का साधारणीकरण का सिद्धान्त कला के उपभोग की एक मात्र व्याख्या है और सौन्दर्य शास्त्र को सबसे बडी देन है।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने साधारणीकरण की एक दूसरी ही व्याख्या की। वह है—"पाठक या श्रोता के मन मे जो व्यक्ति विशेष या वस्तु विशेष आती है वह जैसे काव्य मे वर्णित 'आश्रय' के भाव का आलम्बन होती है। वैस ही सब सहृदय पाठको या श्रोताओ के भाव का आलम्बन बन जाती है।"[1] आचार्य जी की यह व्याख्या उनके स्थायी भावो की परिभाषा (वे ही स्थायी भाव कहला सकते है जो सब सहृदयों मे समान रूप से आश्रय पा सके)[2] से प्रभावित है। यदि उन्होने अपनी मान्यता का पुन परीक्षण किया होता तो इसकी उलझनो से स्वय चकित रह जाते।

यदि नट के मन मे उठा भाव दर्शकों के मन मे भी उठता है तो इसका अर्थ यह हुआ कि राम रूप नट के साथ साथ दर्शक भी सीता के प्रति रति का अनुभव करते है। फिर भावानुभव के पश्चात् जिन अनुभावों का प्रदर्शन नट करता है उन्ही का प्रदर्शन दर्शक भी क्यो नही करते (शायद समूह मे होने के कारण से डरते है)। कभी ठीक इसका उलटा होता है। उधर नट क्रोध का प्रदर्शन कर रहा है इधर दर्शक हर्षध्वनि कर रहे है, उधर लंका के जलने का दृश्य उपस्थित है इधर लोग तालियाँ पीट रहे है।

इस शका के समाधान के लिए कहा जा सकता है कि दर्शक अपनी प्रकृति के अनुकूल पात्रो के भावो को ही हृदय मे स्थान देता है। तब क्या शेष पात्रो का अभिनय भावहीन ही रह जाता है। यदि कोई कहे 'सबके' तो वह भी असम्भव है। नाटक मे नट और नटी परस्पर भावो के आलम्बन और आश्रय होते है। बेचारा दर्शक अकेले ही इस द्विविध व्यक्तित्व का भार कैसे वहन कर सकता है। इससे स्पष्ट है कि नाटक मे नट के भाव का आलम्बन सभी के भाव का आलम्बन नही होता। अत: यह निश्चित रूप से स्वीकार करना पडेगा कि काव्य मे प्रदर्शित या वर्णित भाव और रस उस भाव और रस से भिन्न है जिनकी अनुभूति सामाजिक को उनके दर्शन या पठन से होती है।

अन्तिम बात के अलौकिकत्व पक्ष पर डॉ० राकेश गुप्त की यह आपत्ति है काव्य के रसास्वादन के सभी उपकरण—एक पक्ष में काव्य (रगमच पर प्रदर्शित विभाव.

---

१. चिन्तामणि, भाग १ : पृ० २२९
२. रस-मीमांसा : पृ० २०५

अनुभाव तथा उद्दीपन) और दूसरे पक्ष मे सामाजिक के अपने भाव तथा उसके 'बिकार'—लौकिक ही हैं। अतः उन सबकी क्रिया प्रतिक्रिया से अलौकिक रस की निष्पत्ति नही हो सकती।[1] काव्य-रस के सुखात्मक होने पर भी इन्हे आपत्ति है। यह स्वाभाविक है क्योंकि उसके आधार को ही ये झूठ मानते है।

रामचन्द्र और गुणचंद्र कृत 'नाट्यदर्पण' का प्रमाण[2] देते हुए डॉ० गुप्त ने सिद्ध किया है कि करुण, रौद्र, बीभत्स और भयानक रसो की अनुभूति दुखात्मक ही होती है किन्तु फिर भी ऐसे स्थलो को बार बार पढने या ऐसी घटनाओ को बार बार देखने की इच्छा इसीलिए होती है यह मनुष्य का स्वभाव है।[3] इस सबंध मे इनका उदाहरण है—

एक वृद्ध व्यक्ति के पास एक दुखिया आती है। यदि दुखिया उस वृद्ध का विश्वास प्राप्त कर ले तो कोई कारण नही कि वृद्ध उसकी दु.ख कथा को न सुने। सामान्य जीवन में तो अपरिचित व्यक्ति पर अविश्वास भी किया जा सकता है किंतु काव्य के सभी पात्र बाहर भीतर से पहचाने हुए होते हैं। अतः कोई कारण नहीं कि उसके दुःख से हम दुखी न हों।

यहाँ विद्वान् डॉक्टर मनुष्य स्वभाव की दुहाई देकर सभी उलझनो से मुक्त हो गए।

अंग्रेजी के प्रसिद्ध आलोचक और नाट्य साहित्य के अधिकृत विद्वान् एलरडाइस निकाल ने इसकी और भी विचित्र व्याख्या की है। उनकी धारणा है कि दुखात्मक नाटकों को देखते समय हम कुछ काल के लिए नाटककार की श्रेणी में आ बैठते है। हम जानते हैं कि पात्र कल्पित हैं इसलिए उन्हें कष्ट भोगते देखकर वही आनन्द आता है जो एक लड़के को तितली को तडपता हुआ देखकर आता है।[4] इस मत की असम्भाव्यता स्वय सिद्ध है। भारतीय मान्यता के प्रकाश मे काव्य का प्रयोजन ही उसका प्रत्याख्यान कर देता है। इसकी दूसरी त्रुटि यह है कि इसमें काव्य द्वारा भावोद्बोधन और व्यावहारिक जीवन में भावोद्बोधन की प्रक्रिया में कोई भेद नही किया गया है।

दोनों का अन्तर इस प्रकार समझा जा सकता है.

---

१. डॉ० राकेश गुप्त : सायकालाजिक स्टडीज् इन रस, भूमिका भाग : पृ० ५
२. वही : पृ० ७५ से ७७ तक
३. स्थायी भाव : श्रितोत्कर्षो विभाव-व्यभिचारिभिः।
स्पष्टानुभावनिश्चेयः सुख-दुःखात्मको रसः ॥३, ७॥ नाट्यदर्पण
4. We stand for a moment alongside the dramatist creator, and smile at the puppets....but perhaps in the world of theatre, where we know that the figures are unreal, we retain enough of the spirit of the boy who loves to see a butterfly struggling on a pin.

—*An Introduction to Dramatic Theory:* P. 87

(१) डॉ० गुप्त के अनुसार मन की जिस वृत्ति के कारण से वृद्ध दुखिया की कहानी ध्यान से सुनता है वही वृत्ति मनुष्य को नाटक के करुणाजनक स्थलो को बार बार देखने की प्रेरणा देती है। शका हो सकती है कि एक बार दुखिया की कहानी सुन लेने पर भी क्या वृद्ध बार बार उसे सुनने की इच्छा रखेगा। इसी प्रकार जिस भयकर दुर्घटना को देखकर वह चीख उठा था क्या वैसी दुर्घटनाये बार बार देखना पसद करेगा। रसानुभूति को सुखात्मक मानते समय प्रश्न केवल यही नही है करुण प्रसंगो को सामाजिक इतने मनोयोग से क्यो देखता है बल्कि यह भी कि सब कुछ जान लेने पर भी, यहाँ तक कि अमुक स्थल पर उसके आँसू आ जायेंगे, वह एक ही बार उसे देखकर सन्तुष्ट क्यो नही हो जाता। उधर वृद्ध दुखिया की कथा दो तीन बार से अधिक नही सुनेगा, सुनेगा भी तो आँसू शायद ही आये।

(२) दूसरा प्रश्न यह कि नाटक के सम्पूर्ण अभिनय तथा घटनाओ को अवास्तविक समझते हुए भी भाव का आलम्बन कैसे बन जाने देते है ? हम जानते है कि खलनायक का अभिनय करनेवाला व्यक्ति जीवन मे कितना सीधा है फिर भी आक्रोश का भाव जाग उठता है। यह आक्रोश अनुकरण कर्ता के प्रति होता है या अनुकार्य के प्रति ? क्या व्यावहारिक जीवन मे भी ऐसी जानकारी प्राप्त हो जाने पर उक्त भाव जागेगा ? यदि नही, तो स्पष्ट है कि काव्य द्वारा भावोद्बोधन की प्रक्रिया व्यावहारिक जीवन के भावोद्बोधन से भिन्न है। प्रथम मे यह प्रक्रिया त्रिकोण बनाती है और द्वितीय मे सरल रेखा।

(३) इसी से मिलता जुलता एक और प्रश्न है। यदि प्रत्यक्ष जीवन मे किसी पुतले को गढे मे ढकेल दिया जाय तो किसी के मन मे कोई भाव नही जागेगा (जागेगा भी तो हर्ष का) किन्तु चलचित्र मे यह जानते हुए भी जो कुछ दिखाई दे रहा है सब छाया मात्र है, ऐसा कोई दृश्य आ जाने पर दिल बैठ जाता है। छाया रूप नायिका के सुख दुख के हम भागी बनते ही है।

(४) एक और बात की ओर प्राचीन आचार्यों का ध्यान नही गया, आधुनिक मनोवैज्ञानिको का गया भी तो कोई उचित समाधान प्रस्तुत नही किया। नाटक मे नट द्वारा प्रदर्शित अनुभाव वस्तुत: भावजन्य नही होते। नट का ध्यान आलम्बन विभाव पर उतना नही होता जितना इस पर कि वह कौन सी ऐसी भगिमा प्रदर्शित करे कि दर्शक उसमे अमुक भाव जगा हुआ प्रतीत करे। कारण स्पष्ट है। वह स्वय दुष्यन्त नही है। यह भी सम्भव है कि शकुन्तला का अभिनय कोई पुरुष पात्र कर रहा हो। चलचित्र के निर्माण मे आलम्बन के स्थान पर कैमरा होता है। और इन सबके अतिरिक्त वे परिस्थितियाँ भी नही होती जिनमे प्राकृतिक रति भाव जागता है (क्योकि पर्दे प्रकाश इत्यादि के द्वारा उत्पन्न वातावरण की कृत्रिमता को वह शायद ही कभी भूलता हो)। यदि थोडी देर के लिए मान भी लिया जाय कि नट मे रत्यादि

भाव जागते हैं तो भी यह नही कहा जा सकता कि तज्जन्य अनुभाव सर्वस्वीकृत ढंग के ही हों। प्राकृत भावों के जाग जाने पर नट एक और कठिनाई में पड सकता है कि वह प्राकृत या अप्राकृत में मे किन अनुभावों का प्रदर्शन करे। इससे सिद्ध है कि नाटक में आलम्बन और अनुभाव मे जनक और जन्य का सम्बन्ध नही होता। इधर दर्शक भी इन सबकी अवास्तविकता का ज्ञान रखने के कारण से नट के अनुभावों से उसके अनुभावो का अनुमान, जो बुद्धिगम्य है, करता है अनुभव नही करता। इस तथ्य से एक और कठिनाई सामने आती है।

(५) बुद्धिगम्य व्यापार भावगम्य कैसे बनता है ?

इन सब प्रश्नो से यह निष्कर्ष निकलता है कि दर्शक मे व्यजित रस नाटक या काव्य मे व्यंग्य, रस कोटि तक पहुँचा भाव नही है। करुण रस पूर्ण नाटक को इसलिए नही देखते कि दूसरे के दुःख का भागी बनना मनुष्य का स्वभाव है और ऐसे स्थलो की अनुभूति प्रत्यक्ष जीवन की दुखात्मक अनुभूति जैसी नही होती है।

अपने मत के प्रतिपादन के लिए हम सबसे पहले इस बात पर विचार करेंगे कि दर्शक नाटक देखने क्यो जाता है ? जिस कथा को वह देखने जा रहा है उससे मिलती जुलती वह अनेक कथाओं को जानता है या उसी कथा से थोड़ा बहुत या पूर्ण परिचित भी हो सकता है। इसलिए केवल कथा के व्यग्य भाव का आकर्षण उसके लिए नही हो सकता। वह अतिरिक्त वस्तु क्या है जो दर्शक के आकर्षण का केन्द्र है।

दो व्यक्ति चलचित्रों की बातचीत करते चले जा रहे हैं। एक चित्र की फोटोग्राफी की बहुत तारीफ करता है दूसरा नायिका के अभिनय और निर्देशन की। एक को रंगमंच की सजावट बड़ी भायी दूसरे को प्राकृतिक दृश्य। नाटक में दर्शक कथा से अधिक पर्दे, सजावट और अभिनय पर मुग्ध होते देखे जाते हैं। हम काव्य-रस को सामाजिक के मुग्ध होने की दशा के अर्थ में लेते हैं। यह मुग्धता तभी सम्भव है जब अभिनय वास्तविकता और सामाजिक की कल्पना के अधिक निकट होता है। धनुष-भंग के समय परशुराम बने व्यक्ति के मन में क्रोध जागा या नही कौन जाने किन्तु यह सभी देखते हैं कि उसने क्रोध भाव का प्रदर्शन किया। और यह अभिनय जितना ही स्वाभाविक होगा सामाजिक उतना अधिक ही मुग्ध होगा। विलाप करती हुई परित्यक्ता सीता की कल्पना हम भी कर सकते हैं किन्तु उस कल्पना से आँसू नहीं बहते। रंगमंच पर उसी का सफल अभिनय देखकर हृदय करुणा-विगलित हो जाता है। इसका कारण यह है कि भाव को अनुभावों के भौतिक रूप में परिणत होने के लिए जिन प्रेरक तत्वो की आवश्यकता है रंगमंच पर वे प्रत्यक्ष देखने को मिलते हैं। श्रव्य काव्य मे यही कार्य विशद् वर्णन द्वारा सम्पन्न होता है। इस तरह अनुकूल परिस्थिति मे सहअनुभूति और प्रतिकूल परिस्थिति में विरोधी अनुभूति (जो

सुखमय और दुखमय दोनो हो सकती है) के साथ-साथ मनोमुग्धता भी रहती है। मुग्धता की स्थिति अपेक्षित अभिनय या वर्णन के देखने सुनने से उत्पन्न होती है। इन दोनो का विलक्षण मिश्रण ही काव्य-रस को आनन्द रूप और अलौकिक बनाता है—अलौकिक से तात्पर्य केवल इतना ही कि ससार की किसी अन्य वस्तु से ऐसी अनुभूति नही प्राप्त होती।

उपर्युक्त विवेचन इस बात को भी स्पष्ट कर देता है कि भरत ने जिस रस के निष्पन्न होने की बात कही है वह सामाजिक में होता है। रस-दशा का सीधा सम्बन्ध हृदय से है—चेतन से न कि अचेतन से। तब यह 'सरस वाक्य है' या 'यह उक्ति रसात्मक है' या 'यहाँ रस-ध्वनि है' कहने का क्या अर्थ ?

हमने पहले भी सकेत किया है कि 'रस ध्वनि की आत्मा है' कहकर आनन्दवर्धन अपने ही पूर्व कथन का विरोध करते प्रतीत होते है। किन्तु विरोध वास्तव मे है नही। जिस वाक्य को पढकर हृदय मे किसी ऐसे तीव्र अभाव का अनुभव हो—अपने सम्बन्ध मे, वक्ता के सम्बन्ध मे या रचयिता के सम्बन्ध मे—कि उस मुग्धावस्था मे हृदय की अन्य सभी वृत्तियाँ शान्त हो जाँय तो वह रसात्मक कहलाएगा। इस मुग्धावस्था का स्तर और प्रकृति रस-ध्वनि की कोटि निर्धारित करते है। यह उस ध्वनि के सम्बन्ध मे है जिसमे बुद्धि की अपेक्षा हृदय अधिक रमे। इसकी विपरीत स्थिति मे वस्तु एव अलंकार ध्वनि होती है।

डॉ० एस० के० डे० ने रसानुभूति के प्रसग मे एक बड़ा सुन्दर प्रश्न उठाया है। इनका कहना है कि केवल रस-व्यजना के प्रसग मे ही रसानुभूति की चर्चा क्यो की जाती है ? क्या वस्तु और अलकार-ध्वनि से युक्त काव्य आनन्ददायी नही होता ? वहाँ हम रस क्यो नही मानते ? ये इन दोनो ध्वनियो को भी रस-ध्वनि की कोटि का ही मानने के पक्ष मे है।[1] ऐसा न करके सस्कृत काव्य-शास्त्र ने कला पक्ष को भाव पक्ष समझ लेने की भूल की है।

---

1. Again the theory maintains that feelings alone can be raised to the state of aesthetic relish by the idealizing capacity of poetry; but there is no adequate reason why the poetic intention of a descriptive matter, or even of a mere ornamental idea, can not become an aesthetic fact or Rasa ..But as soon as mere matter or idea, like mere feeling, becomes a part of paet c intention, it becomes a form of its spiritual activity, an aesthetic fact capable of being equally wall realished. It is not enough to say that a matter or ornament may be suggested; it is necessary to recognize that matter or idea can in poetic creation stand on the same footing as feeling, on which alone stress need not be laid.

—*Some Problems of Sanskrit Poetics : P. 34*

हमारी धारणा है कि आनन्दवर्धन ने ध्वनि-सिद्धान्त द्वारा इस भूल को सुधार लिया है। रस-ध्वनि का सविस्तार वर्णन करने के बाद भी सभी प्रकार की ध्वनियाँ काव्य को उत्तम बनानेवाली होती है। समस्त ध्वनि-काव्य एक ही वर्ग के अन्तर्गत है। आनन्दवर्धन काव्य का सौन्दर्य ध्वनि मे मानते है न कि रस में।

तब रस-ध्वनि की श्रेष्ठता की घोषणा क्यो ?

इसका कारण समूचे भारतीय समाज का काव्य के प्रति दृष्टिकोण है। भामह काव्य को धर्म, अर्थ, काम, और मोक्ष का प्रदाता समझते हैं।[1] मम्मट की दृष्टि से काव्य अनिष्ट का नाशक और परम आनन्द देनेवाला है।[2] इनको देखते हुए मनुष्य की वृत्तियो का परिष्कार रस-ध्वनि द्वारा सम्भव है। शेष दो व्यग्य मे सिद्ध होने और काव्यानुभूति की सीमा मे आने पर भी इसके समकक्ष निश्चित रूप से नही हो सकते। प्रमाण इसका यह है कि रसपूर्ण स्थलों को पढते समय हमारी आखो मे आँसू आ जाते है। क्या अन्य ध्वनि-स्थलों पर भी ऐसा होता है ? नही, फिर भी वस्तु या अलंकार-ध्वनि अपने चमत्कार से कुछ काल के लिए मन को रमाए रखती है। उतने ही अंशों में वह रस-ध्वनि के निकट है। वस्तु और अलकार-ध्वनियों के रस मे पर्यवसित होने का यही अर्थ है।[3] इसलिए हमारा सुझाव है कि रसानुभूति के स्थान पर काव्यानुभूति का प्रयोग हो रस के स्थलों पर वह भावात्मक होगी और शेष स्थलों पर क्रमशः ज्ञानात्मक और क्रियात्मक।

२

अलंकार और ध्वनि

सम्प्रदाय के रूप मे अलंकार सम्प्रदाय रस सम्प्रदाय की भाँति ही अत्यन्त प्राचीन है। वैसे अलकारो का व्यवहार ऋग्वेद मे भी हुआ है। डॉ० डिके ने अपने खोजपूर्ण ग्रन्थ "द अली बिगिनिग आफ पोएटिक्स इन ऋग्वेद" मे यही प्रमाणित करने का प्रयत्न किया है कि उपमा, रूपक, अनुप्रास का ऋग्वेद मे प्रभूत प्रयोग हुआ है। शब्द की लक्षणा शक्ति का भी आश्रय लिया गया है। जहाँ तक अलंकार-शास्त्र के पारिभाषिक शब्दो के प्रयोग का प्रश्न है केवल 'उपमा' शब्द ही मिलता है जिसका सायण ने अर्थ किया है—उपमान या दृष्टान्त।[4] आगे चलकर भास्क ने उपमा का विशद विवेचन किया है।

१. काव्यालंकार : १, २ ॥

२. काव्यप्रकाश : १, २ ॥

३. ...रस एव वस्तुत आत्मा, वस्त्वलकारध्वनी तु सर्वथा रसं प्रति पर्यवस्येते इति
—अभिनवगुप्त : ध्व०लो० सहित : पृ० ८५.

४. बलदेव उपाध्याय : भारतीय साहित्य शास्त्र, खण्ड १ : पृ० १४

निघण्टु में इदमिव, इदं आदि बारह पदो का सग्रह है जिन्हे उपमा नाम दिया गया है ।[1] वस्तुत: अलकारो के मूल मे काम करनेवाली वृत्ति मानव को स्वभावत उसकी प्रेरणा देती है । जाने अनजाने दिन भर में असख्य अलंकारो का प्रयोग मनुष्य कर जाता है । अलकारो के स्वाभाविक स्फुरण से किसी को आपत्ति नही हो सकती क्योकि उनसे वाणी की शोभावृद्धि ही होती है ।

प्रतीत होता है आरम्भ मे काव्य के सभी शोभा धायक गुण अलकार सज्ञा से अभिहित किये जाते थे । इसके अन्तर्गत रस और गुण भी समा जाते थे । दण्डी का 'काव्यशोभाकरान् धर्मानलकारान् प्रचक्षते'[2] कथन इसी ओर सकेत करता है । यह भी सम्भव है कि काव्य का परीक्षण करते समय सबसे पहले आलोचको की दृष्टि इसी पर पड़ी हो । फिर जैसे जैसे काव्य के अन्य गुणो की खोज होती गई उनका नामकरण होता गया । सब कुछ हो जाने पर भी आचार्यो को लगा कि अलकार काव्य का अपरिहार्य तत्त्व है । कुछ न होते हुए भी अलकार से काव्य एक विशेष ऊँचाई तक उठ आता है ।

अलकार इतिहास के काल-विभाजन के लिए आनन्दवर्धन को मध्यबिन्दु माना जा सकता है । उनके पहले का युग मुख्यत. आलोच्य ग्रन्थो के प्रणयन का था । आचार्य अलकारो के उदाहरणो के लिए स्वय रचना करते थे । यह ऊर्ध्वमुखी विकास का युग था । इसमे काव्य के अनेक तत्त्व सामने आए किन्तु उनकी ठीक ठीक व्यवस्था न हो पाई ।

उपमादि के अर्थ मे 'अलकारो' की विस्तृत व्याख्या करनेवाला प्रथम ग्रन्थ भामह कृत काव्यालंकार मिलता है । इसके पूर्व भरत के नाट्यशास्त्र मे केवल चार अलकारो—उपमा, दीपक, रूपक, और यमक—का निर्देशन मिलता है ।[3] इससे अधिक के लिए उस ग्रथ मे स्थान भी नही था क्योकि उसका मुख्य विषय दृश्य काव्य था । फिर भी यदि वे चाहते तो इसके साथ ही कुछ और नाम भी जोड़ सकते थे पर शायद उस युग मे केवल इन्हे ही मान्यता प्राप्त थी ।

हमारा विश्वास है कि काव्य के लिए अलकार को अनिवार्य[4] मानने वाले भामह प्रथम आचार्य नही है । नाट्य शास्त्र के प्रणयन के पश्चात् या उसके पहले से,

१. पी० वी० काणे : हिस्ट्री आव संस्कृत पोएटिक्स : पृ० ३२५
२. काव्यादर्श : २,१
३. उपमा, दीपकं चैव रूपकं यमकं तथा ।
काव्यस्यैते ह्यलंकाराश्चत्वारः परिकीर्तिताः ॥१७,४३॥
४. श्रुतिपेशलत्वसम्पादकेन बन्धस्य कोमलत्वमात्रेण काव्यव्यपदेशोचिता चारुता गिरां न जायते । वक्रयोरभिध्यशब्दयोर्घटना तु वाचामलकृतिः ।
—भामह : काव्यालकार : पृ० १७

विद्वानों[1] मे श्रव्य-काव्य सम्बन्धी चर्चा आरम्भ हुई होगी। उपमा-दीपक को ज्यों का त्यों ग्रहण करने मे कोई कठिनाई नही थी। भामह ने प्रथम वर्ग में जिन अलंकारों को रखा वे सर्वमान्य थे।[2] भरत द्वारा गिनाये गये अलंकारों मे अनुप्रास एक और जुड गया था। उलझन थी रस एव भाव को ग्रहण करने मे। नाटक में सब कुछ प्रत्यक्ष होने मे विभाव अनुभाव के प्रदर्शन से उसकी अभिव्यक्ति मे कोई कठिनाई नही थी किन्तु श्रव्य काव्य मे इसे किस वर्ग के अन्तर्गत रखा जाय? रस तत्व से भामह अपरिचित नही थे, उसकी अवहेलना करने का भी कोई विचार नही था। प्रश्न था काव्य मे उसके स्थान निर्धारण का। वास्तव मे इन्होंने इसी कठिनाई का प्रेयः, रसवत् और ऊर्जस्वि अलकारो की कल्पना द्वारा समाधान किया है। हम उन व्यक्तियों से सहमत नही है जो यह कहते है कि भामह ने रस को अलंकारों की श्रेणी में रखकर उसके महत्व को गौण कर दिया है। बात ठीक इसके विपरीत है। स्वाभाविक रूप से जिन स्थलों पर उस समय के प्रचलित अलकार आ जाते थे उनका सौन्दर्य तन्नद्लंकारो की सज्ञा द्वारा प्रकट हो जाता था किन्तु जहाँ उनमे से कोई भी अलकार नही है फिर भी काव्य मे रमणीयता—भावोद्बोधन की शक्ति—है उन स्थलो का सौन्दर्य कैसे प्रकट किया जाय? इसी समस्या के समाधान के फलस्वरूप उक्त अलकारों (प्रेयः आदि) की खोज हुई है। "विभावानुभाव ···" का अक्षरशः पालन करनेवाला युग बाद मे आया और उसकी त्रुटियो से भी विद्वान अपरिचित नही हैं। सभी रसध्वनि के प्रसंगो में यह चरितार्थ नहीं होता है यह हमने आगे के अध्याय में दर्शाया है।

अतः दृश्य-काव्य की पद्धति पर ही श्रव्य-काव्य की आलोचना न करते हुए भी रस एव भाव तत्त्व को काव्य की शोभा स्वीकार कर भामह ने इनमें अपनी दृढ़ आस्था प्रकट की है। जिस प्रकार आनन्दवर्धन ध्वनि के व्यवस्थापक होते हुए भी रस के सबसे बडे समर्थक थे। उसी प्रकार भामह भी अलंकारों के समर्थक होते हुए भी रस के प्रति पूर्ण आस्थावान थे। वे किसी न किसी प्रकार से रस के

---

१. भामह ने मेधावी का उल्लेख किया है जो सम्भवतः इस क्षेत्र में उनके पूर्वज रहे होंगे—
यथासंख्यमथोत्प्रेक्षामलंकारद्वयं विदुः।
संख्यानमिति मेधावी नोत्प्रेक्षाऽभिहिता क्वचितः ॥२,८८॥—काव्यालंकार
इस छन्द के आधार पर डॉ० डे ने कल्पना की है कि उत्प्रेक्षा अलंकार मेधावी की खोज हो सकता है।

२. अनुप्रासः सयमको रूपकं दीपकोपमे।
इति वाचामलंकाराः पंचैवान्यैरुदाहृताः ॥२,४॥ भामह : काव्यालंकार

अस्तित्व और उसके उचित स्थान का निर्देशन करना चाहते थे जो प्रेयादि को तृतीय परिच्छेद के आरम्भ मे रखकर उन्होने किया भी। स्वयं व्यवस्थित किये गये अलकारो मे प्रेयादि को शीर्ष स्थान मिला है यह इनके रस की स्पष्ट स्वीकृति का सबसे बड़ा प्रमाण है। श्रुतिपेशल वर्णो के नियोजन मात्र मे जब ये काव्यत्व अस्वीकार करते है तब सम्भवतः ऐसे स्थलो की ओर सकेत है जो तथ्य की सूचना मात्र देते है। ऐसे वर्णो के सयोग से जहाँ कोई भाव भी जगता है वह प्रेयादि का विषय स्वयं ही बन जायगा।

भामह ने अलकारों का वर्गीकरण किसी वैज्ञानिक आधार पर नहीं किया। प्रथम वर्ग में सर्वमान्य अलकार है, द्वितीय वर्ग मे विवादास्पद किन्तु भामह को मान्य अलकार है। ये है—आक्षेप, अर्थान्तरन्यास, व्यतिरेक, विभावना, समासोक्ति और अतिशयोक्ति।[1] तीसरे वर्ग के हेतु, सूक्ष्म और लेश अलकारों का वक्रोक्ति के अभाव मे खण्डन किया है।[2] भामह वक्रोक्ति से इतने प्रभावित है कि इसे ही सब अलकारो का मूल मानते है।[3] ध्यान रहे वक्रोक्ति इनके मत से कोई अलकार नही है। वह अलकारो मे चमत्कार उत्पन्न करनेवाला मूल तत्त्व है। ऐसा कह कर उन्होने उन रचनाओं का खण्डन किया है जिनमे चमत्कारहीन श्रुतिपेशल वर्णो की योजना या तुकबन्दी मात्र होती है। जहाँ न बुद्धि का चमत्कार है न भावो का उच्छल प्रवाह उसे काव्य की कोटि मे कैसे रखा जाय? इससे भामह की सूक्ष्म बुद्धि का परिचय मिलता है।

चतुर्थ वर्ग मे यथासख्य और उत्प्रेक्षा अलकार मानने की आवश्यकता इसलिए पड़ी कि इनको माननेवालों की संख्या अधिक रही होगी। अन्त मे स्वभावोक्ति का अवहेलना पूर्वक उल्लेख हुआ है इसका कारण यह है कि स्वभाव के यथातथ्य कथन मे कोई चमत्कार नही होता। यहाँ हमें भूलना नही चाहिए कि भामह ने प्रेयादि अलकारो और स्वभावोक्ति मे अन्तर अवश्य रखा होगा।

तृतीय परिच्छेद मे 'स्वय निश्चित' किये हुए तेईस अलकारो की सविस्तार व्याख्या है। अन्त मे कुछ लोगो के मत से आशीः अलंकार का यो ही उल्लेख कर दिया है। ये स्वयं उसके पक्ष मे प्रतीत नही होते।

इस प्रकार श्रव्य-काव्य का विवेचन करने वाले प्रथम ग्रन्थ मे ही अलकारों का इतना विस्तृत विवेचन देखते हुए भामह की मेधाशक्ति पर आश्चर्य होता है।

---

१. काव्यालंकार : २,६६ व ६७

२. हेतुश्च सूक्ष्मो लेशोऽथ नालंकारतयामतः।
समुदायाभिधानस्य वक्रोक्त्यनभिधानतः॥ २, ८६॥ वही,

३. सेषा सर्वैव वक्रोक्तिरनयाऽर्थो विभाव्यते।
यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलंकारोऽनया विना॥ २, ८५॥ वही,

भामह के पश्चात् उपलब्ध सामग्री के आधार पर दण्डी का काव्यादर्श मिलता है। इसमें गुण और रीति की विस्तृत चर्चा होते हुए भी अलंकारों के जितने भेदोपभेद का वर्णन मिलता है। उसको देखते हुए भामह से अधिक ये अलंकार के पक्षपाती प्रतीत होते है। साथ ही यह भी नही भूलना चाहिये कि इनकी अलंकार की परिभाषा अत्यन्त विस्तृत थी। द्वितीय परिच्छेद के 'काव्यशोभाकरान्……' श्लोक में इसका परिचय मिलता है। इसी परिच्छेद का उपसंहार करते हुए ये लिखते हैं—

> यच्च संध्यंगवृत्त्यंगलक्षणाद्यागमान्तरे।
> व्यावर्णितमिदं चेष्टमलंकारतयैव नः ॥[1]

अर्थात् संधि और उसके अंग, वृत्ति और उसके अग और लक्षणा आदि का जो विशेष रूप से वर्णन किया गया है यह सब हमको अलंकार के रूप मे ही इष्ट हैं। स्पष्ट है कि दण्डी की अलकारो की परिधि के बाहर कुछ भी नहीं जा सकता यदि उसमें काव्य को शोभित करने की शक्ति हो। भामह और दण्डी के काव्य सम्बन्धी विचारों की तुलना करें तो ज्ञात होगा कि दोनों ही काव्य में सौन्दर्य की खोज कर रहे थे किन्तु किसी निश्चित निष्कर्ष पर नही पहुँच पाये थे। भामह वक्रोक्ति के व्यापक तत्व द्वारा उसको अभिव्यक्त करते है तो दण्डी वही स्थान स्वभावोक्ति को देते हैं।[2]

दण्डी का रस के प्रति विशेष आग्रह नही है। प्रेयादि अलंकारों का उल्लेख परम्परा-निर्वाह के लिए हुआ अवश्य है पर उन अलकारों के बाद जिन्हें भामह अलंकार भी मानने को तैयार नही थे। काव्यालंकार मे जो अलकारों का जो वर्गीकरण हुआ था काव्यादर्श मे वह नही दिखाई देता। सभी अलकार द्वितीय परिच्छेद में आ गये है। इससे निष्कर्ष यह निकलता है कि क्रमशः अमान्य अलंकारों को भी मान्यता मिलने लग गई थी।। अथवा यह दण्डी का अपना दृष्टिकोण भी हो सकता है। ये स्वभाव से विस्तारवादी हैं। ५२ श्लोको मे उपमा के ३२ भेदो का वर्णन है। आक्षेप के लगभग २५ भेदो का ४८ श्लोको का वर्णन है। तृतीय परिच्छेद मे यमक का ७७ श्लोकों में वर्णन है। अलकारों की इस खेंचातानी से पाठक उकता जाता है पर दण्डी के आचार्यत्व की उस पर छाप अवश्य पड़ जाती है।

दण्डी ने अलंकारों का महत्व अच्छी तरह समझा था। एक एक अलंकार के सूक्ष्म से सूक्ष्म भेद दिखाकर इन्होंने भविष्य के अलंकारवादियो का मार्ग प्रशस्त

---

१. काव्यादर्श : २, ३६७

२. नानावस्थं पदार्थानां रूपं साक्षाद्विण्वती।
　　स्वभावोक्तिश्च जातिश्चेत्याद्या सालकृतिर्यथा ॥२, ८॥ वही।

किया। महाकाव्यो मे अलकारो की योजना अति आवश्यक है। बिना इनके उसका स्थायित्व सदिग्ध है।[1]

भामह और दण्डी दोनो का ध्यान श्रव्य-काव्य पर केन्द्रित था। उस समय तक ध्वनि की सिद्धान्त रूप से चर्चा नही हुई थी। व्यजना शक्ति विद्यमान थी और कई अलकारो के चमत्कार का मूल भी थी। प्रतीयमान अर्थ के आधार पर बने आक्षेप और समासोक्ति अलकारो की उसी की अस्पष्ट स्वीकृति है। कालान्तर मे उनका स्वच्छ विभाजन आनन्दवर्धन द्वारा हुआ। जिस प्रकार रस तत्त्व से अलकृत काव्य के सौन्दर्य के मान स्वरूप प्रेयादि अलकारो का निर्माण हुआ उसी प्रकार ध्वनि तत्त्व से चमत्कार को प्राप्त हुए काव्य के सौन्दर्य को प्रकट करने के लिए आक्षेपादि अलकारो का निर्माण हुआ। अनेक अलकारों का आचार्यों द्वारा खण्डन मण्डन हुआ किन्तु प्रतीयमान अर्थ के लेश से युक्त अलकारो को सदैव मान्यता मिली।

उद्भट के समय तक अलकार सम्प्रदाय के और वर्ग बन गए। भामह ने अलकारो के वर्गीकरण मे स्पष्ट लिखा था कि अमुक सर्वमान्य है और अमुक के सम्बन्ध मे मत-भेद है। उनके द्वारा निर्देशित चार वर्गो के स्थान पर उद्भट छ. वर्ग क्यों करते है।[2] इससे आभास होता है कि उनके समय तक दो सम्प्रदायो की वृद्धि हो गई थी।[3]

अलकारो के क्षेत्र को गुणो से अलग करनेवाले आचार्य वामन हुए। काव्यालंकारसूत्र मे इनके कुछ कथन परस्पर विरोधी प्रतीत होते है। ग्रन्थ के आरम्भ मे लिखते है—'काव्य अलंकार से ही ग्राह्य होता है, सौन्दर्य का नाम ही अलंकार है'[4] और तृतीय अधिकरण मे कहते है कि 'काव्य की शोभा उत्पन्न करनेवाले धर्म गुण है, अलंकार शोभा के अतिशय के हेतु है।[5] 'रीतिरात्मा काव्यस्य' सूत्र तो इनका प्रसिद्ध ही है। इन परस्पर विरोधी वाक्यो से क्या निष्कर्ष निकाला जाय ?

इसका उत्तर ग्रन्थ मे इनके क्रम से ही मिल जाता है। हम कह आए है कि उस काल मे अलकार अत्यन्त व्यापक अर्थ मे भी प्रयुक्त होता था। ग्रन्थ के आरम्भ

---

१. सर्वत्रभिन्नवृत्तान्तैरुपेतं लोकरंजनम्।
काव्यं कल्पोत्तरस्यायि जायते सदलंकृति ॥१, १९॥ वही।

२. काव्यालंकार संग्रह।

३. डॉ० ओम प्रकाश : हिन्दी अलंकार साहित्य : पृ० १६

४. काव्यं ग्राह्यलंकारात् ॥१, १, १॥ सौन्दर्यमलंकार ॥१, १, २॥ काव्यालंकार सूत्र।

५. काव्यशोभायाः कर्तारो धर्मागुणा. ॥३, १, १॥ तदतिशयहेतवस्त्वलंकारा. ॥३, १, २॥ —वही—

की सीमा के बाहर नही जा सकता । व्यजनावादी आचार्य ने इस अव्यवस्था को समझा और ध्वनि को केन्द्र विन्दु स्थिर कर आलोचना को मानो व्यवस्थित करने का प्रयास किया ।

वस्तु-ध्वनि के प्रसंग में अलंकार और ध्वनि का भेद समझाते हुए ये लिखते है—'जहाँ व्यग्य अर्थ प्रधान है वह वस्तु-ध्वनि है और जहाँ व्यग्य अर्थ होने पर भी वाच्यार्थ का चारुत्व ही विशेष दिखाई पडता है वे स्थल तत्तदलकारो से प्रसिद्ध है ।'[1] इसी प्रकार जहाँ रस प्रधान है वह रस-ध्वनि का विषय है और जहाँ वह गौण है वे रसवद्लंकारों के विषय है ।[2]

आनन्दवर्धन का यह विवेचन कुछ आन्तरिक कठिनाइयो को उत्पन्न करनेवाला है । ये रस, वस्तु और अलकार तीनों को व्यंग्य रूप मे ग्रहण करते हैं । इनके वाच्य से कम चमत्कार-पूर्ण होने पर गुणीभूत व्यग्य होता है । अब वस्तु अथवा अलकार से अलकार व्यग्य मानने का अर्थ यह हुआ कि वह वाच्य भी होता है । अलकार रस या वस्तु की भाँति कभी वाच्य नही होता है । थोड़ी देर के लिए मान भी ले तो वह गुणीभूत या चित्रकाव्य का विषय होगा । आनन्दवर्धन के शब्दो मे रसवद्लकारो मे रस गौण है जबकि होना चाहिये था मुख्य । प्रश्न हो सकता है कि ऐसे स्थलो को रसवदलकार का विषय मानें या गुणीभूत का ? द्वितीय उद्योत की ५ वी कारिका के अनुसार वह रसवत् होगा और तृतीय उद्योत की ३५ वी कारिका के अनुसार गुणीभूत । यदि आनन्दवर्धन ने रसवत् की गणना न करते हुए या इसका प्रत्याख्यान कर इसे सीधे-सीधे गुणीभूत के अन्तर्गत रख दिया होता तो कोई कठिनाई न होती । यदि कहे कि रसवदलंकार और गुणीभूत एक ही है, किसी भी एक को मान सकते है तो इसका यह अर्थ हुआ कि यह सदैव ही व्यंग्य से गौण रहेगा, कभी व्यंग्य बन ही नही सकता । यह स्थिति बडी उपाहासास्पद होगी । इसी प्रकार यह कहना कि अमुक स्थल पर उपमा अलकार गौण है उससे आक्षिप्त अमुक अर्थ प्रधान है बड़ा विचित्र लगता है । इस विचित्रता को भुलाकर भी उक्त विवेचन से निष्कर्ष निकलता है कि आनन्दवर्धन की दृष्टि से यह देखना पड़ेगा कि कौन से अलंकार ध्वनि बन सकते है, कौन से केवल गुणीभूत और कौन से सदैव चित्रकाव्य ही बने रहेगे ।

खेद है कि चन्द्रालोककार तक विशेष रूप से रसादि अलंकारो के सम्बन्ध मे यही अव्यवस्था दिखलाई पड़ती है । पता नही कैसे विद्वानो मे यह धारणा घर कर गई कि रसादि अलकारो मे रस या भाव वाच्य के सौन्दर्य की अभिवृद्धि के लिए लाये जाते है । भामह और दण्डी के विवेचन में कहीं ऐसा नही प्रतीत होता है कि

---

१. देखिये आनन्दवर्धन का आक्षेप और पर्यायोक्ति का विवेचन ।

२ ध्वन्यालोक ॥ २, ५ ॥

इनमे रस या भाव वाच्य के उपकारक हैं। वहाँ इन अलंकारों मे यदि अलंकार्य कुछ और होना (जैसा आनदवर्धन का मत है) तो अवश्य कहा जा सकता था कि भामह आदि ने रस को गौण स्थान दिया। दण्डी आनन्द देनेवाले भाव को ही रसवत् कहते है और उद्‌भट विभावादि की सूचना द्वारा भाव के कथन को प्रेयः अलकार मानते हैं तब कैसे कहा जाय कि इनमें रस-भाव अलंकार्य नही अलकार है। उदाहरणो से भी इसी की पुष्टि होती है। प्रतीत होता है मौखिक रूप से इस पर खूब चर्चा होती होगी उसी की ओर 'प्रधानेऽन्यत्र·········'[1] कारिका मे संकेत है।

अलंकार और अलकार्य के प्रकरण मे कुन्तक ने भामह और आनन्दवर्धन की खूब खबर ली है।[2] ये कहते है कि ऐसे स्थलो पर रस को छोडकर अलंकार्य कुछ है ही नही इसलिए रस को अलकार कहे कैसे। रसवत् का अनेक प्रकार से सन्धि विच्छेद करते हुए पूर्व निर्दिष्ट उदाहरणो के प्रकाश मे इन्होने सिद्ध किया है कि इस नाम की किसी वस्तु का अस्तित्व ही नही है। हाँ, जहाँ अलंकार ही रस तुल्य हो जाय उसे चाहे तो रसवत् कह सकते है और इस दृष्टि से विशेष कथन द्वारा रूपक आदि सब अलकार रसवत् हो सकते है।[3]

मम्मट ने अपरंग रूप गुणीभूत व्यग्य के अन्तर्गत रसवत् का विवेचन किया है जहाँ मुख्य रस के विद्यमान होने पर भी भावशान्ति आदि प्रधानता को प्राप्त हो जाँय। इसके द्वारा भी ध्वन्यालोक की परम्परा का निर्वाह हुआ है।

चन्द्रालोककार ने सम्भवतः कुन्तक की आपत्तियों को ध्यान मे रखकर ही अलंकारो की श्रेणी से रसादि को बहिष्कृत कर दिया।

ठीक यही कठिनाई वस्तु और अलंकार के सम्बन्ध को लेकर भी उपस्थित हो सकती है। एक ओर अलकारों को चारुत्व का हेतु घोषित करते है और दूसरी ओर आक्षेप, दीपक अपह्नुति और समासोक्ति में व्यंग्य को वाच्य का अनुगमन करनेवाला ठहराते है। तात्पर्य यह कि ये सब गुणीभूत के अन्तर्गत चले जाँयगे कभी व्यंग्य होकर ध्वनि नहीं बन सकते। यदि इनमें वाच्य का चारुत्व करने की शक्ति नही तो अलंकार ही कैसे कहला सकते हैं? स्मरण रहे कि इनमे आनन्दवर्धन वाच्य और व्यंग्य दोनों के अस्तित्व को स्वीकार भी करते हैं। अतः वस्तु तथा अलकार को व्यंजित करनेवाले

---

१. ध्वन्यालोक : ॥ २, ५ ॥

२. वक्रोक्ति जीवित : ॥ ३, ११ ॥ और इसकी वृत्ति

३. 'योऽलंकार : स रसवत्' इत्यन्वयः। यः किल एवंस्वरूपो रूपकादिः रसवदभिधीयते। किं स्वभावेन 'रसेन वर्तते तुल्यम्' रसेन शृंगारादिना तुल्यं वर्तते यथा ब्राह्मणवत् क्षत्रियस्तथैव स रसवदलंकारः।

— हिन्दी वक्रोक्ति जीवित : पृ० ३८४

अलकारों में भेद करना पड़ेगा कि कौन से ध्वनि बन सकते है तथा कौन से सदा गुणीभूत ही रहते है। ध्वनि की व्यवस्था के पश्चात् केवल रस पर ही ध्यान केन्द्रित रहने के कारण से यह उलझन पैदा हो गई है। 'ध्वन्यात्मभूते' '[1] कारिका और उसकी वृत्ति के अनुसार उन्ही अलकारो मे अलकारत्व को चरितार्थ करने का गुण है जो ध्वनि, विशेष रूप से रस-ध्वनि के चारुत्व हेतु है।

हमारे विचार से शरीर पर धारण किये जाने वाले अलकार और काव्य मे प्रयुक्त अलकारों के शोभा के उपकरण बनने की प्रक्रिया को एक सा समझने के कारण ही उक्त अव्यवस्था उत्पन्न हो गई है। शरीर के साथ अलंकारो का जितना स्थूल सम्बन्ध होता है उतना काव्य के साथ नही। बिना आभूषणों के भी शरीर अपनी प्रकृत शोभा को बनाये रखता है। आभूषण उसमे बहुत कम वृद्धि कर पाते है। किन्तु आलंकारिक विधान में से अलकारो के निकल जाने पर काव्य का स्वरूप ही बदल जाता है। अर्थ मे भी आकाश पाताल का अन्तर आ जाता है। 'दस फुट ऊँचा हाथी जा रहा है' और 'हाथी क्या है मानो चलता फिरता पहाड़ ही है।' मे यदि हम प्रथम उक्ति को भी काव्य मानें तभी यह कह सकते है कि दूसरी उक्ति मे उत्प्रेक्षा अलंकार ने काव्य की शोभा बढाई है। यदि कहे कि पहली नही दूसरी उक्ति ही काव्य है क्योकि उत्प्रेक्षा के कारण उसी में काव्योचित चमत्कार आ पाया है तो कहना पड़ेगा कि दण्डी का 'काव्यशोभाकरान् धर्मानलकारान् प्रचक्षते' कथन ही उपयुक्त है और हमे उन आलकारिको से पूर्ण सहमत होना पडेगा जो काव्य को काव्य बनानेवाले सभी धर्मो को अलंकार मानते थे। उनसे बाहर न रस है न ध्वनि। अलकार दो वस्तुओं, काव्य और सौन्दर्य, को इकट्ठा करनेवाला साधन नही वे स्वयं मे एक सुन्दर उक्ति काव्य है।

आचार्य कुन्तक की मर्मभेदिनी दृष्टि भी अलकार प्रयोग के इस दोष पर गई है। 'सालकारस्य काव्यता[2] इसका प्रमाण है। अलकारो को अलंकार्य से अलग कर इसलिए देखते है कि इससे काव्य सौन्दर्य ग्रहण करने की शक्ति प्राप्त होती है। अन्यथा अलकृत वाक्य ही काव्य है। 'काव्य मे अलकार का योग होता है[3] कहना त्रुटि पूर्ण है।

---

१. ध्वन्यात्मभूते शृंगारे समीक्ष्य विनिवेशितः
रूपकादिलंकारवर्ग एति यथार्थताम् ॥ २, १७ ॥ ध्वन्यालोक

२. वक्रोक्तिजीवित : ॥ १, ६ ॥

३. तेनालंकृतस्य काव्यत्वमितिः, न पुन. काव्यस्यलकारयोग इति।
—हिन्दी वक्रोक्ति जीवित : पृ० १७

ध्वनि काल प्रधानतः खण्डन-मण्डन का काल है। पहले से चली आती हुई मान्यताओं मे से कुछ का खण्डन कर ध्वनि की स्थापना हुई। उसे इतना विशाल किया गया कि शेष सभी मान्यतायें उसमें समा गईं। ध्वन्युत्तर काल पूर्व दोनों युगों का ऋणी है। महिमभट्ट को छोड़कर जिनका एक मात्र उद्देश्य ध्वनि का खण्डन करना था, भोज, रुय्यक, विद्याधर, विश्वनाथ और जगन्नाथ ध्वन्यालोक से प्रभावित हैं, जयदेव, केशव मिश्र तथा अप्पय दीक्षित उसके पूर्व युग की परम्परा को आगे बढ़ाते हैं।

३

औचित्य और ध्वनि

औचित्य के व्यवस्थापक के रूप मे क्षेमेन्द्र का नाम सादर लिया जाता है। इसके पूर्ण विवेचन के लिए इन्होंने 'औचित्य विचार चर्चा' का प्रणयन किया। इनके पूर्व भी इस पर पर्याप्त विचार हो चुका था। भरत मुनि के समय से ही औचित्य का भाव व्यावहारिक और सैद्धान्तिक रूप से आचार्यों के मन में रहा है। यह तत्त्व इतना व्यापक है कि इसके भीतर काव्य के सभी सिद्धान्त समा जाते है। अपनी विशालता के कारण यह इतना अस्पष्ट भी है कि इसकी कोई निश्चित परिभाषा या व्याख्या नही हो सकती। 'उचित का भाव ही औचित्य है।'[१] क्षेमेन्द्र की यह परिभाषा वस्तुतः कोई परिभाषा नही है। सीधी सादी भाषा में यह 'चाहिये' सम्प्रदाय है। यह होना चाहिये वह होना चाहिये, अमुक परिस्थिति मे यह उचित है अमुक में वह—किसी निश्चित आधार का अभाव दर्शाता है। संसार की कोई वस्तु अपने स्वरूप को नही पा सकती यदि उसमे औचित्य न हो। देश कालानुसार वह भिन्न-भिन्न नामो से पुकारा जाता है, भिन्न-भिन्न रूपो में व्यक्त होता है—कहीं दोष का अभाव बनकर तो कही गुण की वृद्धि होकर। दूसरे शब्दों में, औचित्य काव्य की सभी मान्यताओ का समन्वित रूप है। क्षेमेन्द्र के पूर्व प्रायः सभी विद्वानो ने किसी न किसी प्रसंग मे इसकी चर्चा की है।

सर्व प्रथम भरत ने नाटक से सम्बन्धित औचित्य पर व्यावहारिक दृष्टिकोण से विचार किया है। उनका ध्यान इस बात पर केन्द्रित था कि दर्शकों पर नाटक का अधिक से अधिक प्रभाव कैसे पड़ सकता है? नाटक की कसौटी क्या है? उसमें अमुक वस्तु को स्थान मिल सकता है या नहीं? इसक मापदण्ड क्या हैं?

नाटक लोक का प्रतिरूप होने से इन्होने लोक को प्रमाणस्वरूप ही ग्रहण किया—

---

१. उचितस्य च यो भावस्तदौचित्यं प्रचक्षते ॥७॥ औचित्य विचार चर्चा

तदध्यात्मभिसभूतं छन्दः शब्द समन्वितम् ।
लोकसिद्धं भवेत्सिद्धं नाट्यं लोकात्मकत्विदम् ॥[1]

नाटक अपनी कथावस्तु, पात्र, देश, काल इसी लोक से चुनता है । अतः उनके औचित्य के प्रमाण के लिए भी लोक की ही सहायता लेनी पडेगी । सम्पूर्ण नाट्य-शास्त्र मे इन्होने मानव हृदय के भाव-वैविध्य और देश की प्रचलित परम्पराओं तथा सुसस्कृत समाज की मान्यताओ को ध्यान मे रखकर नाटक के समस्त उपकरणों की व्यवस्था की है । उन सबका सार ये निम्न श्लोक में दे देते है—

नानाभावोपसम्पन्नं नानावस्थान्तरात्मकम् ।
लोकवृत्तानुकरणं नाट्यमेतन्मया कृतम् ॥[2]

इस तरह शास्त्रीय व्याख्या किये बिना ही ये प्रमाणित कर देते है कि नाटक की सफलता मे औचित्य का कितना महत्वपूर्ण स्थान है । संसार मे जो वस्तु जिस रूप में और जिस स्थान पर पाई जाती है नाटक में उसका रूप और स्थान वही होना चाहिए । इस नियम के अन्तर्गत वेष, भाषा, अभिनय सभी कुछ जाना जाता है ।

आनन्दवर्धन के पूर्व भामह आदि आलंकारिको ने काव्य-दोषो के प्रसंग में औचित्य का विश्लेषण किया है । संक्षेप मे कह सकते है कि इसके काव्य-दोष औचित्य की कसौटी पर कसे गये है ।

भामह दोषो के विवेचन के साथ-साथ दोषत्व-मुक्त होने के उपाय भी बतलाते है, उनमे से विशिष्ट सन्निवेश मुख्य है । काजल की कालिमा दोष है पर उसी की एक रेखा कामिनी की आँखो मे लगकर शोभावर्धक बन जाती है । इसी प्रकार पुनरुक्ति दोष भय, शोक जैसे प्रसगो मे दोष-मुक्त हो जाता है ।[3] काव्य रचयिता के देश-काल से बँधा होता है । उसका मूल्य उसके द्वारा अपने देश-काल की उचित व्याख्या पर निर्भर करता है । आधुनिक युग के पूर्व व्यक्तिगत शृगारिक भावनाओं को प्रश्रय देना दोष समझा जाता था, उसका साधारणीकृत उदास रूप ही मान्य था किन्तु छायावादी कविता मे वही उसकी विशेषता या कम से कम दोषराहित्य बनकर आई है ।

दण्डी ने भी विशिष्ट अवस्था को ध्यान मे रखकर ही दोषो मे दोषत्व स्वीकार किया । स्थिति बदल जाने पर वे ही अपरिहार्य गुण बन सकते है । जैसे,

---

१. नाट्यशास्त्र. २५, १२३ । इसके लिए इसी अध्याय की १२५—१२९ तक कारिकायें द्रष्टव्य है

२. वही : १, ११२ ।

३. भय शोकाम्यसूयासु हर्षविस्मययोरपि ।
तथाऽऽह गच्छ गच्छेति पुनरुक्तं न तद्विदु ॥४, १४॥ काव्यालंकार

अपार्थ दोष पागल के बकवाद और बालक के आलाप मे दोष-मुक्त हो जाता है।[1] हाँ, दोषत्व दूर करने के लिये कवि कौशल की आवश्यकता है। देश, काल, लोक न्याय तथा आगमों के विरुद्ध बात भी दोष है किन्तु कवि की प्रतिभा ऐसी स्थितियो का निर्माण करती है जब ये सभी विरोध गुण की सीमा मे प्रवेश कर जाते हैं।[2]

अब तक, हम देखते हैं कि आचार्यों ने जिन दोषों की चर्चा की उनका मुख्य सम्बन्ध दृश्य-काव्य मे है। इसका कारण है कि उनके सामने भरत का नाट्यशास्त्र था। वे सब उसी पर अधिकाधिक विचार करते चले गए। प्रधानतः श्रव्य-काव्य को ध्यान में रखकर रस विवेचन के प्रसंग मे दोषों का विवेचन आचार्य रुद्रट ने किया।[3]

अनुप्रास के उपभेदों, मधुरा-प्रौढा आदि का विवरण देते हुए इन्होंने कहा कि आवश्यकतानुसार ही इनका ग्रहण और त्याग होना चाहिए।[4] इसी प्रकार रस की उचित प्रतीति के लिए इन्होने दो सिद्धान्त प्रतिपादित किये—(१) विरोधी रस का अंगीरस में मिश्रण अनुचित है। जैसे, शृंगार में करुण का मिश्रण नहीं हो सकता,

---

१. समुदायार्थ शून्यं यत् तदपार्थमितीष्यते।
उन्मत्तमत्तबालानामुक्तेरन्यत्र दुष्यति ॥३, १२८॥ काव्यादर्श

२. विरोधः सकलो प्येष कदाचित् कविकौशलात्।
उत्क्रम्य दोषगणनां गुणवीं थीं विगाहते ॥३, १७९॥ वही।

३. नाटक में कुछ तत्त्व उसके निजी और कुछ श्रव्य काव्य के होते हैं। इनमें से देश काल से बँधे तत्त्व उसके निजी और उनसे मुक्त श्रव्य-काव्य के होते हैं। इसी प्रकार श्रव्य-काव्य में देश-काल का परिचय देनेवाले तत्त्व नाटक के होते हैं और शाश्वत रहनेवाले उसके अपने। उदाहरणार्थ, दशरथ अयोध्या के राजा हैं, अमुक्त वस्त्र पहनते है—ये नाटकीय तत्त्व हैं। किन्तु इनके अतिरक्त वे पुत्र वत्सल पिता है, प्रतिज्ञा-पालक हैं—मे श्रव्य-काव्य के तत्त्व हैं। नाटक देखते समय यदि सिख पात्र बिना दाढ़ी मूँछ के आएगा या कोई स्त्री कान में नत्थ लटकाये दिखाई पड़ेगी तो रसभंग हो जाएगा किन्तु उपन्यास में इनका वर्णन न करते हुए भी जब मानव भावनाओं का चित्रण किया जाता है तो रस परिपाक होता ही है। भरत ने नाटक में रस-निष्पत्ति के लिए औचित्य का ग्रहण और रुद्रट तथा आनन्दवर्धन ने (और बाद के आचार्यों ने भी) श्रव्य-काव्य में उचित क्या है इस पर अधिक ध्यान दिया।

४. अन्यस्य यः प्रसंगे रसस्य निपतेद्रस. क्रमापेतः।
विरसोऽसौ स च शक्यः सम्यग्ज्ञातुं प्रबन्धेभ्यः ॥११, १२॥ काव्यालंकार।

(२) अग रस की आवश्यकता से अधिक वृद्धि अनुचित है ।[1] इन दोनो को इन्होने 'विरस' सज्ञा से अभिहित किया ।

इस तरह इधर उधर के प्रसगो मे औचित्य-विचार होता आया था किन्तु उसकी व्यापक व्यवस्था के दर्शन ध्वन्यालोक मे होते है । आनन्दवर्धन की दृष्टि ध्वनि पर केन्द्रित थी । प्रश्न था इसकी विशाल सीमा मे रहकर काव्य के सभी तत्त्व इसके उपकारक कैसे बनते है ? इसका उत्तर है 'औचित्य के द्वारा' । आनन्दवर्धन के मत से रस अंगी है और अलकार सघटना, गुण ये सब उसके अंग । यदि अग का अंगी से सम्बन्ध उसके आस्वादन में सहायक है तो वह उचिन है अन्यथा अनुचित । रसभंग का एक मात्र कारण अनौचित्य है और प्रसिद्धौचित्य का अनुसरण ही रस का परम रहस्य है ।[2]

रसौचित्य पर इन्होने चार पहलुओं से विचार किया है—(१) अलंकार और रस (२) गुण और रस (३) सघटना और रस, और (४) रसो का परस्पर सम्बन्ध।

प्रबन्ध के सम्बन्ध मे इनका मत है कि काव्य मे वे ही अलकार प्रवेश पा सकते है जो रस-व्यजना मे सहायक हों ।[3] अलकार का मुख्य उद्देश्य रस को अलंकृत करना है क्योकि रस अगी है । यदि अगी के स्थान पर अंग ही प्रधानता प्राप्त कर ले तो रस भंग स्वाभाविक है । इस दृष्टि से अलकार ग्रहण के विशेष अवसर ही हो सकते है । अभिनव ने ऐसे दो अवसरो की ओर इंगित किया है—(१) अलकार्य की सत्ता और (२) औचित्य । अलकार पहनाने के लिए सप्राण शरीर की आवश्यकता है पर सन्यासी के शरीर पर प्रयोजन न होने से शोभा नही देते ।[4]

आनन्दवर्धन विप्रलभ श्रृंगार मे यमक का प्रत्याख्यान करते है क्योकि इसकी योजना विशेष प्रयत्न साध्य होने के कारण से रस के अनुकूल नही पड़ती । जहाँ तक बन सके समर्थ कवियो को भी इसकी योजना नही करनी चाहिये ।[5] हाँ, उपमा रूपकादि अवश्य रस के उपकारक है किन्तु उनके सम्बन्ध मे भी ये विशेष बाते ध्यान मे रखनी चाहिए—

---

१. य. सावसरोऽपि रसो निरन्तरं नीयते प्रबन्धेषु ।
अतिमहती वृद्धिमसौतथैव वैरस्यमायाति ॥११, १४॥ वही।

२. औचित्यादृते नान्यद रसभंगस्य कारणम् ।
प्रसिद्धौचित्यबन्धस्तु रसस्योपनिषत्परा ॥ ध्वन्यालोक लो० सहित पृ० ३३० ।

३. रसाक्षिप्तया यस्य बन्धः शक्यक्रियो भवेत् ।
अपृग्यत्ननिर्वर्त्य. सो लंकारो ध्वनौ मत ॥२, १६॥ वही ।

४. अचेतन शवशरीरं कुण्डलाद्युपेतमपि न भाति, अलंकार्यस्याभावात् । यदि शरीरं कटकादि युक्तं हास्यावहं भवति, अलकार्यस्यनौचित्यात् । वही : पृ० १९७

५. वही . २, १५ ।

१—रस के अग रूप में उनका वर्णन हो,

२—समय पर उनका ग्रहण और त्याग हो।

३—आदि से अन्त तक निर्वाह की इच्छा नही रखनी चाहिए, और

४—यदि सयोग से यह निर्वाह हो भी जाय तो सावधानी से फिर देख लेना चाहिए।[1]

इन नियमों को देखते हुए कहा जा सकता है कि आनन्दवर्धन अलकारों को अग रूप में स्वीकार करने के बाद भी उनके स्वाभाविक प्रवेश का ही समर्थन करने को तैयार हैं।

अलकारो की भाँति गुण भी रस के आश्रित है। अन्तर केवल इतना है कि अलंकार शब्द और अर्थ के माध्यम से रसोपकारक बनते है जबकि गुणों का रस से सीधा सम्बन्ध है। सभी गुण एक ही रस के आश्रित नही हो सकते। उनके अलग अलग वर्ग हैं। जैसे, माधुर्य का शृंगार और ओज का रौद्र आश्रय है। प्रसाद गुण सब रसों के आश्रित है।[2]

इसी प्रसग में आनन्दवर्धन ने वर्णों पर भी विचार किया है, इसे हम दोष-विचार भी कह सकते है। श्रुति कटु वर्ण शृंगार में दोष है पर बीभत्सादि में रस को दीप्त करनेवाले गुण[3] बन जाते हैं। वास्तव मे वर्ण रसहीन नही हैं, आवश्यकता उनको उचित रस के साथ सम्बद्ध करने की है।

इसके पश्चात् ये सघटना के औचित्य पर प्रकाश डालते है। यह रस का तीसरा सहायक तत्त्व है। पूर्वकाल से सघटना के तीन प्रकार प्रचलित है—असमासा, मध्यम समासा और दीर्घ समासा। कहाँ कौन सी सघटना उपयुक्त होगी इसके लिए तीन बातों का विचार अपेक्षित है—(१) वक्ता, (२) वाच्य, (३) विषय।[4]

वक्ता कवि स्वय या काव्य का कोई पात्र हो सकता है। नाटक में इसका विधान पात्र की दृष्टि से हुआ है। उत्तम प्रकृति का व्यक्ति, विशिष्ट अवस्था का

---

१. विवक्षा तत्परत्वेन नांगित्वेन कदाचन।
काले च ग्रहणत्यागौ नातिनिर्वहणैषिता ॥२, १८॥
निर्व्यूढावपि चांगत्वे यत्नेन प्रत्यवेक्षणम्।
रूपकादिलंकार वर्गस्यांगत्व साधनम् ॥२, १९॥ वही।

२. वही : २, ७ व ९ व १० कारिकाएँ।

३. वही . ३, ३ व ४

४. वही : ३, ६ व ७।

व्यक्ति तथा विशेष मानसिक स्थिति का व्यक्ति अपने स्वाभावानुसार उपर्युक्त मे से किसी एक प्रकार की रचना का प्रयोग करेगा ।

इसी भाँति यद्यपि कवि अपनी प्रतिभा से किसी सघटना द्वारा उद्देश्य की सिद्धि कर सकता है तथापि विशेष रसो के लिए सघटना विशेष का प्रयोग प्रचलित हो जाने से वह तत्काल औचित्य का समर्थन प्राप्त करती है । करुण और विप्रलम्भ मे संघटना समास रहित ही होनी चाहिये ।[1]

विषय का अर्थ काव्य की विधा—मुक्तक, कलापक, कुलक, पर्यायबन्ध, परिकथा, खण्डकथा, सर्गबन्ध आदि विधा की प्रकृति के अनुसार सघटना का चयन करना चाहिये । जैसे, सन्दानि तक मे विकट-बन्ध के कारण से दीर्घ समासा या मध्यम समासा रचना अपेक्षित है । नाटक दृश्य-काव्य है इसलिए तत्काल रस-सिद्धि के लिए असमासा रचना अधिक उपयुक्त है । इसी तरह आख्यायिका विषय के अनुकूल सघटना उचित होगी । साहित्यकार की अफलता के मूल मत्र स्वरूप आनन्दवर्धन लिखते है—

रसबन्धोक्तमौचित्यं भाति सर्वत्र संश्रिता ।
रचना विषयापेक्ष तत्तु किंचिद्विभेदवत् ॥[2]

सबके अन्त मे आनन्दवर्धन अपने मुख्य विषय रस पर आते है । रसो के परस्पर औचित्य का मापदण्ड क्या है ? सामान्यत. कथित रस अनौचित्य का परिहार कैसे हो सकता है ? सम्पूर्ण प्रबन्ध के रसौचित्य का परीक्षण किस रीति से हो ? इन्ही प्रश्नो के सविस्तार उत्तर ध्वन्यालोक के तृतीय उद्योत में दिये गये है ।

प्रबन्ध के दो प्रकार है—(१) ऐतिहासिक (२) कल्पित ।

(१) ऐतिहासिक कथानक में मुख्य रस को भग करनेवाली यदि कोई स्थिति आती है तो कवि सत्य कथाश को छोड़कर नवीन अनुकूल प्रसग की कल्पना करने के लिए स्वतंत्र है ।

(२) सधियो और सध्यगो का समावेश शास्त्र मर्यादा के पालन हेतु नही रसाभिव्यक्ति की दृष्टि से होना चाहिए ।

(३) यथावसर रसों का उद्दीपन और प्रशमन, (४) विशृ खलित होते हुए अंगी रस का सदैव स्मरण रखना चाहिये ।

(५) शक्ति होते हुए भी रसानुकूल परिमित मात्रा मे अलकारो का नियोजन होना चाहिये ।

---

१. **करुणविप्रलम्भश्रृंगारयोस्त्वसमासैव संघटना : वही : पृ० ३२०**

२. **वही : ३,९ ।**

ये पाँच प्रबन्धगत रस के हेतु हैं।[1]

इन्ही हेतुओं की व्याख्या करते हुए आनन्दवर्धन ने कुछ अन्य संकेत भी दिये हैं। जैसे, उत्तम प्रकृति के नायक में अधम प्रकृति का शृंगार नही दिखलाना चाहिये, संभोगादि असभ्यतापूर्ण व्यवहार रंगमंच पर नहीं दिखाये जाने चाहिये।

कल्पित कथाओं मे इनके रसौचित्य सम्बन्धी विचार निम्न हैं :

सिद्ध रस सम्पन्न कथाओं मे यथा सम्भव कोई परिवर्तन नही होना चाहिये। यदि प्रयोजनवश किया भी जाय तो रस-विरोधी न हो अर्थात् कवि को यह देख लेना चाहिये कि उसके कल्पित कथाश का मुख्य सिद्ध रस से उचित सम्बन्ध है या नही।

विरोधी रसों के अनौचित्य को दूर करनेवाली स्थितियो मे आनन्दवर्धन ने अत्यन्त मार्मिक दृष्टि का परिचय दिया है। लिखते है कि अंगी रस का पूर्ण आस्वादन तभी सम्भव है जब उसके अविरोधी या विरोधी रस का परिपोषण न किया जाय। इसके लिए—

(१) अविरोधी रस का प्रधान रस की अपेक्षा आधिक्य न हो।[2]

(२) विरोधी व्यभिचारी भावो का निवेश नहीं करना चाहिये यदि हो भी जाय तो शीघ्र ही उसे अविरोधी सचारी में परिणत कर देना चाहिये,[3] और

(३) विरोधी रस की तुलना मे न्यूनता कर लेनी चाहिये। जैसे, शृंगार के साथ शान्त की या शान्त के साथ शृंगार की।[4]

इनके अतिरिक्त कुछ अन्य उपाय ये है :—

(१) विरोधी रस को भिन्नाश्रय कर देना। भिन्न आश्रय होने से उसके परिपोष मे दोष नहीं है।

(२) यदि एक ही आश्रय मे अविरोधी रस के नैरन्तर्य से दोष आता हो तो बीच मे किसी अन्य अविरोधी रस के वर्णन द्वारा परिहार सम्भव है।

(३) विरोधी रस के नैरन्तर्य को खण्डित कर देने से भी दोष दूर हो जाता है। अन्त मे ये घोषणा करते हैं :

वाच्यानां वाचकानां च यदौचित्येन योजनम्।
रसादिविषयेणैतत्कर्म मुख्यं महाकवेः॥[5]

---

१. वही : तृतीय उद्योत, कारिकायें ११, १२, १३, १४
२. वही : ३,२४
३. वही : पृ० ३८३
४. वही : पृ० ३८४
५. वही : ३, ३२

अर्थात् वाच्य और वाचक शब्दादि की रसादिविषयक औचित्य की दृष्टि से योजना करना महाकवि का मुख्य कर्तव्य है।

आनन्दवर्धन के पश्चात् कुतन्क और महिम भट्ट ने भी औचित्य सम्बन्धी विचार प्रस्तुत किये और दोनो ने रस से उसके सम्बन्ध को स्वीकार किया। उनसे अधिक विस्तार की आशा भी नही की जा सकती थी क्योकि दोनो भिन्न दृष्टिकोणो से अपने अपने कार्य मे प्रवृत्त हुए थे।

औचित्य की पूर्ण व्यवस्था आचार्य क्षेमेन्द्र ने की। रस विरोधी ये भी नही थे। इनकी मान्यता थी काव्य का जीवभूत औचित्य और प्राण स्वरूप रस है।[1] दूसरे शब्दो मे रस काव्य को सम्पन्न करनेवाला तत्त्व है और औचित्य उसे स्थायी जीवन देनेवाला।[2]

इसके बाद ये औचित्य के २७ प्रकारो का निर्देशन करते हैं जिनमे से अशिकाश का उल्लेख पूर्ववर्ती आचार्य स्फुट रूप मे कर चुके थे।[3] सच तो यह है कि औचित्य के भेदो की गणना हो ही नही सकती। काव्य जैसी विशाल वस्तु मे अगणित तत्त्वो का समावेश है। अगों का परस्पर तथा अंगी से सम्बन्ध दर्शाने पर २७ से भी आगे असंख्य भेद हो सकते है।

हमारी धारणा है कि औचित्य की दुहाई देना व्यर्थ है। यह स्वय मे कुछ नही है। रस, ध्वनि और अलंकार जिस प्रकार हृदयऔर बुद्धि का विषय बनते है औचित्य नही बन सकता। इसे प्रकट होने के लिए दूसरों का आश्रय लेना पड़ता है। यही कारण था जो क्षेमेन्द्र के पूर्ववर्ती आचार्यो में से किसी ने इसे अलग से कोई महत्त्व नही दिया। काव्य के अन्य अगो के साथ ही इसका विश्लेषण किया। क्षेमेन्द्र ने भी

---

१. औचितस्य चमत्कारकारिणश्चारुचर्वणे ।
रसजीवित भूतस्य विचारं कुरुते धुना ।।३।। औचित्य विचार चर्चा.

२. अलकारास्त्वलंकारा गुणा एव गुणाः सदा ।
औचित्य रससिद्धस्य स्थिरं काव्यस्य जीवितम् ।।५।।औचित्य विचार चर्चा.

३. पदे वाक्ये प्रबन्धार्थे गुणेलंकरणे रसे,
क्रियानां कारके लिंगे वचने च विशेषणे ।।८।।
उपसर्गे निपाते च काले देशे कुले व्रते ।
तत्त्वे तत्त्वे प्यभिप्राये स्वभावे सारसंग्रहे ।।९।।
प्रतिभायामवस्थायां विचारे नाम्न्यधमशिषि ।
काव्यस्यांगेषु च प्राहुरौचित्यं व्यापि जीवितम् ।।१०।। क्षेमेन्द्र : औचित्य विचार चर्चा

वही किया किन्तु औचित्य को मध्यबिन्दु मानकर। अन्तर इन बिन्दुओं का है औचित्य के विश्लेषण का नही।

४

रीति और ध्वनि

रीति को काव्य की आत्मा कहनेवाले आचार्य वामन हुए। अपने मत की व्याख्या के लिए इन्होंने जिन तत्त्वों का विवेचन किया उनका विश्लेषण भिन्न नामो से बहुत पहले से चला आ रहा था। नाटय शास्त्र के त्रयोदश अध्याय मे भरत चार प्रकार की प्रवृत्तियो—आवन्ती, दाक्षिणात्य, पांचाली और उड्मागधी—का उल्लेख करते है।[1] नाटक से सम्बन्धित होने के कारण ये स्वभावत इनका व्यापक अर्थ लेते है। इसी प्रसग की 'पृथिव्या नानादेशवेषभाषा चार वर्ता: ख्यायनीति प्रवृत्ति·' वृत्ति से यह प्रमाणित है कि ये प्रवृत्ति के अन्तर्गत भाषा की प्रकृति के साथ साथ आचार व्यवहार को भी जोड रहे हैं जो श्रव्य-काव्य की आलोचना के मापदण्ड निर्धारित करनेवाले नही भी स्वीकार कर सकते। यही हुआ भी। किन्तु भरत का मत इस रहस्य को स्पष्ट कर देता है कि आरम्भ मे भाषा रचना की प्रकृति का विभाजन भौगोलिक आधार पर हुआ था। बाणभट्ट का निम्न श्लोक इसकी पुष्टि करता है :

श्लेषप्रायमुदीच्येषु प्रतीच्येष्वर्थमात्रकम्।
उत्प्रेक्षा दाक्षिणात्येषु गौड़ेष्वक्षरडम्बर: ॥[2]

इन प्रमाणो के आधार पर कहा जा सकता है कि भामह के काल तक चार प्रकार की शैलियाँ विद्यमान थी फिर भी भामह ने वैदर्भी और गौड़ी (भरत की दाक्षिणात्य और उड्मागधी तथा बाण की दाक्षिणात्य और गौडी) का ही क्यो उल्लेख किया ? शेष दो को छोड देने का क्या कारण है ? इसके उत्तर में कहा जा सकता है कि स्यात् शेष दो अपने कम प्रचार के कारण इतनी गौण हो गई थी कि उनकी गणना की अवश्यकता ही नहीं समझी गई।

भामह ने प्रवृत्ति, मार्ग या रीति शब्द का प्रयोग नही किया है। काव्य-भेद के प्रसंग मे ही इनकी चर्चा हुई है। प्रतीत होता है कि उस समय वैदर्भी रीति का सम्मान अधिक था। कारण कुछ भी हो, भामह ने इसके विरुद्ध आन्दोलन किया। वक्रोक्ति के समर्थक होने के नाते अलंकारमयी गौड़ी रीति का अपमान इनके लिए असह्य था। काव्य मे दोनों रीतियाँ श्रेष्ठ है। वैदर्भी को अधिक श्रेष्ठ माननेवालों

---

१. चतुर्विधा प्रवृत्तश्च प्रोक्ता नाट्यप्रयोक्तृभि:।
आवन्ती दाक्षिणात्या च पांचाली चोड्मागधी ॥१३, ३२॥

२. हर्षचरित : १, ८

के प्रति ये लिखते हैं—'या तो अलंकारो से विभूषित अग्राम्य, अर्थवान शास्त्र-सम्मत, जटिलता (शब्दाडम्बर) से मुक्त गौडी रीति भी श्रेष्ठ है अन्यथा बैदर्भी भी नही।[1] गौडी की प्रशंसा मे ये बैदर्भी की अवहेलना करने से भी नही चूकते।[2] जो भी हो एक बात इन्होने अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कही कि काव्य की श्रेष्ठता मात्र श्रुति मधुर वर्ण-योजना पर निर्भर नही करती। मधुर-मधुर शब्दो के प्रयोग से काव्य मे चमत्कार नही आता। इस प्रकार यद्यपि विद्वान् वामन को काव्य की आत्मा खोज निकालने वाला प्रथम आचार्य मानते है किन्तु इन शब्दो मे सर्व प्रथम भामह ही इस ओर प्रयत्नशील दीखते है। आज भी कोई इससे असहमत नही हो सकता कि चमत्कार-पूर्ण अर्थ काव्य का मुख्य तत्त्व है। बिना उसके सब कुछ होते हुए भी काव्य शब्दजाल मात्र है।

मार्ग संज्ञा से रीति को काव्य मे महत्त्वपूर्ण स्थान देने वाले प्रथम आचार्य दण्डी है। इनका एतद्सम्बन्धी विवेचन सक्षिप्त और महत्त्वपूर्ण है। इसी आधार पर कतिपय विद्वान् इन्हे ही रीति सम्प्रदाय का व्यवस्थापक निश्चित नही करते हैं। वामन ने नाम बदल कर केवल विस्तृत विवेचन भर किया है। मार्ग सम्बन्धी इनके विचार इस प्रकार है

(१) सूक्ष्म भेदो मे विभक्त मार्ग के अनेक प्रकार है। उनमे से वैदर्भ और गौड का अन्तर बहुत स्पष्ट है।[3]

(२) वैदर्भ मार्ग मे श्लेष, प्रसाद, समता, माधुर्य, सुकुमारता, अर्थव्यक्ति, उदारता, ओज और कान्ति-ये दसो गुण मिलते है।[4]

(३) उक्त दसो गुण वैदर्भ मार्ग के प्राण है और गौडी मे प्रायः इसके विपरीत गुण दिखाई देते है।[5]

इन मान्यताओ के परीक्षण से दण्डी मे अपने पूर्वजो की अपेक्षा कुछ नवीनतायें दृष्टिगोचर होती है—

(१) भरत श्लेष, प्रसाद आदि को काव्य-गुणो के अर्थ में ग्रहण करते हैं,[6]

---

१. काव्यालंकार : १, ३५।

२. अनुष्टार्धमवक्रोक्ति प्रसन्नभृजु कोमलम्।
भिन्नं गेयमिवेदं तु केवल श्रुतिपेशलम्॥१, ३४॥ वही

३. दण्डी : काव्यादर्श : १, ४०

४. वही : पृ० १, ४१

५. वही : १, ४२

६. श्लेषः प्रसादः समता समाधिर्माधुर्यमोजः पदसौकुमार्यम्।
अर्थस्य च व्यक्तिरुदारता च कान्तिश्च काव्यार्थगुणा दशेते।१६,९७। नाट्यशास्त्र.

दण्डी उनका सम्बन्ध वैदर्भ मार्ग मे जोड़ते हैं क्योंकि यही मार्ग उनके मत से श्रेष्ठ है। इस प्रकार गुण और रीति का सम्बन्ध करनेवाले प्रथम आचार्य दण्डी हैं।

(२) अर्थ व्यक्ति औदार्य और समाधि गुण वैदर्भ और गौड़ मार्ग में समान है। शेष का गौड मे विपर्यय होता है।

(३) भामह ने केवल तीन गुणों का वर्णन किया है, ये फिर से दशो गुणों को मान्य ठहराते है।

(४) अनेक गुण शब्द शक्ति और अर्थ शक्ति है, जैसे—औदार्य और समाधि गुण।

(५) समाधि गुण काव्य का सर्वस्व है।[1]

(६) गुण काव्य के प्राण हैं।

(७) रीति का सम्बन्ध देश विशेष मे न होकर रचयिता की प्रकृति से है। इसके द्वारा इस ओर भी सकेत हो गया कि रीतियों का विभाजन प्रदेश नही उसमें पाये जाने वाले गुणों पर होना चाहिये।

उपर्युक्त विवेचन से यह भलीभाँति समझा जा सकता है कि दण्डी ने वामन के लिए कितनी दृढ भूमि तैयार कर दी थी।

प्रस्तुत अर्थ मे 'रीति' शब्द का प्रयोग करने वाले और उसकी परिभाषा स्थिर करने वाले प्रथक व्यक्ति वामन है। इन्होंने कहा 'विशिष्टपदरचना रीतिः।'[2] शंका हुई पदरचना में यह विशिष्टता कहाँ से आती है ? उत्तर दिया 'विशेषो' गुणात्मा।'[3] और ये गुण है—'काव्य शोभायाः कर्तारो धर्मा गुणाः।'[4] इन तीनों सूत्रों को एक कर हम कह सकते है कि काव्य मे शोभा उत्पन करने वाले गुणों से युक्त पदरचना रीति है। यही रीति काव्य की आत्मा है।[5]

वामन के उपर्युक्त सूत्रों की दण्डी के श्लोकों से तुलना करने पर ज्ञात होता है कि वामन ने कोई भी नयी बात नही कही। मार्ग और रीति की व्याख्या मे कोई अन्तर नही है और गुणों का मार्ग या रीति से सम्बन्ध भी वही है। हाँ, गुणो की व्याख्या में अवश्य वामन कुछ नवीनता ला सके हैं।

---

१. तदेतत् काव्यसर्वस्वं समाधिर्नाम यो गुणः।
कविसार्थः समग्रो पि तत्रेनमनुगच्छति ॥१, १००॥ काव्यादर्श.

२. काव्यालंकार सूत्रः १,२,७

३. वही : पृ० १, २, ८

४. वही : पृ० ३, १, १.

५. 'रीतिरात्मा काव्यस्य'—॥१, २, ६॥ वही.

शब्द और अर्थ भेद से इन्होने गुणो के दो वर्ग किये—शब्द-गुण और अर्थ-गुण। दोनो वर्गों मे नाम एक से है। पर उनके अर्थ अलग अलग। शब्द-गुण वर्ण-योजना एव शब्द-बन्ध पर और अर्थ-गुण अर्थ-सौन्दर्य पर आधारित है। अर्थ-गुण के मूल मे वस्तुत. अनेक तत्व काम करते दिखाई पडते है। कही वक्रता, कही चातुर्य और कही अर्थ चमत्कार है। इसी प्रकार रस, व्यजना, अर्थालकार, दोषाभाव आदि सभी को इन्होने रीति की सीमा मे घेर लिया है।

वामन ने भामह और दण्डी से अलग तीसरी रीति, पाचाली, भी स्वीकार की है। इसका प्रचलन नाट्यशास्त्र के बाद कम हो गया था। इन्होने इसमे माधुर्य एवं सौकुमार्य गुण समाविष्ट किये।[1] एक और बात इन्होने स्पष्ट की। रीतियो के नाम देशो के नाम पर रखे अवश्य गये है किन्तु उनका भेद गुणो के आधार पर ही स्पष्ट हो सकता है।[2]

रीतियो को श्रेष्ठ और हीन घोषित करने की परम्परा का पालन वामन ने भी किया।[3] इससे सिद्ध है कि वैदर्भी रीति का उन दिनो कितना बोलबाला था और वह भी कि भामह कितने निर्भीक व स्वतन्त्र विचारक थे।

आनन्दवर्धन के पूर्व रीति सिद्धान्त और रीति सम्प्रदाय की पूर्ण स्थापना हो चुकी थी। इसलिए रीति का ध्वनि मे समाहार करते समय इन्हे बडी सावधानी से काम लेना पड़ा है। इन्होने इसे सघटना नाम दिया और इसके तीन भेद किये—असमासा, मध्यम समासा और दीर्घ समासा।[4] वामन ने जो बात कई वाक्यो मे बिखराकर कही इन्होने वही 'सम्यक्' उपसर्ग से कह डाली। घटना पदरचना का पर्याय है। यह घटना किस प्रकार की हो इस पर इन्होने रस-दृष्टि से विचार किया। जो घटना अभीष्ट रस की व्यजना मे सहायक हो वह (सम्यक्+घटना) सघटना है।

रीति और सघटना का अर्थ एक होते हुए भी उसका निर्धारण करने मे दोनो के दृष्टिकोणो मे भिन्नता है। वामन की रीति स्वय मे सिद्धि है। पदरचना और अर्थगत सौन्दर्य अभिन्न वस्तुएँ है। यदि ऐसा न हो तो रीति काव्य की आत्मा कैसे बने? आनन्दवर्धन की सघटना रस के आश्रित है। रसाभिव्यक्ति मे सहायक होने पर ही वह सम्यक् बन सकती है।

आनन्दवर्धन ने एक और नई व्यवस्था की। जब तक रीति का विभाजन गुण पर निर्भर करता था। इन्होंने उसका आधार समास निश्चित किया और उसको

---

१. काव्यालंकार सूत्र : १,२,१३।
२. तासां गुणभेदाद् भेदम्—१,२,१० की वृत्ति : वही
३. इलरे गौडीयपांचाल्यौ न ग्राह्यौ, स्तोकगुणत्वात ॥१,२,१५ की वृत्ति : वही
४. ध्वन्यालोक : ३,५

भी अन्य हेतुओं—वक्ता, वाच्य और विषय—द्वारा निश्चित होना बतलाया।[1] इस प्रकार स्वतन्त्र रीति माधुर्य आदि गुणों के आश्रित होकर रस को अभिव्यक्त करने का साधन बन गई।[2]

गुणों के क्षेत्र मे इन्होने भामह का अनुसरण किया। इधर रीति की चर्चा मे गुणो का अनावश्यक विस्तार हो गया था। इन्होने अनेक गुणो को ध्वनि मे समाविष्ट कर अधिक स्पष्ट विभाजन किया। रीति मार्गी आचार्यों में प्रचलित कुछ गुण ऐसे हैं जिनका वर्ण-योजना या शब्द-बन्ध से कोई सम्बन्ध नही हैं। उदाहरणार्थ, अर्थ माधुर्य से उनका तात्पर्य है ग्राम्य दोष-हीनता।[3] शिष्ट साहित्यिक भाषा, जिसमे औचित्य का पूर्ण ध्यान रखा जाता है, माधुर्यगुण समन्वित समझी जाती है। दण्डी के मत से औदार्य गुण वहाँ होता है जहाँ कोई वाक्य लोकोत्तर चमत्कारी अर्थ की प्रतीति कराता है। उनके द्वारा दिया गया इसका उदाहरण[4] वाक्यगत वस्तु-ध्वनि के अन्तर्गत आ जाता है। कान्तिगुण मे दण्डी औचित्य की सीमा का उल्लंघन करने का विधान करते हैं।[5] इसी प्रकार समाधि[6] उनके अनुसार काव्य का सर्वस्व है किन्तु आनन्दवर्धन के मत से लक्षणामूला ध्वनि है। अत: कोई आश्चर्य नहीं यदि आनन्दवर्धन भी भामह द्वारा उल्लिखित तीन ही गुणों को प्रामाणिक मानें।

आनन्दवर्धन के पश्चात् भी भिन्न भिन्न नामों से रीति का विवेचन होता रहा। राजशेखर ने 'वचन विन्यास क्रमो रीतिः' कहा। कुन्तक ने दण्डी का मार्ग शब्द लिया और इसे कवि-स्वभाव से सम्बद्ध करते हुए सुकुमार, विचित्र और मध्यम उपभेदों में विभक्त किया।[7] रीति की मूल भावना चूँकि पूर्व निर्दिष्ट ही थी इसलिए इन मार्गों के लक्षण वे ही रहे जो वामन ने रीतियों के स्थापित किये थे। उनका सुकुमार मार्ग मनोहर अर्थवाली और स्वाभाविक रूप से आई पद रचना है।[8] यह वामन की समग्रगुणा वैदर्भी है।[9] इनमे समास-रहित या स्वल्प समास युक्त पदावली का प्रयोग

---

१. इसका सविस्तार उल्लेख रसौचित्य के प्रसंग में हो चुका है।

२, गुणानाश्रित्य तिष्ठन्ती, माधुर्यादीन् व्यनक्ति सा रसान् ॥३,६॥ ध्वन्यालोक

३. तथाप्यग्राम्यतैवन भारं वहति भूयसा ।१,६२॥ काव्यादर्श

४. वही : १,७७।

५. वही : १,८५॥

६. वही : १, १००।

७. वक्रोक्ति जीवित : १, २४।

८. वही : १, २५।

९. काव्यालंकार सूत्र : १, २, ११।

होता है ।[1] विचित्र मार्ग वाणी का वक्र प्रयोग है । इसमे अलकारों की लडियाँ जुडी रहती है ।[2] यह वामन की गौडी रीति है जो माधुर्य और सौकुमार्य गुणो के न होने से अत्यन्त उग्र पदो वाली होती है ।[3] इसमे केवल ओज और कान्तिगुण होते है ।[4] साहित्यदर्पणकार ने भी इसका यही लक्षण दिया है ।[5] मध्यम मार्ग प्रथम दो का मिश्रण है । जहाँ माधुर्यादि गुण मध्यम मार्ग का अवलम्बन ले वही मध्यम मार्ग है ।[6] यह वामन की पाचाली रीति है । रुद्रट ने लाटीया नाम की एक चौथी रीति का भी वर्णन किया है ।[7] विश्वनाथ ने इसे वैदर्भी और पाचाली के बीच की रीति कहा है ।[8]

इस प्रकार हम देखते हैं कि रीति का इतिहास अत्यन्त रोचक रहा । उसने सभी अचार्यो को आकर्षित किया । भौगोलिक विभाजन से आरम्भ होकर कवियो के स्वभाव मे उसका पर्यवसान हुआ ।

*　　*　　*

इन प्रसगो मे हमारा मुख्य उद्देश्य यह दिखाना रहा है कि आनन्दवर्धन ने किस प्रकार अपने पूर्ववर्ती सिद्धान्तो का ध्वनि मे समाहार किया और इसमें वे कहाँ तक सफल रहे। परवर्ती आचार्यों पर अनेक प्रत्यक्ष या परोक्ष प्रभाव को 'ध्वनि के पूर्वापर' प्रसग मे दर्शाया गया है '

विभिन्न सिद्धान्तो का विवेचन हमे भारतीय काव्यशास्त्र के मानो का उचित स्थान समझने मे सहायक होता है । भारतीय परम्परा औचित्य के सर्वव्यापक तत्त्व के प्रति अति आस्थावान है । काव्य ही नही समस्त जीवन इस नियम से बंधा है । अतएव किसी भी सम्प्रदाय के लिए इसकी अवहेलना करना सम्भव नही था । औचित्य की परिधि में सबसे महत्त्वपूर्ण काव्य-तत्त्व रस है । इसका लेश मात्र भी किसी रचना की काव्य-कोटि मे ले जाने के लिए पर्याप्त है । यदि कहे कि काव्य का तात्कालिक मूल्य रस ही निर्धारित करता है तो अत्युक्ति न होगी । काव्य के प्राणभूत रस के

---

१. विश्वनाथ : साहित्यदर्पण : पृ० ८२५ ।

२. वक्रोक्ति जीवित : १, ३४ व ३५ : पृ० १२४ ।

३. माधुर्यसौकुमार्ययोरभावात् । समास बहुला अत्युल्वणपदा च । काव्यालकार सूत्र : पृ० ४ ।

४. ओज : कान्तिमती गौड़ीया ।।१, २, १२।। वही ।

५. साहित्यदर्पण : ३, ९ ।

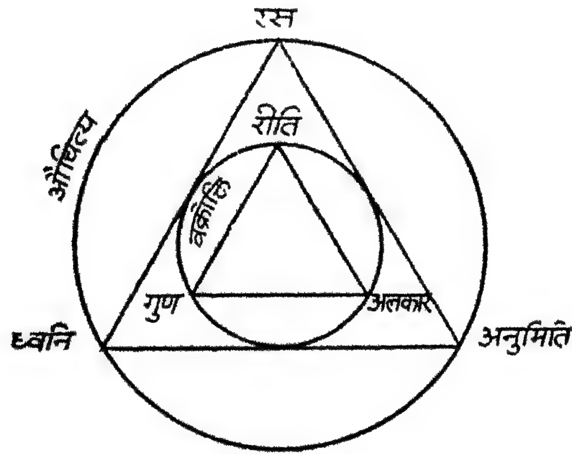
६. वक्रोक्ति जीवित : १, ४९ व ५० : पृ० १५१ ।

७. काव्यालंकार : २, ४ ।

८. लाटी तु रीतिर्वैदर्भी पांचाल्योरतरे स्थिता : साहित्यदर्पण : पृ० ८२९ ।

आस्वादन की प्रक्रिया समझने के लिए दो तत्त्व सामने आए—व्यजना (ध्वनि) और अनुमान।

काव्य के बाह्य रूप की व्याख्या करनेवाले सिद्धान्तों ने वक्रोक्ति के व्यापक तत्त्व पर ध्यान केन्द्रित किया। वक्रोक्ति के भीतर रीति को शीर्ष स्थान मिला। उसी से सम्बन्ध रखनेवाले गुण और अलकार मत एक ही स्तर पर है। इन सबके परस्पर सम्बन्ध को महामहोपाध्याय कुप्पुस्वामी शास्त्री का निम्न यत्र स्पष्ट कर देता है।



औचितीमनुधावन्ति सर्वे ध्वनिरसोन्नयाः।
गुणालंकृतिरीतीनां नयाश्चानृजुवाङ्मयाः॥

परिशिष्ट

वक्रोक्ति-अतिशयोक्ति-ध्वनि

काव्य शब्द दृश्य तथा श्रव्य दोनों के लिए समान रूप से प्रयुक्त होने पर भी आचार्यों के दो वर्ग स्पष्ट थे—नाट्यशास्त्री और काव्यशास्त्री। दण्डी काव्य के भेदों की चर्चा करते हुए जब नाटक पर आते है तो 'तेषामन्यत्र विस्तरः'[२] कहकर आगे बढ जाते हैं। अतः कहा जा सकता है कि जैसे भरत ने नाट्यशास्त्र का प्रणयन दृश्य-

१. हाइवेज् एण्ड बाइवेज् आव लिटरेरी क्रिटिसिज्म इन संस्कृत : पृ० २७।

२. काव्यादर्श : १, ३१

काव्य के विवेचन के लिए किया उसी प्रकार भामह ने काव्यालंकार की रचना प्रधानत: श्रव्य काव्य को ध्यान मे रखकर,की ।

काव्य के शोभाधायक तत्त्वों में भामह की दृष्टि उपमादि अलकारो पर केन्द्रित थी । अलकारो का वर्गीकरण वैज्ञानिक न होते हुए भी इनके सम्बन्ध में तत्कालीन विचारों पर प्रकाश डालता है । अनेक प्रकार के वाणी-वैचित्र्य का विवेचन करने के पश्चात् इनका ध्यान विचित्रता के मूल तत्त्व पर गया । इन्होने देखा कि हर अलंकार वाणी का असाधारण प्रयोग है, सामान्य से उक्ति कुछ भिन्न है, वक्र है । इनके मुख से स्वाभाविक वाणी फूट पडी—

सैषा सर्वैव वक्रोक्तिरनयाऽर्थो विभाव्यते ।
यत्नोऽस्यां कविना कार्य कोऽलंकारोऽनया विना ॥[1]

भावो की अभिव्यक्ति के प्रकारो का कोई अन्त नही है, न उनका कोई निश्चित वर्गीकरण ही हो सकता है तथापि काव्य के उपयुक्त वे ही है जिनमे किसी प्रकार की वक्रता हो । इस तरह भामह सामान्य उक्ति और काव्य की उक्ति मे भेद स्थापित करते है । वक्रता से युक्त सभी उक्तियाँ वाणी का अलकार है और इससे रहित वाणी सौन्दर्य-हीन है ।[2]

भामह ने वक्रोक्ति की परिभाषा नही दी है । या तो बहुप्रचलित होने के कारण इसकी आवश्यकता नही समझी गई या अपने अनुभव को सूत्र रूप मे रखकर व्याख्या का भार अनुयायियों पर छोड़ देने की प्रथा का पालन हुआ है ।

दण्डी स्वाभाविक और अलंकृत काव्य के दो वर्ग करते है । अलंकृत से उनका तात्पर्य वक्रोक्ति से है और उसको सभव करनेवाला अलकार श्लेष है ।[3] किन्तु वैदर्भ मार्ग के समर्थक होने के नाते ये स्वभावोक्ति का पक्ष लेते है ।

अलंकार वर्ग के अन्तर्गत उसके व्युत्पत्त्यर्थ सहित वक्रोक्ति का उल्लेख सबसे पहले रुद्रट ने[4] किया बाद के लगभग सभी आलंकारिको में वक्रोक्ति का यही अर्थ स्वीकृत हुआ ।

वामन के मत से यह अर्थालकारो के अन्तर्गत आती है और इसके मूल मे सादृश्य लक्षणा कार्य करती है ।[5]

---

१. काव्यालंकार : २, ८५
२. वही : १, ३६
३. श्लेषः सर्वासु पुष्णाति प्रायो वक्रोक्तिषु श्रियम् ।
भिन्नं द्विधा स्वभावोक्तिर्वक्रोक्तिश्चेति वांगमयम् ॥ २, ३६३ ॥ काव्यादर्श
४. काव्यालकार : २, १३ व १४ व १६
५. काव्यालंकार सूत्र : ४, ३, ८

ये आनन्दवर्धन के पूर्व के आचार्यों के मत हुए। उनके पश्चात् वक्रोक्ति पर विशेष रूप मे विचार करनेवाले भोज और कुन्तक हुए जो सयोग से एक ही काल मे एक ही दिशा मे विचार कर रहे थ। भोज ने प्रेयस और ऊर्जस्वि को रसवन् के अन्तर्गत रखते हुए अलकार को काव्य-सौन्दर्य के समकक्ष रखा है। इसी प्रसंग में वे मानते है कि वक्रोक्ति केवल उन अलकारों की परिधि है जो उपमादि से आरम्भ होते है। अलकारो के तीन वर्ग वक्रोक्ति, स्वभावोक्ति और रसोक्ति[१] करते हुए वे काव्य को भी इन्ही तीन भागो मे बाँट देते है। भोज के मन मे अलंकार ही वक्रोक्ति है, स्पष्टीकरण करते हुए फिर कहते है कि वे अलकार जो उपमादि से आरम्भ होते है क्योंकि अलंकार तो स्वभावोक्ति और रसोक्ति भी हैं। इस प्रकार भोज में वक्रोक्ति के विस्तृत और सकुचित दो प्रयोग मिलते है। प्रथम के अनुसार वक्रोक्ति= अलंकार=काव्य सौन्दर्य। यह अलकार का वामनीय प्रयोग है। दूसरे प्रयोग के अनुसार अलकार—(स्वभावोक्ति पर आधारित) अलकार= (उपमादि) अलंकार= वक्रोक्ति। इससे यह सिद्ध होता है कि वे भामह और रुद्रट दोनों के अर्थों मे समन्वय करना चाहते थे।

कुन्तक भामह से प्रेरणा लेकर वक्रोक्ति का एक नया काव्य सिद्धान्त घोषित करते हैं। उनकी वक्रता शब्द प्रयोग की विच्छित्ति या वैचित्र्य की ओर इंगित करती है। यह विच्छित्ति प्रयोग की असामान्य पद्धति है।

हम कह आए हैं कि भामह ने वक्रोक्ति की परिभाषा नहीं दी है किन्तु अतिशयोक्ति की परिभाषा[२] में प्रयुक्त 'लोकातिक्रान्त गोचरम्' पद यह संकेत अवश्य कर देता है कि वक्रोक्ति से उनका क्या तात्पर्य है।

दण्डी का अतिशयोक्ति के प्रति पक्षपात देखकर आश्चर्य होता है। स्वभावोक्ति को अलंकारों में प्रथम मानते हुए भी वे यह घोषणा करने से नही चूकते कि अतिशयोक्ति सब अलकारो में श्रेष्ठ है।[३]

उपर्युक्त दोनो आचार्यों की परिभाषाओ में अतिशयोक्ति की विशेषता वाचक शब्द एक से ही है। भामह का 'निमित्ततो वचो यत्तु लोकातिक्रान्तगोचरम्' दण्डी में

१. त्रिविधः खलु अलंकार वर्गः, वक्रोक्तिः स्वभावोक्तिः रसोक्तिरिति।
— वी० राघवन : भोजाज् शृंगार प्रकाश, जिल्द १, खण्ड १, : पृ० १२२

२. निमित्ततो वचो यत्तु लोकातिक्रान्तगोचरम्।
मन्यतेऽतिशयोक्तिं तामलंकारतया यथा ॥२, ८१॥ काव्यालंकार

३. विवक्षा या विशेषस्य लोकसीमातिवर्तिनी।
असावतिशयोक्ति : स्यादलंकारोत्तमा यथा ॥२, २१४॥ काव्यादर्श।

'विवक्षा या विशेषस्य लोकसीमातिवर्तिनी' बनकर आया है। प्रतीत होता है कि द्वितीय विद्वान् प्रथम की वक्रोक्ति और अतिशयोक्ति की मान्यता और दोनों के परस्पर सम्बन्ध से पूर्ण परिचित है। अतिशयोक्ति का वर्णन समाप्त करते हुए दण्डी ने लिखा कि कवि गण इसे अन्य अलंकारो का भी उपकारक समझते है।[1] इससे निष्कर्ष यह निकला कि सभी अलकारों में अतिशयोक्ति का अश विद्यमान रहता है। ठीक यही बात भामह वक्रोक्ति के सम्बन्ध मे कहते है। अत. दोनो (वक्रोक्ति और अतिशयोक्ति) को एक कहना गलत न होगा।

आनन्दवर्धन की अतिशयोक्ति की कल्पना अपने पूर्वजों से भिन्न नही है। वे बड़ी चतुरता से उसे अपने सिद्धात के अन्तर्गत ले आते है। यही नही वे ही प्रथम आचार्य है जो अतिशयोक्ति और वक्रोक्ति के अभेद पर बल देते है। 'भामहे नाप्यतिशयोक्ति लक्षणे यदुक्तम्' कहने के बाद वे भामह का 'सेषा सर्वेव...' छन्द उद्धृत कर देते है।[2] इसके पहले वे स्वीकार कर चुके है कि सभी अलंकार अतिशयोक्ति-गर्भ हो सकते है।[3] केवल इतने से ही सन्तुष्ट न होकर वे यह भी कह देते हैं कि अतिशयोक्ति से प्रभावित अलंकार ही शोभातिशय को प्राप्त होते है शेष अलंकार मात्र ही रह जाते है। सब अलकारों का रूप धारण कर सकने की क्षमता के कारण से अभेदोपचार से वही सर्वालिकार रूप है, यही अर्थ समझना चाहिये।[4] अतिशयोक्ति के इस रूप को अभिनवगुप्त का समर्थन भी प्राप्त हुआ है।[5]

ध्वनि की दृष्टि से अतिशयोक्ति दूसरे अलकारो के साथ दो प्रकार से संयुक्त होती है। वाच्य रूप और व्यंग्य रूप से। व्यंग्य रूप मे प्रधान होने पर ध्वनि और गौण होने पर गुणीभूत कहलाती है।[6]

कुन्तक की वक्रोक्ति कल्पना काव्य सौन्दर्य के समानान्तर है। काव्य-शब्द और अर्थ सामान्य से कुछ अन्य प्रकार—वैचित्र्य से युक्त—के होते है। दोनों (शब्द और अर्थ) अलकार्य है और अलंकार का एक मात्र प्रकार है 'वैदग्ध्यभंगीभणिति' रूप वक्रोक्ति।[7]

---

१. अलंकारान्तराणामप्येकमाहुः परायणम्।
वागीशमहितायुक्तिमिमायतिशयाह्वयाम् ॥ २, २२०॥ काव्यादर्श।

२. ध्वन्यालोक, लो० सहित · पृ० ४६६।

३. . .प्रथमं तावदतिशयोक्तिगर्भता सर्वालंकारेषु शक्यक्रिया : वही : पृ० ४६५

४. वही : पृ० ४६७।

५. वही : पृ० ४६८।

६. वही : पृ० ४६९।

७. उभावेतावलंकार्यो तयोः पुनरलंकृतिः।
वक्रोक्तिरेव वैदग्ध्यभणितिरुच्यते ॥१, १०॥ वक्रोक्ति जीवित।

यह वक्रोक्ति क्या है ? 'प्रसिद्धाभिधान व्यतिरेकिणी विचित्रैवाभिधा ।' और कोई पूछे कि 'वैदग्ध्यभंगीभणिति' क्या है ? 'तो 'वैदग्ध्यं विदग्धभाव.,' कवि कर्म कौशल, तस्यभगी विच्छित्तिः, तया भणितिः ।' अन्त में निष्कर्ष निकालते हुए वे कहते हैं कि शब्द और अर्थ अलग अलग स्थित हैं और किसी अन्य अलकार से युक्त किये जाते है । यह अलकार है उनको वक्रता वैचित्र्य के उपयोगी रूप से कथन करना ।[1] तीसरे उन्मेष मे वे अतिशयोक्ति का लक्षण यों देते है—

यस्यामतिशयः कोऽपि विच्छित्त्या प्रतिपद्यते ।
वर्णनीयस्य धर्माणां तद्विदाह्लाददायिनाम् ॥[2]

अर्थात्, जिसमें वर्णनीय के, सहृदयों को आह्लाद देनेवाले, धर्मों का अपूर्व अतिशय सुन्दरतापूर्वक प्रकाशन होता है, वह अतिशयोक्ति है । इसके और स्पष्टीकरण के लिए कुन्तक ने भामह-दण्डी की शैली अपनाते हुए लिखा है—कीदृशी 'यस्मातिशयः' प्रकर्षकाष्ठाधिरोह. 'कोऽपि', अतिक्रान्तप्रसिद्ध व्यवहार सरणिः, विच्छित्त्या प्रतिपाद्यते वैदग्ध्यभंग्या समर्प्यते । सारांश यह कि यहाँ भी 'वैदग्ध्यभंगीभणिति' अपना आसन जमाए है ।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि भामह की वक्रोक्ति की कल्पना और अतिशयोक्ति अलंकार परस्पर इतने निकट है कि एक हो गए है । ध्वन्यालोककार के मत से अलकार रसाश्रित है और वक्रोक्ति—अतिशयोक्ति सब अलकारों मे व्यापक मूल तत्त्व है अतः यह कहना अनुचित न होगा कि अलकारों के माध्यम से वक्रोक्ति रस की उपकारक होती है । आनन्दवर्धन कभी इससे असहमत नही हो सकते । जहाँ रस-ध्वनि नही है वहाँ यही तत्त्व (अर्थात् वक्रोक्ति) वस्तु और अलंकार ध्वनि में सहायक होता है ।

---

१. वक्रतावैचित्र्ययोगितयाभिधानमेवानयोरलंकारः । हिन्दी वक्रोक्तिजीवित : पृ० ५१ ।

२. वही : पृ० ३, २९ ।

तृतीय अध्याय

१

हिन्दी में ध्वनि-वृत्त

हिन्दी साहित्य के ग्रन्थ ११वी शताब्दी से मिलने शुरू हो जाते है और सस्कृत मे ध्वनि की परम्परा अपने पूर्ण बल के साथ पंडितराज जगन्नाथ के युग, १७वी शताब्दी, तक आगे बढती रही। आशा यह की जा सकती थी कि हिन्दी पर उसका पूरा प्रभाव पडता और इसमें भी उसका सागोपाग विवेचन होता। किन्तु हुआ इसके विपरीत। हिन्दी मे यह परम्परा अत्यन्त भ्रष्ट और क्षीण रूप मे आई और खडी बोली के पूर्ण विकास तक इसी अवस्था मे रही। हिन्दी साहित्य के प्रथम तीन कालो मे न तो इस पर स्वतन्त्र विचार हुआ और इसके स्वरूप का (पिष्ट पेषित रूप मे ही सही) स्वच्छ विवेचन हुआ। इसके कई कारण थे।

लक्षण-ग्रन्थो का निर्माण लक्ष्य-ग्रन्थो के प्रचुर मात्रा मे रचे जाने पर ही विशेष निर्माण होता रहा। न वीरगाथा काल का अशान्त वातावरण लक्षण-ग्रन्थों की रचना के अनुकूल था, न भक्ति मे लीन भक्तो को इस ओर ध्यान देने का अवकाश था। हिन्दी मे ऐसे ग्रन्थो का प्रारम्भ रीतिकाल से होता है। यह ध्वनि-वृत्त के अभाव के कारण थे।

रीतिकालीन कविता राजाश्रय मे पली। शासक वर्ग पडितो-की-सी बाल की खाल निकालने वाले विवादो मे रस ले सकने मे असमर्थ थे। उनकी प्रकृति के अनुकूल सौन्दर्य-वर्णन ही था। इसीलिए रीति-ग्रन्थो मे शृगार-विवेचन और नायिका-भेद निरूपण का प्राधान्य रहा। दूसरी ओर साहित्य शास्त्र का विद्यार्थी भी स्वय को कवि और आचार्य घोषित करने को उत्सुक था। उसके आश्रय प्राप्त करने की कसौटी आचार्यत्व नही कवित्व था। ऐसी स्थिति मे ध्वनि जैसे गम्भीर विषय का सम्यक् अध्ययन सम्भव नहीं था। उसका किंचित् व्यावहारिक ज्ञान ही उसके लिए अलम् था।

इसके अतिरिक्त उस काल मे ध्वनि विवेचन के लिए गद्य की सशक्त भाषा का अभाव था। यह एक प्रमुख कारण था कि समय की माँग को देखते हुए ये आचार्यत्व मिश्रित कवि ध्वनि चर्चा मे प्रवृत्त भी हुए किन्तु सफल न हो सके। ये दो ध्वनि वृत्त के भ्रष्ट रूप मे प्राप्त होने के कारण है।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने 'शिव सिंह सरोज' के आधार पर ८वीं शताब्दी के पुष्य नामक आलंकारिक का उल्लेख किया है।[1] किन्तु उसका कोई प्रमाण नहीं मिलता। इसलिए हिन्दी का सबसे पहला अलंकार-ग्रन्थ कृपाराम की 'हित तरंगिणी' को माना जाना चाहिए।

इसका रचनाकाल इसी में दिये दोहे के अनुसार संवत् १५९८ है।[2] सूरदास की 'साहित्य लहरी'[3] में भी रीतिकालीन प्रवृत्तियों का आभास मिलता है। किन्तु विद्वान् इसकी प्रामाणिकता में ही सन्देह करते हैं। अष्टछाप के दूसरे कवि नन्ददास ने भी नायिका-भेद लिखा था।[4]

इनमें से कोई भी ग्रन्थ अलंकार शास्त्र की प्रौढ़ रचना नहीं माना जा सकता। हिन्दी के सर्व प्रथम प्रौढ़ आचार्य केवशदास ही हैं। बाद के सभी आचार्यों ने उनका लोहा माना और रीति ग्रन्थ लिखने के लिए 'कवि प्रिया' और 'रसिक प्रिया' का अध्ययन आवश्यक समझा।

केशव मूलतः अलकारवादी थे। ये लक्षण लिखते समय भी ऐसे शब्द चुनते जो कई अर्थ सम्पन्न हो फिर साहित्य रचना करते समय इस शैली का कैसे परित्याग करते। कवि-प्रिया का निम्न दोहा—

> चरण धरत चिन्ता करत, नींद न भावत सोर
> सुवरण को सोधत फिरत, कवि, व्यभिचारी चोर।[5]

इसी ओर संकेत करता है। यहाँ 'सुवरण' से तात्पर्य वाच्यार्थ के अतिरिक्त अर्थ रखने वाले शब्द से है। इनके काव्य मे अधिकतर वस्तु-ध्वनि और अलंकार-ध्वनि के उदाहरण मिलते है।

बाद के आचार्यों ने रस पर अधिक ध्यान दिया।[6] उनकी काव्य सम्बन्धी परिभाषायें 'काव्य प्रकाश' और 'साहित्य दर्पण' पर आश्रित हैं। ध्वनि की चर्चा करनेवाले प्रथम आचार्य कुलपति मिश्र हैं। 'रस रहस्य' के प्रथम वृत्तान्त में उन्होने काव्य की तीन कोटियाँ निर्धारित कीं—सरस व्यग्य प्रधान, मध्यम और चित्र।

---

१. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : हिन्दी साहित्य का इतिहास : पृ० ३

२. सिधि निधि शिवमुख चन्द लखि, माघ शुद्ध तृतीयासु।
हिततरंगिणी हौं रची, कवि हित परम प्रकासु॥
—डॉ० भगीरथ मिश्र : हिन्दी काव्य शास्त्र का इतिहास : पृ० ५०

३. व (४) बाबू गुलाब राय : सिद्धान्त और अध्ययन : पृ० १५

५. कविप्रिया : पृ० १५

६. बतकाउ रसमै जु है कवित्त कहावै सोय—चिन्तामणि
—डॉ० भगीरथ मिश्र के 'हिन्दी काव्य-शास्त्र का इतिहास' से उद्धृत—पृ० ७५

द्वितीय वृत्तान्त मे तीन प्रकार के शब्द और उन पर आधारित तीन प्रकार के अर्थो का निर्देशन किया—

वाचक, विंगक, लच्छकों, सब्द तीन विधि होय।
वाच्य, लक्ष्य अरु व्यंग्य पुनि अर्थ तीन विधि होय॥

इसी दोहे की वृत्ति मे तात्पर्य वृत्ति का लक्षण दिया है—'अरु इन तीनौनि के व्यवहार ते न्यारी सी प्रतीत करे सोऊ एक तातपरजंका व्रति कहत है या को शब्द नाही।[1]

कुलपति के पश्चात् दूसरे प्रधान आचार्य देव है। इन्होने 'शब्द रसायन' के प्रथम प्रकाश में यद्यपि शब्दार्थ का विवेचन मिश्र जी के समान ही किया है और तात्पर्य वृत्ति भी मानी[2] किन्तु नायिका-भेद के प्रसंग मे एक बड़ा विचित्र दोहा रख दिया—

अभिधा उत्तम काव्य है, मध्यम लक्षणा लीन।
अधम व्यंजना रस कुटिल, उलटी कहत नवीन॥[3]

आचार्य शुक्ल ने 'वाच्यार्थ मे ही काव्य का सौन्दर्य है' प्रसग मे इस दोहे की सहायता ली है[4] किन्तु, जैसा कि डॉ० नगेन्द्र का भी मत है, उक्त दोहा 'नायिका-भेद' के प्रसंग में आने के कारण से नायिकाओं का कोटि निर्धारण करता है न कि काव्य का।[5]

ध्वनि की दृष्टि से रीति ग्रन्थों की परम्परा मे आधुनिक युग आरम्भ होने तक भिखारी दास का 'काव्य-निर्णय' प्रमुख ग्रन्थ है। इसके सम्पूर्ण छठे उल्लास में ध्वनि का ही विवेचन है। उल्लास के अन्त मे मुख्य ध्वनि-भेदो की सख्या तैंतालीस और सकर की अनन्त कही गई है।[6] सप्तम उल्लास मे गुणीभूत व्यग्य और अवर काव्य का उल्लेख है।[7] समस्त विवेचन का आधार मम्मट का काव्य प्रकाश है, अपनी ओर से केवल उदाहरण दिये गये है। इस प्रकार पूर्व और पश्चात् दोनों ही कालो के ग्रन्थो मे इसका महत्त्वपूर्ण स्थान है। बाद के ग्रन्थो[8] मे भी ध्वनि पर इतने विस्तार से विचार नही हुआ है।

---

१. डॉ० भगीरथ मिश्र : हिन्दी काव्य-शास्त्र का इतिहास : पृ० ९२
२. देव : शब्द रसायन . पृ० २ (३) वही : पृ० ७२
४. चिन्तामणि भाग २ : पृ० १६७
५. डॉ० नगेन्द्र : हिन्दी ध्वन्यालोक की भूमिका : पृ० ६०
६. भिखारी दास : काव्य-निर्णय : पृ० १४४
७. वही : पृ० १४६-१५६
८. जनराज कृत 'कविता रस विनोद', प्रतापसाहि कृत 'व्यंग्यार्थ कौमुदी' आदि।

अन्त मे इतनी बात हम और जोड़ देना चाहते है कि इन तीनो युगों में ध्वनि की चर्चा यद्यपि केवल रीतिकाल मे मिलती है और अलकार ग्रन्थों के सिद्धान्तो का ध्यान रखते हुए काव्य रचना का प्रयत्न भी इसी काल मे हुआ तथापि रस की मान्यता वीरगाथा काल मे भी थी तथा भक्ति काल मे तो कविता का एक मात्र तत्त्व वही समझा जाता था। अत रस-ध्वनि और वस्तु-ध्वनि के भी एक से एक सुन्दर उदाहरण इन युगो में बने ग्रन्थो मे मिलते है। जैसा हम पहले कह आए है रीति काल राजाश्रित कवियो की कविताओ का था। आश्रयदाता को प्रसन्न करने के लिए शृगार की अनूठी से अनूठी उक्ति कहना कवि प्रतिभा का लक्षण समझा जाता था जिसके कारण शृंगार रस रीति काल मे खूब पुष्ट हुआ।

आधुनिक काल आलोचना की दृष्टि से अधिक सम्पन्न है। सुविधा की दृष्टि से इस युग के आचार्यों को दो वर्गो मे विभाजित किया जा सकता है—(१) रीति-कालीन पद्धति पर उसी युग के विचारो का विस्तार करनेवाले, और (२) स्वतत्र रूप से रस पर विचार करनेवाले। यहाँ हम दूसरे वर्ग के आचार्यों के विचार ही प्रस्तुत करेंगे। उनमे से भी केवल उन्ही के जिनके विचारो मे कुछ मौलिकता है।

बीसवी शताब्दी के आरम्भ में आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी का हिन्दी साहित्य पर सर्वव्यापी प्रभाव पडा। ये मूलत: रसवादी थे। इन्होंने ध्वनि पर भाषा-प्रयोग के प्रसंग में विचार किया है। 'रसज्ञ-रजन' में शब्दों के प्रयोग के बारे मे ये लिखते हैं—

'बहुत से ऐसे शब्द हैं जो सामान्य रीति से एक ही अर्थ व्यजक है किन्तु विशेष ध्यान पूर्वक देखने अथवा धातु के अर्थ का विचार करने से पृथक-पृथक शब्दों मे पृथक-पृथक शक्तियो का गर्भित रहना प्रकट होता है।'[1] इस वाक्य का सकेत अर्थान्तर संक्रमित वाच्य लक्षणामूलक ध्वनि की ओर है। यहाँ शब्द शक्तियों से तात्पर्य अभिधा, लक्षणा या व्यजना से नही अपितु शब्द से निकलनेवाले ध्वन्यर्थ से है, अर्थात् क्या शब्द उस प्रसंग में अन्य शब्दो के संयोग से अथवा व्युत्पत्ति को देखते हुए अभीष्ट अर्थ को ध्वनित करता है? ध्वन्यर्थ और उसके मूल मे लक्षणा पर विचार करते हुए वे आगे लिखते हैं—

'असलियत को लिये हुए कवि स्वतंत्रतापूर्वक जो चाहे कर सकता है, पर असलियत के लगाव को वह नही छोड़ सकता।'[2] शास्त्रीय शब्दावली मे यह लक्षणा-

१. रसज्ञ-रंजन : पृ० २९

२. वही : पृ० ६०

मूलक ध्वनि है, जिसमें वाच्यार्थ की-देख-रेख मे कवि मनमानी उडान भरता है। लक्ष्यार्थ का मुख्यार्थ का सम्बन्ध निकट का हो या दूर का होना अवश्य चाहिये।

शब्द मे व्यंजना शक्ति भरनेवाले 'कल्पना' तत्त्व पर भी विद्वानों ने विचार किया है। श्री 'सुधाशु' के मत से काव्य की सजीवता के लिए यह अनिवार्य है। जगत् के सत्य के समान काव्य मे भी हमारी वेदना को उभाडने की शक्ति सत्य पर असत्य के आरोप से ही सम्भव है। इतिहास मे शुद्ध अभिधा रहती है किन्तु काव्य का काम उससे नही चल सकता।[1] इससे सिद्ध होता है कि काव्य की अतिरिक्त शक्ति लक्षणा-व्यजना मे है।

इसी प्रकार के विचारों को प्रश्रय देनेवाले आचार्य प० रामदहिन मिश्र हैं। रस-ध्वनि को वे काव्य का प्राण[2] और चित्त-विस्फार, विस्तार या विकास को उसके उद्देश्य के रूप मे ग्रहण करते है। चित्त-विस्तार का निमित्त कारण चमत्कार है। यह चमत्कार क्या है ? 'जिस अर्थ वैलक्षण्य की लोकोत्तर अनुभूति से चित्त एक अनिर्वचनीय अवस्था को प्राप्त कर ले, वह चमत्कार है।[3] स्पष्ट है कि ऐसा चमत्कार वाच्य मे कभी नही हो सकता।

विशेष रूप से इस क्षेत्र मे हलचल मचा देनेवाले आचार्य है पं० रामचन्द्र शुक्ल। इन्होने रस-ध्वनि और वस्तु-ध्वनि को बिल्कुल अलग-अलग प्रक्रिया घोषित किया। उन्ही के शब्दो मे—'किसी तथ्य या वृत्त की व्यजना वस्तु-व्यजना कहलाती है और किसी भाव की व्यजना भाव-व्यजना (भाव की व्यजना ही जब रस के सब अवयवो के सहित होती है तब रस-व्यजना कहलाती है)। यदि थोड़ा ध्यान देकर विचार किया जाय तो दोनो भिन्न प्रकार की वृत्तियाँ ठहरती है। वस्तु-व्यंजना किसी तथ्य या वृत्त का बोध कराती है, पर भाव-व्यंजना जिस रूप में मानी गयी हैं उस रूप मे किसी भाव का सचार करती है, उसकी अनुभूति उत्पन्न करती हैं। बोध या ज्ञान कराना एक बात है और कोई भाव जगाना दूसरी बात। दोनों भिन्न-भिन्न कोटि की क्रियाये हैं। रति, क्रोध आदि भावो का अनुभव करना एक अर्थ से दूसरे अर्थ पर जाना नही है, अतः किसी भाव की अनुभूति को व्यंग्यार्थ कहना बहुत उपयुक्त नहीं जान पडता। यदि व्यग्य कोई अर्थ होगा तो वस्तु या तथ्य ही होगा और इस रूप मे होगा कि अमुक प्रेम कर रहा है, अमुक क्रोध कर रहा है। पर केवल इस बात का ज्ञान करना कि अमुक क्रोध या प्रेम कर रहा है स्वय क्रोध या रति भाव का रसात्मक अनुभव करना नही है। रस-व्यजना इस रूप मे मानी भी नही गई है।

---

१. लक्ष्मीनारायण 'सुधांशु' : काव्य में अभिव्यजनावाद : पृ० ४;
२. पं० रामदहिन मिश्र : काव्यालोक, द्वितीय उद्योत : पृ० २१
३. वही : पृ० १९७

अतः भाव-व्यंजना या रस-व्यजना वस्तु-व्यंजना से सर्वथा भिन्न कोटि की वृत्ति ठहरती है'' या तो हम भाव या रस के सम्बन्ध मे व्यजना शब्द का प्रयोग न करें, अथवा वस्तु या तथ्य के सम्बन्ध मे।'[1] अपने मत की पुष्टि मे व्यक्तिविवेककार से सहमति प्रकट करते हुए ये वस्तु-ध्वनि के मूल मे अनुमान वृत्ति ही स्वीकार करते हैं।[2] किन्तु बड़े आश्चर्य की बात है कि रस-मीमासा मे शब्द शक्ति के प्रसग में इसी का विरोध करते है। वहाँ उदाहरण सहित इन्होने सिद्ध किया है कि वस्तु-व्यंजना या अलंकार व्यजना भी अनुमेय नही है और भाव-व्यंजना तो हो ही कैसे सकती है।[3] हमे शुक्ल जी का दूसरा मत ही ठीक जँचता है। हाँ, भाव-व्यंजना और वस्तु-व्यंजना वाला प्रश्न अवश्य विचारणीय है जिस पर अन्यत्र चर्चा की गई है। जहाँ तक ध्वनि की मान्यता का सम्बन्ध है शुक्ल जी शुद्ध रसवादी हैं,[4] जिसे ये भी वाच्य नही मानते।

आचार्य शुक्ल के आलोचक और संस्कृत के काव्य सम्प्रदायों के गहन अध्येता डॉ० नगेन्द्र रस के प्रश्न पर उनसे पूर्ण सहमत हैं, अर्थात् वे भी रसवादी है।[5] किन्तु ध्वनि को भी आपने उचित स्थान दिया है। हिन्दी ध्वन्यालोक की भूमिका में आपने फैसला सा करते हुए लिखा है—'अनुभूति की वाहक (व्यंजक) बनकर ही ध्वनि में रमणीयता आती है, अन्यथा वह काव्य नही बन सकती।'[6] स्मरण रहे अनुभूति रस के समकक्ष है।

विश्वविद्यालयों की उच्च कक्षाओं में साहित्य शास्त्र का अध्ययन आरम्भ होने से तत् सम्बन्धी स्वतंत्र ग्रन्थ लिखे जाने लगे है जिनमें ध्वनि का प्रकरण भी होता है। 'भारतीय साहित्य शास्त्र' के रचयिता बलदेव उपाध्याय ने ध्वनि को साहित्य के घेरे से निकालकर अन्य कलाओ के क्षेत्र मे भी पहुँचाने का प्रयास किया है।[7] इधर डॉ० भोलाशंकर व्यास की 'ध्वनि सम्प्रदाय और उसके सिद्धान्त प्रथम खण्ड' नामक गवेषणापूर्ण पुस्तक निकली है। इसमें शब्द शक्ति पर ही अधिक विचार हुआ है। डॉ० भगीरथ मिश्र ने भी अपने 'काव्य-शास्त्र' शीर्षक ग्रन्थ मे ध्वनि के उपभेदो के मूल में कार्य करनेवाले तत्त्वों का विवेचन करने का सत्प्रयास किया है।

---

१. चिन्तामणि, भाग २ : पृ० १६३-१६४
२. वही : पृ० १६४
३. रस-मीमांसा : पृ० ४१०
४. चिन्तामणि, भाग २ : पृ० ७०
५. डॉ० नगेन्द्र : हिन्दी ध्वन्यालोक की भूमिका : पृ० ७०
६. वही : पृ० ७०
७. भारतीय साहित्य शास्त्र : पृ० २७३

उपर्युक्त सन्दर्भ ग्रन्थो के अतिरिक्त इतर लेखको के फुटकर निबन्धो और काव्य-सग्रहों मे भूमिका स्वरूप कवियो द्वारा अभिव्यक्त विचारो मे भी यत्र-तत्र इस सिद्धान्त के सूत्र मिल जाते है। कला के मान बदल जाने से यद्यपि अभिव्यक्ति की भाषा बदल गई है और उसको रूढ रूप मे ग्रहण करने के प्रति लेखक उदासीन हैं किन्तु ध्वनि तत्व की विशिष्टता को वे भी अस्वीकार नही कर सके है। ऐसे लेखको के दो वर्ग है—(१) वर्ड्सवर्थ की भाँति रहस्यानुभूति को व्यंग्य माननेवाले, और (२) जीवन के सामान्य सुख-दुःख को व्यंग्य माननेवाले।

प्रथम वर्ग मे सौन्दर्यशास्त्री भी आ जाते है। इस क्षेत्र के प्रसिद्ध विद्वान् डॉ० हरद्वारी लाल शर्मा ने वेदो की प्रेरणा से वाणी के चार रूप—परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी—लिये है। शब्द अर्थ का 'वैखरी' या प्रकट रूप है और अर्थ शब्द का 'परा'' या अप्रकट मूल है।[1] शब्द वह द्वार है जिसमे से आत्मानुभूति का प्रकाश लोक देखा जा सकता है। दूसरे शब्दो मे अभीष्ट वस्तु शब्द के परे है। शब्द उसकी झाँकी मात्र दिखला सकता है, पूर्ण रूपेण सामने नही रख सकता। इस दृष्टि से 'शब्दो का सुप्रयोग हमे कहाँ तक 'श्रुत' से 'अश्रुत' की ओर..... सीमित से असीमित की ओर ले जाता है—यह साहित्य की परख के लिए अच्छी कसौटी है।[2]' इसमे कोई सन्देह नही कि शर्माजी ने 'अश्रुत' और 'असीमित' का प्रयोग ध्वन्यर्थ के लिए किया है।

ससीम से असीम की ओर जानेवालो और रहस्यमयी अनुभूति की चर्चा करने-वालो मे प्रसाद और महादेवी मुख्य है। विषय के अनुरूप इनकी भाषा भी रहस्य-मयी होती है। 'अनुभूति का ही वाङ्मय अस्फुट रूप है।[3] 'काव्य आत्मा की सक-ल्पात्मक अनुभूति है, जिसका सम्बन्ध विश्लेषण, विकल्प या ज्ञान से नही है। वह एक श्रेयमयी प्रेय रचनात्मक ज्ञान धारा है।[4]' इस प्रकार की काव्य की परिभाषाओ और लक्षणो मे वे यही सिद्ध करने का प्रयास करते है कि भाषा सीधे सीधे अभीष्ट की सिद्धि करने मे असमर्थ है। उसमे जितना व्यक्त होता है उससे कही अधिक अव्यक्त रह जाता है जिस तक कल्पना द्वारा ही पहुँचा जा सकता है।

महादेवी वर्मा दीप-शिखा की भूमिका में लिखती है—'यदि एक सौन्दर्य-अश या सामंजस्य खण्ड किसी व्यापक सौन्दर्य या अखण्ड सामंजस्य का द्वार नही खोल

---

१. साहित्य में सौन्दर्य तत्त्व : पृ० २२
२. वही : पृ० २३
३. जयशंकर प्रसाद : काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध : पृ० ४०
४. वही : पृ० ३९

देना तो हमारे अन्तर्जगत् का उल्लास से आन्दोलित हो उठना सम्भव नही ।[1] यह रहस्यवादी की भाषा है जिसमे ध्वनि को लोकोत्तर बनाने की चेष्टा की गई है । डा० रामकुमार वर्मा भी इसी वर्ग में आते है ।[2]

दूसरे वर्ग के लेखकों का प्रतिनिधित्व माखनलाल चतुर्वेदी का यह कथन करता है । रेणुका की भूमिका में उनका यह वाक्य,'.... .किन्तु जब सुननेवाला भी दरदीला हो और कहनेवाला भी दरदीला हो तब कहनेवाले की एक एक कसक सुननेवाले को सौ सौ मानी देने लगती है'[3] व्याख्या की आवश्यकता नही रखता । एक शर्त यह अवश्य है कि सुननेवाला सहृदय होना चाहिए जो प्राचीन आचार्यों की पहली शर्त है ।

हम देख आये हैं कि पूर्व आधुनिक काल मे कुछ आचार्य ध्वनिवादी होते हुए भी ध्वनि विरोधी नही थे और दूसरे 'रस राज' समर्थक होने के नाते प्रकारान्तर से रस-ध्वनि के अनुयायी थे । आधुनिक काल में ध्वनि के समर्थन की भाषा भर बदली और कुछ ने तो आनन्दवर्धन की भाषा ही अपनायी । साराश यह है कि सस्कृत और हिन्दी की इतनी दीर्घ परम्परा ने यह सिद्ध कर दिया कि ध्वनि काव्य का आवश्यक तत्त्व है ।

२

पाश्चात्य विचार धारा में व्यंजना का विवेचन

Heard melodies art sweet.
But those unheard are sweeter.

John Keats.

पश्चिम में साहित्य शास्त्र की धारा दूसरे ढंग से बही । वहाँ काव्य के सौन्दर्य सम्बन्धी जो विवेचन हुआ वह केवल उसी तक सीमित न था, उसमें सभी उच्च कोटि की कलायें आ जाती थीं । भारत में चूंकि काव्य को अन्य सभी कलाओ से श्रेष्ठ माना जाता था, उससे प्राप्त आनन्द ब्रह्मानन्द सहोदर था, इसलिए उस पर विचार भी अलग से हुआ । दोनो धाराओं में यह मौलिक अन्तर है जिसको देखते हुए ध्वनि सिद्धांत को ठीक इसी रूप मेंवहाँ के कला सम्प्रदायों मे ढूंढना व्यर्थ होगा । किन्तु सत्य के अलग अलग पहलुओं में भी कुछ न कुछ साम्य अवश्य होता है । वह साम्य है कि पश्चिम के विचारक भी इस बात पर पूर्ण सहमत है कि कलाकृति का

१. दीप-शिखा : पृ० ३१
२. आधुनिक कवि : पृ० ९ ।
३. रेणुका, भूमिका भाग : पृ० १४ ।

जो प्रभाव हम पर पड़ता है वह संसार के अन्य अनुभवो से भिन्न होता है।[1] और पो महाशय जब कविता को ससार की सर्वोत्कृष्ट वस्तु घोषित करते है तो क्या यह उसके अलौकिकत्व की ही स्वीकृति नही है।[2] इन सूत्रो के द्वारा पश्चिम की विचार धारा मे भी ध्वनि के पोषक तत्त्वो का मिल जाना आश्चर्य की बात नही है।

सुविधा के विचार से वहाँ के विचारको के चार वर्ग किये जा सकते है:—

१—दार्शनिक (इन्ही में सौन्दर्यशास्त्री और मनोवैज्ञानिक भी आ जाते है),

२—भाषाशास्त्री,

३—कवि, और

४—काव्यशास्त्री (आलोचक वर्ग)।

(१) पश्चिम के महान् दार्शनिक सुकरात यूनानी थे। ये कलाकृति को प्रकृति की अनुकृति कहते थे। जिस प्रकार प्रकृति का उपभोग इन्द्रियो के माध्यम से सम्भव है उसी प्रकार कलाकृति का भी। इस साम्य के आधार पर उन्होने कई सिद्धान्त स्थिर किये जिनमे से एक यह भी था कि कला प्रकृति की अपूर्ण अनुकृति है।

'मेमोरेब्लिया' मे इन्होने इस बात पर बल दिया कि अदृश्य वस्तु का भी अनुकरण हो सकता है जिससे आगे चलकर यह धारणा विकसित हुई कि कला मे न केवल प्रतिकृति-स्थापना है अपितु प्रतीक व्यजना भी।[3]

प्लैटो ने सुकरात का अनुसरण करते हुए कला को अनुकरण माना। समस्त काव्य भूत-वर्तमान और भविष्य की घटनाओ का साधारण, अनुकरणात्मक अथवा दोनों के सम्मिश्र प्रकार का वर्णन है।[4] इनका कविता पर सबसे बडा आरोप यही है कि उसमे मनुष्य के विचार की नही भावुक स्वरूप की अभिव्यिक्त होती हैं।[5]

उपर्युक्त दोनो अचार्यो की भूल को अरस्तू ने सुधारा। अब तक की धारणा यह थी की कला प्रकृति की विषयगत अनुकृति है। इन्होने उसमें कल्पना तत्त्व और जोड़ कर उसे विषयीगत अनुकृति के रूप मे प्रस्तुत किया। कला मात्र नकल नही है, कलाकार के मानस पट पर अंकित प्रकृति के सस्कारो का कल्पनात्मक पुनर्निर्माण है। कला एक आनन्ददायिनी वस्तु है अतः उसमे लय[6] (rythm) का रहना

1—*T. S. Ilıot*· Poınts of vıew · P. 30

2—*E. O. Pow*· The Complete Poetical Works of E. A. Pow Wıth three Essays on Poetry . P 218.

3. राम नरेश वर्मा : वक्रोक्ति और अभिव्यंजना · पृ० ११२

4. *The Republic of Plato* : Tr. by B. *Jowett* : P, 41

5. Ibid : P. 159

6. *Problems of Aesthetics* : Ed. by *Morrıs Weitz* : P. 9

आवश्यक है जो बाह्य वस्तुओं के प्रत्यक्ष अनुकरण (direct imitation) से नहीं आती वरन् उनके मानस-जात रूप के अनुकरण से उत्पन्न होती है। इस प्रकार अरस्तू ने अनुकरण की एक नवीन व्याख्या की।

काव्यकला में प्रयुक्त होनेवाले शब्दों के चयन पर विचार करते हुए ये लिखते हैं— "कला का गोपन तभी निपुणता से हो सकता है जब बोलनेवाला जनसाधारण की भाषा से शब्द चुनता हो।"[1] यहाँ पर गोपन शब्द व्यंजना का अर्थ देता है। अपने साहित्यशास्त्र में लाक्षणिक शब्द की व्याख्या में इन्होंने लक्षणामूलक ध्वनि की परिभाषा ही दे डाली है—"लाक्षणिक शब्द वह है जिसका वाच्यार्थ बदल दिया गया हो।[2] यह लाक्षणिक शब्द साहित्य के मूल में अत्यन्त व्यापक है।[3] इससे हम कह सकते हैं कि अरस्तू ने व्यंजना शब्द का प्रयोग किये बिना भी इसकी सत्ता में आस्था प्रकट की है।

उपर्युक्त तीनों यूनानी विचारकों का प्रभाव पश्चिम के सभी विचारकों पर पड़ा। अतएव वहाँ के सौन्दर्यशास्त्रियों ने जब संगीत और चित्रकला पर विचार प्रकट किये तो साहित्य का भी ध्यान रखा। आगे चलकर उन्होंने देखा कि साहित्य और अन्य कलाओं में बहुत विभिन्नता है तो कुछ ने अन्य कलाओं (प्रधानतः चित्रकला) तक ही स्वयं को सीमित कर सौन्दर्यशास्त्र सम्बन्धी सिद्धान्त बनाये। यह वर्ग फार्मेलिस्ट कहलाया। कुन्तक आदि देहवादियों की भाँति इन्होंने वाह्याकार (form) पर विशेष ध्यान दिया, किन्तु सौन्दर्य निर्माण के लिए ये भी मात्र अनुकरण के पक्षपाती नहीं थे। बेल और फ्राय उसी चित्र को चित्र कहते हैं जिसमें फलक पर लगाये गये रंग सूचनात्मक (representational) न होकर भावोत्पादक हो।[4] इनके विरोध में इमोशनलिस्ट आये जो सीधे-सीधे भाव व्यंजना को ही सब कुछ स्वीकार करते हैं—"कविता भावाभिव्यक्ति है।"[5]

दूसरी ओर मनोवैज्ञानिकों ने कला को भावाभिव्यक्ति तो माना किन्तु उसके पहले 'दमित' विशेषण जोड दिया। समाज के अनेक बन्धनों के कारण कलाकार अपने विचार मुक्त होकर नहीं प्रकट कर पाता या जो कुछ करना चाहता है। वह सब नही कर पाता। ये ही 'वासनायें' छिपे तौर पर उत्कृष्ट आकार ग्रहण कर कला में

1. Art is cleverly concealed when the speake chooses his words from ordinary language : *Rhetoric* :Tr. by *J. H. Freeze* : P. 353
2. A metaphorical word is a word transferred from its proper sense —: Poetics : Tr. by *Thomas Twining* · P. 40
3. Rhetoric : Tr. by *J. H. Freese* : P. 355
4. Problems of Aesthetics : Ed. by *Morris Weitz* : P. 147.
5. Ibid : P. 147

प्रकट होती हैं।[1] इसके लिए कलाकार प्रतीकों का आश्रय लेता है और यह सभी जानते हैं कि प्रतीको मे अर्थ कभी वाच्य नही होता।

विचारकों का दूसरा वर्ग भाषाशास्त्रियो का है। उन्होंने भाषा की विशेषताएँ बतलाते हुए काव्य की भाषा पर अलग से विचार किया है। काव्य की भाषा सामान्य से भिन्न होती है—रूप मे नहीं वरन् कर्म में।[2]

काव्य सिद्धि के लिए भाषा मे जिस शक्ति की आवश्यकता होती है वह उसके विशेष प्रयोग से मिलती है। प्रयोजन भेद से शब्द का जैसा प्रयोग होता है उसका वैसा ही अर्थ निकलता है। अर्बन ने उसके तीन भेद किये है—

(१) तथ्य—बोधक—भाषा का सामान्य प्रयोग जिसमे सूचना मात्र होती है,

(२) भाव—बोधक—भाव जागृत करने की शक्ति से सम्पन्न, और

(३) प्रतीकात्मक—जिसमे वाच्यार्थ किसी दूसरे अर्थ का प्रतिनिधित्व करता है।[3]

शब्द के तीसरे प्रयोग में अर्थ के ध्वन व्यापार की ओर सकेत है। इसके मूल मे अन्य सहायक तत्त्वो की ओर यद्यपि लेखक ने ध्यान नही दिया तथापि इतने से ही स्पष्ट हो जाता है कि पश्चिम के भाषाशास्त्रियो को भी व्यजना शक्ति का परिचय था।

तीसरे वर्ग मे कवियो का वह समूह है जिसने अरस्तू द्वारा परिचय कराए गए कल्पना तत्त्व को बड़ा महत्त्व दिया।[4] रोमाण्टिक युग के कवियो ने इसे काव्य के अन्य सभी तत्त्वो से ऊँचा स्थान दिया। उनकी इसी धारणा और इस दिशा मे विशेष प्रयत्न ने लोगो के मन में यह बात बैठा दी कि काव्य मे वस्तु (matter) कुछ नहीं है, जो कुछ है वह कल्पना—कल्पना से अतिरजित वस्तु की अभिव्यक्ति। क्रोचे ने सम्पूर्ण ज्ञान के दो विभाग किये—कल्पना से प्राप्त ज्ञान और बुद्धि (विवेक-

---

1 Psycho—analysis have asserted that all aesthetic experience and creation is the release or 'sublimation' of emotions hitherto repressed .... ..
—*E F. Carritt* · An Introduction to Aesthetics P. 81

2. *Phillip Boswood Ballard* · Thought and Language : P. 240

3. Within the general notion of Linguistic meaning, three types of expression or three meaning functions may be distinguished. We may describe them as indicative expression, as amotiva expression and as representative of symbolic expression.
—*wilker Marshall Urban* Language and Reality : P. 136

4. *William Wordsworth :* The Prelude or Growth of Poet's Mind : P. 204.

तर्क इत्यादि) से प्राप्त ज्ञान।[1] कला का सम्बन्ध इन्होंने इसी कल्पनात्मक ज्ञान से जोड़ा।[2] क्रोचे की इस व्याख्या ने 'कला कला के लिए' वाद को जन्म दिया। इसके अनुसार कला का किसी बाहरी नियम द्वारा मूल्यांकन नहीं किया जा सकता। वह अपना मूल्य स्वयं है।

इस वाद ने साहित्य की चाहे जितनी हानि की हो पर इतना हित अवश्य किया कि व्यंजना की नींव पक्की कर दी। कल्पना बिना व्यंजना के अंधी है और व्यंजना बिना कल्पना के लंगड़ी। दोनों अन्योन्याश्रित हैं।

रोमाण्टिक युग के कवियों ने उपर्युक्त दोनों तत्त्वों का अपनी रचनाओं में स्थान स्थान पर उल्लेख किया है। प्रेल्यूड (The Prelude) के १२ वें सर्ग में एक साधारण दृश्य को अंकित करने के लिए भी वर्ड्सवर्थ ने दिव्य रंगों और शब्दों की आवश्यकता अनुभव की।[3] वह इसलिए नहीं कि उसकी साधारण अभिव्यक्ति असम्भव थी वरन् इसलिए कि उनका उद्देश्य उससे (चित्रण से) आगे भावोद्बोधन था। दृश्य सम्बन्धी जो भाव उनके मन में उठे वे ही (अथवा उससे मिलते जुलते) दूसरे भी अनुभव कर सकें इसके लिए भाषा के उस रूप (भावमय) की आवश्यकता है जो भावमग्न अवस्था के अनुरूप हो।[4] वीर-गीतों की भूमिका में वर्ड्सवर्थ लिखते हैं—अभिधा के रूप में भाषा की शक्ति सीमित है किन्तु उसका सुष्ठु उसकी शक्ति निस्सीम कर देता है।[5] ऐसे स्थलों पर, जहाँ शब्द व्यंजना-शक्ति से भी युक्त होता है, शब्द में वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ दोनों होने से उसका महत्त्व दुगुना हो जाता है।[6] वर्ड्सवर्थ के समसामयिक लेखक हण्ट हैं। इन्होंने 'कविता क्या है' शीर्षक निबन्ध में कविता की तुलना चित्र कला और संगीत से की है—'कविता चित्र कला से उतना अंश ग्रहण करती है जितना मानस-पट पर अंकित किया जा सकता है औ संगीत से उतना कि जितना बिना गायन वादन के ध्वनि मात्र से सम्प्रेषित हो सकता है। किन्तु कविता व्यंजना (suggestiveness) विस्तार (range) और बुद्धि-तत्त्व

---

1. *Benedetto Croce :* Aesthetic—As Science of Expression and General Linguistic : P. 1
2. Ibid : P. 15.
3. *William wordsworth :* The Prelude : P. 436.
4. *S.T. Coleridge :* Select Poetry and Prose : P. 314 and 316.
5. *William wordsworth :* Poetry and Prose : P. 176
6. 'In a symbol' says Carlyle "there is a concealment and yet a revelation; hence, therefore, by silence and by speech comes a double significance.

—*A. Symons :* Symbolist Movement in Literature : P. 2.

(intellectual wealth) मे उन दोनो से आगे निकल जाती है।[1] हमारे विचार से पाश्चात्य विचार धारा में व्यजना के अस्तित्व की स्वीकृति का इससे बडा स्पष्ट प्रमाण दूसरा नही मिल सकता।

मध्य युग मे पोप अपनी सूक्तियो के लिये प्रसिद्ध हो गए है। आलोचना पर लिखे उनके पद्य-वद्ध-निबन्ध मे जाने अनजाने चार पक्तियाँ आनन्दवर्धन की 'प्रतीयमान पुनरन्यदेव' कविता से टकरा गई है। पक्तियाँ इस प्रकार है—

> In wit, as nature, what affects our hearts
> Is not the exactness of peculiar parts;
> 'T is not a Lip, or eye we beauty call
> But the joint force and full result of all[2]

अन्तिम वर्ग शुद्ध रूप से साहित्यशास्त्रियो का है। उनमे श्री ए० सी० ब्रेहले 'कला कला के लिए' आन्दोलन के प्रबल समर्थको मे से रहे है। कला का मूल्य निर्धारित करते समय ये इस बात पर बल देते है कि हमारे विचार और रूप विधान (ideas and images) कविता के बाह्य तत्त्व है।[3] उनको प्रकट करनेवाले शब्दो से जो ध्वनि निकलती है वही कविता है।[4] यदि उन शब्दों को थोड़ा भी बदल दे तो अर्थ बदल जायगा। ध्वन्यर्थ को शब्दो मे नही व्यक्त किया जा सकता (अर्थात् ध्वन्यर्थ सदैव प्रतीयमान रहता है)। वाचक शब्दो मे न काव्य का सौन्दर्य रहता है और न व्यग्य ही रह जाता है। वह एक नई ही रचना बन जाता है।[5]

इस विवेचन से ऐसा लगता है जैसे इन्होने आचार्य शुक्ल के विरोधियो के लिए पृष्ठ-भूमि तैयार कर दी हो। व्याख्यान के अन्त मे संस्कृत आचार्यों की शैली पर कविता की आत्मा को दिव्य रूप मे देखते है[6] जिसकी परिभाषा देना उतना ही कठिन है जितना लावण्य की।[7] अंग्रेजी के इतर विद्वानो—एबर

---

1. Eng. Critical Essays, XIX Century : Ed. by *Edmund D. Jones* : P. 302·
2. Eng. Critical Essays, XVI-XVII-XVIII Centuries : Ed. by *Edmund D. Jones* · P. 214
3. Oxford Lectures on Poetry . P. 18
4. There is, if I may put it so, a resonant meaning, or a meaning resonance. —Ibid : P. 14
5. Ibid : P. 19.
6. Ibid : P. 27.
7. We can no more define this quality than we define a state of grace.
   —*Herbert Read :* Collected Essays in Literary Criticism : P. 41

क्रौम्बी,[१] एलीजाबेथड्रूड[२] तथा लैम्बार्न[३] आदि—ने भी इसी से मिलते जुलते विचार प्रकट किये है।

अग्रेजी के आधुनिक विद्वानो मे श्री आ० ए० रिचर्ड्स भारतीय विचारधारा के पर्याप्त निकट आए है। साहित्यशास्त्र सम्बन्धी अपनी दोनो पुस्तको—साहित्यिक समीक्षा के सिद्धान्त और व्यावहारिक समीक्षा—मे इन्होने शब्द और अर्थ पर विशद् विचार किया है।

व्यावहारिक समीक्षा मे इन्होने कुछ कवितायें लेकर उन पर अलग अलग अलोचनात्मक लेख लिखे है। इनके मत से अर्थ के चार प्रकार है—तात्पर्यार्थ (sense), व्यंग्य भाव (feeling), काकु या स्वर (tone) और उद्देश्य (intention)।[४] आचार्य शुक्ल ने इस विभाजन की आलोचना करते हुए केवल प्रथम दो को ही प्रधान माना। तीसरे का समावेश आर्थी व्यजना के कारणो मे हो सकता है और चौथे का समावेश अभिधामूला ध्वनि मे किया जा सकता है।[५] डॉ० भोलाशकर व्यास ने इस विभाजन मे तात्पर्यादि के सम्बन्ध के तीन वर्ग किये है—(१) जहॉ तात्पर्य मुख्य भावना गौण हो, (२) जहाँ तात्पर्य और भावना मे समान सम्बन्ध हो, और (३) जहाँ भावना प्रधान हो और उसका तात्पर्य से सम्बन्ध कम तथा केवल प्रकरणगत हो।[६] इन वर्गो मे व्यास महोदय क्रमश अभिधा, लक्षणा और व्यजना मानने के पक्ष में है। इनका यह वर्गीकरण रिचर्ड्स की 'व्यावहारिक समीक्षा' पुस्तक के 'परिशिष्ट अ' के आधार पर किया गया प्रतीत होता है। वहाँ रिचर्ड्स महोदय ने स्वीकार किया है कि काव्य मे अधिकतर प्रथम तीन प्रकार के अर्थ गौण हो जाते है, काव्यार्थ इनमे से किसी के अन्तर्गत नही रखा जा सकता। उत्तम काव्य मे कवि का प्रयोजन या उद्देश्य मुख्य होता है।[७] भारतीय साहित्यशास्त्र की शब्दावली में ऐसे काव्य को ध्वनिकाव्य कहा जायगा।

'साहित्यिक समीक्षा के सिद्धान्त' शीर्षक दूसरी पुस्तक मे रिचर्ड्स महोदय ने एक पूरा परिच्छेद कविता के विश्लेषण को दिया है। इसमे इन्होने कविता को देखने (यदि कविता छपी हुई है) से लेकर पाठक की उसके प्रति सम्पूर्ण प्रतिक्रिया तक छ संस्थानों का वर्णन किया है :—[८]

---

1. *L. Abercrombie* : Principles of Literary Criticism . P. 40
2. *Elizabeth Drew* : Discovering Poetry : P, 21 and 28.
3. *E. A. Greening Lamebon* The Rudiments of Criticism : P. 11
4. I. A. Richards : Practical Criticism : P. 181.
५. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : चिन्तामणि, भाग २ : पृ० १६५
६. डॉ० भोलाशकर व्यास : ध्वनि सम्प्रदाय और उसके सिद्धान्त, खण्ड १, पृ० २६
7. Practical Criticism, Appendix A. P. 356
8. Principles of Literary Criticism : P. 117

(१) छपे हुए शब्दो का दृष्ट संवेदन (the visual sensation of the printed words),

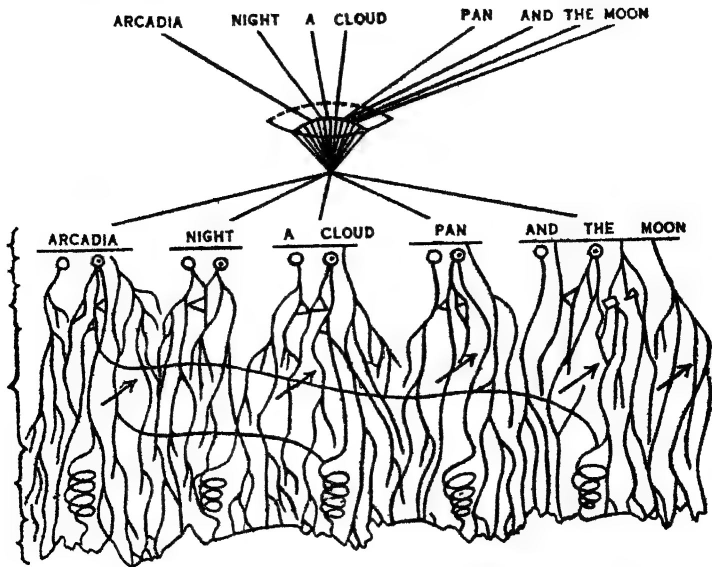
(२) तत्सम्बन्धी मूर्त-विधान (images very closely associated with these sensations),

(३) अपेक्षाकृत स्वतन्त्र मूर्त-विधान (images relatively free),

(४) विचार (references to, or 'thinkings' of various things),

(५) भाव (emotions),

(६) रागात्मक दृष्टिकोण (affective—volitional attitudes),



I Visual Sensations	○ Auditory Verbal Image
II Tied Imagery	⊙ Articulatory Verbal Image
III Free Imagery	△○ Free Imagery
IV References	↗ Reberences
V Emotions	Emotions
VI Attitudes	Attitudes

चतुर्थ अध्याय

ध्वनि-वर्गीकरण के विभिन्न आधार :

ध्वनि विभाजन के तीन आधार है :

(१) भाषा के जिस अग से ध्वनि प्रकाशित हो,

(२) शब्द की जो शक्ति ध्वनि के मूल मे कार्य कर रही हो, और

(३) जो वस्तु ध्वनित हो ।

१

भाषा के जिस अंग से ध्वनि प्रकाशिक हो—

भाषा के दो ही अग है—शब्द और अर्थ । इसलिए ध्वनि दो ही प्रकार की होनी चाहिये—शब्दगत (शाब्दी) और अर्थगत (आर्थी) । किन्तु जब ये दोनो ही तत्त्व क्रियाशील रहते है तब एक तीसरे भेद को मानने की आवश्यकता प्रतीत होती है जिसे 'शब्दार्थगत' कहा जा सकता है ।

शब्दगत होने पर भी एक ध्वनि अभिधा शक्ति से आक्षिप्त होगी या लक्षणा शक्ति से । अत. इसके दो उपभेद हुए—अभिधामूलक और लक्षणामूलक ।

शब्दगत—अभिधामूलक ध्वनि—

इसके लिए तीन बातो की आवश्यकता है । पहली, शब्द के कई अर्थ होने चाहिये, दूसरी, प्रकरण आदि अन्य नियामक तत्त्वो द्वारा एक ही अर्थ की प्रतीति होनी चाहिये, तीसरी, यदि उस शब्द के स्थान पर कोई दूसरा पर्यायवाची शब्द रख दिया जाय तो वह ध्वनि का विषय न रहे । तीसरी आवश्यकता प्रथम दो का निष्कर्ष है । दूसरी आवश्यकता के अन्तर्गत अर्थ के नियामक तत्त्व है—[1] संयोग, विप्रयोग, साहचर्य, विरोध, अर्थ प्रकरण, लिंग, अन्य सन्निधि, सामर्थ्य, औचित्य, देश, काल, व्यक्ति, स्वर आदि (चेष्टा, अभिनय) ।[2]

---

१. संयोगो विप्रयोगश्च साहचर्यं विरोधिता
अर्थः प्रकरणं लिंगं शब्दस्यान्यस्य सन्निधिः ।
सामर्थ्यमौचिती देशः कालो व्यक्तिः स्वरादय.
शब्दार्थस्यानवच्छेदे विशेषस्मृति हेतवः ।।
मम्मट : काव्य प्रकाश : पृ० ६३

२. यहाँ 'आदि' का अभिप्राय वाचकता के अन्य नियामक, अभिनय से है :
—वही : पृ० ६८

संयोग—अनेकार्थक शब्द का किसी एक ही अर्थ के साथ प्रसिद्ध सम्बन्ध को संयोग कहते है। जैसे, यदि 'शख चक्र सहित हरि' कहा जाय तो शंख चक्र का सम्बन्ध से 'हरि' का अर्थ विष्णु होगा बन्दर नही।

विप्रयोग—जहाँ किसी प्रसिद्ध वस्तु के सम्बन्ध के अभाव से अनेकार्थक शब्द का एक अर्थ निश्चित हो जाय। जैसे, 'बिना चक्र के भी हरि शोभा देते हैं' कहने से पहले की ही भाँति चक्र न होने से 'हरि' का अर्थ विष्णु ही होगा, क्योंकि जिसका जिससे सयोग होता है उसी से वियोग भी माना जायगा।

साहचर्य—किसी सहचर—साथ रहनेवाले—की प्रसिद्धि से अर्थ का निर्णय होना। उदाहरणार्थ, 'राम लक्ष्मण' कहने से राम का अर्थ परशुराम न होकर दशरथ पुत्र राम ही होगा।

विरोध—इसमे किसी विरोध या असगति के कारण से अर्थ निर्णय होता है। यह साहचर्य का ठीक उलटा है। जैसे, 'राम ने रावण के दसो सिर काट लिये' मे दाशरथि राम ही होगा क्योकि उन्ही से रावण का विरोध था।

अर्थ—इसके अन्तर्गत प्रयोजन को देखते हुए अनेकार्थ मे एकार्थ का निश्चय आता है। 'उद्धार चाहते हो तो हरि भजन करो' वाक्य में प्रयोजन उद्धार है। इसलिए 'हरि' का अर्थ बन्दर न होकर विष्णु होगा।

प्रकरण—प्रसगवश वक्ता और श्रोता की समझदारी से किसी अर्थ का निर्णय प्रकरण के अन्तर्गत आता है। जैसे, 'मधु ले आओ' कहनेवाला यदि वैद्य है और दवा देने के समय कह रहा है तो 'मधु' का अर्थ शहद में नियंत्रित हो जायगा।

लिंग—नानार्थक शब्द के किसी एक अर्थ मे वर्तमान और अन्यों में अवर्तमान विशेष धर्म, चिन्ह, या लक्षण का नाम लिंग है। 'देखहु नील पयोवर बरसत' वाक्य में बरसने का गुण केवल बादलों मे है उरोजों में नही, इसलिए 'पयोधर' का अर्थ बादल मे सीमित हो गया है।

अन्य सन्निधि—शब्द के किसी एक ही अर्थ के साथ सम्बन्ध रखनेवाले भिन्नार्थक शब्द की समीपता अन्य सन्निधि है। जैसे, 'अयोध्यावासी राम से बहुत स्नेह रखते थे' मे 'अयोध्यावासी' शब्द के निकट होने से 'राम' का अर्थ न परशुराम होगा और न बलराम, केवल दाशरथि राम होगा।[1]

---

१. इस सम्चन्ध मे पं० रामदहिन मिश्र ने टिप्पणी दी है—'जहाँ सम्बन्ध की प्रधानता प्रतीत हो वहाँ संयोग, जहाँ सन्बन्धियों को प्रधानता प्रतीत हो वहाँ साहचर्य और जहाँ किसी के निकट रहने से एक अर्थ की सिद्धि होती है वहाँ अन्य सन्निधि है।' —काव्यालोक, द्वितीय उद्योत : पृ० १४०।

सामर्थ्य—किसी कार्य के सम्पादन में किसी पदार्थ की शक्ति से अनेकार्थों मे से एकार्थ का निश्चय होना 'सामर्थ्य' है। जैसे, 'मधु से मतवाले' वाक्य में मतवाला करने की सामर्थ्य मदिरा मे है इसलिए मधु का अर्थ यही होगा ।

औचित्य—जहाँ किसी पदार्थ की योग्यता के कारण अनेकार्थो मे से एक का निर्णय हो। जैसे, अमुक व्यक्ति श्री सम्पन्न है । इसमें व्यक्ति के साथ ऐश्वर्य का ही सम्बन्ध जोड़ना उचित है विष्णु की पत्नी का नही ।

देश—जहाँ किसी स्थान की विशेषता से एकार्थ का निश्चय है । जैसे, 'वैकुण्ठ-वासी हरि' वाक्य में 'वैकुण्ठ' पद 'हरि' पद के अर्थ का नियामक है ।

काल—समय (प्रात:, सन्ध्या, मास, पक्ष, ऋतु) के कारण एकार्थ का निश्चय इसके अन्तर्गत आएगा । 'मधु बगराती बसन्त ऋतु आई' वाच्य मे बसन्त ऋतु 'मधु' का फूलो के रस में अर्थ निश्चित करती है ।

व्यक्ति—इसमे स्त्रीलिंग आदि से अर्थ का निश्चय होता है। 'हे सखी, पति का ध्यान रखना' वाक्य में सखी के स्त्रीलिंग मे होने से पति का अर्थ 'पत' नही लिया जा सकता।

स्वर—वस्तुतः उदात्त, अनुदात्त आदि स्वर वेद ही मे विशेष अर्थ के निर्णायक होते है। काव्य में इससे अर्थ निर्णय नही हो सकता । हाँ, पढते समय या वार्तालाप मे स्वराघात, स्वरपात आदि से अर्थ विशेष का निश्चय किया जा सकता है ।

चेष्टा या अभिनय—'आचार्यों ने अर्थ नियन्त्रण मे 'आदि' शब्द से नाटकादि मे नानाविध अभिनय का भी ग्रहण किया है।... ..हाथ के अभिनय से वा सकेत से स्तन, लोचन आदि का परिमाण विशेष रूप अर्थ नियत हो जाता है ।[१]' किन्तु इसका सम्बन्ध भी स्वर की भाँति वार्तालाप से अधिक है ।

उक्त प्रसंग मे 'अन्य शब्द की सन्निधि' एक ऐसा व्यापक लक्षण है जिसमें बहुत से दूसरे लक्षण समा जाते हैं । 'अन्य सन्निधि' के अन्तर्गत वे शब्द आते है जो किसी एक अर्थ को ग्रहण करने मे सहायता दे। अब व्यक्ति, काल देश मे भी तो यह निकट का शब्द ही इन सबकी सूचना देता है । जिस जिस विशेष धर्म वाला वह निकट का शब्द होगा उसी उसी नाम से वह नियामक तत्त्व कहा जायगा ।

शब्दगत-लक्षणामूला-ध्वनि—

जिस प्रयोजन के लिये लक्षणा का आश्रय लिया जाता है वह प्रयोजन जिस शक्ति द्वारा प्रतीत होता है उसे लक्षणा कहते है । मम्मट ने प्रयोजनवती लक्षणा के

---

१. **मम्मट : काव्य प्रकाश : पृ० ५२-५३**

के बारह भेद माने है[1] और विश्नाथ ने बत्तीस[2] (गूढ और अगूढ दोनो को मिलाकर) । बाद के विद्वान् मम्मट से सहमत है ।[3] लक्षणामूलक ध्वनि के नामकरण के लिये उन प्रयोजनवती लक्षणाओ के नाम जोड देते है ।

अर्थगत-ध्वनि—किसी पद अथवा वाक्य के प्रथम अर्थ की प्राप्ति हो जाने पर भी पद अथवा वाक्य के दायरे के बाहर के किसी कारण से जब द्वितीय अर्थ निकलता है वहाँ पर अर्थगत-ध्वनि होती है । शब्दगत-ध्वनि की भाँति ही यह भी अभिधामूलक और लक्षणामूलक हो सकती है किन्तु दोनो स्थितियो मे उसके नियामक तत्त्व वही रहते है । वे तत्त्व है[4]—वक्ता, बोद्धव्य, काकु, वाक्य, वाच्य, अन्य सन्निधि प्रस्ताव, देश, काल, अन्य विध (चेष्टा) । प्रत्येक ध्वनि तत् तत् नियामक की सज्ञा से अभिहित होती है ।

वक्ता—कवि या कवि-कल्पित पात्र की विशेषता द्वारा जब उसके कथन का ध्वन्यार्थ प्रतीत होता है वहाँ वह वक्तृवैशिष्ट्योत्पन्न कहलाता है । 'मेरा हृदय तुझ निर्मोही से लगा है, तेरे आने से आता है, तेरे जाने से जाता है ।' यह कथन नायिका की उक्ति होने से नायिका की अत्यासक्ति ध्वनित करती है ।

बोद्धव्य—जहाँ श्रोता की विशेषता द्वारा ध्वन्यार्थ का बोध हो वहाँ उसे बोद्धव्यवैशिष्ट्योत्पन्न कहते है । जैसे, 'ये दिन फिर नही आयेगे वाक्य को सुननेवाला यदि युवक है तो उसका ध्वन्यार्थ निकल सकता है—यौवन मे खूब रगरेलियाँ मना लो ।

काकु—कण्ठ ध्वनि की विशेषता से जब भिन्नार्थ की प्रतीति हो । इसका ठीक ठीक स्वरूप वार्तालाप मे ही उभरता है । उदाहरणार्थ, 'आप बन को जाँय और मै महल मे ही रहूँ ।' काकु से इसकी ध्वनि होगी—यदि आप बन को जाते हैं तो मै भी आपके साथ बन को जाऊँगी ।

वाक्य—जहाँ सम्पूर्ण वाक्य की विशेषता से ध्वन्यार्थ प्रकट हो वहाँ यह ध्वनि होती है । 'आप निश्चिन्त रहे, मै वही करूँगा जिसमे इस बालक का भला हो ।'

---

१. मम्मट : काव्य प्रकाश : पृ० ५२-५३

२. विश्वनाथ : साहित्यदर्पण : पृ० ७३

३. डॉ० भोलाशंकर व्यास : ध्वनि सम्प्रदाय और उसके सिद्धांत . पृ० १२७ ।

४ वक्तृबोद्धव्यकाकूनां वाक्यवाचान्यसन्निधेः
प्रस्ताव देशकालादेवैंशिष्ट्यात्प्रतिभाजुषाम् ॥
यो र्थस्यान्यार्थधीहेतुर्व्यापारो व्यक्तिरेव सा ॥
—मम्मट : काव्यप्रकाश . पृ० ७१

इसका अर्थ होगा कि यदि बालक के भविष्य के लिये दण्ड भी देना पडेगा तो हिच-किचाऊँगा नही।

वाच्य—यह वाक्य से कुछ समानता रखता है। अन्तर इतना ही है कि इसमे पहले देश काल का ज्ञान हो जाने पर एक नवीन अर्थ ध्वनित होता है। 'चार दिन की चाँदनी फिर अधेरी रात' कहने से पहले सुख कम दु.ख अधिक का अर्थ निकलता है तब प्रसग से सुख की क्षणिकता की ध्वनि निकलती है।

अन्य सन्निधि—जब किसी विशेष व्यक्ति या वस्तु की समीपता या उपस्थिति को लक्ष्य कर वक्ता अपने कथन से बोद्धव्य को अभीष्ट अर्थ सम्प्रेषित करना चाहे। इसका क्रम इस प्रकार है —एक कहे, दूसरा सुने, तीसरा समझे (बेटी को कहना बहू को सुनना)। जैसे, कोई शत्रु को निकट देखकर अपने मित्र से कहे, 'आज तो हाथ खुजला रहा है' तो इसका अर्थ होगा कि शत्रु को मारने की इच्छा हो रही है।

प्रस्ताव—जहाँ प्रकरणवश वक्ता के प्रश्न का भिन्नार्थ प्रतीत हो। 'बलिका का रोना सुनकर राणा प्रताप की आँखों मे पानी आ गया।' यहाँ राणा की प्रतिज्ञा, उनके दृढ निश्चयी होने का ज्ञान हुए बिना यह अर्थ नही निकाला जा सकता कि बालिका का रोना अत्यन्त करुणाजनक था।

देश—इसके अन्तर्गत स्थान की विशेषता आती है। अपने सकेत-स्थल को देख कर एक सखी का दूसरी सखी से यह कहना कि तुम आगे जाओ मै जरा यहाँ सघन छाया मे विश्राम कर लूँ, यह अर्थ देगा कि मै नायक से मिलना चाहती हूँ।

काल—इस ध्वन्यार्थ मे समय की विशेषता प्रधान होती है। जैसे, कोई कहे—"रहने भी दो मारू के सुनते ही स्वयं दौड़ा आएगा", यहाँ 'लड़ाई छिड़ने पर क्षत्रिय का घर मे रहना असभव है' अर्थ ध्वनित है।

अन्य विध—जहाँ चेष्टा, इगित, हाव-भाव द्वारा ध्यन्यार्थ की प्रतीति हो। "वह उसे देखते ही मुस्करा पडी।" इस वाक्य मे मुस्करा पड़ी हाव द्वारा पूर्वानुराग ध्वनित है। इसका उचित स्थल रगमच है।

अभी तक जिन नियामको की चर्चा हुई है यह आवश्यक नही कि एक स्थल पर इनमे से केवल एक ही क्रियाशील हो। इसलिए कुछ विद्वान् अनेकवैशिष्ट्योत्पन्न एक अलग प्रकार के पक्ष मे है। प० रामदहिन मिश्र ने इसका उदाहरण दिया है:—

काम कुपित मधुमास अरु, श्रमहारी बह बाय।
कुंज मंजु वन पति अनत, करौं सखी कह काय॥

इसमे मधुमास कथन से कालवैशिष्ट्य, कुज मजु बन से देशवैशिष्ट्य, वियोग

प्रकरण से प्रस्ताववैशिष्ट्य है। इन सबसे 'यहाँ तू प्रच्छन्न कामुक को भेज' ध्वनि प्रकट हो रही है।

शब्द और अर्थ दोनो के क्रियाशील होने पर तीसरा मुख्य भेद है—उभय-शक्ति उद्भव। इसके उदाहरण स्वरूप निम्न छंद लिया जा सकता है.—

चरन धरत चिन्ता करत भोर न भावै सोर।
सुबरन यों ढूंढ़त फिरत अर्थ चोर चहुँ ओर ॥[1]

यहाँ, धनचोर और भावचोर (कवि) एक दूसरे के समान है, यह अर्थ अभीष्ट होने से उपमा अलकार ध्वनित है।

उक्त नियामको की खोज मुख्य रूप से दृश्य काव्य को ध्यान मे रखकर हुई श्रव्य काव्य मे इनमें से बहुत तत्त्व स्वभावत छूट जायेंगे। अन्य सन्निधि, स्वर, काकु श्रव्य-काव्य (आजकल पाठ्य-काव्य) मे व्यर्थ है। इसी प्रकार विषय को देखते हुए अन्यो के सम्बन्ध मे भी समझा जा सकता है।

उपसंहार—भाषा के शब्द और अर्थ दोनो अग समान रूप से महत्त्वपूर्ण है। किसी एक के अभाव मे दूसरे की स्थिति सभव नही है। अत: यह विभाजन केवल बौद्धिक स्तर पर है और प्रधानता की दृष्टि से। कहाँ पर कौन सा अंग प्रधान है इसका निश्चय सहृदय ही कर सकता है। किन्तु दोनों में एक महान् अन्तर द्रष्टव्य है। शब्दगत मे अर्थ किसी विशेष शब्द तक ही परिमित रहता है[2] जब कि अर्थगत मे ऐसी कोई सीमा नही है।

इसी प्रसग के अन्तर्गत व्याकरण बुद्धि से किये गये उपभेद—पद, पदांश, वाक्य, प्रबन्ध वर्ण तथा रचना—सब आ जाते है।

२

शब्द की जिस शक्ति से अर्थ ध्वनित हो

अर्थ ध्वनित करनेवाली शब्द-शक्ति या व्यापार ध्वनि वर्गीकरण का दूसरा आधार है। शक्तियो मे यद्यपि तात्पर्या नाम की एक चौथी शक्ति भी मानी गई है किन्तु ध्वनि के प्रसग मे अभिधा, लक्षणा और व्यंजना पर विचार हुआ है। आचार्यों मे यद्यपि व्यंग्य सम्भवा ध्वनि भी स्वीकृत हुई है किन्तु उसके मूल में भी अभिधा और लक्षणा ही कार्य करती है। अत. हम इन्ही दो पर विचार करेंगे।

---

१. प० रामदहिन मिश्र : काव्यालोक, द्वितीय उद्योत : पृ० ३२१,
२. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : रस-मीमांसा : पृ० ३८२,

अभिधा विचार—प्रथम अध्याय मे कह आये है कि अभिधा के द्वारा साक्षात् सकेतित अर्थ का ज्ञापन होता है। शका हो सकती है कि शब्द और सकेतित अर्थ के बीच सम्बन्ध कैसे जुड़ता है। शास्त्रीय भाषा मे इसे ही सकेत-ग्रह कहते है। भारत और विदेशो मे इसे स्पष्ट करने के लिए अनेक मत प्रचलित हुए। किसी ने कहा—यह सम्बन्ध ईश्वर द्वारा नियत है तो किसी ने इसे सामाजिक चेतना का फल कहा।[1] इसके साथ विवाद का दूसरा विषय यह भी रहा कि शब्द सर्वप्रथम केवल समान्य अर्थ (abstract) की प्रतीति कराता है या विशेष (concrete) की। इस सम्बन्ध मे भारत मे व्यक्ति-शक्तिवादी ज्ञान-शक्तिवादी, अपोहवादी, जाति-विशिष्ट-व्यक्तिवादी आदि अनेक मत प्रचलित हुए।[2] हम यहाँ, भारत के कुछ भाषाशास्त्रियो के मत को ही ले रहे है। इसी मे पश्चिम के भाषा-शास्त्रियो के मत का भी समाहार हो जाता है।

भाषा-शास्त्रियो ने वाच्यार्थ ग्रहण के आठ कारण बतलाए है—कोष, व्याकरण, उपमान, आप्तोपदेश, वाक्य-शेष, विवृति, सन्निधि और व्यवहार।[3] इसमे व्यवहार यद्यपि शीर्ष स्थान का अधिकारी है तथापि अन्य भी कम महत्त्वपूर्ण नही है।

बालक अपनी प्रारम्भिक अवस्था मे जो ज्ञान प्राप्त करता है उसके अधिकाश का कारण व्यवहार है। वह किसी को 'गाय लाओ' कहते सुनता है और किसी को गाय लाते देखता है। इस प्रकार एक कही हुई ध्वनि से एक क्रिया या वस्तु का सम्बन्ध जुडा है। आगे चलकर जब उसी से मिलती जुलती ध्वनियों का सम्बन्ध उसी से मिलती जुलती वस्तुओ या कार्यो से होते देखता है तो वह सम्बन्ध और दृढ़ हो जाता है। भविष्य मे इसी सम्बन्ध को वह गुरुजनों के कहने पर मानने लग जाता है (आप्तोपदेश), व्याकरण पढकर समझने लगता है (व्याकरण), कुछ का अर्थ उपमान के बल पर कल्पित करता है (उपमान) या कोष मे देख लेता है तो उसके अन्य पर्याय मिल जाते है जिससे उसका ज्ञान बढता है (कोष)। कभी वाक्य में अन्य प्रसिद्ध पदो की सन्निधि से भी अर्थ ग्रहण करने मे सहायता मिलती है (सन्निधि) और इन सब मे असमर्थ होने पर वह विवृति, भाष्य का आश्रय लेता है (विवृति)।

अलग-अलग पदो का अर्थ जान लेने पर भी सम्पूर्ण वाक्य का अभिधेयार्थ जिन पर निर्भर करता है वे है—(१) योग्यता (२) आकांक्षा और (३) आसक्ति।

योग्यता—पदार्थो के परस्पर अन्वय मे सम्बन्ध स्थापित करने मे किसी प्रकार की अनुपपत्ति (अडचन) का न होना योग्यता है। 'आग से क्यो सीचते हो?' इस

---

१ डॉ० भोलाशकर व्यास . ध्वनि सम्प्रदाय और उसके सिद्धान्त : पृ० ७१-७७

२. वही : पृ० ७१-७७

३ श्यामसुन्दर दास : भाषा विज्ञान : पृ० २६४

वाक्य मे सॅचन का गुण आग मे माना गया है जो सत्य नही है। अतः यहाँ योग्यता का अभाव है। इसी बात को, 'पानी से क्यो सीचते हो ?' कहने से योग्यता आ जाती है।

आकांक्षा—जहाँ कुछ पदो के रहते हुए भी अर्थ पूर्ति के लिए किसी अन्य पद अथवा पदो की अपेक्षा हो 'आकाक्षा' कहलाती है। जैसे, 'मोहन ने पानी' इतना ही कह देने से अर्थ पूरा नही होता। इसके आगे 'दिया' आदि किसी अन्य पद के लगाने से ही अर्थ पूरा होगा। निराकाक्ष पदो को साथ-साथ रख देने से वाक्य नहीं बन सकता।

आसक्ति—यह है भिन्न-भिन्न पदो का निकट होना। लिखते या बोलते समय दो पदो के बीच आवश्यकता से अधिक स्थान या समय का व्यवधान होने से ठीक अर्थ ग्रहण नही होता। यह व्यवधान चार प्रकार का हो सकता है[1]—(१) कालकृत, (२) उच्चारण दोष जन्य, (३) अप्रसक्त शब्दोद्भव और (४) दूरान्वयाश्रित। प्रथम दो स्पष्ट है। तीसरे का अर्थ है दो पदो के बीच अप्रासगिक पदो का आ जाना। चौथा दोष है दो पूरक पदो के बीच आवश्यकता से अधिक पदो (भले ही वे प्रासंगिक हों) का आ जाना।

लक्षणा विचार—इसकी परिभाषानुसार जहाँ मुख्यार्थ का बाध हो किन्तु उससे सम्बन्धित एक दूसरा (अभीष्ट) अर्थ निकले वह लक्षणा का विषय है। मीमासको ने लक्षणा ग्रहण के चार स्थान बतलाए है। वे लक्षणा के मूल मे सामान्य अथवा तर्क-सम्मत अर्थ-बाध नही मानते। वक्ता का प्रयोजन अधिक महत्वपूर्ण है। उसके अनुसार यदि हमे कथन का मुख्यार्थ नही लेना चाहिये तो वह भी लक्षणा का विषय होगा।[2] ये चार स्थान हैं :—

(१) यदि किसी कथन का मुख्यार्थ (वाच्यार्थ) व्यर्थ सिद्ध होता हो अथवा उसमे से काव्योचित सुन्दर अर्थ न निकलता हो।

(२) यदि किसी शब्द या वाक्याश की शेष वाक्य मे सगति न बैठती हो।

(३) यदि मुख्यार्थ से किसी प्रत्यक्ष उद्देश्य (visible purpose) की सिद्धि न होती हो और इसलिए अप्रत्यक्ष उद्देश्य को ला रखने की आवश्यकता का अनुभव हो।

(४) यदि प्रसग से लक्ष्यार्थ की आवश्यकता प्रतीत हो।

---

१. पं० रामदहिन मिश्र काव्यालोक, द्वितीय उद्योत : पृ० ९

२. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल लक्षणा के इसी लक्षण से सहमत हैं। दे० रस-मीमांसा पृ० ३७३

इन प्रसगों के औचित्य के समर्थन मे शबर मुनि कहते है कि जब अभिधा से प्राप्त शब्दार्थ से सगति नही बैठती तब लक्षणा से भी कल्पित अर्थ ठीक होता है।[1] मीमासको के अनुसार जिन आधारो पर मुख्यार्थ से लक्ष्यार्थ तक पहुँचा जाता है वे नौ प्रकार के हो सकते है।[2]

(१) **मत्वर्थ लक्षणा**—इसके अन्तर्गत समानाधिकरण शब्दों के प्रयोग को लिया गया है। अर्थात् जहाँ एक ही अधिकरण वाले दो शब्द एक दूसरे के स्थान पर प्रयुक्त हो सके। इसका उदाहरण है—सोम से यज्ञ करो। लक्ष्यार्थ होगा—सोम वाले यज्ञ से इष्ट की प्राप्ति करो। इसकी व्याख्या मे वे लिखते है कि चूँकि यज्ञ और सोम दोनो ही इष्ट की प्राप्ति मे कारण है इसलिए सोम और यज्ञ समानाधिकरण शब्द है।

(२) **देश लक्षणा**—स्थान की निकटता अर्थात् निकटवर्ती स्थान को भी परिधि मे घेर लेना। शबर ने इसका उदाहरण 'गगाया घोष.' दिया है।

(३) **धर्म या गुण लक्षणा**—समान धर्म का होना। जैसे, 'देवदत्त तो शेर है।'

(४) **काल और कर्म लक्षणा**—ये दोनो एक दूसरे के विपरीत है। काल लक्षणा मे कर्म सूचक कोई शब्द काल बतलाता है और कर्म लक्षणा मे काल सूचक शब्द किसी कर्म का निर्देशन करता है। 'गोरज मुहूर्त या शख बेला' मे गोरज के उठने और शख के बजने की क्रिया से सध्या काल का बोध होता है। अत यहाँ काल लक्षणा है। 'आज तो एकादशी है' वाक्य मे एकादशी तिथि (काल) उपवास कर्म की ओर इंगित करती है इससे यहाँ कर्म लक्षणा हुई।

(५) **कार्य या साध्य और करण या साधन लक्षणा**—ये दोनो भी एक दूसरे के विपरीत है। करण या साधन का उल्लेख कर कार्य का साध्य की ओर सकेत करना कार्य लक्षणा है। जैसे, लक्ष्मी पूजन-पूजन के समय चाँदी के रुपये के लिये कोई कहे, 'रुपये की पूजा शुरू करो' तो उसका तात्पर्य लक्ष्मी पूजन से होगा। दूसरी ओर, कार्य या साध्य के उल्लेख से करण या साधन का अर्थ लेना करण लक्षणा है। जैसे, 'घी आयु है।'

(६) **सजातीय लक्षणा**—इसमे सिद्धि की दृष्टि से दो वस्तुओं मे एकता मान ली जाती है। उनमे से एक का प्रयोग दूसरी के लिए हो सकता है। जैसे, लडने

---

१. यदा आंजस्येन शब्दार्थो नाव कल्पते, तदा लक्षणाया पि कल्प्यमान: साधुर्भवति।
— शाबर भाष्य : मीमांसा दर्शनम् : पृ० ९८

२. **डॉ० जी० बी० देवस्थली : मीमांसा — द वाक्य शास्त्र आव एन्शेण्ट इंडिया :** पृ० ८२

जाने वाले किसी भी व्यक्ति को सिपाही कहा जा सकता है भले ही उसके पास सिपाही की वर्दी या शस्त्र न हो और वह किसी के दरवाज़े पर धरना देने ही क्यो न जा रहा हो।

(७) **लिंग लक्षणा**—जहाँ किसी समुदाय मे एक लिंग के व्यक्तियों या वस्तुओ की बहुतायत से भिन्न लिंगी भी उसी लिंग के घोषित कर दिये जाॅय। कभी-कभी ठीक इसका उलटा भी हो जाता है, अर्थात् कुछ के कारण बहुतों का लिंग बदल जाता है। यदि दस आदमियों मे से किसी एक के पास छतरी हो और कह दिया जाय 'वे छतरी वाले लोग' या, कई औरतो के साथ कुछ बच्चे हो और फिर भी कह दिया जाय 'वे औरते जा रही है।'

ध्यान देने की बात है कि मीमासको ने रूढि और व्यजना को नही माना है। रूढि को समुदाय प्रसिद्धि और व्यजना को प्रयोजन के अन्तर्गत ले लिया है।[1]

आलंकारिकों पर जितना प्रभाव वैयाकरणो का पड़ा उतना मीमासको का नही। कुछ विद्वानो का तो यहाँ तक कहना है कि आलंकारिको की शाखा वैयाकरणो की ही एक उपशाखा है। हम देखते है कि स्थान-स्थान पर आलकारिक वैयाकरणो की दुहाई देते है। अतः इस सम्बन्ध मे उनके विचार भी जान लेने आवश्यक है। पतजलि ने मुख्यार्थ और लक्ष्यार्थ के सम्बन्ध को तद्योग कहा है और उसके चार प्रकारो का उल्लेख किया है :—

चतुर्भि प्रकारैस्तास्मिन् 'स' इत्येदत् भवति, तात्स्थ्यात्, तद्धर्म्यात्, तत्समीप्यात्, तत्साहचर्यादिति।[1]

(१) **तत्स्थता**—आधार आधेय सम्बन्ध। जैसे, 'पहाड जलाया जाता है' का अर्थ होगा 'पहाड़ पर के पेड़ जलाए जाते है।'

(२) **तद्धर्मता**—गुणों या क्रिया की समानता से अन्य मे अन्य का आरोप। यह शबर की गौणी लक्षणा है।

(३) **तत्साहचर्य**—दो वस्तुओ के साथ साथ होने के कारण उनमे से एक के कथन से दोनो का बोध होना। जैसे, भालेवालो के स्थान पर भालो को अन्दर भेजने के लिये कह देना। शबर के अनुसार इसे लिगी लक्षणा कह सकते है।

(४) **तत्समीपता**—यह मीमासको की देश लक्षणा है।

गौतम ने न्याय सूत्र मे शब्द शक्ति परीक्षा के प्रकरण मे लक्षणा के कारणो पर

---

१. वही : पृ० ८२

२. कपिल द्विवेदी आचार्य अर्थ विज्ञान और व्याकरण दर्शन · पृ० २५९

और भी विस्तार से विचार किया है। उन्होने अन्य में अन्य के आरोप के दस आधार बतलाए है—

सहचरणस्थानतादर्थ्य वृत्तमानधारण सामीप्ययोगसाधनाधिपत्येभ्यो ब्राह्मणभचकटराजसक्तुचन्दनगंगाशाटकान्नपुरुषेष्वतद्भावे पितदुपचारः[1] ॥[2]

पतंजलि के चार तद्योग छोड़कर शेष इस प्रकार है :—

(५) **मान या परित्राण लक्षणा**—परिमाण का अन्य मे आरोपण। जैसे, एक सेर भर सत्तू के स्थान पर एक सेर सत्तू कहना।

(६) **तादर्थ्य लक्षणा**—यह मीमांसकों की कार्य या साध्य लक्षणा है।

(७) **धारण लक्षणा**—यह लिंगी लक्षणा के अति निकट है। जैसे, चन्दन को धारण करने के कारण 'चन्दन तुला' कह देना। यहाँ पूरी तुला ही चन्दन की हो गई।

(८) **योग लक्षणा**—गुण के योग का गुणी मे आरोप 'काली गाडी' में लकड़ी के काले रग का आरोपण गाडी मे हुआ है।

(९) **साधन लक्षणा**—यह करण लक्षणा है।

(१०) **आधिपत्य**—यह मीमासको की सजातीय लक्षणा है।

इनके अतिरिक्त कुछ अन्य सम्बन्ध निम्न प्रकार के भी हो सकते है :—

(१) **अगांगी भाव**—'हाथ से फूल छुआ या मैंने फूल छुआ' वाक्य का अभीष्ट अर्थ होता है 'मेरी अगुलियो ने फूल छुआ'। इसमे अगुलियाँ, अग, के स्थान पर 'मैं' अगी का प्रयोग हुआ है।

(२) **स्वस्वामी भाव**—सेवक मे स्वामी का भाव। जैसे, जमीदार के कारकुन को नीलामी करवाते देख यह कह देना कि जमीदार ने नीलामी कर दी।

(३) **वैपरीत्य**—मुसलमान बादशाहो की तबियत खराब होने पर लोग उनसे पूछते थे—क्या सरकार के दुश्मनो की तबियत नासाज है। यह अपशकुन निवारण का एक उपाय समझा जाता था।

इस प्रकार ये सम्बन्ध अनेक प्रकार के हो सकते है।

---

१. जयनारायण तर्क पंचानन द्वारा सम्पादित पुस्तक में इस सूत्र की संख्या ६४ दी है और यह भी दिया है कि 'शाटकान्न' के स्थान पर 'शकटान्न' पाठ भी मिलता है : पृ० १२१

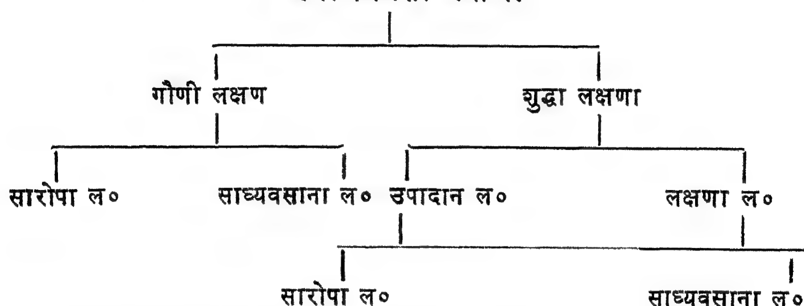
२. गौतम : न्याय दर्शन—वात्स्यायन भाष्य : २, २, ६१

लक्षणा का वर्गीकरण

लक्षणा के केवल दो हेतु होते है—प्रयोजन या रूढि। अतः लक्षणा के मुख्य भेद भी दो ही हुए—(१) रूढि लक्षणा और (२) प्रयोजनवती लक्षणा।

रूढि के उपभेद नही होते। इसके अन्तर्गत परम्परागत मुहावरो और वाक्याशों की गणना होती है।

प्रयोजनवती से तात्पर्य है जिसके पीछे कोई विशेष प्रयोजन हो। इसके उपभेदो का मानचित्र निम्न प्रकार से हो सकता है।



उपर्युक्त वर्गीकरण काव्यप्रकाश के आधार पर है।

गौणी लक्षणा—इसमे केवल गुण साम्य का सम्बन्ध ग्रहण होता है।

शुद्धा लक्षणा—इसके अन्तर्गत अन्य सभी सम्बन्ध आ जाते हैं।

उपादान लक्षणा—लक्षक शब्द का वाच्यार्थ जहाँ लक्ष्यार्थ से अन्वित हो, अर्थात् जहाँ मुख्यार्थ का पूर्ण त्याग न हो। जैसे, 'भाले प्रवेश करते हैं' मे भाले अपना अर्थ पूरी तरह नही छोडते।

लक्षण लक्षणा—इसमे लक्षक शब्द का लक्ष्यार्थ मुख्यार्थ से अन्वित होता है, अर्थात् मुख्यार्थ का पूर्ण त्याग होता है। जैसे, 'गगाया घोष.' मे गगा शब्द अपने मुख्यार्थ को पूरी तरह छोड़कर गगा तट का अर्थ देता है।

सारोपा लक्षणा—जहाँ आरोप्यमाण (विषयी) और आरोप के विषय दोनो की शब्द द्वारा उक्ति हो। जैसे, 'देवदत्त सिह है।'

साध्यवसाना लक्षणा—जहाँ आरोप का विषय लुप्त रहे केवल आरोप्यमाण द्वारा उसका कथन हो। जैसे, 'देखो शेर का बच्चा।'

काव्य प्रकाशकार ने इन छः लक्षणाओ को गूढ व्यग्या और अगूढ व्यग्या मे विभाजित कर कुल बारह भेद किये है। विश्वनाथ ने पदगत और वाक्यगत लक्षणा

भी मानी है। उन्होने कुल भेद ८० किये है।[1] आजकल कुछ विद्वान इसका विरोध करते हैं और लक्षणा के केवल पदगत होने पर ही बल देते हैं।[2] हम विचार करने के पश्चात् इस निष्कर्ष पर पहुँचे है कि संज्ञा की लक्षणा वास्तव मे पदगत ही होती है वाक्यगत नही। यह दूसरी बात है कि एक वाक्य मे दो तीन लाक्षणिक पदो का प्रयोग हो किन्तु उनमे भी हम देखेगे कि चमत्कार उत्पन्न करनेवाला पद वस्तुतः एक ही होता है शेष सांग रूपक की भाँति केवल खानापूरी के लिए आते हैं। प० रामदहिन मिश्र ने वाक्यगत लक्षणा का निम्न उदाहरण दिया है —

सेना छिन्न, प्रयत्न भिन्न कर पा मुराद मनचाही।
कैसे पूजूँ गुमराही को मैं हूँ एक सिपाही॥[3]

मिश्रा जी ने 'मै हूँ एक सिपाही' इस सम्पूर्ण वाक्य मे लक्षणा मानी है। हमारे विचार से केवल 'सिपाही' पद मे लक्षणा है। कष्टसहिष्णुता, कर्तव्यपरायणता आदि लक्ष्यार्थ 'सिपाही' पद के ही है सम्पूर्ण वाक्य के नही। इसी प्रकार दूसरे उदाहरण—

मैने कुछ सुखमय इच्छाएँ चुन लीं सुन्दर शोभावली।
औ उनके सोने चाँदी से भर ली प्रिय प्राणों की डाली॥[4]

मे केवल 'सोने' 'चाँदी' पदो मे लक्षणा प्रधान है। 'प्राणों की डाली की लक्षणा गौण है जो पूर्ण लक्षणाओ पर निर्भर है। इसी प्रकार सस्कृत आचार्यो द्वारा वाक्यगत लक्षणा के अनेक उदाहरण पदगत के ही है।

तब क्या वाक्यगत लक्षणा का कोई क्षेत्र ही नही रहा। आनन्दवर्धन ने लक्षणा-मूलक ध्वनि के अर्थान्तर और अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य दो मुख्य भेद किये है। इनमें से प्रत्येक के पद और वाक्य भेद से दो उपभेद होते है। वाक्यगत लक्षणा न मानने से शुद्ध ध्वनि भेदो की सख्या में से दो कम हो जायेंगे। इस सम्बन्ध मे डॉ० भागीरथ मिश्र का मत है कि क्रिया में आयी लक्षणा वाक्यगत मानी जानी जाहिए,जैसे, मुहावरो मे। कारण स्पष्ट है। क्रिया अकेले कोई अर्थ नही दे सकती। उसके लक्षणार्थ की प्राप्ति के लिए अन्य पद भी उतने ही महत्त्वपूर्ण है। कोई वाक्य बिना समापिका

---

१. विश्वनाथ : साहित्यदर्पण : पृ० ७४
२. डॉ० भोलाशंकर व्यास : ध्वनि सम्प्रदाय और उसके सिद्धान्त : पृ० १३१
३. काव्यालोक, द्वितीय उद्योत . पृ० २२७
४ वही : पृ० २२८
विशेषः—रस-मीमांसा के आधार पर प्रतीत होता है कि आचार्य रामचन्द्र शुक्ल भी विश्वनाथ से सहमत थे। दे०—पृ० ३८०

क्रिया के पूर्ण वाक्य नही बन सकता। अत. क्रिया की लक्षणा सम्पूर्ण वाक्य की ही मानी जानी चाहिए।

अरस्तू द्वारा लक्षणा विचार

ध्वनि के इतिहास मे हम देख आये है कि अरस्तू लाक्षणिक शब्द की सत्ता मानते थे। उनके अनुसार उसका लक्षण है—शब्द के मुख्यार्थ का बदल जाना। मुख्यार्थ और लक्ष्यार्थ का सम्बन्ध चार प्रकार का है.—[1]

(१) जाति से व्यक्तिगत (सामन्य से विशिष्ट),

(२) व्यक्ति से जातिगत (विशिष्ट से सामान्य)

(३) व्यक्ति से व्यक्तिगत (विशिष्ट से विशिष्ट), और

(४) साधर्म्यगत।

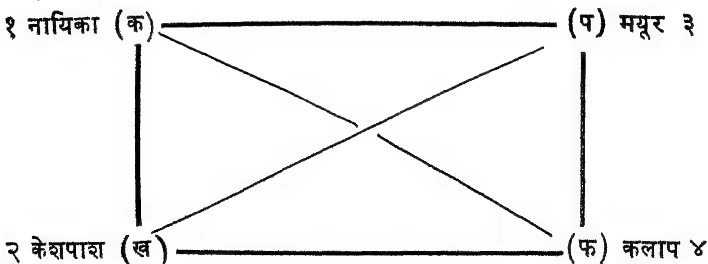
इन चारो के उदाहरण निम्न प्रकार से हो सकते है:—

(१) "बन्दरगाह मे मेरा जहाज खडा है।" खडा होना एक सामान्य क्रिया है। उसके द्वारा जहाज के 'स्थित होने' या 'बाँधे जाने' की विशिष्ट क्रिया का बोध होता है।

(२) "मैने हजार बार मना किया पर वह नही माना।" यहाँ एक निश्चित सख्या हजार, दूसरी अनिश्चित संख्या, 'कई बार' का अर्थ दे रही है।

(३) 'फूल हवा मे झूम रहे है।' हवा में हिलना एक विशिष्ट क्रिया है। इसी प्रकार किसी राग को सुनकर सिर हिलाना भी एक विशिष्ट क्रिया है।

(४) साधर्म्यगत के लिए चार वाचक पद होने चाहिये। उनमे से दूसरे का पहले के साथ वही सम्बन्ध हो जो चौथे का तीसरे से है, ताकि दूसरे के स्थान पर चौथे का और चौथे के स्थान पर दूसरे का प्रयोग हो सके। इसका रेखाचित्र निम्न प्रकार से होगा—



1. A metaphorical word is a word transferred from its proper sense; either from genus to species, or from species to genus, or from one species to another, or, in the way of analogy.
—*Aristotle :* Poetics: P. 40.

अब यदि हम चाहे तो नायिका के कलाप कह सकते है और मयूर के केशपाश। इस प्रकार हमारे कथन मे सौन्दर्य भी आ जायगा और अर्थगत असगति भी नही आएगी। यह सम्बन्ध सभी साधर्म्यगत अलकारो का मूल है।

३

व्यंग्य वस्तु पर विचार—रस, वस्तु और अलंकार

आनन्दवर्धन ने व्यंग्य तत्त्व के आधार पर ध्वनि के तीन भेद किये है—(१) रस-ध्वनि, (२) वस्तु-ध्वनि और (३) अलंकार-ध्वनि।[1] बाद के सभी आचार्य इस विभाजन को इसी रूप मे ग्रहण करते आए है। आधुनिक युग मे मनोविज्ञान का प्रसार होने पर विद्वानो का ध्यान इस विभाजन की असगति की ओर गया। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने सबसे पहले इस पर आपत्ति उठाई। हिन्दी मे ध्वनि प्रतिपादन के प्रसग मे हम बतला आए है कि वे वस्तु व्यजना और भाव-व्यजना को भिन्न भिन्न प्रकार की वृत्तियाँ मानते थे। वे वास्तव मे अलकार व्यजना के पक्ष मे भी नही थे। उन्ही का अनुसरण करते हुए आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र भी अलकार व्यजना को वस्तु व्यजना के अन्तर्गत ले आते है। दोनो का अन्तर बतलाते हुए वे लिखते है—'जहाँ वस्तु व्यजना बतलाए हुए अलकारो के ढाँचे के रूप मे निकलती है वहाँ वस्तु व्यजना न कहलाकर अलकार व्यजना कहलाती है।[2]' दूसरी ओर रस-ध्वनि मे भी व्यजना जिसका बोध कराती है वह वस्तु या तथ्य ही होता है। इस प्रकार उक्त दोनो विद्वानो के अनुसार वस्तु व्यजना ही एक मात्र व्यजना ठहरती है।

आचार्य शुक्ल ने जिस दृष्टिकोण से रस-ध्वनि पर विचार किया है उसकी प्रेरणा सम्भवतः उन्हे साख्यमतानुयायी भट्टनायक से मिली है। उन्होने स्पष्ट घोषणा की है—'रसो न प्रतीयते, नोत्पद्यते, नाभिव्यज्यते।'[3]

एक बात और। शुक्लजी के विचारो की तह में जाने से प्रतीत होता है कि वे परोक्ष रूप से ध्वनिकार के मत—'ध्वनि ही काव्य की आत्मा है'—का ही समर्थन कर रहे है। क्योकि रसानुभूति की स्थिति सामाजिक मे ही होती है, हाँ, उसको सम्भव बनानेवाली वस्तु-ध्वन्यार्थ-काव्य मे होती है।

---

१. **सह्यर्थो वाच्यसामर्थ्याक्षिप्त वस्तुमात्रलकार रसादयश्चेत्यनेकप्रभेदप्रभिन्नौ दर्शयिष्यते।**

—ध्व० लोचन तथा बालप्रिया टीका सहित : पृ० ५०

२. **वांगमय विमर्श : पृ० ११४।**

3. *S. K. De:* Some Problems of Sanskrit Poetics : P. 224

विभाजन की उक्त आलोचना की परीक्षा के लिये हमको यह देखना चाहिये कि ध्वनिकार ने किस दृष्टिकोण से विभाजन किया है।

कुछ विद्वानो ने इस पर ऐतिहासिक दृष्टिकोण से विचार किया है। उनका कहना है कि 'सभी ध्वनिवादी या तो शैवागमी थे या वेदान्ती। इन दोनो दार्शनिको के मनोविज्ञान में अन्तःकरण वृत्तिरूप ही माना गया है, भले ही वह कभी भावात्मक, कभी ज्ञानात्मक अथवा कभी क्रियात्मक हो।[1]

हमारे विचार से एक काव्य सिद्धात पर दर्शन का यह भार व्यर्थ है। स्पष्ट है कि ध्वनिकार भी रसध्वनि को ही सर्वश्रेष्ठ मानते है।[2] फिर अन्य ध्वनियो से युक्त काव्य को भी उत्तम मानने का क्या कारण हो सकता है। आचार्य शुक्ल की आपत्ति को और स्पष्ट समझने के लिये काल मे व्यग्य रस और रसानुभूति को अलग अलग करके देखे तो ज्ञात होगा कि प्रथम मे बुद्धि पक्ष प्रबल है तो द्वितीय मे हृदय या भाव पक्ष। उन्होने रस ध्वनि के प्रसग मे प्रथम को स्वीकार किया है द्वितीय को नहीं जब कि आनन्दवर्धन ने मनोवैज्ञानिक सत्य के आधार पर दोनों को एक करके देखा है। सहृदय मे काव्य के रस पूर्ण स्थलो को पढते हुए व्यग्य रस की ज्ञानात्मक प्रक्रिया और रसानुभूति की भावात्मक प्रक्रिया साथ साथ होती है। इसीलिये ध्वनिकार ने रसोचित सघटना एव वर्णो की व्यवस्था की है। 'सिपाही की बाहे फड़कने लगी' मे भी ओज भाव व्यग्य है किन्तु उसकी उचित अनुभूति 'योद्धा के भुजदण्ड फडक उठे' कहने मे ही होती है। अतः हमारे अनुसार आनन्दवर्धन की धारणा थी कि 'जब व्यग्य अर्थ से भावोद्रेक भी हो तो वह रस-ध्वनि कहलानी चाहिये, भावोद्रेक के अभाव मे वस्तु-ध्वनि और अभिव्यक्ति के विशेष चमत्कार के लक्षित होने पर अलंकार-ध्वनि कहना चाहिये। तीनो ही अवस्थाओ मे व्यग्य अर्थ से वस्तु तथ्य या वृत्त का ही बोध होता है किन्तु उसकी क्षमता को देखते हुए उसे तीन प्रकार का माना गया है। वस्तु-ध्वनि के प्रसग मे मम्मट के कथन से इसकी पुष्टि होती है।[3] जिस वस्तु मात्र से पाठक या श्रोता मे रसोद्रेक भी हो वह रस-ध्वनि और यदि उसमे चारुत्ववर्धक अन्य उपकरण (अलकार) भी दिखाई पडे तो अलकार ध्वनि कहलाएगी।

---

१. रामनरेश वर्मा : वक्रोक्ति और अभिव्यंजना : पृ० १६

२. प्रतीयमानस्य चान्यमेददर्शनेऽपि रसभावमुखेनैवोपलक्षणं प्राधान्यात्।
—ध्व० ल० तथा बाल प्रिया टीका सहित : पृ० ८९।

३. काव्य प्रकाश : पृ० १३५।

रसध्वनि

रस ध्वनि के अन्तर्गत ध्वनिकार ने भाव, तदाभास तथा भाव-शान्ति आदि भी लिया है:—

रसभावतदाभासतत्प्रशान्त्यादिरक्रमः ।[1]

इस प्रकार कुल मिलाकर रस ध्वनि आठ प्रकार—रस, भाव, रसाभास, भावाभास, भाव-शान्ति, भावोदय, भावसधि और भावशवलता—की हो जाती है ।[2]

रसध्वनि—इसके लिये आचार्यो ने भरत के 'विभावानुभाव . .'सूत्र का आश्रय लिया । विभाव आदि से व्यक्त स्थायी भाव 'रस' कहलाता है । ससार मे स्थायी भाव के जो कारण एव सहकारी होते है नाटक या काव्य मे प्रयुक्त होने पर वे ही विभावादि कहलाते है । विभावो से स्थायी भाव उत्पन्न होता है । इसके अन्तर्गत आलम्बन और उद्दीपन दोनो आ जाते है । तत्पश्चात् अनुभावो द्वारा वह प्रतीति के योग्य बनता है और अन्त मे व्यभिचारियो द्वारा पुष्ट होता हुआ रस रूप मे परिणत होता है ।[3] आज भी रस के पूर्ण परिपाक के लिये उक्त सभी उपकरणो की अपेक्षा की जाती है । वस्तुत व्यग्य रस का रसानुभूति से सम्बन्ध जोड देने पर नियम की इतनी कठोरता की आवश्यकता नही रह जाती । रस ध्वनि सिद्धात निरपेक्ष भी हो सकता है इसका विवेचन हम आगे करेगे ।

भावध्वनि—जब स्थायी भावो के स्थान पर व्यभिचारी अथवा देवादि पात्रो के विषय मे रति भाव का व्यक्तीकरण होता है तो भावध्वनि संज्ञा से अभिहित होता है ।[4] मम्मट ने आदि शब्द के अन्तर्गत मुनि, गुरू, नृप और पुत्र को लिया है । साथ ही यह भी स्पष्ट किया कि यही देवादि रति जब कान्ता विषयक होती है तो शृगार रस कहलाती है ।[5] इसके अतिरिक्त भाव ध्वनि मे केवल वे तैतीस सचारी, जो स्थायी भावो से अलग है, ही नही आते अपितु वे स्थायी भाव भी आ जाते है जो उद्बुद्ध मात्र दशा मे है ।[6]

---

१. ध्वन्यालोक, लो० बालप्रिया टीका सहित : ॥२, ३॥

२. इसी सम्बन्ध में देखिये काव्य प्रकाश : ४, २६॥

३. मम्मट : काव्य प्रकाश : ॥४, २७ और २८॥ तथा इन कारिकाओं की वृत्ति ।

४. रतिर्देवादिविषया व्यभिचारी तथाऽजित : ॥४, ३५॥
भाव : प्रोक्तः । —वही—

५. आदि शब्दान्मुनि—गुरु—नृप पुत्रादि विषया, कान्ताविषया तु व्यक्ता शृंगार. ।
—उक्त कारिका की वृत्ति ।

६. गोविन्द त्रिगुणायत शास्त्रीय समीक्षा के सिद्धांत पृ० २०८ ।

रसाभास तथा भावाभास—लोक मर्यादा अथवा शास्त्र मर्यादा का उल्लघन करती हुई रस और भाव ध्वनि ही क्रम से रसाभास तथा भावाभास कहलाती है ।[1] विभावादि मे किसी भी प्रकार का अनौचित्य तदाभास का कारण बनता है । सच तो यह है कि इन दोनो भेदो के मूल में भारतीय संस्कृति काम कर रही है । संस्कृत साहित्य की सामाजिक निष्ठता प्रत्यक्ष है । काव्य का मूल्य उसके आनन्द देने के गुण के आधार पर ही नही आँका जा सकता । वह आनन्द निरपेक्ष उसके वर्णन के औचित्य पर भी निर्भर करता है । रस और भाव तदाभास से इसलिए अलग नही है कि उनसे प्राप्त होनेवाले आनन्द की शक्ति कम है या उनकी स्थिति में किसी प्रकार का सन्देह है । आनन्द की मात्रा दोनो में समान है । दोनो के चर्वणांश मे कोई वैधर्म्य नही है अनुभावाश में 'रजत' और 'शुक्ति रजत' मे कोई भेद नही है । अन्तर यह है केवल औचित्य और अनौचित्य का ।[2]

भाव शान्ति तथा भावोदय—किसी प्रवेग से उठते हुए भाव का शमन भाव शान्ति[3] तथा नये भाव की उत्पत्ति भावोदय है ।[4] दोनो स्थितियो मे दो भाव क्रम से एक दूसरे के पश्चात् आते हैं और दूसरा भाव पहले के शमन होने के पश्चात् ही आता है अथवा यो कहें दूसरे के उदय से पहले की शान्ति हो जाती है । अन्तर केवल यही है कि प्रथम मे भाव की शान्ति आनन्ददायक होती है और द्वितीय मे नवीन भाव का उदय आह्लाद का कारण बनता है ।

भाव-सन्धि—समान वेग वाले दो भावो का एक साथ आना भाव-सन्धि है ।[5] ये भाव एक दूसरे को दबाने की क्षमता तो रखते हो पर ऐसा हो नही । दोनो भावों की परस्पर विरोधी प्रकृति से आश्रय की जिस विलक्षण परिस्थिति का इसमें वर्णन होता है वही हमे आनन्द देता है ।

भावशबलता—दो से अधिक समान चमत्कार विधायक भावों का उदय भावशबलता है ।[6] शृंखलाबद्ध रूप मे भाव एक के बाद एक ऐसे आते है कि उनका

---

१. तदाभासा अनौचित्यप्रवर्तिता: । मम्मट : काव्यप्रकाश : पृ० १२८

२. ध्व० लोचन तथा बालप्रिया टीका सहित : पृ० १७८-१७९

३. भावस्य प्रागुक्तस्वरूपस्य शान्तिर्नाश. पं० जगन्नाथ · रसगंगाधर : पृ० १०२

४. भावोदयो भावस्योत्पत्ति: । वही : पृ० १०३

५. भावसन्धिरन्योन्यानभिभूतयोरन्याभिभावनयोग्ययो: समानाधिकरण्यम् । वही : पृ० १०३

६. भावशबलत्वं भावानां बाध्यबाधकभावमापन्नानामुदासीनानां वा व्यामिश्रणम् । वही : पृ० १०३

एक चमत्कार मिश्रण दिखाई पडता है। आनेवाला प्रत्येक भाव पिछले भाव को मर्दित सा करता प्रतीत होता है।

हिन्दी में रस-ध्वनि का व्यवहार—काव्यशास्त्र मे रस की स्वीकृति भरत के नाट्यशास्त्र मे मिलती है। उनके लिए रस साध्य है शेष सब कुछ साधन। उन्होने नाटक के जितने उपकरणो का उल्लेख किया है सबको प्रत्यक्ष रूप से नाटक की सफलता एव परोक्ष रूप से रस-निष्पत्ति की दृष्टि से परखा है।[1] किन्तु उन्होने केवल दृश्य काव्य[2] पर विचार किया, वह भी सामाजिक के पक्ष से। श्रव्य काव्य मे भी उसकी पूर्ण प्रतिष्ठा थी यह आनन्दवर्धन के पूर्व अन्य किसी अलंकार ग्रन्थ से पता नही लगता। ध्वनि सम्प्रदाय के पूर्व अलकार सम्प्रदाय मिलता है, रीति सम्प्रदाय मिलता है और बीज रूप मे वक्रोक्ति सम्प्रदाय तथा औचित्य सम्प्रदाय भी किन्तु पूरे अधिकार के साथ 'वाक्य रसात्मकं काव्यम्' कहनेवाले विश्वनाथ ही हुए। इसलिए मानना पडेगा कि यद्यपि श्रव्य काव्य मे सरस उक्ति की प्रतिष्ठा थी—भामह के रसादि अलंकार और दण्डी द्वारा अलकारों को रस पर्यवसायी मानना इसी ओर सकेत करता है—[3] किन्तु काव्य शास्त्र मे उसको धीरे धीरे ही सम्मान मिला।

यहाँ पर यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि रस तत्त्व वास्तव में श्रव्य काव्य का अंग समझा जाता था। नाटक में इसके जिन तत्त्वो का समाहार हो सकता है रस उनमे प्रधान है। भरत ने रस सूत्र अभिनेयात्मता की दृष्टि से लिखा। सस्कृत आचार्यों ने श्रव्य काव्य मे भी रस-सिद्धान्त के लक्षण को ज्यों का त्यों ग्रहण करने की बडी भारी भूल की है। रसगगाधरकार तक रसध्वनि का उदाहरण देते समय उन्होने भरत सूत्र का पूर्ण रूपेण पालन किया है। आदि से अन्त तक वह (रसध्वनि) सिद्धान्त सापेक्ष ही बनी रही। किन्तु लक्ष्यग्रन्थो मे स्थिति बिल्कुल दूसरी रही यहाँ केवल हिन्दी साहित्य से उदाहरण लेकर चर्चा करते है।

वीरगाथा काल के पूर्व सिद्धो और नाथो के साहित्य मे धर्म प्रसार का उद्देश्य होने से परिपाक के प्रति उदासीनता दिखाई गई। इसका दूसरा कारण यह भी हो सकता है कि ऐसे साहित्य के रचयिता इस सिद्धान्त से अनभिज्ञ रहे हो। वीरगाथा

---

1. K. C. Pandey . Comparative Aesthetics. Vol. I. P. 21
२. राजशेखर द्वारा रस के अधिकृत विद्वान नन्दिकेश्वर को मानने से तथा भामह आदि द्वारा नाटक के उपकरणों की व्याख्या न करने से अनुमान किया जा सकता है कि दृश्य और श्रव्य काव्य के शास्त्रों को बिल्कुल अलग अलग प्रकार की रचनायें समझा जाता था अलंकार ग्रन्थों में सम्भवतः नाट्यशास्त्र नहीं आता था।
३. कामं सर्वोप्यलंकारो रसमर्थे निषिंचति ।१, ६२।। काव्यादर्श

काल मे चारणो की दृष्टि वीर और शृगार पर केन्द्रित थी। इनका पूर्ण परिपाक उनका प्रधान उद्देश्य भी था फिर भी वर्णन मे किसी प्रकार की नियमबद्धता नही दिखाई पडती। जैसे—

पिघउ दिढ़ सन्नाह, बाह उप्परि पक्खर दई।
बंधु समदि रण धंसेउ साहि हम्मीर बउण लइ॥
उड्डुअ पहपह मयउं खग्ग रिपु-सीसहिं झल्लउं।
पक्खर पक्खर ठेल्लि पेल्लि अप्फालउ॥
हम्मीर कज्ज जज्जल भणइ कोहाणल मह मइ जलउं।
सुलितान—सीस करवाल दइ तज्जि कलेवर दिअ चलऊ॥[1]

इस प्रसग मे केवल विभाव वर्णन से ही रसोद्रेक किया गया है। ओज भाव के अधिकाश प्रसगो मे इसी पद्धति को अपनाया गया है। इस प्रकार की ध्वनि को हम सिद्धान्त निरपेक्ष कहेगे।

भक्तिकाल मे इससे भी अधिक स्वच्छन्दता के दर्शन होते है। अनेक स्थलों पर पूरे के पूरे छन्द या पद मे केवल आलम्बन विभाव या केवल अनुभावों के वर्णन द्वारा रस-व्यजना हुई है। उदाहरणार्थ निम्न पक्तियो मे—

अति व्याकुल भइ गोपिका, ढूँढ़त गिरिधारी
बूझति है बन बेलि कौ, देखे बनवारी
***   *   ***
बार-बार, हा-हा करै कहूँ हौ गिरिधारी।
सूर श्याम कौ नाम लै, लोचन जल ढारी॥

केवल अनुभावो पर ही अधिक आग्रह है। विप्रलम्भ शृगार में बहुधा केवल विरहिणी के अनुभावो का ही वर्णन होता है। इसका कारण कवियों का अज्ञान नही हो सकता। चन्द ने अपने सम्बन्ध मे कहा है—

उक्ति धर्म विलासस्य। राजनीति नवं रसं।
षडभाषा पुराणं च। कुरान कथितं मया॥

और तुलसीदास जी का सस्कृत ज्ञान सर्वविदित ही है। अत. इस सिद्धान्त निरपेक्षता के पीछे उनका भिन्न दृष्टिकोण ही हो सकता है। हमारे विचार से इसका मूलकारण उनकी तीव्र अनुभूति है। चारणो की युद्ध सम्बन्धी अनुभूति इतनी प्रत्यक्ष होती थी कि उनकी वाणी मे स्वभावतः ओज आ जाता था। इसी प्रकार सन्त कवियो की चित्तानवृत्तित स्वरूपानन्द मे इतनी अधिक तन्मय थी कि विभाव अनुभाव

---

१. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : हिन्दी साहित्य का इतिहास : पृ० २५

व्यभिचारी आदि पर क्रम से अलग-अलग दृष्टिपात करने की आवश्यकता ही नही थी ।

एक बात और । मम्मट ने देवादिविषयक रति मे केवल भावध्वनि ही मानी है । इसके आधार पर सम्पूर्ण भक्ति-साहित्य मे रस ध्वनि मानी ही नही जा सकती क्योकि सभी भक्तो की भक्ति देव विषयक है । किन्तु सत्य ठीक इसके विपरीत है । सच पूछिये तो रस का 'तन्मयत्व' गुण भक्ति साहित्य मे ही सर्वाधिक मिलता है । भला —

जोरी लाई रकत कै लेई । गाढ़ि प्रीति नयनन्ह जल मेई ।।
औ मै जानि गीत अस कीन्हा । मकु यह रहै जगत मंह चीन्हा ।।

के लेखक मे रस हीनता कैसे मानी जा सकती है । इसी लिए आगे चलकर भक्ति रस और वात्सल्य रस को भी मान्यता देनी पड़ी । अत. हमे मानना पडेगा कि ऐसी सिद्धान्त-निरपेक्ष ध्वनियो मे भी रसानुभूति होती है ।

हिन्दी मे सिद्धान्त सापेक्ष कविता सबसे अधिक रीतिकाल में हुई । उन पर सम्कृत आचार्यो का पूरा प्रभाव पडा था । उनके बताए लक्षणो को उन्होंने ज्यो का त्यो ग्रहण किया और कभी-कभी तो उदाहरण भी उन्ही के ले लिये । इसके पीछे प्रतिस्पर्धा की भावना काम कर रही थी । उनका उद्देश्य एक ऐसे साहित्य का निर्माण करना था जो अधिक से अधिक शास्त्र सम्मत होने के नाते अन्य शास्त्रीय कलाओ (संगीत, नृत्य) के समकक्ष ठहर सके । उनकी कला की सफलता इसी बात मे समझी जाती थी कि उनके छोटे से छोटे छन्द मे अधिक से अधिक विभावों, अनुभावो एव संचारियो का वर्णन हो ।

आधुनिक युग के कवियो की फिर से इसके प्रति धारणा बदल गई । यद्यपि कुछ अब भी सच्चाई से प्राचीन परिपाटी पर चलते रहे, तथापि अधिकाश ने इसका स्वरूप बदल दिया । इस युग की कुछ धाराओ (प्रगतिवादी, प्रयोगवादी) ने तो इसे मानने से बिल्कुल इन्कार ही कर दिया । इस परिवर्तन और उसमें रस के स्वरूप को परखने के लिये आधुनिक युग की परिस्थितियो को समझना होगा ।

सिद्धान्त की सकुचित सीमा मे घिर कर चलने से छायावाद युग की लगभग सभी कविताओ मे रसाभास और भावाभास दिखाई पड़ेगा । किन्तु इस सत्य की पृष्ठभूमि पर कि सामन्त युग की लोक दृष्टि अब लोकतन्त्रात्मक हो गई है, धर्म दृष्टि वैज्ञानिक दृष्टि मे परिणत हो गई है और उनके साथ ही समाज और व्यक्ति की औचित्य-अनौचित्य विषयक धारणा भी बदल गई है तो उन्ही कविताओ मे रस और भाव की प्रतीति होने लगती है । यहाँ तक कि उनके विपरीत लिखी जाने वाली

कविताओं मे रसाभास दिखाई देता है । उदाहरणार्थ कली और पवन की रति-क्रीडा आज की दृष्टि से रसानुभूति गुण से युक्त मानी जायगी और कवि की अपनी रति-क्रीडा का वर्णन रसाभास के अन्तर्गत आएगा ।[१] साराश यह कि रस आज की कविता मे भी है क्योकि वह तो उसका शाश्वत तत्व है किन्तु उसका स्वरूप बदल गया है ।

आधुनिक युग में काव्यात्मा का स्वरूप—इस युग के हिन्दी साहित्य पर पश्चिमी साहित्य और सैद्धान्तिक मनोविज्ञान ने बहुत प्रभाव डाला है । एक प्रकार से उसकी दिशा ही मोड दी है । एक ओर पाठक उससे 'कान्ता सम्मित' उपदेश के स्थान पर 'जीवन की व्याख्या' की अपेक्षा करने लग गया है दूसरी ओर वह स्वय अनुभव करने लग गया है कि अब वह राजा के दरबार मे नही मानवता के दरबार में है । उसका कर्तव्य युग चेतना को स्वर देना है ।[२] जीवन के मूल्याकन मे उसका अधिक विश्वास है । वह मात्र कल्पना पर ही निर्भर नही रहता वरन् मुख्य रूप से जीवन की उन अनुभूतियो पर आश्रित है जो कल्पना का भी आधार है ।[३] तात्पर्य यह है कि आज की काव्य की आत्मा जीवन की अनुभूतियाँ है । अनेक प्रकार की त्रुटियो के रहते हुए भी मात्र इसी गुण के बल पर कविता ऊँची उठ सकती है ।

प्रश्न उठता है कि इन जीवन की अनुभूतियो के अभिव्यक्तीकरण का उद्देश्य क्या है ? इसके उत्तर मे कवियो के दो वर्ग हो जाते है । एक के अनुसार साहित्य का उद्देश्य समाज के अनुशासन के बाहर स्वच्छन्द मानव स्वभाव मे, उसकी मुक्ति को अक्षुण्ण रखते हुए, समाज के लिए अनुकूलता उत्पन्न करता है ।[४] इस वर्ग के समर्थको मे अधिकाश कवि और आलोचक आ जाते है । दूसरा वर्ग केवल अभिव्यक्ति के लिए अभिव्यक्ति करता हैं । इसमे उत्तर आधुनिक काल के कुछ कवि—और उनमे से जो आलोचक भी है—आते है ।[५] बिहार के नकेनवादियो को इसी कोटि मे रखा जा सकता है । श्री केसरी कुमार ने अपने वाद की विज्ञप्ति मे मे लिखा—"इस प्रकार हिन्दी कविता की वह धारा आगे बढी जो नि.सकोच होकर प्रयोग को ही अपना साध्य मानती है ।[६]

---

१. डॉ० शम्भूनाथ सिंह : छायावाद युग : पृ० २३९
२. आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी : साहित्य का मर्म : पृ० ११
३. गोपाल शरण सिंह : आधुनिक कवि (आत्मकथन) पृ० १४
४. महादेवी वर्मा : क्षणदा . पृ० १२२
५. पूर्व युगों में रीतिकाल पर कला कला के लिये सिद्धान्त सर्वाधिक लागू होता हैं।
६. विश्वम्भर मानव : नयी कविता : पृ० १७५

पहले वर्ग के कवियो के अभिव्यक्ति के प्रकार को देखते हुए दो उपवर्ग हो जाते है। एक अध्यात्मवादी दृष्टिकोण रखने के कारण अध्यात्म प्रतीको का सहारा लेता है, जैसे—प्रसाद और महादेवी। दूसरा ससार के ही सुख दु ख को अपनाता हुआ लौकिक प्रतीको तथा उपमानो द्वारा अभिव्यक्ति करता है,[1] जैसे—पन्त, दिनकर और बच्चन। जिस प्रकार आनन्दवर्धन और उनके अनुयायियो ने रस को ही काव्यात्मा माना उसी प्रकार वह वर्ग जीवनानुभूति को ही साहित्य की सबसे प्रचण्ड और अद्भुत शक्ति मानता है जिसके आलोक मे पडकर वस्तु आदर्श और आदर्श सत्य हो जाता है।[2]

इस अनुभूति का स्वरूप क्या है ?

जीवन के सघर्षो मे कुछ ऐसे लक्ष भी आते है जब कवि जीवन की गति,[3] जीवन की समग्रता का अनुभव करता है।[4] अपने व्यक्तित्व को उदय के पूर्व की आत्मा की स्वकीय और सरलतम अवस्था को पहिचानता है।[5] जीवन के इन पवित्रतम एव पूर्णतम क्षणो मे कवि को जो अनुभव होते है वे लौकिक और अलौकिक दोनो ही होते है। उन्ही को अभिव्यक्ति देना आज का कवि अपना साध्य मानता है।

आलोच्य काल का कवि सच्चे अँर्थो मे स्वय को समाज का प्रतिनिधि समझता है। वह अत्यन्त जागरुक होकर समाज की नई प्रवृत्तियो, समय की नयी गन्ध को मुखरित करने का प्रयास करता है। उसकी कवितायें यदि एक ओर उसके अह भाव से प्रेरित है[6] तो दूसरी ओर अन्तर्जागरण और सर्वोदय के उद्‌बोध की अभिव्यक्ति भी है।[7] 'हम' मे 'मै' और 'मै' मे 'हम' का जितना सुन्दर समन्वय इस युग मे हुआ है उतना शायद ही किसी दूसरे युग में हुआ हो। बाह्य परिस्थतियो से बदला हुआ कवि का रूप जब सामने आता है तो समष्टि का चित्र प्रस्तुत होता है, जब कवि द्वारा बदली हुई परिस्थियियो का रूप सामने आता है तो यह व्यष्टि का चित्र होता है।[8] इस प्रकार कवि और समाज का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध ही आज की कविता मे विशेष दिखाई पड़ता है।

---

१. रामधारी सिंह दिनकर : रसवती : पृ० २
२. वही : पृ० ४
३. डॉ० रामकुमार वर्मा . अधुनिक कवि (मेरा दृष्टिकोण) : पृ०१
४ महादेवी वर्मा : क्षणदा : पृ० ११७
५. डॉ० हरद्वारी लाल शर्मा : साहित्य और कला : पृ० १८
६. प्रतापनारायण टण्डन : हिन्दी साहित्य का पिछला दशक . पृ० ३७
७, शान्तिप्रिय द्विवेदी . साकल्य : पृ० १७४
८. धर्मवीर भारती : प्रगतिवाद—एक समीक्षा : पृ० १४०

जीवन की अनुभूति और रस—अब हमको यह देखना है कि आधुनिक कवि-आलोचक जिस जीवनानुभूति, आत्मानुभूति या रसानुभूनि की चर्चा करते है और जिसके आगे रस, अलकार किसी की भी गणना नही करते उसका रस से क्या सम्बन्ध है? और क्या वास्तव मे यह कोई ऐसा तत्त्व हे जो प्राचीन साहित्यशास्त्रियो को ज्ञात नही था।

हमारे विचार से यह स्थायी अथवा सचारी भाव का ही दूसरा नाम है। आज की परिस्थितियो मे ढलनेवाले और पश्चिम के अनेक वादो से ग्रस्त कवि ने सचारी भावो पर अधिक बल दिया है। वह या तो छोटे छोटे गीत लिखता है जिनमे विशेष रूप से उसके निजी जीवन की खण्डानुभूति को अभिव्यक्ति मिलती है। आलोच्य युग के प्रबन्ध काव्यो मे भी स्थान पर इस प्रकार के स्वतत्र गीतो की नियोजना मिलती है। काव्य मे कुल मिलाकर कवि आत्मभाव पर ही अधिक बल देता प्रतीत होता है। इस माने मे वह उन प्राचीन कवियो की श्रेणी से अलग हो जाता है जो तटस्थ रहकर निर्वैयक्तिक भावो का चित्रण किया करते थे। आधुनिक युग के पूर्व केवल भक्तिकाल की कवितायें ही आत्मपरक कही जा सकती है।

यहाँ पर यह भ्रम नही होना चाहिये कि क्लासिकल कवि अपनी अनुभूति की ओर बिल्कुल ध्यान नही देते थे। या उनकी सब अनुभूतियाँ उधार माँगकर लाई गई थी। अपने शोक को श्लोक मे परिवर्तित करनेवाले आदि कवि बाल्मीकि और स्वान्त. सुखाय लिखनेवाले तुलसीदास के काव्य मे रस आरोपित हो सकता है यह किसी भी मूल्य पर नही कहा जा सकता। हम केवल इतना ही कहेगे कि उन्होने लोक कल्याणार्थ 'स्व' का निर्गलन 'सर्व' मे कर दिया था। और आधुनिक कवि अपने अह की प्रेरणा से 'स्व' को ही सब कुछ समझ बैठा है। इसकी प्रेरणा उसे पश्चिम के अध्यात्मवादी आलोचको से मिली, यद्यपि इसी का निखरा हुआ रूप उसे यहाँ भी मिल सकता था।

आधुनिक युग की इस नई प्रवृत्ति को देखते हुए आज के साहित्यशास्त्री कविता के दो प्रकार मानने लग गए है—(१) विषय प्रधान अथवा भौतिक कविता और (२) भावात्मक, व्यक्तित्व प्रधान अथवा आत्माभिव्यजक कविता।[१] पहले प्रकार का कवि (क्लासिकल) अपनी अन्तरात्मा से बाहर जाकर सासारिक कृत्यो और रागो मे पैठता हे और जो कुछ ढूँढ निकालता है उसका वर्णन करता है। दूसरे प्रकार का कवि (आधुनिक) अपनी अन्तरात्मा मे ही प्रवेश कर अपने अनुभवो तथा भावनाओ से प्रेरित होता है। डॉ० भगीरथ मिश्र ने 'हिन्दी काव्य शास्त्र का इतिहास' में दोनो युगो के कवियो की भावनाओ के उत्स पर विचार किया है।

१. श्यामसुन्दर दास : साहित्यालोचन : पृ० ११३।

कवि जयशंकर प्रसाद की काव्य की परिभाषा की आलोचना करते हुए उन्होने लिखा है, 'आत्मा की अनुभूति पर भी आक्षेप किया जा सकता है। अनुभूति का सम्बन्ध हृदय या शरीर से ही हो सकता है,[1] आत्मा की अनुभूति कैसी ? इस शंका का समाधान हम यो कर सकते है कि काव्य की अनुभूति आनदमयी ही है, साधारण अर्थ मे अनुभूति दुखमयी और सुखमयी भी होती है, पर आत्मा का अनुभव आनन्दमय ही है। इसीलिए आत्मा की अनुभूति रसात्मक अनुभूति का अर्थ देती है।'[2] दूसरी ओर जब रस के स्वरूप पर विचार करते है तो वहाँ भी सभी रसो से प्राप्त अनुभूति आनन्दमय ही है। रस से यह सिद्ध हो जाता है कि आलोच्य काल की 'स्वानुभूति' या 'जीवनानुभूति' 'रस' ही है और इसको काव्य की आत्मा माननेवाले कवि भी प्रकारान्तर से रस सम्प्रदाय के ही अनुयायी है।

उपसंहार—उक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि आधुनिक कविताओ का भी रस-सिद्धान्त के मापदण्ड से मूल्याकन हो सकता है। आवश्यकता है नई परिस्थितियों के अनुकूल उसकी परिभाषा को व्यापक बनाने की और उसके मूल रूप के विश्लेषण की। रस का मूल गुण है सामाजिक को आनन्दावस्था में पहुँचा देना। इस अवस्था का सीधा सम्बन्ध आत्मा से है। आत्मा के नाम पर नाक भौं सिकोड़ने-वाले लोगो के लिये हम 'तन्मयत्वम्' शब्द का प्रयोग करते है। काव्य के दर्शन श्रवण अथवा पठन से चेतन मन मे जब क्षण भर के लिए अन्य सभी वृत्तियाँ शात होकर अभीष्ट भावो का प्रसार हो तो वही 'तन्मयत्वम्' अथवा 'रसानुभूति' की दशा है। सामाजिक की यह स्थिति चाहे विभाव अनुभाव और सचारी के योग से उत्पन्न हो चाहे जीवन के विभिन्न और कभी कभी विरोधी उद्‌गारो मे सामजस्य स्थापित करने से।[3] इसके अतिरिक्त हमे यह भी ध्यान रखना चाहिये कि रसानुभूति का सम्बन्ध केवल भाव प्रवणता से ही नही विचार प्रवणता से भी है। आज इस दूसरी प्रकार की रसानुभूति के ही अधिक दर्शन होते है जिस पर अधिक प्रकाश हम वस्तु-ध्वनि के प्रसग मे डालेंगे।

रसो की सख्या पर विचार किये बिना यह प्रसग पूरा नही होगा। भरत ने केवल आठ रस माने। क्यो ? भरत के सामने अभिनय की समस्या थी। उन्होंने अपने ग्रन्थ का नाम 'नाट्यशास्त्र' रखा 'अलकार-शास्त्र' या केवल 'काव्य शास्त्र'

---

१. यहाँ पर श्री मिश्रजी रिचर्ड्स इत्यादि उन आलोचकों के निकट आ गए प्रतीत होते है जो सब प्रकार की अनुभूतियों को शरीर के सूक्ष्म तंतुओं में विकार मात्र समझते है।

२. डॉ० भगीरथ मिश्र : हिन्दी काव्य शास्त्र का इतिहास : पृ० ३६९।

३. डॉ० हरद्वारीलाल शर्मा : साहित्य और कला : पृ० १३८

नही रखा । उनके सिद्धात नाटक पर जितनी अच्छी तरह घटते है उतने काव्य के अन्य अगो पर नही । उन्होने नवाँ स्थायी भाव 'शम' नही माना क्योकि नाटक की कार्य भूमि पर उसका प्रदर्शन अत्यन्त कठिन था । दर्शक को भी उसमे किसी प्रकार की रुचि नही हो सकती थी । भरत के बाद समय समय पर भावों की सख्या मे वृद्धि होती गई ।[1] इनमे से कुछ नाम मात्र गिनाने के लिए है किन्तु कुछ का आविर्भाव वास्तव मे जीवन की नवीन परिस्थितियो मे हुआ है । उनके अस्तित्व मे किसी प्रकार का सन्देह नही किया जा सकता, जैसे—भारतेन्दु-युग मे देश-प्रेम, राष्ट्रप्रेम आदि का उदय । लक्ष्यग्रन्थों को देखते हुए एक और नवीन सत्य भी सामने आता है । रस परिगणित स्थायी भावों पर ही क्यो आश्रित रहे ? कवि किसी भी भाव के वर्णन से सामाजिक मे अपनी अनुभूति जगा सकता है । यदि सामाजिक उसमे मग्न हो सका तो कवि कर्म सफल माना जायगा । साराश यह कि रस एक अत्यन्त व्यापक तत्त्व है । उसका सीधा सम्बन्ध कवि की अनुभूति से है न कि किसी विशेष वर्ग की अभिव्यक्ति से ।

वस्तु-ध्वनि

संस्कृत के आचार्यो ने वस्तु-ध्वनि पर इतना विचार नही किया है जितना कि रस-ध्वनि पर । वस्तु जैसे व्यापक तत्व का केवल नामकरण करके छोड दिया है । आनन्दवर्धन से वस्तु की विस्तृत व्याख्या की अपेक्षा नही की जा सकती थी किन्तु विस्तारप्रिय पडितराज जगन्नाथ ने भी उस पर अपनी मर्मभेदिनी दृष्टि नही डाली इस पर आश्चर्य होता है । उस युग मे काव्य की आत्मा सम्बन्धी विचार रस के चारो ओर ही घूमते रहे । काव्यशास्त्रियो की दीर्घ परम्परा रस प्रक्रिया की व्याख्या करने मे ही समाप्त हो गई । हम यहाँ व्यग्य के भेदो का व्यंग्य वस्तु के आधार पर भी अध्ययन कर रहे है अतः विशाल वस्तु साम्राज्य की भिन्न-भिन्न प्रकृति के अनुसार वस्तु-ध्वनि के उपभेद करने की आवश्यकता भी हो गई है । वस्तु-ध्वनि के सभी भेद अभिव्यक्ति की प्रक्रिया मे समान है ससार (बाह्य और आभ्यन्तर) मे उनका स्वरूप भिन्न होने के कारण ही उन्हे अलग-अलग रखा गया है ।

रस-ध्वनि के विवेचन मे हम बता आए है कि रस-निष्पत्ति व्यजना से एकदम भिन्न प्रक्रिया होते हुए भी रस-ध्वनि के अन्तर्गत क्यों मानी गई है । वस्तु-ध्वनि के उपभेद विवेचन मे भी हमने वही सिद्धान्त अपनाया है । सस्कृत आचार्यो द्वारा दिये गए वस्तु-ध्वनि के लक्षण और उदाहरणो को देखते हुए तथा आज की कविता पर विचार करते हुए वस्तु मोटे तौर पर दो प्रकार की—(१) विचारात्मक और

---

१. डॉ० भगीरथ मिश्र : हिन्दी काव्य शास्त्र का इतिहास : पृ० १०१ और ३५६

(२) चित्रात्मक जिसका सम्बन्ध बिम्ब से है—प्रधान है ।[1] पहली का सम्बन्ध अन्तर्जगत से और दूसरी का बाह्यजगत् से है । पहली में प्रधानतः हृदय और दूसरी मे मुख्यतः बुद्धि रमण करती है । हृदय को रजित करनेवाला अर्थ और बुद्धि को प्रेरित करनेवाला अर्थ एक ही कोटि मे नही रखे जा सकते । दोनों का प्रभाव भी भिन्न है जो कवि को भिन्न दृष्टिकोण से परिचालित करता है । दोनों को वस्तु के अन्तर्गत इसी लिए रखा गया है क्योकि वस्तु की व्यापक सीमा में दोनो समा जाते है । उसमे रस और भाव भी आ जाते है किन्तु वे अपने स्वभाव और प्रभाव दोनो मे इतने भिन्न हैं कि उन्हें अलग करना ही पड़ता है । आचार्य शुक्ल ने वस्तु के लिये तथ्य या वृत्त का प्रयोग किया है ।[2] इसका कारण सम्भवत. यही है कि वस्तु-ध्वनि के प्राचीन उदाहरणो को देखते हुए उनके व्यग्यार्थ मे कोई गम्भीरता नही प्रतीत होती जब कि आज के कवि इस गम्भीरता को ही विशेष लक्ष्य बनाते है । अतएव हमारी सम्मति है कि जब व्यग्यार्थ के वर्ग निर्धारित किये जॉय तो उसके हृदय या बुद्धि के सम्बन्ध को पहले देख लें । यह सम्भव नही कि चित्रात्मक ध्वनि मे बुद्धि का योग और विचारात्मक मे हृदय का बिल्कुल योग न हो । सम्वेदना (sensation) सूक्ष्म से सूक्ष्म रूप मे भी बुद्धितत्व से मुक्त नही हो पाती । प्रत्येक अनुभूति (experience) अपने सूक्ष्म रूप मे भाव बोध (perception) प्रक्रिया मे ही अवतरित होती है । यह बोध एक बौद्धिक क्रिया है, एक अर्थ देने की गतिविधि है, जो तार्किक है, व्याख्यात्मक है, आलोचना प्रधान है ।[3] अत: यह विभाजक रेखा दोनो मे से एक की अधिकता है दूसरे का अभाव नही ।

विचारात्मक ध्वनि—वस्तु-ध्वनि के एक सिरे पर भाव और दूसरे सिरे पर विचार है । बीच में तथ्य-ध्वनि है । हृदय का क्षणिक रजन करना और बात है रस मे बोर देना दूसरी । इसी प्रकार थके मन का बहलना और विचार करने पर बाध्य होना अलग-अलग बाते है । किसी परकीया का यह कथन—हे पण्डित जी, अब आप बेधड़क होकर इधर घूमने आइए क्योकि वह कुत्ता जो आपको तंग करता था और जिससे आप बहुत डरते थे, पास में ही गोदावरी के किनारे कुज मे रहनेवाले एक मस्त शेर द्वारा मारा गया है[4] और उसका यह व्यग्यार्थ निकालना कि पंडित जी अब कभी इधर मत आइयेगा, निस्सन्देह निम्न कोटि (आज की दृष्टि से) की बौद्धिक क्रिया है । इसकी तुलना आधुनिक कवियो द्वारा मानवता को दिये गए सन्देश और

१. बिम्ब से हमारा तात्पर्य केवल imagery से है न कि imagisam से ।
२. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : चिन्तामणि भाग २, पृ० १६३
३. लक्ष्मीकान्त वर्मा : नयी कविता के प्रतिमान : पृ० ६९
४. आनन्दवर्धन : ध्व० लोचन तथा बालप्रिया टीका सहित : पृ० ५२

समाज पर किये गए व्यग्य से नही हो सकती। पन्त के 'पतझर' से उदाहरण द्रष्टव्य है—

द्रुत करो जगत् के जीर्ण पत्र।
हे स्रस्त-ध्वस्त ! हे शुष्क शीर्ण !
हिमताप-पीत, मधुवात-भीत,
तुम वीत-राग, जड़, पुराचीन !।[१]

इसमे समाज की उन रूढियो को समाप्त कर देने की ओर संकेत है जिनसे अब मानवता के कल्याण की अपेक्षा अकल्याण ही हो रहा है। यह एक विचारक मस्तिष्क की उपज है भावुक हृदय की नही।

प्राचीन आचार्यो ने कवि को भविष्य का द्रष्टा और स्रष्टा कहा है किन्तु उसका यह रूप इसी युग मे सर्वाधिक निखरा है। उसकी व्यापक दृष्टि धर्म, विज्ञान, राजनीति, नीति सब क्षेत्रो से बल ग्रहण करती हुई भविष्य के अन्धकार को भेद रही है। मनोवैज्ञानिक विश्लेषण की बढती हुई प्रवृत्ति के कारण साहित्य धीरे धीरे भावना पक्ष से हटकर बुद्धि पक्ष की ओर बढ रहा है।[२] उसे बढना ही होगा। यह युग व्यक्ति और समाज, बुद्धि और कल्पना, राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय भावना के सामजस्य का है।[३] इन सबके बीच कवि का मार्ग दर्शन करनेवाला एक मात्र तत्त्व बुद्धि है। उसे पग पग उसका मुँह ताकना पडता है। कवि स्वय यह अनुभव कर रहे है, 'विचार और कला की तुलना मे इस युग मे विचारो को ही प्राधान्य मिलना चाहिये। जिस युग मे विचार (idea) का स्वरूप परिपक्व और स्पष्ट हो जाता है उस युग मे कला का अधिक प्रयोग किया जा सकता है।[४] 'तात्पर्य यह है कि आज कवि कला का उपयोग विचारोद्बोधन के लिये करता है। उसकी दृष्टि मे मात्र तीव्र विचार की कविता भी हो सकती है।[५] यह बात दूसरी है कि विचारोद्बोधन के लिये कवि जिस आधार को चुने उससे मन (mind) की अन्य वृत्तियो का भी रंजन हो। देखना यह है कि कवि का उद्देश्य क्या है।

कविता शुष्क उपदेश नही है। उसका सत्य कही भाव के मनोहारी आवरण मे लिपटकर प्रतिभासित होता है तो कही दृश्य के रगो में चमक जाता है। आलोच्य काल मे प्रकृति वर्णन काव्य का महत्त्वपूर्ण क्षेत्र रहा है। सस्कृत साहित्य मे भी प्रकृति

---

१ सुमित्रानन्दन पंत : युगान्त : पृ० १५
२. यज्ञदत्त शर्मा : आलोचना के सिद्धान्त : पृ० २०
३. डॉ० हरदेव बाहरी : हिन्दी की काव्य शैलियों का विकास : पृ० २३७
४. सुमित्रानन्दन पन्त : आधुनिक कवि की भूमिका : पृ० ३३
५. गजानन मुक्तिबोध : तार सप्तक : पृ० ११

ालम्बन रूप वर्णित हुआ है और आनुधिक साहित्य मे भी उसका सश्लिष्ट
ग मिलता है। प्रकृति के माध्यम से उपदेश देने की परम्परा बहुत पहले से चली
ही है किन्तु बहुधा उसमे प्रकृति-सौन्दर्य नष्ट हो जाता है। इस युग की कविता
वशेषता यही है कि उसने प्रकृति के सौन्दर्य को अक्षुण्ण रखते हुए सत्य की
व्यक्ति की है। उदाहरणार्थ सोनजुही के निम्न चित्र को लें—

एक टॉग पर उचक खड़ी हो,
मुग्धा वय से अधिक बड़ी हो
पैर उठा, कृश पिंडुली पर धर,
घुटना मोड़, चित्र बन सुन्दर
पल्लव देही से मृदु मांसल
खिसका धूप छॉह का ऑचल
पंख सीप के खोल पवन मे
वन की हरी परी ऑगन में
उठ अंगूठे के बल ऊपर
उड़ने को अब छूने अम्बर।
सोनजुही की बेल हठीली
लटकी सधी अधर पर।[1]

कठोर अलकारवादी सम्भवत: इसे समासोक्ति के अन्तर्गत ले आने का प्रयत्न
किन्तु इसमे धरती की जीवनी शक्ति से प्रेरणा लेकर नवीन मानव सस्कृति
कसित एव ऊर्ध्वमुखी होने की जो कल्पना है, वह हमारी समस्त बुद्धि को
ोर देती है। केवल साम्य के आधार पर इसे समासोक्ति कहना ठीक नही।
ग्लंकार मे कोई उपदेश या पिष्टपेषित परम्परा का समर्थन होता है। उसका
स्थानो पर उपयोग सम्भव नही और उसमे हमारा ध्यान प्रस्तुत और अप्रस्तुत दोनो
ामान रूप से होता है। उपर्युक्त उदाहरण मे प्रथम पाठक कवि के सूक्ष्म वर्णन
ाता है। बाद मे जब कवि का ध्यान सोनजुही विषय को चुनने और उसके
ष्ट वर्णन की ओर जाता है तब उसके मस्तिष्क मे केवल नव मानव सस्कृति
ाती है। उसके पहले तक केवल सोनजुही थी। विचारात्मक वस्तु ध्वनि की
विशेषता है।

विषय की स्पष्टता के लिए हमने केवल दो उदाहरण दिये। विचार ध्वनि
अनेक प्रकार से सम्भव है। यह युग साहित्य की बहिर्मुखी प्रवृत्ति का है।
त्य निर्माण मे सस्कृति, व्यक्ति और कला के उपादान तो बहुत पहले से चले

---

[1] सुमित्रानन्दन पन्त : चिदम्बरा : पृ० २९६

आ रहे थे राजनीति का तत्त्व नया ही जुड़ा है ।[1] राजनीति अपने समय का इतिहास लेकर चलती है और बनाती भी चलती है । वह बहिर्मुख है और अपनी व्यापकता मे समस्त निर्माण कार्य—साहित्य भी—को घेर लेती है । उसने सस्कृति की प्राचीन मान्यताओ, परम्पराओ को झकझोर दिया है । उनमे से बहुत सी नष्ट हो गई है कुछ नाशोन्मुख है । उनके स्थान पर जो नये अकुर फूट रहे है वे विचार के है । उनसे सम्बन्ध रखनेवाली ध्वनि निश्चय ही वस्तु रूप होती हुई वस्तु मात्र से भिन्न है । दोनो युगो के साहित्य को साथ साथ रखने से स्पष्ट हो जाता है कि साहित्य का बौद्धिक पक्ष कितना प्रबल हो गया है । कुछ कृतियो मे तो मनोवैज्ञानिक विश्लेषण ही प्रधान लक्ष्य बन गया है ।[2]

इसके साथ ही हम कृतियो के उस पक्ष को भी ले जिसके आधार पर सम्पूर्ण कृति को पढ लेने के पश्चात् साहित्यकार की विषय की पकड (approach) और प्रतिपादन (treatment) मे अन्तर किया जाता है । यह एप्रोच और ट्रीटमेट दो कवियो का और विकासशील कवि की दो युगो की कविताओ का कभी एक सा नही होता है । प्रबन्ध गत-ध्वनि से यह कुछ भिन्न है । प्रबन्धगत-ध्वनि में कवि एक भाव या विचार (सिद्धान्त) स्थिर कर लेला है । रचना मे उसी की अभिव्यक्ति, व्याख्या या प्रतिपादन होता है । किन्तु हम जिस ध्वनि की ओर सकेत कर रहे है उसका सम्बन्ध विषय प्रतिपादन के ढग से अधिक है । जैसे, 'वीणा' संग्रह मे आई 'छाया' और 'पल्लव' संग्रह की 'छाया' कविताओं को पढ लेने पर कोई भी इस निष्कर्ष पर पहुँच सकता है कि प्रथम मे कवि 'भावुक' अधिक है और दूसरी मे 'काल्पनिक' अधिक । इसी प्रकार ग्राम्या मे 'स्त्री' कविता पढने से लगता है जैसे कवि ने नारी को 'चिन्तन' की भूमि मान लिया है । वह न भावुक है, न काल्पनिक, केवल चिन्तक है । इस ध्वनि को किसी अन्य सज्ञा के अभाव मे 'विशिष्ट प्रबन्धगत-ध्वनि' कहकर ही सन्तोष करेगे । उक्त विवेचन सिद्ध कर देता है कि नये साहित्य की परख के लिये कुछ ऐसे मानदण्ड भी स्वीकर करने पडेगे जो नये युग मे ही विकसित हुए है, मुख्य रूप से उसी की देन है ।

चित्रात्मक वस्तु-ध्वनि—वस्तु-ध्वनि का दूसरा भेद चित्रात्मक । इसके भी मुख्य मुख्य चार उपभेद किये जा सकते है—

(१) पदार्थ (२) रूप-गुण (३) घटना और (४) व्यापार ।

पदार्थ के अन्तर्गत हमने वस्तुओं का आकार, घनत्व और शून्य को घेरने की प्रकृति को लिया है, जैसे—वृक्ष,पुष्प, पर्वत ।

---

१. **शान्तिप्रिय द्विवेदी : सामयिकी : पृ० ९९**

२. **कृष्णानन्द पन्त-यज्ञदत शर्मा : आलोचना के सिद्धान्त : पृ० २०**

रूप मे वस्तु के चक्षु, कर्ण आदि ज्ञानेन्द्रियो को स्पर्श करने के गुण लिये गये है। किसी चित्र का सम्बन्ध इनमे से किसी एक सवेदना अथवा सभी सवेदनाओं से हो सकता है।

घटना का सम्बन्ध किसी घटित हो गये व्यापार की सूचना से है और व्यापार का उसकी घटित हो रही स्थिति—क्रिया—से है। प्रथम के अन्तर्गत आचार्य शुक्ल का तथ्य—ध्वन्यालोक का 'भ्रम धार्मिक··· ' उदाहरण—आएगा और द्वितीय मे नृत्य तथा इसी प्रकार के अन्य गतिमान व्यापारो को ले सकते है।

चित्र काव्य और चित्रात्मक वस्तु ध्वनि का भेद—घटना को छोडकर शेष तीनों का चित्र काव्य से अन्तर स्थापित करने की आवश्यकता प्रतीत होती है क्योकि दोनों को एक समझने का भ्रम हो सकता है। आनन्दवर्धन ने चित्र काव्य के दो भेद किये—शब्द चित्र और अर्थ चित्र।[1] शब्द चित्र के लक्षण और उदाहरणो को देखकर कहा जा सकता है कि इसके अन्तर्गत उन्होने शब्दालकार की छटा दिखानेवाले प्रसगो को ही लिया, जिनमे कवि का एक मात्र उद्देश्य भाषा चमत्कार दिखाना होता है। अर्थ चित्र के लक्षण मे उन्होने लिखा कि ये 'व्यग्य सस्पर्श रहित, रसादि तात्पर्य से शून्य प्रधान वाक्यार्थ रूप से स्थित उत्प्रेक्षा आदि' होते है।[2] यहाँ उत्प्रेक्षा का उल्लेख महत्त्वपूर्ण है। हमारे विचार से ध्वनिकार का तात्पर्य उन अर्थालकारो से है जिनमे यथा तथ्य का ग्रहण कम या नही के बराबर और कल्पना की उडान इतनी अधिक होती है कि उससे रागात्मक या बौद्धिक किन्ही भी वृत्तियो का परिष्कार नही होता।[3] पन्त की 'स्याही की बूंद'[4] कविता उदाहरणस्वरूप प्रस्तुत की जा सकती है। मम्मट ने भी अर्थचित्र का जो उदाहरण दिया है उसमे अलकारो की छटा ही अधिक है।[5] चित्र काव्य को अर्थ-वैचित्र्य के आधार पर कई प्रकार का मानते हुए

---

१. **चित्रं शब्दार्थभेदेन द्विविधं च व्यवस्थितम्।**
तत्र किंचिच्छब्दचित्रं वाच्यचित्रमतः परम्॥३, ४२॥ ध्वन्यालोक-लो० तथा बालप्रिया टीका सहित

२. **वाच्यचित्र ततः शब्दचित्रादन्यद्व्यग्यार्थसंस्पर्श रहित प्राधन्येन वाक्यार्थ तया स्थितं रसादितात्पर्य रहितमुत्प्रेक्षादि ' वही : पृ० ४९५**

३. **डॉ० कृष्णमूर्ति की निम्न पंक्तियॉ भी हमारे मत की पुष्टि करती है—**
It abounds in striking imagery, and reveals the particular turns given to sound and sense. Such beauty as it achieves will be entirely due to the various figures of speech:--The Dhvanyaloka & its critc (manscpt) P. 152

४. **पल्लव : पृ० १४६**

५. **काव्यप्रकाश : पृ० २४३**

वे फिर कहते है कि इनका निश्चय अलंकार-निर्णय के प्रसंग मे किया ही जा रहा है ।[1] इससे यह निष्कर्ष सरलता से निकाला जा सकता है कि सस्कृत आचार्यों के चित्रकाव्य निरूपण का आधार अलकार था । शब्दालकार हो शब्द, अर्थालकार हो अर्थ चित्र । शर्त यह कि कवि का ध्यान केवल अलकार निरूपण ही हो ।[2]

हमने जिसको चित्रात्मक वस्तु-ध्वनि माना है उसमे कवि का ध्यान कल्पना द्वारा अलकारों का जमघट लगाने के स्थान पर वस्तु जगत् के किसी चित्र को उपस्थित करने पर होता है । आज कवि सूखे पेड को देखकर 'नीरस तरुरिह विलसति पुरतः' के स्थान पर शुष्कोवृक्षस्तिष्ठत्यग्रे' कहना ही अधिक पसन्द करता है क्योकि सूखे पेड की शुष्कता और ठूँठपन की व्यजना इस दूसरे प्रकार मे ही सम्भव है—"सूक्तियाँ-उपदेश मैंने बहुत कम लिखे है, प्राय· नही, केवल चित्रण किया है ।"[3] तो क्या कहा जा सकता है कि निराला का अधिकाश काव्य मम्मट के अवर काव्य की कोटि मे चला गया है ? नही । अतएव चित्रात्मक वस्तु-ध्वनि या बिम्ब-ध्वनि की कुछ आधारभूत विशेषताएँ निश्चित करना पडेंगी । वे हैः—

(१) बिम्ब स्वयं में पूर्ण हो,

(२) पाठक या श्रोता मे उसी भावनामय बिम्ब को उत्पन्न करने की क्षमता रखता हो जो कवि के मन मे है,

(३) इस रूप मे उपस्थित किया गया हो कि पाठक या श्रोता उसे अपना कह सके, और,

(४) वाच्य न होकर व्यग्य हो ।

इन विशेषताओं से रहित बिम्ब चित्र-काव्य होगा । बहुधा बिम्ब ध्वनियों मे देखा गया है कि चित्र के तैयार होते होते कवि मे उपदेश देने की भावना भी प्रबल होती जाती है, जिसका संवरण न कर पाने पर चित्र विकलाग हो जाता है ।[4] इसी प्रकार चित्र की व्यजना को अन्त मे वाच्य कर देने पर भी वह ध्वनि का विषय

---

१. वही : पृ० : २४३

२. किन्तु यदा रसभावादि विवक्षाशून्य कवि शब्दालंकारमर्थालंकारं वोपिनोवध्नाति तदा तद्विवक्षपेक्षया रसादिशून्यतार्थस्य परिकल्प्यते । ध्व० लो० व बा० प्रिया टीका सहित—पृ० ४९६
रसभावादिविषयविवक्षाविरहे सति ।
अलंकारनिबन्धो यः स चित्रविषयो मतः ।।वही : पृ० ४९७

३. प्रबन्ध प्रतिमा : पृ० २८४

४. डॉ० शम्भूनाथ सिंह : छायावाद युग : पृ० २८७

नही रहता। पन्त के अधिकाश चित्र—'संध्या—तारा' और 'नक्षत्र'—प्रथम प्रकार के दोषो से युक्त है और प्रयोगवादी रचनाये दूसरे प्रकार के दोष से।

बिम्ब-ध्वनि की प्रक्रिया रस-ध्वनि की प्रक्रिया से भिन्न नही है। रस के प्रसग मे हमने देखा कि विभावो और अनुभावों के वर्णन द्वारा रस की ओर सकेत किया जाता है। वाचक शब्द से वह अनूदित होता है। किसी चित्र के अभाव मे वह प्रभावहीन होता है। जबकि विभावादि का वर्णन एक चित्र उपस्थित कर अभीष्ट भाव का बोध पाठक की कल्पना पर छोड दिया जाता है। इसी कारण रस व्यग्य कहलाते भी है।[1] इसी प्रकार बिम्ब-ध्वनि मे भी कवि कला की उन्ही प्रणालियो को अपनाता है जो उसे विज्ञान से अलग करती है। यह न कहकर कि आठ फुट नौ इच ऊँचा हाथी जा रहा है हम कह देते है—देखो क्या पहाड का पहाड़ जा रहा है। कला की यह पद्धति बिम्ब ग्रहण कराती है बोध मात्र नही। अत. कवि के वर्णित चित्र से (भले उसमे कोई अलंकार न हो) यदि पाठक के मानसपट पर भी ठीक उसी प्रकार का बिम्ब उभर आता है जो कवि के मन मे है तो वहाँ बिम्ब ध्वनि मानने मे कोई हिचकिचाहट नही होनी चाहिये।[2]

उक्त ध्वनि की प्रक्रिया को इस प्रकार भी समझा जा सकता है। कोई भी ध्वनि प्रसग हो उसमे अभिधेयार्थ या लक्ष्यार्थ (साधन) की आवश्यकता तभी तक रहती है जब तक ध्वन्यार्थ स्पष्ट नही हो जाता। अभीष्ट अर्थ निकल आने पर पहले दोनों प्रकार के अर्थ गौण हो जाते है। इसी भाँति बिम्ब ध्वनि में किसी अलकार या अन्य वस्तु की आवश्यकता बिम्ब खडा करने तक ही रहती है। बाद में बिम्ब मात्र रह जाता है साधन (अलकार-वस्तु) गौण हो जाते है। जैसे—क्या पहाड का पहाड जा रहा है—मे पहाड 'पदार्थ' विशालता 'गुण' की ध्वनि देकर तिरोहित हो जाता है, या 'जुगल कमल पर गज क्रीडत है' मे कमल और गज उपमान चरण युगल पदार्थ और मत्त गति व्यापार का बिम्ब खडा कर गौण हो जाते है। इसके विपरीत—

धँस गए धरा में सभय शाल।
उठ रहा धुआँ, जल गया ताल।

पक्ति धुएँ के उठने के 'व्यापार' रूप वस्तु से वर्षाकालीन ताल के दृश्य 'रूप' वस्तु की ध्वनि होती है। चित्रात्मक वस्तु-ध्वनि के प्रकार परस्पर ही सहायता

---

1. *P. V. Kane* History of Skt. Poetics: P. 348
2. An epithet, a metaphor, a simile may create an image; or an image may be presented to us in a phrase or passage on the face of it purely descriptive, but conveying to our Imagination something more than the accurate reflection of an external reality.
—C. Day Lewis: The Poetic Image: P. I8

देते हो सो बात नही वे विचार ध्वनि भी देते है। 'द्रुत झरो .....,वाले उदाहरण मे पत्ते झरने के 'व्यापार' द्वारा विचार-ध्वनि सिद्ध हुई है।

नाटक से बिम्ब की तुलना करने पर उसकी विशेषता स्वय सिद्ध हो जाती है। नाटक का सौन्दर्य किसमे है ? एक निश्चित उद्देश्य लेकर पात्रो का ऐसा अभिनय करना कि उसमे जीवन का सहज रूप उभर आए।[1] नाटक की इस प्रणाली को कवि मानवेतर जगत् में भी अपनाता है। कुछ कवि इससे आगे बढकर भावो का आकन भी करने लगते है किन्तु इसकी आवश्यकता नही। 'जो वस्तु मनुष्य के भावो का विषय या आलम्बन होती है उसका शब्द चित्र यदि किसी ने खीच दिया तो वह एक प्रकार से अपना काम कर चुका।[2] आचार्य रामचन्द्र शुक्ल सस्कृत कवियो द्वारा किये गये प्रकृति के सश्लिष्ट चित्रण को इसी के अन्तर्गत लेते हैं। रस व्यंजना मे क्रोध शब्द का प्रयोग हुए बिना ही बाँहो के फड़कने, नासिका रन्ध्र के स्फीत होने का वर्णन पढकर क्रोधी व्यक्ति का चित्र सामने आ जाता है, इसी प्रकार प्रकृति का सश्लिष्ट वर्णन ऋतु अथवा स्थान विशेष का चित्र प्रस्तुत कर सकता है। कवि को जो चित्र उपस्थित करना है उसके लिये उपमान आदि से कुछ आवश्यक सकेत मात्र देकर शेष पाठक की कल्पना शक्ति पर छोड देता है। पाठक अपनी वृत्ति के अनुसार भले ही इसमे भाव भी पाये किन्तु कवि का ध्यान चित्रण पर ही अधिक होता है। विशेष भावोद्बोधन के लिये खडा गया चित्र रस-ध्वनि के अन्तर्गत आएगा, जैसे—निराला की 'भिखारी' कविता।

काव्य मे चित्र का कितना महत्त्वपूर्ण स्थान है और काव्य-चित्र और वर्ण-चित्र (pictures in colour and line) में कितनी समानता है यह श्री शम्भूनाथ सिंह ने कलात्मक चित्रण से तात्पर्य मे भलीभाँति स्पष्ट किया है। कलात्मक चित्रण मे छः बातें आवश्यक है—

(१) शब्द योजना में पाठको या श्रोताओ को आकृष्ट करने की शक्ति,

(२) बिम्ब चित्रण द्वारा भावो के स्वरूप को प्रत्यक्ष करने की शक्ति,

(३) इन्द्रियो के विषयो का औचित्यपूर्ण सामजस्य अर्थात् अनुपात के अनुसार ऐन्द्रियिक विषयो का चित्रण,

(४) वर्ण्य वस्तु के विभिन्न अगो के चित्रण मे भी सामजस्य (harmony) अन्विति (unity) और सौष्ठव (symetry),

---

1. *S. C Sen Gupta:* Towards the Theory of Imagination: P. 217

२, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : रस-मीमांसा : पृ० १४३

३. डॉ० शम्भूनाथ सिंह : छायावाद युग : पृ० २७८ :

(५) उनमे आनुषगिकता और अनुक्रम,

(६) परिपार्श्व या परिवेश से उसका अनुबन्ध और प्रकृत सम्बन्ध ।[1]
चित्रकला का थोडा सा भी ज्ञान रखनेवाले समझ सकते हैं कि ठीक ये ही बातें वर्ण-चित्र मे भी देखी जाती हैं ।[2]

माध्यम के आधार पर चित्रात्मक-ध्वनि (यहाँ भी अभी घटना को छोड़कर) दो वर्गों मे विभक्त है—

(१) आकार (form) पर बल देनेवाली। इसके भीतर पदार्थ और प्रक्रिया दोनो आ जाती है, और

(२) वर्ण (colour) तथा अन्य सवेदनों पर अधिक ध्यान देनेवाली। इसके अन्दर रूप और गुण आ जाते है ।

कुछ चित्रो मे दोनो का सम्मिश्रण भी हो सकता है फिर भी विश्लेषण करने पर किसी एक का प्राधान्य निश्चित कर सकते है । दूसरे प्रकार के चित्र दृश्य, श्रव्य, घ्रात और स्पष्ट रूप उपस्थित करते है और पहले केवल चाक्षुष। यदि चाहे तो दूसरे प्रकार मे भी भिन्न सवेद्य विषयो को लेकर उपभेद किये जा सकते है किन्तु इन सब में चाक्षुष बिम्ब ही सामान्य हैं । अन्य सभी सवेद्य विषयों का किसी न किसी प्रकार इससे सम्बन्ध जुडा रहता है । टेनीसन की निम्न कविता—

And many a rose—carnation feed
With Summer Spice and humming air,

का उद्धरण देते हुए सी० डी० ल्यूइस ने लिखा है कि इसमे कान और नाक दोनो से सम्बन्धित चित्र पाते है[3] पर साथ साथ पृष्ठभूमि के हल्के से दृश्यमान चित्र का भी अनुभव किया जा सकता है । आचार्य रामचन्द्र शुक्ल जब भावो के मूल मे भी वस्तु-ध्वनि ही देखते है तो हमारे विचार से उनका तात्पर्य इसी चित्रात्मक वस्तु

---

१ डॉ० शम्भूनाथ सिंह : छायावाद युग : पृ० २७८

२. ऐसा प्रतीत होता है कि डॉ० शम्भूनाथ सिंह ने काव्य-चित्र पर वर्ण-चित्र का आरोपण करने का प्रयत्न किया है। दूसरे के नियम पहले पर घटाने चाहे है । वे भूल गए हैं दोनों के माध्यम में पर्याप्त अन्तर है । चित्रकला के नियम उतनी ही सत्यता के साथ काव्य कला पर लागू नहीं हो सकते। चित्रकला में भी भिन्न प्रकारों (composition, Landscape, Portrait) के अलग अलग नियम होते हैं। उदाहरण के लिये (Portrait) मे परिवेश नही भी हो सकता।

3. C. D. Lewis : The Poetic Image : P. 18

ध्वनि से है क्योकि यही एक तत्त्व इतना व्यापक है जो काव्य के सम्पूर्ण भावन व्यापार के पीछे काम करता है ।[1] चाक्षुष बिम्बो की इस महत्ता को प्राचीन ऋषियो[2] और आधुनिक आलोचको[3] दोनो ने ही स्वीकार किया है ।

अभिव्यक्ति की दृष्टि से बिम्ब-ध्वनि के दो प्रकार है—

(१) यथा तथ्य रूप मे बाह्य वस्तुओ (मानव और मानवेतर प्रकृति) का चित्र, जैसे—'अहे दहेड़ी जिनि धरे · ' बिहारी का दोहा, और

(२) मानवीकरण—इसके अन्तर्गत बाह्य प्रकृति और हृद्गत भावो का मूर्तरूप दोनो आ जाते है । निराला की 'सध्या सुन्दरी' रचना इसका सुन्दर उदाहरण है । इसमे 'तिमिराचल' आदि शब्दो से उसके गुणीभूत होने का भ्रम नही होना चाहिये । ये तो वे कुजियाँ है जिनसे कविता का सौन्दर्य बोधगम्य होता है । प्रकृति के आलकारिक वर्णनो के लिये यह आवश्यक है कि कवि स्वय कही न कही तथ्य का आभास दे दे ताकि पाठक उस चित्र की मूल भावना को पकड सके ।

बिम्ब के प्रकाशक तत्त्व—बिम्ब सामान्य वस्तु ध्वनि की भाँति पद वाक्य और प्रबन्ध से प्रकाशमान है किन्तु सवेदन रूप बिम्बो मे वर्णो की विशेष महत्ता है । पन्त ने वीचि, हिलोर का अन्तर, मरुदाकाश के स्थान पर मरुताकाश का प्रयोग इसी दृष्टि से किया है । वीचि मे 'च' वर्णन की ध्वनि चमक पैदा करती है । इसी प्रकार मरुताकाश 'त' वर्ण आकाश की स्वच्छता की ओर इगित करता है । वर्णों मे स्वर और व्यजन दोनो ही सहायक होते है । निराला के 'बादल राग' मे स्वर और व्यजन दोनो का सुष्ठु प्रयोग हुआ है । जल का बिम्ब खड़ा करने के लिये 'ल' का विशेष प्रयोग होता है । इस विषय पर अधिक विचार 'ध्वनि के इतर उपकरण' प्रसंग मे किया जायेगा ।

रस-ध्वनि और वस्तु-ध्वनि—सस्कृत आचार्यो ने रस को असलक्ष्यक्रम और वस्तु को सलक्ष्यक्रम मानकर बहुत दूर दूर कर दिया है । हमारे विचार से दोनो एक दूसरे के अत्यन्त निकट है । जैसे वस्तु से अलकार और अलकार से वस्तु ध्वनित होती है उसी प्रकार वस्तु से रस भी ध्वनित होता है और रस से वस्तु । सलक्ष्यक्रम रस-ध्वनि का

---

1. And the only way in which we know our feelings is by imaging them or embodying them or expressing them in words or something else sensuously apprehensible.

   —*E. F. Carritt :* What is Beauty : P. 89

२. छान्दोग्य उपनिषद् श्रीश चन्द्र वसु द्वारा अनूदित : प्रथम अध्याय का सप्तम काण्ड (सम्पूर्ण)

३. नन्ददुलारे वाजपेयी : नया साहित्य . नये प्रश्न : पृ० ४

विवेचन करते हुए स्वय आनन्दवर्धन ने जो उदाहरण दिया है उसे ही हम वस्तु से रस-ध्वनि का उदाहरण मानते है। 'एव वादिनी ' (देवर्षि के ऐसा कहने पर—कि पार्वती का विवाह शिवजी से कर दो—पिता के पास बैठी हुई पार्वती मुँह नीचा करके लीला कमल की पखुडियाँ गिनने लगी) की व्याख्या मे आनन्दवर्धन लिखते है कि यहाँ लीला-कमल-पत्रो की गणना स्वय गुणीभूत होकर शब्द व्यापार के बिना ही व्यभिचारी भावरूप अर्थान्तरो को अभिव्यक्त करती है। यह असलक्ष्यक्रम व्यग्य ध्वनि का उदाहरण नही हो सकता। यहाँ तो समार्थ्य से आक्षिप्त व्यभिचारी भाव द्वारा रस की प्रतीति होती है। इसलिये यह (रस ध्वनि रूप असलक्ष्यक्रम भेद से भिन्न अर्थ शक्त्युद्भव सलक्ष्यक्रम व्यंग्य रूप) दूसरी ही ध्वनि का प्रकार है।'[1]

आगे चलकर तृतीय उद्योत की निम्न कारिका—

अनुस्वानोपयात्मापि प्रभेदो य उदाहृतः।
ध्वनेरस्य प्रछन्धेषु भासते सोऽपि केषुचित् ॥१५॥[2]

द्वारा वे अपने पूर्व मत की फिर पुष्टि करते है अर्थात् किन्ही काव्यो मे सलक्ष्यक्रम वस्तु-ध्वनि भी असलक्ष्यक्रम-ध्वनि के व्यजक रूप मे भासमान होती है। दूसरे शब्दों मे उन स्थलों पर रसध्वनि भी सलक्ष्यक्रम होती है।[3] किन्तु बाद के सभी आचार्यो ने रस-ध्वनि सदैव असंलक्ष्यक्रम ही मानी है। असलक्ष्यक्रम रस-ध्वनि और सलक्ष्यक्रम रस-ध्वनि के भेद को और स्पष्ट करने की आवश्यकता प्रतीत होती है।

हमारे विचार से असलक्ष्यक्रम रस-ध्वनि के स्थलों मे प्रथम उपकरण है सघटना। आनन्दवर्धन ने इस पर प्रर्याप्त प्रकाश डाला है। सघटना के अभाव मे स्थल रस-सिद्ध काव्य का विषय होना चाहिये। इसका यह अर्थ नही कि रस-सिद्ध काव्य मे सघटना गौण होती है इसकी आवश्यकता नही होती। उचित रस परिपाक के लिए इसकी अपेक्षा सदैव रहती है फिर भी रस-सिद्ध मे इसकी ओर अधिक ध्यान नही जाता। दशरथ का पुत्र वियोग मे विलाप करुण रस का प्रसिद्ध प्रसंग है, राम रावण युद्ध वीर रस का सर्वपरिचित विषय है। सामाजिक के मन मे इनके भावो का सस्कार इतना गहरा है कि किसी भी प्रकार की रचना इन भावो की व्यजना करेगी ही। हाँ, उसकी कोटि मे अन्तर अवश्य रहेगा।

---

१. ध्व० लो० और बाल प्रिया टीका सहित : पृ० २४८

२. आचार्य विश्वेश्वर इसकी एक और भी व्याख्या करते है—
संलक्ष्यक्रम ध्वनि का जो उदाहृत भेद किन्हीं काव्यों में प्रतीत होता है उसका भी द्योत्य असंलक्ष्यक्रम व्यग्य कहीं कहीं होता है—हिन्दी ध्वन्यालोक पृ० २६७

३. इसके उदाहरणस्वरूप वे महाभारत के 'गृध्र-गोमायु-सवाद' प्रसंग को लेते हैं।

है जिनका सीधा सम्बन्ध भावोद्बोधन से नहीं होता। इसमे तो ढूंढ-ढूंढ कर ऐसे प्रसग रखे जाते है जो भावना प्रधान होते हैं। अतः नेपथ्य से भावो की सूचना देने से रस भग हो जायगा और न स्वय परशुराम स्वयं कह सकते है कि देखो अब मुझे गुस्सा आ रहा है। लोकानुकृति होने से नाटक मे इसकी आवश्यकता नही होती। किन्तु श्रव्य काव्य मे वाचक शब्दो द्वारा सूचना मिलने से भी काम चल सकता है और कभी-कभी दो भावों के वर्णन किये जा सकने योग्य समान अनुभाव होने से यह आवश्यक भी हो जाता है। लेखक लक्ष्मण की बातो को लिख देने के बाद मात्र इतना लिख सकता है कि परशुराम यह सुनते ही गुस्से से पागल हो गए। यह सक्षिप्तता श्रव्य काव्य की छोटे आकार वाली विधाओ के लिए बहुत सहायक होती है। इससे यह सिद्ध हो जाता है कि नाटक मे रस के उपकरण श्रव्य काव्य मे रस के उपकरणो से थोडे अवश्य भिन्न हैं।

रस से वस्तु-ध्वनि के विषय मे इतना और कहने की आवश्यकता प्रतीत होती है कि बुद्धिवाद के इस युग मे कवि और पाठक का ध्यान युगानुकूल विचारो को खोजने मे अधिक प्रयत्नशील है। प्रगतिवादी युग के पश्चात् से कवि अपनी सारी कला की सफलता इसी मे मानता है कि करुणा, ओज, हास आदि सब भावो की व्यजना के पश्चात् सामाजिक के मन पर इस तथ्य का संस्कार गहरा हो जाय कि समाज मे कैसी-कैसी विषमताएँ है, धर्म की आड़ लेकर कितना अनाचार हो रहा है, राजनीति के क्षेत्र मे कितनी विडम्बना है और इन सबको दूर करने के लिए जन-जागृति, साम्य-स्थापन की कितनी आवश्यकता है। पौराणिक आख्यानों के स्थान पर सामाजिक या राजनैतिक विषयो की माँग इसीलिए बढ गई है क्योंकि इनमे भावोद्बोधन के साथ-साथ विचारोद्बोधन भी है और प्रथम से अधिक महत्वपूर्ण है। विचार की अभिव्यक्ति जितनी स्पष्ट और तीखी होगी काव्य का आकर्षण उतना ही अधिक होगा जन समाज बुद्धि के वैभव के पीछे हृदय की आकुलता को गौण समझने लग गया है। बिना विचार के उसे भाव भी ग्राह्य नही है।

आज कवि इस बात का विशेष ध्यान रखता है कि एक तो वह रगों की भाषा मे बात करे क्योकि यही भाषा सर्वग्राह्य, सरल और आशु प्रभावी है। दूसरे सभी चित्र एक दूसरे के निकट होते हुए भी अपनी बात को पूरे प्रभाव से रख सके।[1] शास्त्रीय भाषा में यह प्रभाव भाव कहलाएगा। इस प्रकार हम देखते है कि काव्य में रस और वस्तु ध्वनि के रूप मिलेजुले हैं, उनको अलग नही किया जा सकता।

उक्ति की सत्यता—आनन्दवर्धन ने संसार मे सिद्धि के अनुसार उक्ति के दो

---

१. धर्मवीर भारती : तार सप्तक (दूसरा) पृ० १७८

भेद किये—स्वत: सम्भवी और प्रौढोक्ति सिद्ध ।[1] जिस उक्ति के लिये प्रमाण की आवश्यकता न पड़े, जो संसार मे सामान्य अनुभव सिद्ध हो वह स्वत: सम्भवी है । और जिस उक्ति की सत्यता प्रमाणित करने के लिए कवि परम्परा का आश्रय लेना पड़े वह प्रौढोक्ति सिद्ध कहलाएगी ।

प्रौढ़ोक्ति के भी काव्य मे दो भेद देखने मे आते है—कवि प्रौढोक्ति सिद्ध और कवि निबद्धवक्तृप्रौढ़ोक्ति सिद्ध ।[2] प्रथम भेद मे कवि द्वारा कही बाते आती है और द्वितीय मे कथा के पात्र द्वारा कही गई उक्तियाँ आती है ।

पंडितराज जगन्नाथ को वस्तु-ध्वनि का यह तीसरा भेद मान्य नही है । उन्होने इसकी चर्चा तक नही की । उनकी धारणा थी कि किसी पात्र के मुँह से भी जो कहलायी जाती है । होती तो वह भी कवि की ही है फिर एक भेद बढाने से क्या लाभ । उनकी इस धारणा का आधार हेमचन्द्र का काव्यानुशासन है । हेमचन्द्र लिखते है—'अर्थ शक्त्युद्भव-ध्वनि में व्यजक रूप अर्थ को भले ही एक दृष्टि से 'स्वत: सम्भवी' और 'प्रौढोक्ति सिद्ध' रूप से दो प्रकार का माना जा सके । किन्तु ऐसा मानना निरर्थक है । कि प्रौढोक्ति सिद्ध अर्थ भी 'कवि प्रौढोक्ति सिद्ध' और 'कवि निबद्धवक्तृप्रौढोक्ति सिद्ध' रूप से दो भेदो मे विभक्त है । यहाँ बात तो वस्तुत: यह है कि 'स्वत: सम्भवी' भी अर्थ प्रौढोक्ति निष्पन्न होने से व्यजक हुआ करता है । तब भी यदि इसे कवि प्रौढ़ोक्ति सिद्ध अर्थ से पृथक् किया जाय तो कोई बात नही । किन्तु कवि कवि की प्रौढोक्ति और कवि निबद्ध वक्ता की प्रौढोक्ति का पार्थक्य तो निराधार ही है ।[3]

विश्वनाथ ने इसका यह कहकर किया है कि यदा कदा 'कवि प्रौढ़ोक्ति' की अपेक्षा कवि निबद्धवक्तृप्रौढोक्ति मे सहृदय अधिक चमत्कार का अनुभव करता है ।

---

१. प्रौढ़ोक्तिमात्रनिष्पन्न शरीर : सम्भवी स्वतः ।
अर्थो पि द्विविधो ज्ञेयो वस्तुनो न्यस्य दीपकः ॥ २, २४ ॥ ध्व० लो० व बा० प्रि० टीका सहित ।

२. अर्थशक्त्युद्भवानुरणनरूपव्यंगये ध्वनौ यो व्यजको र्थ उक्तस्यापि द्वौ प्रकारौ कवेः कवि निबद्धस्य वा वक्तुः प्रौढ़ोक्तिमात्रनिष्पन्न शरीरः... । उक्त कारिका की वृत्ति —पृ० २५४

३. इह चार्थः स्वतः सम्भवी कविप्रौढ़ोक्तिमात्रनिष्पन्नशरीर., कविनिबद्धवक्तृप्रौढ़ोक्तिमात्र निष्पन्नशरीरो वेति भेदकथनं न न्याय्यम् । प्रौढ़ोक्तिनिर्मितत्वमात्रेणैव साध्यसिद्धेः । प्रौढ़ोक्तिमन्तरेण स्वतः सम्भविनो प्यकिंचित्करत्वात् । कविप्रौढ़ोक्तिरेव च कविनिबद्धवक्तृप्रोढ़ोक्तिरिति किं प्रपंचेन ।—हेमचन्द्र : काव्यानुशासन (सटीक) पृ० ४६ ।

इसका कारण यह है कि कवि के रागाद्यविष्ट हृदय की अपेक्षा कवि निबद्ध पात्र का हृदय अधिक रागाद्याविष्ट हुआ करता है।[1] उनके इस विश्लेषण का आधार लोचनकार की यह उक्ति प्रतीत होती है—जब कवि द्वारा निबद्ध अभिलाषापूर्ण वक्ता की यह प्रौढोक्ति हो तब व्यंजकत्त्व।[2] हमे भी साहित्यदर्पणकार और लोचनकार का मत सत्य लगता है। पाठक कवि को पात्रों से जितना शीघ्र तादात्म्य सम्बन्ध स्थापित कर लेता है उतना शीघ्र कवि मे नही। यह भी एक स्वतः सम्भवी सत्य है कि उपन्यास और कहानी आदि मे, जहाँ लेखक स्वय भी कहता है और पात्रों के मुँह से भी कहलवाता है पाठ की रागात्मक वृत्ति संवादो मे ही अधिक रमती है।

वस्तु-ध्वनि पर लगभग सभी दृष्टिकोणो से विचार किया जा चुका है। काव्य के अधिकाश स्थलों पर यही ध्वनि मिलती है। रस-ध्वनि के नियम चाहे कितने भी कम क्यों न कर दिये जाँय फिर भी रस-निष्पत्ति के लिये जितने कुछ आयोजन की आवश्यकता पडती है उतने वस्तु-ध्वनि के नही। रस-ध्वनि के लिये वर्णित अथवा सकेतित सम्पूर्ण क्रिया या प्रसंग की अपेक्षा होती है। जब तक लय, तुक, वर्ण, सघटना आदि से वातावरण तैयार नही हो जाता रस-निष्पत्ति नही हो सकती। हाँ, रस की भावाभास के अतिरिक्त, अन्य उपकोटियाँ मान ले तो उनमे से कुछ वस्तु ध्वनि के उपभेदो में भी पाई जा सकती हैं। कवि की रचना मे रुचि लेते समय उससे एक प्रकार का रागात्मक सम्बन्ध जुड़ जाता है। यह रस की सबसे निम्न कोटि होगी जो सभी प्रकार की ध्वनियों मे पाई जाती है। दूसरी ओर वस्तु की सर्व व्यापकता पर पहले भो प्रकाश डाल चुके है। सारांश यह वस्तु और रस तत्त्व दोनो काव्य के भावपक्ष के अन्तर्गत आते है। दोनो के सुन्दर समन्वय मे ही काव्य का सौन्दर्य निहित है। बिना वस्तु के रस निराधार है और बिना रस के वस्तु नीरस, काव्यत्वहीन।

अलंकार-ध्वनि

काव्य के लिये अलंकार कितना महत्त्वपूर्ण है यह बात इसी से सिद्ध हो जाती है कि संस्कृत साहित्य मे एक पूरा का पूरा सम्प्रदाय ही अलंकारवादियों का रहा है और काव्य शास्त्र का एक नाम अलकार शास्त्र भी है। वामन ने 'काव्यग्राह्यम-

---

१. न खलु कवेः कविनिबद्धस्येव रागाद्याविष्टता अतः कविनिबद्धवक्तृप्रौढ़ोक्तिः कवि प्रौढ़ोक्तेरधिकं सहृदयचमत्रकाकारिणीति पृथक्प्रतिपादिता।

—विश्वनाथ : साहित्यदर्पण : पृ० ३५२

२. यदा तु कविनिबद्धस्य साभिलाषसय तरुणस्य वक्तुरित्थं प्रौढ़ोक्तिस्तदा व्यंजकत्वम्।

—ध्व० लो० व बा० प्रिया टीका सहित : पृ० २५५

लकारात्'[1] कहकर काव्य के लिए इसकी अनिवार्यता सिद्ध कर दी। अलंकारों के प्रति अत्यधिक आग्रह के कारण ये काव्य सौन्दर्य को ही अलकार कहा करते थे।[2] परवर्ती आचार्यो ने यद्यपि अलकारो को काव्य सौन्दर्य के लिए अनिवार्य नही माना[3] तथापि काव्य की परिभाषा देते समय[4] तथा पुरुष का स्वरूप निर्धारित करते समय[5] इनको उचित स्थान देना वे नही भूले है। प्रसिद्ध अलकाराचार्य लाला भगवान दीन ने अलकार की जो परिभाषा नियत की है वही इसका उचित लक्षण भी है।[6] आचार्य रुद्रट भी 'उपमा' का उल्ले करते समय जब यह कहते है कि इसकी आवश्यकता अपने कथन को अधिक प्रभावशाली बनाने के लिए होती है तो वे परोक्ष रूप से समस्त अलकारो के कार्य पर ही प्रकाश डालते है।[7]

आधुनिक आलोचक अलकार के इस अन्तिम रूप से ही सहमत है। हिन्दी रस-ध्वनि के प्रसग मे हम देख आये है कि काव्य का सौन्दर्य उसके भाव, अनुभूति मे निहित है किसी वाह्याडम्बर मे नही।[8] इसीलिए कवि पन्त को कहना पड़ा है—

तुम वहन कर सको जन मन में मेरे विचार
वाणी मेरी चाहिए तुम्हें क्या अलंकार।

तब क्या अलंकारों की सत्ता ही निःशेष हो गयी?

---

१. काव्यालंकार सूत्र : १,१,१
२. सौन्दर्यमलंकार—वही : १,१,२
३. तद दोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि—मम्मट : काव्य प्रकाश : पृ०९
४. क—साधुशब्दार्थ सन्दर्भं गुणालकार भूषितम्।
स्फुटरीति रसोपेतं काव्यं कुर्वीत कीर्त्तये ॥—वाग्भट (प्रथम) : वाग्भटालकार पृ० २
ख—शब्दार्थौ निर्दोषौ सगुणौप्रायः सालंकारौ काव्यम् ॥ वाग्भट (द्वितीय) —काव्यानुशासन : पृ० १४
ग—निर्दोषा लक्षणवती सरीतिर्गुणभूषणा।
सालंकाररसानेकवृत्तिर्वाक्काव्यवमभाक् ॥— जयदेव : चन्द्रालोक : पृ० ६
घ—निर्दोषं गुणवत्काव्यमलंकारैरलंकृतम् ॥१,२॥ भोजदेव : सरस्वती कण्ठाभरण
५. अनुप्रासोपमादयश्च त्वामलंकुर्वन्ति— कविराज शेखर : काव्यमीमांसा : पृ० ६
६. जिस सामग्री से काव्य में रोचकता व चमत्कार आ जाय वह सामग्री 'अलंकार कहलाती है।—अलकार मजूषा : पृ ११
७. सम्यक्प्रतिपादयितुं स्वरूपतो वस्तु तत्समानमिति।
वस्त्वन्तमभिदध्याद्वक्ता यास्मिंस्तदौपम्यम् ॥१,८॥ काव्यालंकार : पृ० ९८
८. लक्ष्मीनारायण 'सुधांशु' : काव्य में अभिव्यंजनावाद : पृ० ७९

अलंकार के उद्देश्य को देखते हुये यह सम्भव नही। निस्सदेह कभी कभी कवि की अनुभूति इतनी तीव्र होती है कि उसका स्वाभाविक प्रवाह ही पर्याप्त प्रभावशाली होता है। किन्तु सामान्यतः उसकी तीव्रता को सम्प्रेषणीय बनाने के लिए कल्पना से कुछ असत्य भी जोड़ना पड़ता है। ऐसे स्थलो पर अलंकार स्वाभाविक रूप से आ जाते है। सौन्दर्य भी उन्ही मे होता है। अलकारो के मुख्य उद्देश्य भाव को तीव्र कर काव्य के प्रभाव को बढाना है न कि पाण्डित्य का प्रदर्शन करना। इसीलिए आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने आचार्यो द्वारा निर्देशित स्वभावोक्ति, उदात्त अत्युक्ति आदि मे अलंकारत्व नही माना है।[1] प्राचीन आचार्यो मे कुन्तक का ध्यान भी इस ओर गया था। वक्रोक्ति जीवित के प्रथम उन्मेष मे ही वे लिखते है—यदि स्वभावोक्ति को भी अलंकार मान लेगे तो अलकार्य कुछ रह ही नही जायगा।[2] ऐसे अलकार्य रूप अलकारो के कई प्रकार है—(१) काकु वक्रोक्ति (स्वर की विचित्रता पर आधारित) (२) पिहित और सूक्ष्म (नायक नायिका के हाव भाव से सम्बन्ध रखनेवाले (३) भाविक (भूत और भविष्य का वर्तमान की तरह वर्णना करना)[3] आदि। इसी प्रकार भ्रम, सदेह, विषाद, तिरस्कार जैसी हृदय की वृत्तियो मे भी अलकारत्व मानना इनके प्राकृत रूप का निरादर करना है।

अलंकारो का वर्गीकरण—वस्तुत. अलकार अभिव्यक्ति के प्रकार है, प्रणालियाँ हैं। भाव के इस प्रकार वर्णन के लिए कि पाठक या श्रोता मे भी वे ही भाव जागे कभी किसी वस्तु का आकार या गुण अतिरजित रूप मे दिखाना पडता है, जैसे 'अतिशयोक्ति' मे, कभी उसके समान रूप, गुण या प्रभावशाली किसी दूसरी वस्तु को सामने लाना पडता है, जैसे 'उपमा' में, और कभी ठीक उलटी बात कहनी पडती है, जैसे 'वक्रोक्ति' या 'व्याजस्तुति' मे।

डॉ० भगीरथ मिश्र ने अलकारो के प्रयोग की परिस्थितियों का निम्न प्रकार से विभाजन किया है:—

(१) जहाँ पर हम किसी तथ्य, वस्तु या चरित्र के स्वरूप को प्रकट करना चाहते, है वहाँ अप्रस्तुत की योजना करने मे अलकार का प्रयोग होता है।

(२) जहाँ किसी प्रभाव को स्पष्ट करना चाहते है वहाँ पर हम बल, निषेध, अत्युक्ति, कार्य कारण सम्बन्ध, हेतु, कल्पना आदि के द्वारा अपना काम चलाते है और इस प्रकार अलकार आ जाते है।

---

१. रस-मीमांसा : पृ० ५१
२ अलंकारकृतां येषां स्वाभावोक्तिरलकृतिः।
अलंकार्यतया तेषां किमन्यदवतिष्ठते ॥१, ११ ॥ वक्रोक्तिजीवित
३. लक्ष्मीनारायण 'सुधांशु' : काव्य में अभिव्यंजनावाद : पृ० ९०-९१

(३) कही क्रम असंगति तथा सज्ञा, विशेषण, क्रिया आदि के चमत्कारिक प्रयोग मे अलंकार रहते है।

(४) कही विरोध या वैपरीत्य की विशेषता द्वारा हम कथन को प्रवीण बनाना चाहते हैं और अलंकार का प्रयोग करते है।

(५) कही हम निन्दा या प्रशसा मे दूसरा भाव छिपाकर व्यंग्य से कुछ और कहना चाहते है।

(६) कही शब्दों के ध्वनि या अर्थ सम्बन्धी चमत्कारिक प्रयोगों द्वारा अलंकार की सृष्टि होती है।[1]

वर्णन प्रणालियो को ध्यान मे रखते हुए आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने अलंकारों के सात वर्ग किये है:—

(१) **सादृश्यगर्भ**—इनके बीचोबीच उपमा अलकार होता है। इस कड़ी मे उपमेय और उपमान के भेद की ओर बढने पर व्यतिरेक और प्रतीप अलकार आते है, अभेद की ओर बढने पर रूपक और रूपाकातिशयोक्ति।

(२) **विरोधगर्भ**—इसके तीन उप भेद है:—

(क) कही द्वयर्थक शब्दो के आधार पर द्रव्य, जाति, गुण और क्रिया मे पारस्परिक विरोध दिखाया जाता है। जैसे, 'श्लेष' मे।

(ख) कही कारण और कार्य को लेकर विरोध दिखाया जाता है जैसे, कारणाविशयोक्ति, विभावना, विशेषोक्ति, असगति और विषय मे।

(ग) कही 'आधार' 'आधेय' को लेकर चमत्कार दिखाया जाता है। जैसे 'अल्प' और 'अधिक' में।

(३) **शृंखलामूलक**—जैसे, एकावली, कारणमाला, मालादीपक और सार।

(४) **तर्कन्याय मूलक**—इनमे उत्पादक और ज्ञापक कारणो का सहारा लिया जाता है। जैसे, हेतु और काव्यलिग मे।

(५) **वाक्यन्याय मूलक**—इनमे वाक्य मे आई वस्तुओ के क्रम के आधार पर चमत्कार दिखलाया जाता है। जैसे, यथासख्य, दृष्टान्त, परिवृत्ति, समुच्य में।

(६) **लोकन्याय मूलक**—इनमे रूप, रस, गन्ध, स्पर्श के आधार पर अगागिभाव से वस्तुओ के परिवर्तन या लीन होने का उल्लेख होता है। जैसे, तद्गुण, मीलित मे।

---

१. **काव्यशास्त्र** : पृ० १६०

(७) **गूढ़ार्थप्रतीति मूलक**—ये अलकार कही श्रोता पर आधारित होते है और कही विशेष स्थिति मे दिखाई पडनेवाले शब्दो के आधार पर। जैसे, वक्रोक्ति, अन्योक्ति मे।[1]

प० राम दहिन मिश्र ने विधार के आधार पर इनके तीन वर्ग किये है :—

(१) अप्रस्तुत योजना के रूप मे आनेवाले उपमान, रूपक, उत्प्रेक्षा आदि।

(२) वाक्य वक्रता के रूप मे आनेवाले व्याजस्तुति, समासोक्ति आदि।

(३) वर्ण विन्यास के रूप मे आनेवाले अनुप्रास आदि।[2]

वर्गीकरण चाहे किसी भी प्रकार से किया जाय, उद्देश्य इनका भावो को तीव्र करना ही रहेगा।

अब हम यहाँ पर अलकार-ध्वनि और उसके सौन्दर्य पर विचार करेगे।

आनन्दवर्धन ने अलंकार-ध्वनि के दो भेद किये—शब्द-शक्ति-उद्‌भव और अर्थ शक्तिदर्य उद्‌भव। प्रथम का लक्षण है—जहाँ शब्द से अनुक्त आक्षेप सामर्थ्य से ही शब्द शक्ति द्वारा अलंकार की प्रतीति होती है।[3] अर्थ-शक्ति-उद्‌भव के प्रसगो में ध्वनि को साधारण अलकार न समझ लिया जाय इसके लिए मम्मट ने स्पष्टीकरण सा करते हुए लिखा है—जो भी अलकारमय अर्थ अभिव्यग्य रहा करता है वह अलंकार रूप नही अलकार्य रूप अर्थ हो जाया करता है। किन्तु फिर भी इसे ब्राह्मण श्रमण न्याय का सहारा लेकर अलकार कह दिया करते है।[4] यह हुआ अलकार ध्वनि का परिचय।

इसके सौदर्न्य की ओर सकेत स्वय ध्वन्यालोककार ने अपने एक उदाहरण की व्याख्या मे किया है। वे लिखते है—'इन उदाहरणो मे शब्द शक्ति से अप्राकरणिक दूसरे अर्थ के प्रकाशित होने पर वाक्य की असम्बद्धार्थ बोधकता न हो जाय इसलिए प्राकरणिक और अप्राकरणिक अर्थो का उपमानोपपेय भाव कल्पित करना चाहिये।[5]

---

१ वांगमय विमर्श : पृ० १११

२ काव्य में अप्रस्तुत योजना : पृ० ८

३. आक्षिप्त एवालंकारः शब्दशक्त्या प्रकाशते।
यस्मिन्ननुक्तः शब्देन शब्दशक्त्युद्‌भवो हि सः ॥२, २१॥ ध्व० लो० व बा० प्रिया टीका सहित

४. अलंकारस्यापि ब्राह्मणश्रमण न्यायेनालंकारता। काव्यप्रकाश : पृ० १३८

५. एषू उदाहरणेषु शब्दशक्त्या प्रकाशमाने सत्यप्राकरणिकेऽथान्तरे वाक्यस्यासम्बन्धार्थाभिधायित्वं मां प्रसांक्षीदित्यप्राकरणिक प्राकरणिकार्थयोरुपमानोपमुयभाव कल्पयितव्यः······। —ध्व० लो० व बा० प्रि० टीका सहित पृ० २४४

इसी को लोचनकार ने यू स्पष्ट किया है—'(अलकारध्वनि मे) उपमानोपमेय भाव मानकर उपमा रूप से व्यतिरेचन और निन्हवव आदि व्यापार मात्र ही आस्वाद प्रतीति के प्रधान स्थान है उपमेय आदि नही।'[1] अतः ऐसे स्थलों पर रूपण, उत्प्रेक्षण, व्यतिरेचन आदि अलकरण रूप व्यापार को व्यग्य मानकर चलना चाहिये न कि रूपक उत्प्रेक्षा और व्यतिरेक आदि द्वारा अलकृत अर्थ को।[2] तात्पर्य यह कि अलंकार-ध्वनि में अलकरण का व्यापार ही काव्य का सौन्दर्य है न अलंकार न आलंकार्य।

अलंकरण व्यापार के सौन्दर्य का रहस्य क्या है ?

मनोविज्ञान की आधुनिक खोजो ने इसका उत्तर दिया है। साहित्य शास्त्रियो की धीरे धीरे यह धारणा बनती चली जा रही है कि आचार्यो ने सर्व प्रथम अलकारो की उपयोगिता समझी होगी और उनमे से कतिपय की खोज की होगी उन्होने रस का अध्ययन मनोविज्ञान की पृष्ठभूमि पर अवश्य किया होगा। उन्होने रूपक में तन्मयता, उपमा मे रूप लिप्सा, उत्प्रेक्षा मे कल्पना की प्रचुरता, दीपक में अर्थ लाघव, अर्थान्तरन्यास मे न्याय दृष्टि, यथासख्य मे गणितज्ञ की प्रतिभा, असगति मे कुतूहलता का चमत्कार तथा अप्रस्तुत प्रशसा मे किसी कूटनीतिज्ञ की कला के दर्शन किये होगे।[1]

इससे आगे बढकर कुछ मनोवैज्ञानिक अलकारो को रसावगाहिनी क्रिया मानते है। इनमे केवल शब्द चमत्कार नही मानव-मन की सौन्दर्यान्वेषिणी शक्तियों को खोजते है। इनके द्वारा अन्तर की गहराइयो मे तरगित अनुभूतियों किंचित् आभास मिलता है। इसलिए मनोवैज्ञानिक इन्हे अलकरण न कहकर रसावगाहिनी क्रियाये कहना अधिक पसन्द करते हैं। वे इसको निम्न भेदो मे विभक्त करते हैं :—

(१) **सादृश्य-निबन्धना**—अनुभूतियो का आशिक सभ्य जगत् पदार्थो में खोजना।

(२) **अभेद निबन्धना**—सादृश्य की अभिव्यंजना को प्रखरतम करने के लिये आगे का सोपान अभेद है।

---

१. **उपमानोपमेभाव इति। तेनोपमारूपेण व्यतिरेचननिह्नवादयो व्यापारमात्ररूपा एवात्रास्वाद प्रतीतेः प्रधान विश्रान्तिस्थानं, न तूपमेयादीति सर्वत्रालकारध्वनी मन्तव्यम्।**

—वही : पृ० २४४-२४५

२. **एषु चालकृतिव्यजनस्थले रूपणोत्प्रेक्षण व्यतिरेचनादिमात्रस्य प्राधान्य सहृदय-संवेद्यम्, न तु रूप्यादीनामित्यलंकृतैरेव मुख्यत्वम्।**

—विश्वनाथ : साहित्यदर्पण : पृ० ३५२

३. **डॉ० रामकुमार वर्मा : साहित्य शास्त्र : पृ० ११९**

(३) रूपान्तरण व (४) भावना का स्थान्तरण—अपनी अनूभूति को व्यापक तथा शक्ति सम्पन्न बनाने के लिए संसार के बाह्य पदार्थो में चेतना भर उन्हे एक प्रकार से अनुभूतियों का वाहन बनाना।

(५) सूक्ष्म भावों को स्थूल रूप देना और (६) प्रतीकानुसन्धान—अनुभूति को अधिक प्रभावशाली बनाने के लिये हर्ष शोक आदि को मूर्त रूप देना और दूसरी ओर स्थूल वस्तुओ को सूक्ष्म रूप मे रखना।

(७) विशेषण विशेष्य के विशिष्ट प्रयोग—चेतना के उत्तेजित करने के लिये।

(८) उद्दीपन—यह सातवी से मिलती जुलती क्रिया है। कवि प्रौढ़ोक्ति इसी का फल है।

(९) अनुभूतियों का परस्परान्वय—सामान्य और विशेष की परस्पर अन्विति। अन्योक्ति आदि अलकारो मे यही वृत्ति काम करती है।

(१०) अनेक अर्थों का घनीभाव—जब एक ही पदावली मे अनेक अर्थ स्थित रहते है तो बुद्धि का विशेष विकास होता है। विरोधाभास, श्लेष यमक आदि मे कई कई अर्थ लिपटे रहते है। यह वास्तव में बुद्धि के लाघव का फल है।[1]

उक्त विवेचन से हम बडे पुराने सिद्धान्त पर फिर आ जाते है कि काव्य भाषा या भावो को सजाना नही वरन् अनुभूतियो को जगाना है।

अलकारो का मन से घनिष्ठ सम्बन्ध सिद्ध हो जाने पर यह कहने की आवश्यकता नही रह जाती कि ध्वनि विशेष के लिये कुछ अलंकार उपकारक होते हैं। कुछ अपकारक। सामान्यतः बुद्धि पर अधिक बल देनेवाले अलकार वस्तु-ध्वनि और हृदय को स्पर्श करनेवाले रस-ध्वनि के अनुकूल होंगे। कारण स्पष्ट है। अनुभूति की तीव्रता की स्थिति मे वाणी मे जो स्वाभाविक वक्रता आ जाती है उसी के आधार पर बने अलंकार रस को पुष्ट कर सकते है। प्रयत्न साध्य अलंकार कवि की विशेष सावधानी और बुद्धि चातुरी का परिचय देते है। अतः उनसे किसी अन्य चमत्कारी अर्थ की प्राप्ति तो हो सकती है किन्तु रस की नही।

उपर्युक्त विश्लेषण से यह निष्कर्ष निकलता है कि थोडे ही अलकार रस-ध्वनि मे प्रयुक्त हो सकते है। उदाहरणार्थ, अनुप्रास—कोमल वर्णो की आवृत्ति से ध्वन्यात्मक शृगार और परुष वर्णों की आवृत्ति से ध्वन्यात्मक वीर तथा रौद्र रस की व्यंजना मे यह बहुत सहायता करता है। यमक ठीक इसके विपरीत रसाभिव्यक्ति मे बाधक होता है। आनन्दवर्धन ने शृंगार विशेषतः विप्रलम्भ—मे इसके पूर्ण बहिष्कार

---

१. डॉ० हरद्वारीलाल शर्मा : साहित्य और कला : पृ० ३८-४६

की व्यवस्था दी है।[1] उनके विचार से जहाँ कही यमकादि रस सहित दिखाई भी दें वहाँ अलंकार प्रधान और रस गौण समझना चाहिये। अतः वह स्थल ध्वनि का विषय न होकर गुणीभूत का होता है। इसी प्रकार सभग पद श्लेष भी विप्रलम्भ मे रस बाधक होते है।

रस-ध्वनि के सर्वाधिक उपकारक अलकारो में उपमा, रूपक, व्यतिरेक, अतिशयोक्ति, समासोक्ति, वक्रोक्ति, पुनरुक्ति प्रकाश और विशेषोक्ति है। उपमागर्भ लगभग सभी अलंकार वस्तु-ध्वनि के साथ साथ रस-ध्वनि मे भी समान रूप से प्रयुक्त हो सकते है।

उपमा—भावातिरेक मे यह स्वाभाविक है कि एक वस्तु को देखकर उसके सदृश दूसरी वस्तुओ से रागात्मक सम्बन्ध जोड़ बैठे। दूसरे अनुभूति की तीव्रता तभी सम्प्रेषित होगी जब उपमेय को आश्रय कुछ बढ़े चढ़े रूप मे देखे। अनुराग का आधिक्य होने पर भी प्रिया के मुख मे साधारण से अधिक सौन्दर्य न दिखा तो अनुराग की गहराई का पता कहाँ लगेगा। अतः उपमेय की असाधारणता का बोध कराने के लिये किसी ऐसी वस्नु को उपमान रूप में ले आना उचित ही है। जिसमें उस गुण का आधिक्य सर्वमान्य सत्य बन चुका हो।

मै बचपन को बुला रही थी बोल उठी बिटिया मेरी।
नंदन बन सी फूल उठी वह, छोटी सी कुटिया मेरी॥

पुत्री के बोल सुनकर कवियित्री अपनी कुटिया के समस्त अभावो को भूल गई। क्षण भर को वहाँ का वातावरण उसे उतना ही आह्लादपूर्ण प्रतीत हुआ जिसकी कल्पना नन्दन वन मे की गई है। यहाँ कवयित्री का हर्ष भाव व्यग्य है जिसमे दूसरी पक्ति का उपमा अलकार पूर्ण सहायता कर रहा है। 'मेरी कुटिया हर्ष से भर गई' शब्दों में अभीष्ट भाव व्यक्त करने की सामर्थ्य नही है।

रूपक—अनुभूति की घनीभूत अवस्था में वाक्य का विस्तार कम हो जाता है। नाटक में किसी क्रुद्ध पात्र के मुँह से पूर्णोपमा युक्त वाक्य कहलाये जाँय तो घटना की सारी स्वाभाविकता नष्ट हो जायगी। ऐसे स्थलों पर रूपक या रूपकातिशयोक्ति का प्रयोग होना चाहिये। ये अलंकार उपमेय और उपमान मे अधिक निकटता का सम्बध जोड़ते है। दोनों में शब्द की लक्षणा शक्ति सक्रिय है जो भावातिशय मे वाणी की स्वाभाविक वक्रता से सम्बन्ध रखती है।

---

१. **यमकादिनिबंधे तु पृथग्यत्नो स्य जायते।**
शक्तस्यापि रसे गंत्वं तस्मादेशां न विद्यते॥ ध्व० लो० व बा० प्रि० टीका सहितः पृ० २२२।

(१) आजु की छबीली छटा चित बेधि रही
कहि नहिं जाति कछू कौन गति भई है।
नवल नवेलि हँसि चितवत ठाढ़ी पासि,
मानो तिहि उर नई नेह बेलि बई है।
हित ध्रुव नीरज से नीर भरे ढरे नैन
बोलत न कछु बैन चित्र सी ह्वै गई है।
नैन छाइ लीने रूप परी जब प्रेम कूप
वाकी गति जानै सोई जिहि अस भई है।

(२) जो द्विरसने ! हम सभी को मार,
कठिन तेरा उचित न्याय - विचार।

प्रथम उदाहरण मे उत्प्रेक्षा और रूपक तथा दूसरे मे रूपकातिशयोक्ति क्रमशः रति और क्रोध भाव की व्यजना करने मे सहायक हैं।

समासोक्ति—लक्षणा पर ही आधारित और दण्डी के अनुसार समाधि गुण युक्त समासोक्ति अलंकार कवि का प्रकृति के प्रति अनुराग प्रदर्शित करने का मूल मत्र है। प्रकृति नटी का इस प्रकार वर्णन करना कि वह नायिका पर भी घट जाय प्राचीन काल से लेकर अब तक कवियों को बहुत प्रिय रहा है। प्रकृति का प्रत्येक अग दृष्टि में अपार सौन्दर्यशाली है, दूसरे स्त्रीलिंगवाची शब्दों के प्रति उन्हे विशेष आसक्ति भी होती है।

हिलते द्रुम दल कल किसलय देती गल बांही डाली।
फूलों का चुम्बन छिड़ती मधुपों की तान निराली॥

इन पंक्तियो मे प्रकृति पर चेतना का आरोपण कर उसके व्यापारों को हर्ष से प्रेरित वर्णित किया गया है किन्तु साथ ही इसके मादक वातावरण द्वारा किसी के हृदय का रति भाव भी व्यंग्य है। बाद के कवियो मे इसकी एक स्वरता कुछ खटकने वाली अवश्य हो गई है किन्तु आरम्भिक युग इसका बडा सुन्दर प्रयोग मिलता है।

पुनरुक्ति प्रकाश इस अलंकार की शर्त यही है कि एक शब्द का एक बार से अधिक प्रयोग तभी किया जाय जब भावातिशय्य अभीष्ट हो। निम्न पक्तियाँ इसका सुन्दर उदाहरण है:—

मधुमास में दास जू बीस बीसे मन मोहन आइहैं आइहैं।
उजरे इन भौनन को सजनी सुख पुंजन छाइहैं छाइहैं छाइहैं।
अब तेरी सो ऐरी न संक एकंक विथा सब जाइहैं जाइहैं जाइहै।
घनश्याम प्रभा लखि के सखियां आंखियां सुख पाइहैं पाइहैं पाइहैं॥

प्रत्येक पक्ति मे अन्तिम शब्द का तीन बार प्रयोग विप्रलम्भ शृंगार के अभिलाष सचारी की व्यंजना कर रहा है।

सागरूपक मे आरम्भ से लेकर छन्द के अन्त तक उपमेय उपमान का पूर्ण निर्वाह होना चाहिये जिसकी एक भावाकुल व्यक्ति से आशा नही की जा सकती फिर भी भयानक और रौद्र रसो में इसका प्रयोग किया जा सकता है, करुण रस मे तो बिल्कुल नही।

वक्रोक्ति भामहट के मत से समस्त अलकारों का मूल है और बाद के आलंकारिकों के अनुसार एक अलंकार मात्र। उसकी पहली व्याख्या के सम्बन्ध में कुछ कहने की आवश्यकता नही। दूसरे रूप मे वह रूपकातिशयोक्ति के निकट है अतः लक्षणाभूला है। लक्षणामूलक अलकार परस्पर के वार्तालाप में रति भाव की पुष्टि करने मे पूर्ण समर्थ है।

वस्तु-ध्वनि के उपयुक्त अलंकारों में परिकर और परिकरांकुर शब्द शक्ति उद्भव ध्वनि मे सहायक है क्योकि इनमें विशेष शब्दो के विशेष प्रयोग पर ही बल दिया जाता है। उक्त ध्वनि के लिये यही आवश्यक भी है।

पुनरुक्तवदाभास भी विशेष शब्दो के प्रयोग की अपेक्षा रखता है क्योंकि उसमे पुनरुक्ति का आभास और बुद्धि सगत अर्थ दोनों साथ-साथ झलकने चाहिये।

अर्थान्तरन्यास सामान्य और विशेष की परस्पर पुष्टि से सामान्य अथवा विशेष व्यंगार्थ की प्रतीति मे सहायक होता है।

पर्यायोक्ति और आक्षेप ध्वनि की सीमा मे प्रवेश कर जाते है। आक्षेप मे व्यतिरेक की ध्वनि भी रहती है। शृंखलामूलक अलकारों मे अभिष्ट अर्थ इतना स्पष्ट होता है कि ध्वनि के लिए कोई स्थान ही नही रह जाता। कही संयोग से वस्तु-ध्वनि का उदाहरण वे बन भी जाँय तो रस-ध्वनि के आक्षिप्त करने में असमर्थ होते है क्योकि यमक की भाँति इनमें भी कवि को विशेष सावधानी एवं प्रयत्न करना पड़ता है।

यहाँ अलंकार ध्वनि की सम्भाव्य परिस्थितियो पर भी विचार कर लेना आवश्यक प्रतीत होता है। अलकार-ध्वनि वस्तु तथा अलंकार दोनो से ही आक्षिप्त मानी गई है और व्यजकत्व का गुण पद से लेकर सम्पूर्ण प्रबन्ध तक मे हो सकता है। जो नियम सामान्यतः वस्तु-ध्वनि और रस-ध्वनि पर लागू होता है वही अलंकार ध्वनि पर भी होता है बल्कि कहना चाहिये कि यहाँ उसका ध्यान सर्वाधिक रखा जाता है। वह नियम है—शब्दों का विशेष प्रयोग।

पद से अलंकार-ध्वनि के प्रसंग में पौराणिक या लोक प्रसिद्ध या कवि परम्परा

सिद्ध बहुत काम के होते है। इसका कारण यह है ये बड़ी आसानी से उपमान बन सकते हैं। चिरकाल के सम्बन्ध से उनमें उपमा गर्भ अलकारों को व्यंजित करने की शक्ति स्वतः आ जाती है। उदाहरणार्थ—

मनसा बाचा कर्मना करि कान्हर सों प्रीति।
पारबती सीता सती रीति लई तुम जीति।।

वैसे देखने सर लगता है कि यहाँ 'कान्हर' पद ही व्यजक है क्योकि कान्हर से प्रेम करने के कारण से ही गोपियाँ पार्वती, सीता और सती से आगे बढ गई। किन्तु इसमें सहायता करनेवाले पार्वती आदि पर भी महत्वपूर्ण हैं। ये सब पौराणिक पात्र होने के नाते लोक प्रसिद्ध है। पाठक उनके गुणो से पूर्ण परिचित है। इसी प्रकार 'कान्हर' शब्द है। कृष्ण के चारो ओर जो घटनायें लिपटी हुई है या परम्परा मे प्रसिद्ध हो गई है उन्होने इसे इतना शक्ति सम्पन्न बना दिया है कि इस अर्थ की व्यजना के लिए यही शब्द लाया जा सकता है। कवि मे इतनी शक्ति नही होती कि मुक्तक में परम्परा के विरुद्ध चला जाए। प्रबन्ध मे अत्यन्त प्रबल प्रसगो की योजना द्वारा ही यह सम्भव है। रावण मे यदि किसी सदाशयता का परिचय दिया जायगा तो उसके लिये एक विशाल पृष्ठभूमि तैयार करनी होगी जो मुक्तक मे सम्भव नही है फिर भी पूर्ण भावोद्बोधन एवं अभीष्ठ व्यंजना मे सदेह बना ही रहता है। इसीलिए कवि परम्परागत अप्रस्तुत योजना का अधिक प्रयोग करता है। लाख प्रयत्न करने पर भी राणा प्रताप प्रेमास्पद के उपमान स्वरूप नही ग्रहण किये जा सकते।

पद्गत वस्तु से अलकार ध्वनि की सम्भावना मे ऐसे शब्दो का प्रयोग भी आता है जो धातु और उपसर्ग-प्रत्यय के विच्छेद से एक विशिष्ठ अर्थ देने मे समर्थ हो या जो लिंग भेद से नवीन अर्थ दे सकने की शक्ति रखते हो। अजहत्स्वार्थ लक्षणामूला ध्वनि मे ऐसे शब्दो का बहुलता से प्रयोग मिलता है। उदाहरणार्थ—

शीतल करेंगे मिटा ताप पाप त्रिभुवन के
बरस बरस घनश्याम दान-धारा मे।

इन पंक्तियो में घनश्याम कृष्ण के लिए प्रयुक्त हुआ है किन्तु जिस अभिप्राय से प्रयुक्त हुआ है उसको देखते हुए घनश्याम रूप करने से उपमा अलकार भी ध्वनित होता है। धारा प्रवाह बरसने की शक्ति काले बादलो मे होती है उसी से धरती की तपन भी मिटती है। जैसे श्यामघन बरसकर धरती को शीतल करते हैं उसी प्रकार घनश्याम द्वारा मानव के त्रिविध ताप हरण कर उन्हे सुख पहुँचाते है। अतः कृष्ण और बादल में उपमानोपमेय भाव होने से उपमा अलकार व्यग्य हुआ। घनश्याम के स्थान पर मोहन या नन्दलाल के प्रयोग मे यह सौन्दर्य नही आ सकता था।

इसी प्रकार लिंग भेद के आधार पर प्रयुक्त शब्दों का सौन्दर्य भी पर्यायवाची शब्दो को रख देने से नष्ट हो जाता है। 'जूही की कली' का समस्त भावों का आकर्षण समाप्त हो जाय यदि 'पवन' के स्थान पर हवा का प्रयोग हो। संयोग से कही 'प्रकृति' शब्द स्त्रीलिंग मे न होता तो छायावादी कवियो का सारा प्रकृति-प्रेम रखा रह गया होता। 'देख वसुधा का यौवन भार, गूँज उठता है जब मधुमास' मे मधु ऋतु नही लिखा जा सकता। वसुधा से प्रणयाप्रस्ताव करने के लिए बसन्त मे नायकत्व चाहिये।

वाक्यगत वस्तु से अलंकार ध्वनि का क्षेत्र अधिक विस्तृत है पर यह देखने मे आता है कि इसके लिये छोटे छोटे दो वाक्यो की आवश्यकता प्रायः होती है। अब उन दोनों वाक्यों के सम्बन्ध से ही नाना अलकारो का जन्म होता है। एक के निषेध से दूसरे की सम्भावना पर अपह्नुति, एक के कथन का दूसरे के द्वारा विरोध प्रतीत होने पर आक्षेप और दोनो मे से किसी एक की श्रेष्ठता या हीनता सिद्ध करने के प्रयोस मे व्यतिरेक या प्रतीप अलकार ध्वनित होते है। इनके अतिरिक्त उपमा और विशेषोक्ति भी बहुधा ध्वनिन होनेवाले अलकारो में से है।

उदाहरणार्थ—

सखि तेरो प्यारो भलो दिन न्यारो ह्वै जात।
मोते नहिं बलबीर को पल विलगाव सुहात॥

कहने को तो नायिका यह कह रही है ससि तेरा प्रिय अच्छा है, तू भाग्य-शालिनी है क्योकि तेरा प्रिया दिन मे तुझसे अलग हो जाता है किन्तु व्यंजना यह है कि तुझसे अधिक भाग्यशालिनी मै हूँ। मेरे प्रिय को मुझसे एक क्षण के लिए भी अलग होना अच्छा नही लगता। अर्थात् मुझे अपने प्रिय का अधिक स्नेह मिलता है।

एक ही वाक्य से ध्वनित होनेवाले अलंकार बहुत कम हैं और उनकी सम्भाव-नायें भी कम होती है। इसका कारण यह है कि तुलना या विरोध के लिये। जितने उपकरणो की आवश्यकता होती है उन सबका एक ही वाक्य में आ जाना अत्यन्त कठिन होता है।

अलकार से अलकार-ध्वनि की सम्भावनाये एक निश्चित दायरे के भीतर आ जाती हैं। पहली बात तो यह कि सभी उपमा-गर्भ अलंकारो में उपमा व्यग्य रहता है। उनको बिना उपमा रूप में रखे अर्थ निकल ही नही सकता और न उसके सौन्दर्य का विश्लेषण ही हो सकता है। यह बात दूसरी है स्थल विशेष पर उपमा के प्राधान्य की विवक्षा न हो। दूसरे, अधिकांश उपमागर्भ अलंकार इसी पंक्ति में बैठने-वाले अलंकारों को ध्वनित करते है। हाँ, यह सम्भव है कि अभेद की ओर वाले

अलंकार भेद मूलक अलंकार को ध्वनित करें और भेद की ओर वाले अभेद मूलक अलकारो को। जैसे,

करे चाह सौं चुटकी कै खरै उड़ौहै मैन।
लाज नवापे तरफरत, करत खूँद-सी मैन ॥

इस उदाहरण में उत्प्रेक्षा के रूपक व्यंग्य है। खूद-सी मे उत्प्रेक्षा है। इसके द्वारा नेत्रों मे घोड़े का और कामदेव मे सवारा का आरोप व्यग्य है। आरोप अभेद की चरम सीमा पर होने से रूपक अलकार व्यग्य है। इसी प्रकार रूपक और उपमा व्यतिरेक की व्यजना में सहायक होते है।

इसके साथ ही एक बात और कि पदगत अलंकार से अलंकार-ध्वनि मे समस्त पद बड़े सहायक होते है। कुछ अलकारो को पूरी तरह व्यक्त होने के लिए सम्पूर्ण वाक्य की आवश्यकता होती है और उसमें बहुत कुछ अलकारों का सौन्दर्य भी नष्ट हो जाता है। समस्त पद मे वह सक्षिप्त होकर आ जाता है जिससे दोनो कार्य सिद्ध होते हैं। ऊपर के उदाहरण मे ही 'खूँद-सी' पद के स्थान पर 'खूँद के समान' कहने मे न वह सौन्दर्य है और न कविता मे मात्रा भय से प्रयुक्त भी नही हो सकता।

अलंकारो का इतिहास बतलाता है कि आरम्भ मे अलकार-वाणी की शोभा बढ़ाने वाले तत्त्व समझे जाते थे। कटक-कुण्डल की भाँति सौन्दर्यवर्धन के साधन थे। शनैः शनैः वे साध्य बन गये। परिणामस्वरूप बहुत से ऐसे अलकारों की कल्पना की गई जो वस्तु मात्र थे। गद्य-युग के आरम्भ से उनका पुन. परीक्षण हुआ। अब वे मनोवृत्तियो की ओर सकेत करनेवाली रसावगाहिनी क्रियाओ के नये नाम से पुकारे जाने लगे हैं। इस सुदीर्घ यात्रा में उन्होने अपना मूल तत्त्व, सौन्दर्य, नही छोडा है। सौन्दर्य की खोज ही इनके मूल मे काम कर रही है। इससे विच्छिन्न होकर उनका अस्तित्व सम्भव भी नही है।

पंचम अध्याय

१

ध्वनि के इतर उपकरण

ध्वनि के इतर उपकरणो पर विचार करते हुए सबसे पहले हमारा ध्यान काव्य-काव्य-शब्द की विशेषता पर जाता है जिसके सम्बन्ध मे दण्डी ने लिखा है—

इदमन्धतमः कृत्स्न जायेत भुवनत्रयम् ।
यदि शब्दाह्वयं ज्योतिरासंसारान्न दीप्यते ॥[1]

यह शब्द की लौकिक महत्ता है । इस पर आदि काल से विचार होता चला आया है । 'एक. शब्द 'श्लोक मे पतजलि ने आध्यात्मिक क्षेत्र मे भी उसकी महत्ता स्थापित की ।[2] इतना शक्ति सम्पन्न शब्द काव्य का प्रथम उपकरण है शर्त यह कि उसका उचित प्रयोग हो । काव्य का मूल्य तभी है जब वह कवि की अनुभूति को इस रूप मे हम तक पहुँचा दे कि हम भी उन्ही अशों मे उसे अपना कह सकें जिन अंशो में कवि अपना मानता है ।[3] काव्य शब्द की विशिष्टता इसी मे है कि वह ऐसी कठिन क्रिया को सम्भव कर दिखाता है ।[4]

ऋग्वेद मे काव्य के उपयुक्त शब्द सम्बन्धी बड़ा रोचक वर्णन मिलता है । उस काल मे काव्य सुख और यश का प्रदाता समझा जाता था । इसलिए साधारण प्रयोग के शब्द और काव्य के शब्दो मे अन्तर होना ही चाहिये । इसी को स्पष्ट

---

१. दण्डी : काव्यादर्श : १, ४ ।

२. इस सम्बन्ध मे पश्चिम के कवियों की भी यही धारणा रही । लार्ड टेनीसन लिखते हैं ।

And When She Spake
Her words did gather thunder as they ran,
And as the lightning to the thunder
which follows it, riving the spirit of man,
So was their meaning to her words, No sword
Of wrath her right arm whirl'd
But one poor poet's scroll, and with his word
She shook the world.
—*The Poet:* from 'Fifty Poems' (Pit Press Serie

3. *Laseelles Akercrombie:* Poetry—its Music and Meaning : P. 48

4. *James Mackye*. The Logic of Language : P. 69

करने के लिए ऋषियो का कथन है कि जिस प्रकार सूप से फटक देने पर जौ भूसी से अलग हो जाता है उसी प्रकार विद्वान व्यक्ति अपनी प्रतिभा से सार्थक शब्दो के प्रयोग से छन्द विधान करते है तो दूसरे विद्वान् उसके अभीष्ट अर्थ को समझ जाते है।[१]

भाषा का सामान्य रूप साधारण दैनिक आवश्यकताओ को पूरा करता है। इन स्थलो पर वह सूचना देने का काम करती है। किन्तु कवि का उद्देश्य अपने अनुभव का उल्लेख मात्र करना नही है अपितु भाव-प्रकाशन है। कविता के मूल मे तो वही अनुभव रहता है जिसकी सूचना भाषा का सामान्य रूप (representative form) देता है किन्तु कल्पना से अतिरजित होकर विशेष भाषा (expressive form) के माध्यम से प्रेषणीय बन जाता है। इस भाषा की विशेषता यह है कि पहले वह किसी भौतिक या मानसिक अनुभव (जो भाषा मे घटित नही हुआ है) को ग्राह्य ध्वनियो मे रूपान्तरित करती है[२] दूसरे पाठक मे वैसा ही अनुभव जगाने की शक्ति रखती है।[३] भाषा की इसी शक्ति के बल पर कवि उन धर्मोपदेशको और दार्शनिको से ऊँचा उठ जाता है जो जीवन का सत्य तो देते है पर गम्भीरता से इतना बोझिल बनाकर कि जन साधारण उसे ग्रहण नही कर पाते। हृदय को स्पर्श करने के कार्य मे ही कवि उक्त दोनो को बहुत पीछे छोड जाता है।[४]

उपर्युक्त उद्देश्य को ध्यान मे रखकर रचना करते समय कवि यह अनुभव करता है कि अनेक पर्यायवाची शब्दो के रहते हुए भी अभीष्ट अर्थ देने वाला एक ही शब्द है।[५] वही वास्तव मे उसके मत से शब्द कहलाता भी है।[६] वेद-प्रणेताओं ने इसी विशिष्ट शब्द की आवश्यकता अनुभव की थी। किसी कवि की शैलीगत विशेषताओ का अध्ययन करते समय उसके शब्द चयन का विश्लेषण अत्यन्त महत्त्व-पूर्ण है। पैटर इससे आगे बढकर शब्द-समूहो, वाक्याश, वाक्य, अनुच्छेद, सम्पूर्ण निबन्ध तक में यही विशिष्टता पाते है।[७] क्योकि कबिता मे न केवल कवि की

---

१. सक्तुमिव तितउना पुनन्तो यत्र धीरा मनसा वाचमक्रत। अत्र सखायः सख्यानि जानते भद्रैषां लक्ष्मीर्निहिताधि वाचि ॥ **Rg X 71.2.**

2. *L. Abercrombie* : Principles of Literary Criticism : P. 37

3. *Leo Tolstoy* : What is Art and Essays on Art (Tr. by Aylmer Maude) P. 123

4. *Sir Phillip Sidney* : An Apology for Poetry (Eng. Critical Essay Vol-I) P. 29

५. कवि विवक्षितविशेषाभिधानक्षमत्वमेव वाचकलक्षणम्।

—हिन्दी वक्रोक्ति जीवितः पृ० ४१

६. शब्दो विवक्षितार्थैकवाचकोऽन्येषु सत्स्वपि।

अर्थः सहृदयाह्लादकारिस्वस्पन्दसुन्दरः ॥ १,९ ॥ वही.

7. *Walter Pater :* Appreciations with an Essay on Style : P. 27

अनुभूति का शाब्दिक अनुवाद होता है वरन् उसके साथ-साथ वह सम्पूर्ण रागात्मक प्रतिक्रिया भी सम्प्रेषित होती है जो क्षण को स्मरणीय बनाती है।[1] इन्ही सब बातो को देखते हुए ब्रैड्ले महोदय ने आक्सफोर्ड की व्याख्यानमाला में कहा था कि सच्ची कविता का अर्थ दूसरे शब्दों को रखते ही बदल जाता है।[2] उसका अर्थ उन्हीं शब्दों मे व्यक्त किया जा सकता है।[3]

अब देखना यह है कि काव्य-शब्द अपनी कार्य सिद्धि के लिए किस प्रणाली को अपनाता है।

ज्ञान के दो प्रकार है—सविकल्प रूप और निर्विकल्प रूप।[4] सविकल्प ज्ञान (perception) मे अर्थ जिस वस्तु से सम्बन्धित रहता है उसकी विशेषतायें भी प्रतीत होती है। निर्विकल्प ज्ञान मे संवेदन (sensation) मात्र होता है। काव्य के लिए प्रथम प्रकार के ज्ञान की आवश्यकता होती है क्योकि उसका कार्य कल्पना मे 'बिम्ब' (image) या मूर्त भावना उपस्थित करना है।[5] गोचर रूपो के विधान से सामाजिक पर जितना प्रभाव डाला जा सकता है उतना अगोचर रूपो से नही। यही कारण है कि अनेक पर्यायवाची शब्दों मे से जाति सकेत वाले शब्दो की अपेक्षा विशेष व्यापार सूचक शब्द ही लिये जाते है। इनसे एक तो गोचर रूप उभरता है और दूसरे प्रसगानुकूल अर्थ सौन्दर्य भी आ जाता है। जैसे, विपत्ति मे पडा हुआ व्यक्ति यदि कृष्ण को गिरिधारी नाम से पुकारता है तो उसकी अभिव्यक्ति मे अधिक व्यंजना आ जाएगी। पारिभाषिक शब्दावली में इसे चित्र-विद्या की प्रणाली कहते हैं।

कभी अबिम्बग्राहक शब्द से भी काव्य की सिद्धि होती है। यह विशेषतया अर्थान्तर संक्रमित वाच्य-ध्वनि मे सहायक होता है। ऐसे अवसरो पर रूप नही धर्मो की ओर ध्यान दिया जाता है।

---

1. Now Poetry is the translation of experience into language, and the translation has not properly been made at all, unless along with the stuff of experience, goes a rendering of its peculiar moment, instruct with the words, implications, references, influences, which made the moment unique :—*L. Abererombic :* Idea of Great Poetry : P. 23

2. Hence in true poetry it is, in strictness, impossible to express the meaning in any but its own words, or to change the words without changing the meaning.
—*A. C. Bradley :* Oxford Lectures on Poetry : P. 19

3. Ibid · P. 25

४. पं० रामदहिन मिश्र : काव्यालोक, द्वितीय उद्योत : पृ० २४.

५. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : रस-मीमांसा : पृ० ३९०

शब्दों को विशिष्टता प्रदान करनेवाले दो प्रधान तत्त्व हैं (१) परम्परा, (२) नाद सौन्दर्य। इनमे से परम्परा के सम्बन्ध मे कुछ नही कहा जा सकता। यह कवि की अपनी जानकारी पर निर्भर है। धातु-विचार से भी इसका निर्णय हो सकता है। इस दृष्टिकोण से शब्द के तीन प्रकार माने गए है—रूढि, योग, और योगरूढि। प्रसंगानुकूल इनमे से किसी का भी प्रयोग हो सकता है।

नाम सौन्दर्य शब्द की दूसरी और अधिक व्यापक शक्ति है। प्रत्येक वाक्य जिसके द्वारा हम अपने विचार प्रकट करते है, नाद के आधार पर एक विशिष्ट स्वरूप वाला होता है।[१] यह नाद-शक्ति विचार सम्बद्ध होने पर[२] अर्थ ग्रहण कराने मे तो सहायक होती ही है उसके आगे स्वतत्र रूप से सौन्दर्य-विधान करने मे भी समर्थ है।[३] शब्द समष्टिगत और व्यष्टिगत सम्बन्धो के भण्डार हैं, उनके कर्णगोचर होते ही वे पुन जीवित हो उठते है।[४]

नाद का परिष्कृत रूप सगीत है। कविता मे नाद और सगीत एक हो जाते है जब साधारण बोलचाल मे भी सगीत का आशिक तत्त्व निहित है तब कविता को सगीतमय विचार कहे तो अत्युक्ति न होगी।[५] जयशकर प्रसाद ने जिस संकल्पात्मक अनुभूति की स्थिति कवि मे मानी है मनोवैज्ञानिक उसकी सम्प्रेषणीयता कविता के इसी तत्त्व द्वारा समझते है।[६] इसी के द्वारा कवि श्रोता को सीधे प्रभावित करता है।[७] महर्षि पतजलि जब शब्दो के सुप्रयोग पर इतना बल देते है तो उनके सामने शब्दो का नादमय रूप अवश्य रहा होगा। प्रसिद्ध समालोचक और कवि एबरक्राम्बी उसी कविता को श्रेष्ठ समझते है जिनमे शब्दो का नाद ही ध्वनि का आधार बन जाए।[८]

जिस प्रकार १, २ आदि अको की अपनी प्रकृति है उसी प्रकार प्रत्येक अक्षर, शब्द या वाक्य की ध्वनि की भी अपनी प्रकृति होती है। इसी के आधार पर आधुनिक कवियो ने शब्दो का वर्गीकरण करने का प्रयास किया है। पन्त का कहना है कि

---

1. *Henery Sweet* : The History of Language · P. 1
2. *P. B. Shelley* : A Defence of Poetry · P. 7
3. *L. Abercrombie* . Principles of Literary Criticism : P. 41
4. *Elizabeth Drew* : Discovering Poetry : P. 163
5. *Thomas Carlyle* · The Hero as Poet and as a King : P. 13
6. *G. W. F. Hegel* : The Philosophy of Fine Art . P. 5 and 7
7. *Herbert Read* : The Meaning of Art : P. 15
8. But finer skill is required and finer enjoyment may be given when the sound of the words is made to suggest something which it cannot possibly imitate.
   L. Abercromibie : Poetery—Its Music and Meaning : P. 39

प्रत्येक शब्द एक सकेत मात्र, इस विश्वव्यापी संगीत की अस्फुट झंकार मात्र है।[1] कुछ प्रयोगवादी कवियो ने कविता मे नाद विशेष को सार्थक बनाने के लिए शब्दों के उच्चारण मे भी परिवर्तन किया है।[2] यह बात दूसरी है कि हम उससे कहाँ तक सहमत होते है किन्तु उससे प्रस्तुत तत्त्व का महत्त्व कम नही हो जाता। पश्चिम मे भी इस दृष्टि से शब्दो का वर्गीकरण हुआ है। रिचर्ड्स महोदय लिखते है कि कुछ शब्द मसृण और सुचिक्कण होते हैं और कुछ प्रकृत और अनगढ़।[3] ये प्रसंगानुकूल भावाभिव्यक्ति मे सहायक होते है। इसी प्रकार सम्पूर्ण वाक्य की ध्वनि तात्पर्यार्थ न होते हुए भी शब्दो के अर्थो के अनुरूप हो सकती है।[4] और उसी में भावो की सम्प्रेषणीयता की अधिक शक्ति होती भी है।

सगीत स्वर और व्यजन भेद से दो प्रकार का होता है। व्यजन-सगीत पर सस्कृत के आचार्यो ने खूब प्रयोग किये है। इस पर उनका विशेष ध्यान प्रतीत होता है। उनका रीतियो का विवेचन इस दिशा मे एक सत्प्रयास था। आरम्भ मे रीति का अर्थ था प्रणाली, पद्धति या मार्ग। श्रव्य काव्य से जुड़ कर इसका अर्थ हो गया विशिष्ट पद रचना जिसका गुणों से अत्यन्त निकट का सम्बन्ध है। ये गुण रसाभिव्यक्ति

---

१. भिन्न भिन्न पर्यायवाची शब्द प्राय. संगीत भेद के कारण एक ही पदार्थ के भिन्न भिन्न स्वरूपों को प्रकट करते है। जैसे, 'भ्रू' से क्रोध की वक्रता, 'भृकुटि' से कटाक्ष की चंचलता, 'भौंहों' से स्वाभाविक प्रसन्नता ऋजुता का हृदय में अनुभव होता है। (इसी प्रकार उन्होने कुछ अन्य शब्दों की व्याख्या भी की है)—पन्त : गद्य पथ : पृ० १७

२. कहीं कहीं नए शब्द वातावरण का ध्वनि भाव लेकर आए हैं, जैसे सूनापन, खंडेरों आदि। उदाहरणार्थ, 'सूनापन' शब्द लीजिये। 'शून्यता' 'सूनापन' 'सुनसान'। 'शून्यता में एक खोखलापन है, 'सूनापन' में दो स्वर ध्वनियों की तेजी के बाद ही अन्त की दो व्यंजन ध्वनियाँ गति को समाप्त कर देती है। 'सुनसान' सबसे निर्बल है, क्योंकि इसमें केवल एक स्वर ध्वनि है और आरम्भ की व्यंजन ध्वनियो से शब्द निर्गति है। 'सुनसान' में 'उ' की ध्वनि लम्बाई और दूरी व्यक्त करती है 'आ' की ध्वनि विस्तार और बीच में 'न' की ध्वनि सनसनाहट और गहराई व्यक्त करती है। इस 'सुनसान' शब्द का 'आं ऊ', ं हो जाता है जो गहरे सुनसान का यथार्थ रूप है—

—गिरिजा कुमार माथुर : तार सप्तक (प्रथम) पृ० ४०

३. आइ० ए० रिचार्ड्स : प्रिंसिपुल्स आफ लिट्रेरी क्रिटिसिज्म : पृ० १३६

४. ओ० के० बानबसमा : द एक्सप्रेशन थ्योरी आफ आर्ट (ऐस्थेटिक्स एण्ड लैग्वेज) पृ० ९५

मे सहायक होते है।[1] दण्डी ने दसों गुणो[2] को वैदर्भी का प्राणभूत स्वीकार किया है। इस प्रकार गुणो का काव्य के प्रभाव से सम्बन्ध जुड गया। अत: स्वभावत: रीतियो का इतना महत्त्व बढा कि वामन से रीति को ही काव्य की आत्मा घोषित कर दिया।

उक्त उल्लिखित रीतियो मे जिन पदसघटनाओं का वर्णन हुआ है वे पढते समय परस्पर के सयोग से उत्पन्न विशिष्ट ध्वनियों द्वारा अपना प्रभाव डालती है। इसके विश्लेषण के लिए रीतियो के अन्तर्गत गुणो और उनके मूल में व्यंजनों पर आचार्यो ने स्वतंत्र रूप से विचार किया है।[3] यह विवेचन इस प्रकार है।

व्यजनों के दो प्रकार है—श्रुतिमधुर और श्रुतिकटु। माधुर्यगुण के अभिव्यजकों मे विश्वनाथ ने जो वर्ग लिए हैं उनमें ट, ठ, ड, ढ को छोडकर 'क' से 'म' तक के सभी वर्ग आ जाते हैं जो अपने अपने वर्ग के अन्त्य वर्ण से मिलकर श्रुतिमधुर ध्वनि की सृष्टि किया करते है। इनके अतिरिक्त अन्यवर्ण से असयुक्त रेफ और 'ण' कार भी सम्मिलित हैं। ये वर्ण वैदर्भी रीति के निमित्त है अत: असमस्त या अल्प समासवती रचना तथा मधुर पद योजना के भी।[4]

ओज गुण के अभिव्यंजको मे वे वर्गो के आदि के प्रथम और तृतीय वर्णो का द्वितीय और चतुर्थ वर्णो से सयोग, नीचे ऊपर अथवा दोनो ओर से किसी वर्ण के साथ सयुक्त रेफ, सयुक्त अथवा असयुक्त ट, ठ, ड, और ढ तालव्य 'श' कार और

---

१ डॉ० भगीरथ मिश्र : काव्य शास्त्र : पृ० २१२

२. श्लेषः प्रसादः समता समाधिः
माधुर्यमोजः पदसौकुमार्यम्।
अर्थस्य च व्यक्तिरुदारता च,
कान्तिश्च काव्यार्थगुणा दशते ॥ १६, ९२ ॥

—भरत : नाट्यशास्त्र

3. The concepts of Riti and Vrtti in poetics owe their formulation to a study of these sound—effects. They also aecount for Rasa. It is said that the first gait of the actor on the stage interprets him and his character to the audience, that first impression stands to the last. So also the first effect a verse on its mere reading or hearing produces, holds the mind to the end. For the Rasa to be suggested, even the jingle in the sounds or the clash of words is welcome appropriate means.

—*Dr. V. Raghavan*· Some Concepts of AlankarS'astra : P. 86

४. मूर्ध्नि वर्गान्त्यवर्णेन युक्तष्टठडढान्विना
रणौ लघू च तद्व्यक्तौ वर्णाः कारणतां गताः ॥
अवृत्तिरल्पवृत्तिर्वा मधुरा रचना तथा।—साहित्यदर्पण : पृ० ८०१

मूर्धन्य 'ष' कार लेते है। इनके अतिरिक्त दीर्घ समासवती रचना और औद्धत्यपूर्ण पद योजना।[1]

प्रसाद गुण के अभिव्यजक वे शब्द होते है जिनका श्रवण मात्र से अर्थ झलक जाता है।[2] इसी का अर्थ अब यह हो गया है कि प्रसाद गुण युक्त काव्य सरलता से समझ मे आ जाता है।

उक्त गुण किस किस रस के उद्रेक मे सहायक होते है इसपर भी पर्याप्त विचार हुआ है। माधुर्य गुण के क्षेत्र सम्भोग शृगार, विप्रलम्भ शृगार और शान्त रस है।[3] इसका कारण है कि माधुर्य का सम्बन्ध हृदय की द्रवणशील वृत्ति से है। ओज गुण का क्षेत्र वीर, बीभत्स और रौद्र रस है[4] क्योकि इसका सम्बन्ध हृदय की दीप्त या उत्तेजित अवस्था से है। प्रसाद गुण सभी रसो का धर्म अथवा स्वरूप-विशेष है।[5] किन्तु ये नियम ऐसे नही है जिनमे किसी भी प्रकार से परिवर्तन न हो सके। इनके उल्लघन की कुछ विशेष स्थितियाँ है। मम्मट ने इनके तीन वर्ग किये—

१—वक्तृगत औचित्य—इसमे कविगत और कवि निबद्धवक्तृगत दोनों ही प्रकार के औचित्य आ जाते है। पात्र के स्वभाव को देखते हुए सामान्य स्थलो पर भी दीर्घ समासा सघटना का प्रयोग उचित हो सकता है।

२—वाच्यगत औचित्य—वर्णनीय विषय का औचित्य। यह वर्ण्यवस्तु के प्रभाव को बढाने के लिए किया जाता है। इसका मूल उद्देश्य भावोद्‌बोधन है।

३—प्रबन्धगत औचित्य—महाकाव्य, मुक्तक, नाटक, और कथा आदि गत औचित्य। उदाहरण के लिए जहाँ रसोद्रेक के अन्य नियामक तत्त्व भी होते है दीर्घ-समासा पदावली की कोई आवश्यकता नही।[6]

इस प्रकार हम देखते है कि सस्कृत आचार्यो ने नाद-व्यजना ध्वनियों पर विशेष ध्यान दिया है और दो ध्वनियो के निकट सम्पर्क मे आने से उत्पन्न एक नये तत्त्व पर भी विचार किया है। कविता के स्वर-सगीत पर भी विचार हुआ था या नही कहना कठिन है। यह तो नही कहा जा सकता कि रचना करते समय कवियों का इस ओर

---

१. वही : पृ० ८०३
२. शब्दास्तद्व्यंजका अर्थबोधका श्रुतिमात्रतः ॥ वही पृ० ८०६
३. वही : पृ० ८००
४. वही : पृ० ८०३
५. वही : पृ० ८०५
६. वक्तृवाच्यप्रबन्धानामौचित्येन क्वचितक्वचित ।
रचनावृत्ति वर्णानामन्य थात्वमपीष्यते ।।८, ७७।। काव्य प्रकाश

ध्यान नही गया था क्योकि गायत्री के समान स्वर, शब्द भाव और छन्द की मुक्तता के उदाहरण आज भी कम ही देखने को मिलते है।[1] आधुनिक कवियो ने इसे भी शास्त्रीय समीक्षा मे स्थान देकर कविताओं को परखने का प्रयत्न किया है।

काव्य सगीत मे स्वर प्रधान है व्यजन गौण। पन्त कहते है—"जिस छन्द मे स्वर संगीत की रक्षा की जा सकती है उसके सकोच प्रसार को यथावकाश दिया जा सकता है, उसमे राग का स्वाभाविक स्फुरण, भाव तथा वाणी का सामजस्यपूर्ण रूप मिलता है, जहाँ राग केवल व्यजनो की डोरियों मे झूलता है, वहाँ अलंकारो की झनक के साथ केवल 'हिंडोरे' की ही रमक सुनाई पडती है।'[2] कुछ तो व्यजन-सगीत को वाह्य अस्थायी और मृतक तक कह बैठे है। मुक्त छन्द मे स्वर-सगीत की महत्ता बतलाते हुए एक कवि ने लिखा है—'आ' ध्वनि का रूप है विस्तार, 'ई' ध्वनि का रूप है आनत, ऊँचाई, 'ऊ' ध्वनि मे दूरी, 'ए' ध्वनि में ऊर्ध्वगति, 'ओ' ध्वनि मे वस्तु का व्योम तथा भीम प्रवाह, और 'ऊ' मे गहराई और गाम्भीर्य है। इस मूल्यांकन के बल पर मैंने विभिन्न वातावरण निर्माण किये है।[3]

प्राचीन और आधुनिक विद्वानो की स्वर और व्यंजन सम्बन्धी विवेचना को उपस्थित करने के पश्चात् हम एक और निष्कर्ष पर पहुँचते है। वह यह कि वर्ण जैसे, विशिष्ट भावोद्‌बोधन मे सहायक होते हैं उसी प्रकार वस्तु-ध्वनि के प्रसंग मे वस्तु के आकार-प्रकार का बिम्ब खड़ा करने मे या इन्द्रिय सवेद्य बनने में भी सहायक होते हैं। पानी की गति के लिए विशेष वर्णो, 'ल' 'च्छ', आदि का अधिक प्रयोग होता है। अतः पद, वाक्य और प्रबन्ध प्रकाश्य वस्तु-ध्वनियों के साथ साथ वर्ण प्रकाश्य वस्तु-ध्वनि का एक अलग वर्ग मानने के पक्ष मे हम हैं। इसके कुछ उदाहरण व्यावहारिक पक्ष मे दिये जायेंगे।

इस विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि कविता के भाव जिस भाषा में रूपान्तरित होते हैं वह चित्रों और राग की भाषा है। राग चित्रो को उभारने मे कितने शक्ति सम्पन्न होते है इसके कई उदाहरण लम्बार्न महोदय ने दिये हैं।[4] हमारे यहाँ जब काव्य के श्रव्य और दृश्य दो भेद किये गये तो क्या उसी समय से उसके साथ नाद का सम्बन्ध नही जुड गया? हम देखते है कि पाश्चात्य विद्वानो ने भी काव्य का प्रभाव बढानेवालो तत्त्वो मे इसे स्थान दिया है। कालरिज की मान्यता है कि काव्य

---

१. निराला : गीतिका (भूमिका) : पृ० १
२. सुमित्रानन्दन पन्त : गद्यपथ : पृ० २९
३. तार सप्तक, अज्ञेय द्वारा सम्पादित : पृ० ४१
4. *E. A. Greening Lamborn:* The Rudements of Criticism : P. 20

के सस्वर पाठ द्वारा ही छन्द की लय और मधुरता बिना काव्य के सौन्दर्य को नष्ट किये अधिक प्रभावपूर्ण ढग से हम तक पहुँच पाती है।[1]

भाषा की इस द्विविध शक्ति को देखते हुए कवि पन्त ने इसके दो वर्ग किये—चित्र भाषा और चित्र राग।[2] यद्यपि भाषा मात्र कह देने से उसके इन दोनो रूपो की ओर सकेत हो जाता है किन्तु स्थल विशेष पर दोनो मे से एक की प्रधानता को देखते हुए आधुनिक समालोचक भी इनको अलग अलग मानने के पक्ष मे है।[3] चित्र भाषा मे रूप व्यजक शब्द रखे जाते है और चित्रराग में अर्थ और भाषा का सामंजस्य, स्वरैक्य होता है।

नाद व्यजना को सुगठित रूप देने के लिए तुक और लय की सहायता जी जाती है। इन्ही के विशेष वर्गों को 'छन्द' नाम दिया गया है।

तुक—राग का हृदय है, जहाँ उसके प्राणों का स्पन्दन विशेष रूप से सुनाई पडता है।'[4] एक ही वर्ग की ध्वनियो का साथ साथ अथवा विशेष काल बाद आना तुक है। हिन्दी मे इसे अनुप्रास कहते है। वातावरण तैयार करने में इससे विशेष सहायता मिलती है। सामाजिक जब अपनी आज्ञानुसार कोई ध्वनि मैत्री पाता है तो उसे विशेष प्रसन्नता होती है। तुक उसकी इसी आशा को पूरा कर काव्यानन्द मे अभिवृद्धि करता है। इसके अतिरिक्त वह काव्य के प्रसार को सीमित कर उसे एक सुष्ठु रूप भी देता है। तुक कवि के मार्ग का रोड़ा नही है (जैसा कि आज के कवि समझते या जतलाते है) वरन् उसी की दिशा मे सुखद उडान भरने के लिए पख है।[5] उसे इसकी प्रेरणा भी मन के उसी ओज से मिलती है जहाँ से अन्य प्रेरणाये।[6] अतएव तुक काव्य की प्रत्यक्ष नियम है। मनुष्य के जीवन मे चतुर्दिक् एक नियम दृष्टिगोचर होता है। काव्य मे उसकी अनुरूपता पाकर उसे सुख मिलता है।

लय—काव्य का दूसरा नियम लय है। तुक की भाँति लय भी सामाजिक की आशा की पूर्ति कर आनन्द का साधन बनती है। पो महाशय तो कविता को सौन्दर्य की लयात्मक रचना ही कहा करते थे।[7] जिस प्रकार पढते समय शब्द के पहले अक्षर

1. *Coleridge:* Select Poetry and Prose : P. 326
२. सुमित्रानन्दन पन्त : गद्यपथ : पृ० १८ से १९
३. सुधीन्द्र : हिन्दी कबिता में युगान्तर : पृ० २८२
४. सुमित्रानन्दन पन्त : गद्यपथ : पृ० ३१
5. *Samuel Daniel.* Eng. Critical Essays, Vol-1, Ed. by E. D. Jones P : 69
6. *Leigh Hunt*: Eng. Critical Essays; Vol-II, Ed. by E.D. Jones P:326
7. I would define, in brief, the Poetry of words as the rhythmical *creaion of beauty—E.A. poe* Complete Poetical works with three Essays on Poetry. P : 22

को देखते ही अनजाने मे ही हम शेष अक्षरो का अनुमान लगा लेते है उसी प्रकार एक आध पक्ति पढ लेने के बाद हम विशेष कालो के अन्तर पर सम्भाव्य स्वरों का उतार अनुमान करने लग जाते है और दूसरो के प्रति उदासीन हो जाते हैं। कवि भी या तो हमारी आशा के अनुरूप कहता चलता है या उमे थोडा सा धक्का देकर चमत्कार पैदा करता है। दोनो ही रूपो मे हमे सुख मिलता है।[1] दूसरे प्रकार मे भी जो परिवर्तन होता है वह इतना आकस्मिक और विपरीत दिशा मे नही होता कि झटका सा लगे। इस परिवर्तन के लिए भी हम अज्ञान रूप से तैयार रहते है।

छन्द—टिलयर्ड महोदय का कहना है कि जब कवि किसी वस्तु के सम्बन्ध मे भावो मे भर जाता है तो उसकी स्वाभाविक अभिव्यक्ति छन्दोबद्ध ही होती है।[2] छन्दो के अनेक प्रकार तुक और लय के आधार पर बने है और बनते चले जा रहे है किन्तु प्राचीन और नवीन छन्द विधान मे कुछ विशिष्ट भेद दिखाई पड़ता है। अग्रेजी के एक विद्वान ने इस भेद को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि प्राचीन कवि प्रत्येक अक्षर के वजन को गिनकर छन्द बनाता था। इस प्रकार उन छन्दो में सगीत तत्व अधिक होने के कारण वे कवि के मनोभावो को समुचित रूप से प्रकट करने मे पूर्ण समर्थ होते थे। आधुनिक कवि उच्चारण पर, उसमे प्रयुक्त होने वाली स्वर-मैत्री पर, अधिक ध्यान देता है।[3] यद्यपि भारतीय छन्द-शास्त्र मे वर्णिक और मात्रिक छन्दो का प्रयोग बहुत दिनो मे चला आ रहा है तथापि जैसे जैसे भाव क्षेत्र की नई नई सीमाओ का पता लगता गया नये ढग से स्वरो और व्यंजनों की प्रकृति पर ध्यान देने की आवश्यकता का अनुभव होने लगा। इस दिशा मे की गई खोज नये काव्य की सम्पत्ति है। पर यह नही समझना चाहिये कि प्राचीन काल मे भावानुकूल छन्द योजना पर विचार नही हुआ था हुआ था और खूब हुआ था। छन्द और रस के अभिन्न सम्बन्ध को उन्होने अच्छी तरह पहिचाना था। छन्द भावोद्बोधन को कठिन कार्य को सरल बनाने के लिए है। इसी आधार पर भरत मुनि विशेष रसो के लिए विशेष छन्दो की व्यवस्था की है। नाट्यशास्त्र मे लिखते है:—

शृगार रस मे रूप-दीपक-सयुक्त आर्याओ वृत्तो का प्रयोग होना चाहिये। उत्तरोत्तर वीर रस मे जगती, अति जगती, सस्कृति वर्ग के छन्दो का, युद्ध-सफेट मे प्रकृति वर्ग के छन्दो का और करुण मे शक्वरी तथा अतिधृति छन्दो का प्रयोग होना

1. *I.A. Richards* : Principles of Literary Criticism. P: 134
2. *P.E.M.W. Fillyard* · Poetry Direct and oblique. P: 16
3. *Phillip Sydney :* An Apology of Poetry (from Eng. Critical Essays Ed. by Edmund D. Jones : Vol-1, P. 51

चिहृये। जिन छन्दो का वीर रस मे प्रयोग होता है उन्ही का रौद्र रस मे भी प्रयोग होना चाहिये। शेष छन्दो का प्रयोग रस के अनुकूल करना चाहिये।

दण्डी ने भी विभिन्न भावो के लिए विभिन्न वृत्तो का प्रयोग स्वीकार किया है।[1] डॉ० पुत्तलत शुक्ल ने आधुनिक हिन्दी काव्य मे छन्द योजना' शीर्षक शोधग्रन्थ मे रसो मे छन्दो की अनुकूलता के प्रसग मे छन्दो और रसो का सम्बन्ध स्थापित करते हुए जो वर्ग बनाए हैं उनमे से कुछ इस प्रकार है :—

श्रृंगार—इन्द्रवज्रा, उपेन्द्रवज्रा, उपजाति, वसन्ततिलका, मालिनी, शिखरिणी मन्दाक्रान्ता, शार्दूलविक्रीड़ित, वशस्थ, मत्तगयन्द, दुर्मिल, मदिरा, घनाक्षरी, आर्या, गीति, उद्गीति, विष्णुपद, सरसी, सार, वीर, दोहा, चौपाई, रोला, राधिका, हरिगीतिका।

वीर-रौद्र—शार्दूलविक्रीडित, भुजगप्रयात, सगधरा, पचचमर, वशस्थ, शिखरिणी, छप्पय हरिगीतिका, रोला, कुण्डलिया, पद्धरित्रोटक।

करुण—मन्दाक्रान्ता, द्रुतविलम्बित, वशस्थ, मालिनी, हरिणी।

हास्य—कवित्त, सवैया, त्रोटक, हरिगीतिका, श्रृगार, चौपाई, योग, सरसी, माधवी।

बीभत्स—रोला, घनाक्षरी, छप्पय, दोहा, चौपाई, सवैया।

भक्ति—शिखरिणी, अनुष्टुप, वसन्ततिलका त्रोटक, सगधरा, भुजगप्रयात, इन्द्रवज्रा, पचचमर।

वात्सल्य—पद, ताटक, चौपाई, अरिल्ल, हाकलि, सखी श्रृगार, सार, घनाक्षरी, आर्यागीति, मिताक्षरी।

शान्त—मन्दाक्रान्ता, द्रुतविलम्वित, शिखरिणी, वशस्थ, दोहा, चौपाई, सोरठा, रोला, चौपदा, रूपमाला, हरिगीतिका, मोहिनी, त्रिभगी, झूलना, दण्डक, वीर, घनाक्षरी।

प्रकृति और रूप चित्रण—मन्दाक्रान्ता, द्रुतविलम्बित, वशस्थ, रोला, तिलोकी, ताटक, राधिका, सार, रूपमाला, सरसी, श्रृगार, चौपाई, श्रृगार हारस रोला, चतुष्पदक।

मुक्त छन्द के सम्बन्ध मे आपका मत है कि जो कवित्त छन्द की लय पर निर्मित है उसमे वीर और रौद्र रस विशेष खिला है। जैसे, 'पेशोला की प्रतिध्वनि' या

---

१. **दण्डी : काव्यादर्श** : १, १९।

'शेरसिंह का आत्मसमर्पण' मे। अखण्ड प्रवेगशील भावधारा मे वर्णिक मुक्त छन्द अधिक सफल होता है और कोमल मथर शोभन भाव मात्रा-मुक्त छन्द मे।[१]

अत यह धारणा एक भ्रम है कि मात्राओ और यतियो का नियम एक बन्धन है और उसके बाहर कोई कवि जा ही नही सकता। छन्द वस्तुतः एक गति है जो वाणी के प्रवाह को वेगवान बनाती है।[२] आवश्यकतानुसार उसमे परिवर्तन किये जा सकते है और किये जा रहे है। कवि अनजाने ही इस दिशा मे अनेक प्रयोग कर डालते है। रूढ हो जाने पर वे ही छान्दसिक के अन्तर्गत आ जाते है।

यहाँ तक ध्वनि के प्रत्यक्ष एव विशिष्ट उपकरणो का उल्लेख हुआ है। इनके साथ ही उन उपकरणो को भी नही भुलाया जा सकता जो परोक्ष रूप मे किसी न किसी प्रकार साहित्य का आनन्द देन मे सहायक होते है और इसलिए ध्वनि मे भी।

साहित्यशास्त्रियो ने कवि-कर्म पर तो बहुत लिखा पर सामाजिक-कर्म पर नही के बराबर। उसे सहृदय मात्र कहकर सब बातो से छुट्टी ले ली। हाँ, यह 'सहृदय' शब्द बडा व्यापक है। इसके भीतर समा जानेवाले तत्त्वो मे कल्पना का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। सामाजिक मे जब तक ग्रहणशीला कल्पना नही होगी तब तक सुन्दर से सुन्दर काव्य भी उसके लिए अर्थहीन होगा।[३] सच पूछा जाय तो 'ध्वनि' शब्द की शक्ति इतनी नही है जितनी वह सहृदय के रसास्वादन की शक्ति है। रसिक अपनी भावना और कल्पना के बल पर ध्वन्यर्थ मे प्रवेश करता है। अपनी ही रस चर्वणा से उसे आनन्द भी होता है।[४]

कल्पना के दो प्रकार माने गए है। एक ओर वह काव्य-चित्र को हृदयगम कराने मे सहायक होती है, दूसरी ओर गुण-दोष विवेचन की शक्ति देती है। दूसरा उसका व्याख्यात्मक रूप है।[१] कुछ मनोवैज्ञानिक दोनो को एक मानने का आग्रह करते हैं। इसका कारण है आश्रय की एकता। किन्तु आश्रय की एकता होते हुए भी भिन्न भिन्न कार्यो के विचार से दोनो को एक नही माना जा सकता।

इसी प्रकार का दूसरा तत्त्व है मन का ओज।[२] काव्य का रसास्वादन मन

---

१. आधुनिक हिन्दी काव्य में छन्द योजना पृ० ४६ से ४९ तक।

2. And while on the one hand no amount of classical learning can create a true appreciation of literature in those who lack the organ of appreciation.

—*A. E. Mousman*· Introductory Lecture : P. 29

३. डॉ० हरद्वारीलाल शर्मा : सौन्दर्य-शास्त्र : पृ० १५७।

४. रामखेलावन पाण्डेय . काव्य और कल्पना : पृ० १५।

५. राम खेलावन पाण्डेय : काव्य और कल्पना : पृ० १५

६. लक्ष्मीनारायण 'सुधांशु' : जीवन के तत्त्व और काव्य के सिद्धांत : पृ० ६३ :

के अतिरिक्त ओज पर निर्भर करता है। अत: रचयिता को चाहिये कि व्यर्थ की बात कहकर सामाजिक का ओज नष्ट न करे। साराश यह कि काव्य के पूर्ण आनद की उपलब्धि केवल काव्य-गुणो पर ही नही सामाजिक की मन स्थिति पर भी निर्भर करती है। रसोद्रेक के लिए एक ही पक्ष नही लिया जा सकता।

२

काव्य का सौन्दर्य—ध्वनन व्यापार

ध्वनिकार के पश्चात् कुछ विरोधियो को छोडकर सस्कृत के अधिकाश आचार्यो ने काव्य का सौन्दर्य व्यग्यार्थ मे ही स्वीकार किया। यह परम्परा आधुनिक युग मे भी अविच्छिन्न रूप से चलती रही जब तक कि अभिधावादी आचार्य रामचन्द्रशुक्ल ने इसे फिर से झकझोर नही दिया। अपने इन्दौर वाले भाषण मे 'काव्य की रमणीयता किसमे रहती है' का बेधडक उत्तर देते हुए वे कहते है—'वाच्यार्थ मे, चाहे वह योग्य और उपपन्न हो अथवा अयोग्य और अनुपपन्न। कोई रसात्मक या चमत्कार विधायक उक्ति लीजिये। उस उक्ति ही मे, अर्थात् उसके वाच्यार्थ ही मे, काव्यत्व वा रमणीयता होगी। इसके आगे विरहिणी उर्मिला से सम्बन्धित साकेत से दो उदाहरण[1] प्रस्तुत करते हुए दूसरे के सम्बन्ध मे कहते है—'सारा रस, सारी रमणीयता इसी व्याहत और बुद्धि को अग्राह्य वाच्यार्थ मे ही है, इस योग्य और बुद्धि ग्राह्य व्यग्यार्थ मे नही कि उर्मिला को अत्यन्त औत्सुक्य है। इससे स्पष्ट है कि वाच्यार्थ ही काव्य होता है, व्यंग्यार्थ या लक्ष्यार्थ नही।' वे लक्ष्यार्थ या व्यग्यार्थ को काव्य को धारण करनेवाला सत्य कहते है जिसकी देख रेख मे काव्य मनमानी क्रीड़ा कर सकता है।

प० रामदहिन मिश्र ने शुक्ल जी का कड़ा विरोध किया। उन्होने इसके विरुद्ध छः आपत्तियाँ उठाई:—

(१) शुक्लजी ने उक्ति का अर्थ जो वाच्यार्थ किया है वह ठीक नहीं है। उक्ति का तात्पर्य शब्दावली मे है। शब्द ही उक्ति होते है और उनका अर्थ वाच्यार्थ। प्रयुक्त शब्द ही रमणीयता वहन करते है।

(२) उदाहृत समूचा वाक्य लक्षणायुक्त नही है। लक्षणा केवल मरे पद मे है। उन्होने (शुक्लजी) जो यह लक्ष्यार्थ 'जीकर यह क्यो कष्ट भोगे' किया है उसमे वाच्यार्थ के कुल पद ले लिये है। केवल 'कष्ट भोगे, यही लक्ष्यार्थ है।

---

१. जीकर, हाय! पतंग मरे क्या?
आप अवधि बन सकूँ कहीं तो, क्या कुछ देर लगाऊँ।
मैं अपने को आप मिटा कर, जाकर उनको लाऊँ॥

(३) जिस विवरण को आप (शुक्लजी) लक्ष्यार्थ कहते है वह तो स्वत. वाच्यार्थ है क्योंकि उसमें समस्त वाचको का ही प्रयोग है। जब लक्षको का प्रयोग होगा तब लक्ष्यार्थ की प्रतीति होगी और तभी चमत्कार होगा।

(४) यदि वाच्यार्थ को ही काव्य माना जाय तो उक्त वाक्याश का जो 'मरे' का मरना अर्थ होगा उससे तो 'जीकर मरने' के वाक्यार्थ की निबाध स्पष्टता नही होगी। संगीत बैठना और उसमे रमणीयता और काव्यत्व आना कल्पना के बाहर की बात है।

(५) शुक्लजी ने योग्य और उपपन्न वाच्यार्थ मे कवित्व तो माना पर उदारहण व्याहत वाच्यार्थ का ही दिया। अव्याहत वाच्यार्थ का उदाहरण देते तो बात स्पष्ट होती।

(६) अभिव्यजनावाद भी केवल वाग्वैचित्र्य को ही प्रधानता नही देता। सौन्दर्य-विधान भी उसका ध्येय है। उसमे अनुभूति और प्रभाव भी सम्मिलित है।

इससे प० रामदहिन मिश्र यह निष्कर्ष निकालते है कि काव्यत्व केवल अभिव्यजना मे, उक्ति वैचित्र्य मे, भणिति-भगी या व्याहत वाच्यार्थ मे ही नहीं होता, अपितु रसात्मक, सीधे-सादे वाच्यार्थ मे, वाच्यार्थ पर आधारि लक्ष्यार्थ मे तथा उभयमूलक व्यग्यार्थ मे रहता है।[1] अन्त मे शुक्ल जी के साहित्य से ही कई उदाहरण देकर वे सिद्ध करते है कि स्वय शुक्लजी भी व्यवहार मे अपने मत के विरुद्ध गए है। इस प्रकार उनके मत से काव्यत्व व्यग्यार्थ मे ही होता है।

डॉ० नगेन्द्र ने भी हिन्दी ध्वन्यालोक की भूमिका मे आचार्य शुक्ल से मत का खण्डन करते हुए प० रामदहिन मिश्र से सहमति प्रकट की है।

हमारा मत उक्त दोनो विद्वानो से भिन्न है। यह सत्य है कि उक्ति एक वस्तु है और उसका वाच्यार्थ, लक्ष्यार्थ या व्यग्यार्थ बिल्कुल दूसरी। उक्ति रमणीयता वहन करती है, सामान्यतः यह कहा जा सकता है किन्तु यह कहना ठीक नही है कि उक्ति के अमुक वाच्यार्थ मे रमणीयता है या इससे जो अमुक लक्ष्यार्थ या व्यग्यार्थ निकल रहा है उसमें है। किसी उक्ति के निहित अर्थो का अभिव्यक्ति जब शब्दो के माध्यम से होती है तो वे लक्ष्यार्थ या वाच्यार्थ नही रह जाते। स्वतत्र वाच्यार्थ बन जाते है। भले ही वे बाहर न प्रकट होकर हमारे मन मे ही रहे। इसके अतिरिक्त जब व्यंग्यार्थ की प्रतीति हो जाती है तब भी हम बार बार उक्ति को ही क्यो पढते हैं और जिस उक्ति मे वाच्यार्थ मे अतिरिक्त और कुछ नही होता उसे भी बार बार नही पढा जाता। इससे निष्कर्ष यह निकला कि वाच्यार्थ के अतिरिक्त अर्थ से युक्त

१. काव्यालोक, द्वितीय उद्योत. पृ० १७४

उक्ति काव्य है और उसकी रमणीयता न अकेले वाच्यार्थ मे है न व्यग्यार्थ मे वरन् वाच्यार्थ को व्यर्थ जानकर व्यग्य वस्तु तक पहुँचने के व्यापार मे है।

अलकार-ध्वनि के प्रसग मे हम देख आए है कि ऐसे स्थलो पर काव्य का सौन्दर्य अलकरण व्यापार मे है न अलकार मे न अलकार्य मे ठीक यही बात रस और वस्तु-ध्वनि के स्थलो पर भी चरितार्थ होती है। सौन्दर्य वाच्यार्थ से लक्ष्यार्थ अथवा व्यग्यार्थ तुक जाने में व्यजना व्यापार ध्वनत व्यापार मे—है, न वाच्यार्थ मे, न लक्ष्यार्थ मे और न व्यग्यार्थ मे।

३

काव्य-कोटि निर्धारण

आनन्दवर्धन ने ध्वनि के मापदण्ड को लेकर काव्य के अनेक वर्ग किये। ध्वनि, गुणीभूत और चित्र काव्व व्यग्य के ही कम या अधिक सस्पर्श से अलग-अलग पहिचाने जाते हैं।

ध्वनि काव्य—जहाँ शब्द अपने को अपने अर्थ को गुणीभूत कर प्रतीयमान अर्थ को अभिव्यक्त करते है वह काव्य विशेष ध्वनि है।[१]

गुणीभूत काव्य—प्रतीयमान अर्थ का अस्फुट रूप से प्रतीत होना और वाच्य का अग बन जाना गुणीभूत का विषय है।[२]

चित्र काव्य—उपर्युक्त दोनों काव्यो से भिन्न (व्यग्य के स्पर्श से रहित) चित्रकाव्य है।[३]

काव्य प्रकाशकार ने उपर्युक्त तीनो सज्ञाओ को ग्रहण किया और उनके लक्षण भी वे ही माने किन्तु इसी आधार पर काव्य की कोटियाँ निर्धारित करते हुए उन्हे उत्तम, मध्यम और अवर नाम भी दिये। हमारी धारणा है कि आचार्य मम्मट का यह अपना दृष्टिकोण है। आनन्दवर्धन ने यद्यपि स्थान-स्थान पर रसध्वनि की श्रेष्ठता स्वीकार की है, किन्तु वे प्रथम दोनो को समान महत्ता देते प्रतीत होते है। चतुर्थ उद्योत को प्रथम और द्वितीय दोनों कारिकाओ मे वे कहते है कि कवि की वाणी को नवीनता देने के कारणो मे ध्वनि और गुणीभूत दोनो ही सफल सिद्ध होते है।[४] हॉ, चित्रकाव्य को उन्होने अवश्य ही काव्य नही, काव्य की अनुकृति माना।[५] इसका

---

१. ध्वन्यालोक १,१३ ॥
२. वही · ॥२,३४॥
३. वही : ॥३,४२॥
४. वही : ॥४,१ और २॥
५. न तन्मुख्य काव्यम्। काव्यानुकारी हयसो। -वही : पृ० २२०.

कारण है उसका व्यग्यार्थ स्पर्श रहित होना। अनेक इस विवेचन का साराश यह निकला कि व्यग्यार्थ का थोडा सा भी स्पर्श हो तो रचना काव्य है, उसकी उत्तम मध्यम कोटि नही निर्धारित की जा सकती। किन्तु बाद के आचार्यो ने मम्मट के दृष्टि कोण को ही अपनाया।

विश्वनाथ के अनुसार काव्य की केवल दो कोटियाँ है—सर्वोत्तम काव्य ध्वनि और अनुत्तम काव्य गुणीभूत।[1] चित्रकाव्य काव्य ही नही है। इसी को लेकर उन्होने आनन्दवर्धन और मम्मट का विरोध भी किया।[2]

पडितराज जगन्नाथ, जो स्वभाव से ही विस्तारवादी थे, काव्य की तीन कोटियो से ही सन्तुष्ट नही हुए। उन्होंने इसके उत्तमोत्तम, उत्तम, मध्यम, अधम और अधमाधम पाँच भेद किये। किन्तु यह वर्गीकरण अधिक प्रचलित न हो सका क्योकि उनके बाद के आचार्यो मे सब मम्मट का ही अनुसरण करते प्रतीत होते है।[3]

उत्तमोत्तम काव्य ध्वनि का ही दूसरा नाम है। उत्तम काव्य मे व्यग्य अप्रधान होकर ही चमत्कार का कारण बनता है। यह अप्रधानत्व वाक्यार्थ अथवा अन्य व्यग्यार्थ किसी को भी तुलना मे हो सकता है।[4] इसके उदाहरण स्वरूप उन्होने मम्मट के अपरागव्यग्य का उदाहरण लिया। मध्यम काव्य वह है जहाँ वाच्य अर्थ का चमत्कार व्यग्य अर्थ के चमत्कार के अधिकरण मे न रहे।[5] ऐसे काव्य अर्थ का चमत्कार लघु अश मे रसकर भी व्यापक वाच्य अर्थ के चमत्कार मे अन्तर्भुक्त हो जाने से स्पष्टतया अनुभूत नही होता।

इस विवेचन से स्पष्ट है कि उन्होने गुणीभूत को दो वर्गो मे बाँट कर उत्तम और मध्यम नाम दे दिये हैं।

अधम काव्य के विषय में पडितराज का कहना है कि यद्यपि इस काव्य मे भी कुछ न कुछ अवश्य रहता है परन्तु वह चमत्कारजनक न होने से अविवक्षित ही रहता है। इसके लिए दिये गए उदाहरण मे शब्दालकार ही प्रमुख है।

---

१ साहित्य दर्पण : ।।४, १।।

२ तस्य काव्यत्मति नास्तीति प्रागेवोक्तम्—वही : पृ० ३९६.

३. इस सम्बन्ध में मैसूर के कवि नरसिंह का उल्लेख किया जा सकता है। इनका समय १८ वीं० शती का मध्य है। 'नंजराज यशोभूषम्' (पृ० २०) मे इन्होंने 'अथ व्यगयस्य प्राधान्य-गाधान्याम्यामस्फुत्वेन त्रिविधं काव्यम्' कहकर काव्य की तीन ही कोटियों की ओर सकेत किया है।

४. यत्र व्यंजयमप्रधानमेव सच्चत्मकारकारणं तदिदवतीयम्। रसगगाधर: पृ० १७

५. यत्र ग्यग्थचमत्कारासमानाधिकरणो वाच्यचमत्कारस्ततृतीयम् : वही : पृ० १९

उनके मत से अधमाधम नाम का अन्तिम भेद ही व्यग्य संस्पर्श रहित है। एकाक्षर पद्य, अर्धावृत्ति यमक, पद्य-वन्ध आदि इसके उदाहरण है।

पडितराज अधम और अधमाधम भेद आनन्दवर्धन के अर्थ चित्र और शब्दचित्र हैं।

अप्पय दीक्षित ने चित्रकाव्य के तीन भेद किये—अर्थचित्र, शब्दचित्र और उभयचित्र।[२]

प्राचीन आचार्यो का यह कोटि निर्धारण ध्वनि के आधार पर हुआ है। आधुनिक युग मे डा० भोलाशकर व्यास ने यह कार्य रस का आधार लेकर किया है। 'ध्वनि सम्प्रदाय और उसके सिद्धान्त' नानक अपने शोध ग्रन्थ मे वे लिखते है, 'काव्य के दो प्रकार है—(१) एक वह जिसमे व्यजक मे विशेष चमत्कार है दूसरा वह जिसमे व्यग्य मे विशेष चमत्कार है। मनोविज्ञान की भाषा मे कहा जा सकता है कि व्यजक प्रधान ध्वनि काव्य मे हृदय की अपेक्षा 'बुद्धिपक्ष' की विशेष प्रधानता है। ....व्यग्य प्रधान ध्वनि काव्य मे मनस्तत्व तथा रागात्मकता की प्रधानता है।[३] इस दृष्टिकोण से वे रसध्वनि को प्रथम, उत्तमोत्तम, कोटि का और वस्तु ध्वनि तथा अलंकार ध्वनि को द्वितीय, उत्तम कोटि का काव्य मानते है। द्वितीय कोटि मे भी उहात्मक काव्यो को जाति बहिष्कृत कर देते है। तीसरी, मध्यम, कोटि के अर्थ चित्र और चतुर्थ, अधम, कोटि मे शब्दाडम्बरमय काव्य को लेते है।

हमारा विचार है कि इस प्रकार से काव्य कोटियों का निर्धारण। प्रत्येक युग की अपनी अपनी प्रवृत्तियां और मान्यताये हुआ करती है। काल की कसौटी पर यदि कसे तो भी हम देखते है कि बिहारी के दोहो का सूर के पदों और तुलसी की की चौपाइयो से कम प्रचार नही हुआ है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने साहित्य के मर्म पर दिये गए व्याख्यानो मे यही दिखलाने का प्रयत्न किया है कि समय-समय पर साहित्य का मर्म भी बदलता रहा है। केशव की अत्यधिक अलकारवादिता आज उनकी त्रुटि कहलाती है पर उस समय की जनता उनसे यही चाहती थी। तुलसी का बार-बार देवताओ से फूल बरसवाना भक्ति की आड में दोष मुक्त हो जाता है। आज कोई भक्त भी ऐमा करे तो उसे कोई टके की न पूछे। युग अपनी रुचि के अनुसार उत्तम और अधम का भेद स्वयं कर लेता है। सब कालो के लिए कोई एक निश्चित माप नही हो सकता।

---

१. यत्रार्थ चमत्कृत्युपस्कृता शब्दचमत्कृतिः प्रधानं, तदधमं चतुर्थम् : वही पृ० १९

२. तत्त्रिविधम्—शब्दचित्रअर्थमुमयचित्रामिति।—चित्रमीमांसा : पृ० ४

३. ध्वनि सम्प्रदाय और उसके सिद्धान्त : पृ० ३३५.

षष्ठ अध्याय

ध्वनि-भेद-निरूपण

अब तक हमने ध्वनि के आधारो और उपकरणों का विवेचन किया है। अन्त मे उन सबकी सहायता से ध्वनि-भेद-सकलन की आवश्यकता प्रतीत होती है क्योकि आचार्यो मे इस पर भी काफी मतभेद रहा है। पहले हम अन्य आचार्यो के मत को ले रहे है।

आनन्दवर्धन ने ध्वनि-भेद के आधार बतला कर कुछ उपभेदो का उल्लेख भी किया किन्तु उनका सकलन कही नही किया। यह कार्य अभिनवगुप्त और मम्मट द्वारा सम्पन्न हुआ।

आनन्दवर्धन के भेद निरूपण की पद्धति इस प्रकार है :

ध्वनि के मुख्य दो आधार है—अभिधा और लक्षणा। अत. ध्वनि के मुख्य दो भेद हुए—अभिधामूला और लक्षणामूला। इन्ही को मुख्य अर्थ के अबाध और बाध के कारण क्रम से विवक्षितान्यपरवाच्य और अविवक्षितवाच्य भी कहते है। अविवक्षितवाच्य के दो भेद हुए—(१) अर्थान्तर सक्रमित और (२) अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य। प्रथम मे मुख्यार्थ ही लक्ष्यार्थ मे सक्रमित होता है इसलिए उसे अजहत्स्वार्था और दूसरी को मुख्यार्थ के पूर्ण त्याग के कारण जहत्स्वार्था भी कहते है।

विवक्षितान्यपरवाच्य के भी दो मुख्य उपभेद हुए—(१) असलक्ष्यक्रम और (२) सलक्ष्यक्रम। प्रथम मे भी मुख्यार्थ से ध्वन्यार्थ तक पहुँचने मे क्रम तो होता है पर शीघ्रता के कारण लक्षित नही होता। रसादि-ध्वनियाँ इसी के अन्तर्गत आती है। संलक्ष्यक्रम ध्वनि शब्द और अर्थ की शक्ति से आक्षिप्त होकर दो प्रकार की होती है। जहाँ दोनों शक्तियाँ समान रूप से कार्य करती है वहाँ इसका तीसरा भेद उभयशक्त्युद्भव ध्वनि के सत्यता और वक्ता भेद से स्वत: सम्भवी, कवि प्रौढोक्ति सिद्ध और कवि निबद्धवक्तृप्रौढ़ोक्तिसिद्ध तीन उपभेद होते है। संक्षेप मे यही उपभेदो के विशाल भवन की नीव है।

लोचनकार ने द्वितीय उद्योत की ३१वीं कारिका की व्याख्या मे शुद्ध ध्वनि के ३५ भेद गिनाये है।[1] उनकी गुणन प्रक्रिया इस प्रकार है—

---

१. ध्वन्यालोक लोचन सहित : पृ० २८१.

अविवक्षितवाच्य—(१) अर्थान्तर सक्रमित (२) अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य

विवक्षितवाच्य—(१) असलक्ष्यक्रम (१) पद (२) वाक्य (३) वर्ण (४) सघटना और (५) प्रबन्ध प्रकाश्य

(२) संलक्ष्यक्रम के शब्द और अर्थ भेद से दो उपभेद। अर्थ—शक्त्युद्भव के स्वत. सम्भवी आदि तीन उपभेद। ये तीनो वस्तु अलंकार रूप होने से छ प्रकार के और परस्पर व्यग्य व्यजक भाव से १२ प्रकार के हुए।

अब संलक्ष्यक्रम के १३ और अविवक्षितवाच्य के २ भेद पद और वाक्य प्रकाश्य होने से ३० उपभेद हुए जिनमें असलक्ष्यक्रम के ५ भेद और मिला देने से कुल मिलाकर ३५ भेद हो जाते है।[1]

स०	नाम उपभेद सहित		भेद स०
१	अविवक्षित वाच्य लक्षणामूल ध्वनि		२
	(क) अर्थान्तर सक्रमित—पदगत और वाक्यगत		२
	(ख) अत्यन्त तिरस्कृतवाच्य—पदगत और वाक्यगत		२
२	विवक्षित वाच्यअभिधा मूल ध्वनि		
	(क) असलक्ष्यक्रम—पद, वाक्य, पदैकदेश, वर्ण, प्रबन्ध		६
	(ख) सलक्ष्यक्रम—(१) शब्दशक्ति (२) अर्थशक्ति, प्रकाश शब्द शक्ति।		
	(१) वस्तु—पदगत और वाक्यगत		२
	(२) अलंकार—पदगत और वाक्यगत		२
	अर्थ शक्ति		
	वस्तु और अलकार		
	(१) स्वतः सिद्धार्थ (२) कविप्रौढोक्त्यर्थ	वाक्य, पद	
	(३) सिद्धार्थ (४) कवि निबद्धार्थ	और	३६
	(५) वक्तार्थ (६) प्रौढ़ोक्त्यर्थ	प्रबन्धगत[2]	१
	शब्दार्थ शक्ति		
	एकत्र भेद		५१

---

१. लोचन के व्यंग्यव्यजकयोरुक्तभेदनयेन चतुर्थति पाठ को आचार्य विश्वेश्वर भ्रष्ट मानते है। —हिन्दी ध्वन्यालोक : पृ० ४२६

२. इस अंश को अन्य आचार्य इस प्रकार लिखते है:—वस्तु अलंकार—परस्पर भेद से ४ प्रकार—स्वतः सम्भवी आदि भेद से १२ प्रकार—पद, वाक्य, प्रबन्ध भेद से ३६ प्रकार

काव्यप्रकाशकार ने शुद्ध ध्वनि के ५१ भेद[1] गिनाये हैं। भानु कवि ने उनकी गुणन क्रिया की तालिका उपरोक्त के अनुसार दी है—इसके बाद भानु कवि कहते है कि हमारी सम्मति मे इनके मुख्य भेद केवल १८ का ही मानना अलम् है जो इस प्रकार है—

स०	ग्रन्थकर्ता भानुमतानुसार	प्राचीन संस्कृत कवियो के मतानुसार
	अविवक्षितवाच्य	अविवक्षितवाच्य
१.	अर्थान्तर सक्रमित	अर्थान्तर संक्रमित
२.	अत्यन्त तिरस्कृत	अत्यन्त तिरस्कृत
	विवक्षितवाच्य	विवक्षितवाच्य
३.	असलक्ष्यक्रम	असंलक्ष्यक्रम
	सलक्ष्यक्रमान्तर्गत	सलक्ष्यक्रमान्तर्गत
	(१) शब्दशक्ति	(शब्दशक्ति)
४.	वस्तु से वस्तु	वस्तु
५.	वस्तु से अलकार	अलकार
	(२) (अर्थशक्ति)	(२) अर्थशक्ति
	(क) स्वत: सम्भवी	
६.	वस्तु से वस्तु	स्वत: सिद्धार्थ वस्तु
७.	अलकार से अलंकार	स्वत: सिद्धार्थ अलकार
८.	वस्तु से अलकार	सिद्धार्थ वस्तु
९.	अलकार से वस्तु	सिद्धार्थ अलकार
	(ख) कवि प्रौढोक्ति	
१०.	वस्तु से वस्तु	कवि प्रौढ़ोक्त्यर्थ वस्तु
११.	अलकार से अलंकार	कवि प्रौढ़ोक्त्यर्थ अलंकार
१२.	वस्तु से अलकार	कवि प्रौढोक्त्यर्थ वस्तु
१३.	अलंकार से वस्तु	कवि प्रौढोक्त्यर्थ अलकार
	(ग) कविनिबद्धवक्तृत्व	
१४.	वस्तु से वस्तु	कवि निबद्धार्थ वस्तु
१५.	अलकार से अलंकार	कवि निबद्धार्थ अलकार
१६.	वस्तु से अलंकार	वक्त्यर्थ अलकार
१७.	अलकार से वस्तु	वक्त्यर्थ वस्तु
१८.	(३) शब्दार्थ शक्ति	(३) शब्दार्थ शक्ति

शुद्ध ध्वनि के उक्त सीमित भेद मानना भानु कवि का अपना मत है अन्य आचार्य सहमत नही भी हो सकते है।[2] अधिकाश व्यक्ति ५१ संख्या से सहमत है। संख्या शुभ भी है किन्तु हमे इसमें कुछ और उपभेदों को जोड़ने और कुछ को घटाने की आवश्यकता प्रतीत होती है।

---

१. भेदस्तदैकपंचाशत् : काव्यप्रकाश : पृ १८१

२. ध्वनि भेद के दोनों कोष्ठक काव्य प्रभाकर से लिये गये हैं : पृ० ६६६ से ६६८

हमे अपनी इस धारणा मे आचार्य भगीरथ मिश्र का समर्थन प्राप्त हुआ है कि शाब्दी व्यजना कभी वाक्यगत नही हो सकती। यह निश्चित है कि उसके वाक्यगत उदाहरणो मे अनेक व्यजक शब्द होते है सम्पूर्ण वाक्य की व्यंजना प्रक्रिया वैसी नही होती जैसी कि अर्थ शक्त्युद्भव मे होती है। उसका नाम शाब्दी पडा भी इसीलिए है। जैसे सम्पूर्ण वाच्य की अर्थ की शक्ति एक होती है और अलग अलग शब्दो की अर्थ शक्ति भिन्न होती है उसी प्रकार की भिन्नता वाक्यगत शाब्दी व्यजना मे वाक्यार्थ और शब्दार्थ मे नही प्रतीत होती है। अलग अलग शब्द जो अर्थ देते है उन्ही का समन्वित रूप वाक्यार्थ होता है। इसलिए शाब्दी व्यजना सदैव पदगत मानने से दो भेद कम हो जाते है। किन्तु आचार्य भगीरथ मिश्र का मत है कि शब्द शक्ति से भाव भी व्यग्य होता है। निम्न उदाहरण—

भयो अपत कै कोपयुत कै बौरो इहि काल
मालिन आज कहै न क्यो वा रसाल को हाल

शाब्दी व्यजना की शर्तो को पूरा करता हुआ रति भाव की व्यजना कर रहा है।

इसके अतिरिक्त रस से वस्तु, असलक्ष्यक्रम वस्तु और सलक्ष्यक्रम रस के अट्ठारह भेद और हमे मान्य है। असलक्ष्यक्रम वस्तु मे वर्ण प्रकाश्य वस्तु-ध्वनि को लिया गया है। इस तरह कुल २१ भेद बढ जाते है जिन्हे पहले के ४९ भेदो के साथ रख देने पर कुल मिलाकर ६० भेद हो जाते है। व्यावहारिक पक्ष मे इन्हे ही सोदाहरण स्पष्ट करने का प्रयत्न किया जा रहा है।

ससृष्टि और सकर के उपभेदो की गणना मे बहुत अन्तर दिखाई पड़ता है। काव्यप्रकाश मे सकीर्ण ध्वनि भेदो की संख्या १०४०४ है[1] और साहित्यदर्पण मे ५३०४ है।[2] इनकी गुणन प्रक्रिया आचार्य विश्वेश्वर ने हिन्दी ध्वन्यालोक के ४२६ से ४३५ पृष्ठो पर दी है।

मम्मट ने तीन प्रकार की सकर ध्वनियों की ओर सकेत किया है—(१) सशयास्पद रूप (२) अनुग्राह्यानुग्राहक रूप और (३) एक व्यजकानुप्रवेश रूप।[3] संकर का तात्पर्य है परस्पर आक्षेप रूप से सम्मिश्र ध्वनि काव्य और संसृष्टि का अर्थ है परस्परनिरपेक्ष रूप से मिश्रित होना।

---

१. **वेदखाब्धिवियच्चन्दाः। चतुर्थ उल्लास, सू० ६४**
२. **विश्वनाथ : साहित्यदर्पण : पृ ३७७**
३. **मम्मट : काव्यप्रकाश : पृ० १८२**

मम्मट ने गुणीभूत व्यग्य के उपभेदो की भी गणना की है। उनके अनुसार इसके निम्न आठ प्रकार है—

(१) **अगूढ व्यंग्य**—ऐसा व्यंग्य जो असहृदय व्यक्तियो की समझ मे शीघ्र आ जाय।

(२) **अपरंगव्यंग्य**—जहाँ व्यंग्यार्थ अन्ततोगत्वा वाक्यार्थरूप से उपस्थित किसी अन्य प्रधानभूत अर्थ के उत्कर्ष का साधन बन जाय।

(३) **वाच्यसिद्धंग व्यंग्य**—जहाँ व्यंग्यार्थ तो अवश्य हो किन्तु किसी कारणवश अपने आप मे पूर्ण न होनेवाले वाच्यार्थ की ही सिद्धि का साधन बन जाय।

(४) **अस्फुट व्यग्य**—जहाँ व्यंग्यार्थ ऐसा हो जिसे सहृदय भी स्पष्ट न समझ पाये।

(५) **सन्दिग्धप्राधान्य व्यंग्य**—जहाँ वाच्यार्थ की अपेक्षा व्यंग्यार्थ की प्रधानता सन्देहास्पद बनी रहे।

(६) **तुल्यप्राधान्य व्यंग्य**—जहाँ व्यग्यार्थ और वाच्यार्थ की प्रधानता समान हो।

(७) **काक्वाक्षिप्त व्यंग्य**—जहाँ व्यग्यार्थ काकु से शीघ्र प्रकट हो जाय।

(८) **असुन्दर व्यंग्य**—जहाँ व्यग्यार्थ मे कुछ भी सौन्दर्य न हो।

गुणीभूत व्यग्य में वस्तु से अलकार-ध्वनि नही होती अतः इसमे ये निम्न नौ भेद नही होते—

(१) पद (२) वाक्य और (३) प्रबन्धगत स्वतः सम्भवी वस्तु से अलंकार रूप, (४) पद (५) वाक्य और (६) प्रबन्धगत कवि प्रौढोक्तिसिद्ध वस्तु से अलंकार रूप और (७) पद (८) वाक्य (९) प्रबन्धगत कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्ध वस्तु से अलंकार रूप।

अत प्राचीन आचार्यो के अनुसार शेष ५२ मे से प्रत्येक के ८ भेद होने से कुल ३३६ भेद हो जाते है और इनकी ससृष्टि से और भी अनेक भेद हो जाते है।

गुणीभूत के वर्ग भेद मे हमे विशेष आपत्ति है। ये भेद केवल संख्या बढ़ाने के लिए हुए है। साहित्य को इस प्रकार के वर्गो मे नही बाँटा जा सकता। उदाहरणार्थ काक्वाक्षिप्त और अगूढ मे क्या मौलिक भेद हो सकता है। इसी प्रकार सन्दिग्ध प्राधान्य, तुल्य प्राधान्य तथा असुन्दर व्यग्य मे क्या निश्चित विभाजक रेखा खीची जा सकती है ? फिर सहृदय की हमारे पास क्या कसौटी है ? स्वयं आनन्दवर्धन ने इस कठिनाई को अनुभव किया है। गुणीभूत के प्रसंग मे वस्तु दृष्टिकोण से जो

द्वितीय खण्ड

****

व्यावहारिक पक्ष

सप्तम अध्याय

छायावाद युग

भाव पक्ष—हिन्दी साहित्य मे छायावाद कविता क्रान्ति मे कान्ति लेकर आई। दो विश्व-युद्धों के बीच जन्म लेनेवाली और पल्लवित होनेवाली यह कविता मूल मे सब प्रकार के स्थूल के प्रति सूक्ष्म का विद्रोह था। युद्ध द्वारा उत्पन्न हुई राजनीतिक और सामाजिक हलचलो और विज्ञान के नित्य नये चमत्कारों द्वारा उत्पन्न धार्मिक क्षेत्र की अराजकता ने तत्कालीन साहित्य को एक नयी दिशा की ओर मोड़ा और कवियों के यौवन तथा पाश्चात्य साहित्य से स्वच्छ हो गई दृष्टि ने उसमे सर-सता उत्पन्न की।

इसके पूर्ववर्ती द्विवेदी युग मे भी भाषा और भाव सम्बन्धी क्रान्ति हुई थी। उसमे मुख्य दो बाते थी—(१) कविता से कामिनी नारी का बहिष्कार और (२) गद्य और पद्य मे एक ही भाषा, खड़ी, बोली का प्रयोग। शृंगारिक भाव के एक बडे अश को छोड देने के कारण कविता मे रुक्षता आने लगी थी। उधर भाषा नई थी इसलिए उसमे प्रवाह और मृदुता का अभाव स्वाभाविक था। इन्ही दोनो को आधार मानकर, इनमे एक नयापन लाने का छायावादी कवियो ने बीड़ा उठाया।

यह एक ध्यान देने की बात है कि छायावादी युग में राजनीतिक क्षेत्र मे जितनी उथल-पुथल हुई[1] उनमे से किसी का भी आभास इस युग का प्रतिनिधित्व करनेवाली कविता मे नही मिलता। यद्यपि भारतेन्दु की 'भारत दुर्दशा' और मैथिलीशरण गुप्त की 'भारत भारती' ने यह मार्ग प्रशस्त कर दिया था।

इस युग की मुख्य प्रवृत्ति है आत्माभिव्यजन। भारतीय संस्कृति आरम्भ से ही निर्वैयक्तिकता को प्रश्रय देती रही है। कवि अपनी रचनाओ मे नाम नही देते थे, गवैये अपने 'घराने' मे पहिचाने जाते थे और चित्रकार तथा मूर्तिकार शैलियों से स्वय को एक कर देते थे। यद्यपि बाद के काव्य मे यह परम्परा टूटती सी प्रतीत हुई किन्तु विषय विन्यास मे वे सदैव ही अपने को अलग रखते। उसमे कभी भी व्यक्तिवैचित्र्यवाद को स्थान नही मिला।[2] किन्तु, इस युग में अह की भावना ही अधिक बढी।

---

१. विशेष के लिए देखिये : शम्भूनाथ सिंह : छायावाद युग : पृ० ३० से ३३ तक

२. देखिये आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का 'साधारणीकरण और व्यक्तिवैचित्र्यवाद
—चिन्तामणि भाग १

अब तक समस्त भावों के आश्रय या तो आख्यान के पात्र होते थे या सारा समाज। दोहो इत्यादि छोटे छन्दों मे जहाँ स्थानाभाव से इनका उल्लेख नही हो सकता था वहाँ भी वर्णन इस प्रकार किया जाता कि पात्रों या समाज का आरोपण करना पडता। बिना इसके पूर्ण अर्थ का ग्रहण नही हो पाता था। उदाहरणस्वरूप रीतिकालीन छन्दो को ले सकते हैं। इस प्रवृत्ति का छायावादी कवियों ने विरोध किया। निर्वैयक्तिकता के अनैसर्गिक आवरण को दूर फेककर वे स्वय ही भावों के आश्रय बनने लगे। ससार मे जो कुछ है उसका सीधा सम्बन्ध उन्ही से है, वे ही उसके केन्द्र है। ऐसी धारणा लेकर वे काव्य जगत् मे आए। पन्त ने पहले ही प्रेमाख्यानक काव्य मे स्वयं को नायक रूप मे चुना। पल्लव मे भी 'उछ्वास की बालिका' और 'आँसू की बालिका' मे वे स्वयं को आँसू की लडियों मे गूँथते रहे। प्रसाद ने 'आँसू' मे अपनी विरह कथा ही कही है। आगे चलकर महादेवी भी अपने सभी काव्य सग्रहो मे 'आँसू' की नायिका के रूप मे ही सामने आती है। ये प्रमाण आलोचको की इस धारणा को ग़लत सिद्ध करते है कि छायावादी कवि कामिनी नारी का ध्यान करने से घबराते थे।[1] और इसलिए प्रकृति के उपकरणो का आश्रय लेते थे। वस्तुत. प्रकृति मे नायक-नायिका भाव देखना उनकी विराट् कल्पना का प्रसाद है।

हाँ, शृगारिक भावना को व्यक्त करने की एक सीमा थी। इस बात की प्रशसा किये बिना नही रहा जा सकता कि छायावादी कवियों का शृंगार वर्णन अमर्यादित नही हुआ। ऊपर जिन प्रयत्नो का उल्लेख हुआ है उनमे विषय को भाषा की वक्रता का सहारा लेना पड़ा था। सभी स्थानो पर यह सम्भव नही था और कतिपय प्रसगों मे स्वयं को नायक बनाया नही जा सकता था। इसके लिए भी कवियों को प्रकृति का आश्रय लेना पड़ा। किन्तु इसके मूल में पहले से चली आती यह धारणा कार्य कर रही थी कि 'चेतना' के स्तर पर मानव और मानवेतर प्रकृति अभिन्न हैं। छायावाद के स्वरूप विकास मे प्रकृति को चेतन मानकर भावो का आलंबन बना लेना प्रथम सोपान है। इसकी परिभाषा देते समय भी आलोचको ने इसी पक्ष पर सर्वाधिक बल दिया है।[2]

प्रकृति को स्वतंत्र मानकर उसके सौन्दर्य-वर्णन की प्रणाली का आरम्भ द्विवेदी युग में श्रीधर पाठक कर चुके थे। उसको चेतन अनुभव पर रति भाव का आलम्बन बनाने का कार्य इस युग मे हुआ। पन्त ने 'वीणा' मे प्रकृति को माता और स्वय को उसकी पुत्री मानकर वात्सल्य भाव के अनेक सुन्दर चित्र दिये है। निराला ने

---

१. रामधारी सिंह दिनकर : काव्य की भूमिका : पृ० ३२।

२. विश्वम्भर मानव : महादेवी वर्मा पुस्तक में 'छायावाद' शीर्षक निबन्ध।

काव्य के जीवन के आरम्भ मे ही प्रकृति की दो सत्ताओं को अनुभूतिशील स्वीकार कर प्रणय-व्यापार के चित्र दिये। 'जुही की कली' इसी दिशा मे एक सफल प्रयास है। विचार करने पर इस कविता की आत्मा शृंगार काल की लगती है। प्राक्क्रीड़ा का वही दृश्य है जो बिहारी ने दिया है। अन्य व्यक्ति को नायक बनाना कवि को अभीष्ट नही था, स्वयं को उस स्थान पर रख देना मर्यादा के विरुद्ध होता, इसलिए पवन और कली का आश्रय लेना पडा।

यह महत्त्वपूर्ण बात है कि छायावादी काव्य में प्रकृति की उन्ही सत्ताओ के प्रति रागात्मक सम्बन्ध जोडा गया है जिनकी नारी रूप मे कल्पना हो सकती थी और उनमे परस्पर प्रेमी प्रेमिका का सम्बन्ध ही रहा। इस प्रकार छायावादी कवियो ने प्रकृति मे अधिकतर वे ही भावनायें प्रदर्शित की जो नारी के जीवन में पुरुष के सम्पर्क से उत्पन्न हो सकती है। शुरू-शुरू मे वह प्रकृति प्रेम इतना बढा कि इसके आगे मानव-प्रेम भी तुच्छ जान पडा। इस सम्बन्ध मे पन्त की 'छोड़ द्रुमो की मृदु छाया' पक्तियाँ द्रष्टव्य है।

प्रकृति वर्णन का एक और भी रूप इस युग मे मिलता है जिसकी परम्परा बहुत पहले से चली आ रही है। सूफ़ी काव्य में इसके अनेक सुन्दर उदाहरण मिलते है। यह है उन्माद की दशा मे प्रकृति को सुख दुख की साथी समझना। अन्तर केवल इतना है कि पहले प्रकृति आख्यान के पात्र से सहानुभूति रखती थी अब स्वय कवि से। हमारे विचार से ऐसे स्थलो पर प्रकृति पर चेतना का आरोपण मात्र है। यह उत्प्रेक्षा का ही सूक्ष्म रूप माना जा सकता है—

नभ पर दुःख की छाया नीली
तारों की पलके है गीली,
रोते मुझ पर मेघ
आह रुँधे फिरता है बात री।[1]

चित्र इतना ही है कि रात हो गई है, आकाश से ओस की बूंदे झर रही है, बादल बरस रहे है और सनसनाती हवा चल रही है, यहाँ कवियित्री यदि यह कह देती कि प्रकृति के इस रूप को देखकर ऐसा लगता है मानो वह मेरे दु.ख से दुखी है तो उत्प्रेक्षा हो जाती और उसमे अनुभूति की गहराई न आ पाती। 'मानो' को हटाकर भी उन्होने वही बात कही किन्तु अब ऐसा लगता है कि कवियित्री और प्रकृति मे सचमुच बहनापे का सम्बन्ध जुड़ गया है। इसी बात को कभी क़वि स्पष्ट

१. महादेवी वर्मा : सांध्यगीत : पृ० ५२

शब्दों में कह देता है[1] और कभी प्रश्नवाचक चिन्ह् से उसमे और तीव्रता ले आता है।[2]

इनके अतिरिक्त प्रकृति चित्रण के जो मुख्य प्रकार इस युग मे अपनाए गए है उनमे से 'उद्दीपन' रूप को प्रसाद और बच्चन ने, परोक्ष की अभिव्यक्ति और आभास के रूप में प्रसाद और महादेवी ने, 'उपदेश' के रूप को निराला ने, और 'अलकार' के रूप को निराला और पन्त ने विशेषकर अपनाया है। प्राकृतिक रगो का सूक्ष्म निरीक्षण कवि पन्त ने अधिक किया है।[3] उषा और सध्या के चित्रो मे यह प्रवृत्ति विशेष उभरी है।

छायावाद के स्वरूप विकास मे दूसरा चरण है रहस्यवादी प्रवृत्ति का पुनरुत्थान। आरम्भ मे आलोचको को यह भ्रम हो गया था कि छायावाद मूल मे रहस्यवाद है क्योकि जिस प्रकार भक्तिकाल मे भावनात्मक रहस्यवादी अज्ञेय और अव्यक्त के प्रति प्रेम प्रकट करते थे उसी से मिलती जुलती बात यहाँ दिखाई पड़ी।[4] इस भ्रम का निवारण कवि प्रसाद ने 'यथार्थवाद और छायावाद' शीर्षक निबन्ध मे किया।

डॉ० रामकुमार वर्मा ने रहस्यवाद की यह परिभाषा निर्धारित की है, 'रहस्यवाद जीवात्मा की उस अन्तर्हित प्रवृत्ति का प्रकाशन है जिसमे वह दिव्य और अलौकिक शक्ति अपना निश्छल सम्बन्ध जोड़ना चाहती है, यह सम्बन्ध यहाँ तक बढ जाता है कि दोनो मे कुछ भी अन्तर नही रह जाता। जीवात्मा की शक्ति इसी शक्ति के अनन्त वैभव और प्रभाव से ओतप्रोत हो जाती है।[5] अब इसके प्रकाश मे हम देखें कि निराला की 'तुम और मैं', पन्त की 'मौन निमन्त्रण' रामकुमार वर्मा की 'देव मै अब भी हूँ अज्ञात।' प्रसाद की 'दर्शन' और महादेवी की 'तुम' को सम्बोधित कर लिखी गई अनेक कवितायें किसी ओर संकेत करती है। इनके आधार पर यह मानना ही पड़ेगा कि छायावादी कविता का एक आध्यात्मिक पक्ष भी है। देखना यह है कि मध्ययुगीन भक्ति काव्य और इसमें अन्तर क्या है।

हम जानते है कि भारत का 'अह ब्रह्मास्मि' मुसलमानी देशों में जाकर 'सर्व खल्विदं ब्रह्म' मे बदल गया था। इसका कारण वहाँ की परिस्थितियाँ थी। कुछ वैसी ही परिस्थितियाँ तीन सौ वर्ष बाद भारतवर्ष मे भी पैदा हो गई थी। विज्ञान

---

१. डॉ० रामकुमार वर्मा . आधुनिक कवि : पृ० १३५

२. प्रसाद : आँसू : पृ० ४७

३. डॉ० रामयत्नसिंह 'भ्रमर' : आधुनिक हिन्दी कविता में रूप-विधान : पृ० १६६

४. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : हिन्दी साहित्य का इतिहास : पृ० ६५२-६५३

५. कबीर का रहस्यवाद : पृ० ७

के नित्य नये आविष्कारों ने जनता का मूर्ति मे विश्वास झकझोर दिया। कवि की बौद्धिकता ने उसकी भावुकता को दबा दिया। अब यदि वह 'सिया राम मय सब जग जानी' कहता तो उसकी कोई कद्र न होती। मीरा की भाँति गिरधर के प्रेम मे व्याकुल होकर घर बार छोडना भी उसके बस की बात न थी और कबीरदास के 'लाल' के चटख लाल रग को भी उसकी सुसस्कृत सौन्दर्यानुभूति सहन नही कर सकती थी। मध्य युग में आध्यात्मिक आराधना का सांसारिक त्याग से अनिवार्य सम्बन्ध जुड़ गया था। इस युग मे उसकी कोई आवश्यकता नही समझी गई उल्टे जीवन की अनेकानेक परिस्थितियो से कवि को प्रेरणा मिलती रही।[1]

दूसरा अन्तर यह है कि मध्य युग के साधक वर्षों की तपस्या के बाद जिन निष्कर्षों पर पहुँचते थे वे उनके जीवन के मुख्य आधार होते थे। अर्थात् वे साधक कर्म और चिन्तन दोनो से परोक्ष सत्ता का आभास पाते थे, छायावादी कवि इन निष्कर्षो पर चिन्तन और सौन्दर्य के सूक्ष्म दर्शन के परिणाम स्वरूप पहुँचता था और उनका उनके जीवन के थोड़े से अंश से सम्बन्ध होता था। 'उनका जीवन धर्म अथवा परोक्ष सत्ता से एकात्म होने के ध्येय पर अर्पित नही था।'[2] वह मन वचन और कर्म सबसे साधक नही था। यही कारण है कि अनेक स्थलों पर छायावादी कवियो की अनुभूति की सच्चाई पर विश्वास नही होता। उनके अनेक स्तर देखने को मिलते है। डॉ० भोलानाथ इस प्रवृत्ति के अधिक दिनो तक न चल सकने का एक कारण यह भी मानते है।[3] प्रसाद की मृत्यु हो गई, पन्त और निराला प्रगतिवाद की ओर मुड गए। महादेवी वर्मा ने कई वर्षो के बाद 'दीप शिखा' जलाकर फिर यह भी नही देखा कि वह टिमटिमा रही है या बुझ गई है। छायावाद युग के उत्तरार्द्ध मे शेष नवोदित कवि इससे साफ कन्नी काटते दिखाई पडते हैं।

रहस्यात्मक अभिव्यक्ति का विश्लेषण करने पर उसके दो तत्त्व दिखाई पड़ते हैं। एक मे स्वाभाविक जिज्ञासा, काव्यात्मक सौन्दर्य का प्रकृत रूप और मानव सुलभ निष्कर्षो की सहज अभिव्यक्ति होती है। दूसरे में प्रकृति के कण कण में व्याप्त परब्रह्म को जानने की दार्शनिक जिज्ञासा, प्रकृति और स्वयं से उसका सम्बन्ध और ससार की नित्यता अनित्यता सम्बन्धी प्रश्न आते हैं। डॉ० रामयत्नसिह 'भ्रमर' ने इन्ही को 'शैलीगत' वैलक्षण्य और वस्तुगत विशेषत्व की संज्ञा से अभिहित किया है।[4]

---

१. आचार्य नन्ददुलारे बाजपेयी : आधुनिक साहित्य . पृ० ३७२
२. रामधारी सिंह दिनकर : काव्य की भूमिका : पृ० ३९
३. हिन्दी साहित्य (१९२६-४३) : पृ० ३२०
४. आधुनिक हिन्दी काव्य में रूप विधान : पृ० १५७

प्रथम प्रकार की अभिव्यक्ति महादेवी वर्मा मे पर्याप्त मात्रा मे मिलती है। ध्यान देने की बात है कि ऐसे स्थलो पर कवि के मन मे चाहे जो भाव रहे हो, वह अनुभूति के प्रति चाहे जितना ईमानदार रहा हो पर यदि पाठक को उसके कला-वैचित्र्य के ही दर्शन होते है तो उसे प्रथम के अन्तर्गत ही रखा जायगा। बालकों की सी जिज्ञासा को पन्त अधिक अपना सके है। 'वीणा' से लेकर 'गुजन' तक ऐसी अनेक कविताएँ मिल जायंगी जिनमे मात्र कौतूहल सम्पूर्ण कविता का विषय बन गया है।[1] इसी प्रकार सुख दु:ख सम्बन्धी समस्या पर उन्होने इतने विविध प्रकार से विचार किया है कि आलोचक इसे इनकी कविता का एक अग ही मान बैठे है। अपनी अनुभूतियों का प्रकृति पर आरोपण कर सभी रहस्यवादियो ने प्रश्न किये है। इसे परम्परा निर्वाह भी कहे तो अनुचित न होगा। उनसे न तो किसी आध्यात्मिक दृष्टिकोण का पता चलता है और न किसी गम्भीर समस्या की ओर सकेत का ही।

वस्तुगत वैशिष्टय का सम्बन्ध मन की विशेष स्थिति से, चिन्तन के गम्भीर क्षणो से है। ऐसे अवसरो पर कवि ब्रह्म का सौन्दर्य प्रकृति के न केवल कोमल अपितु भयकर रूपो मे भी देखता है। इस विरोधाभास को हम तभी समझ सकते है जब यह विश्वास कर ले कि विश्व की हर छोटी बड़ी वस्तु एक ही विराट का अग है,[2] उसी की इच्छा से व्यक्त होता है और उसी मे लीन हो जाता है।[3]

रहस्यवाद के इन स्थलो पर आनेवाली प्रतीक योजना मे व्यजना कार्य करती दिखाई पड़ती है। सुख के लिये 'फूल', दुख के लिए 'कॉटा' नायक के लिए 'पवन' और नायिका के लिए 'मुकुल' के प्रयोग मे सामान्य कोटि की लक्षणा है। वह इससे आगे नही जाती। किन्तु आत्मा परमात्मा सम्बन्धी प्रतीकों का अर्थ बहुत दूर तक पहुँचकर चमत्कार पैदा करता है। उदाहरणार्थ डॉ० रामकुमार वर्मा का 'एक दीपक किरण कण हूँ' गीत ले। इसकी अंतिम छः पक्तियों मे शलभ का अर्थ ले लेने पर अमरत्व' और 'मरना' के अर्थ व्यजना द्वारा ही समझ मे आते है और तभी प्रतीक का सौन्दर्य ग्रहण होता है।

चिर अव्यय के प्रति इन भाव सुमनों के अतिरिक्त छायावादी काव्य मे तत्त्व चिन्तन की अन्य धाराएँ भी यहाँ वहाँ बहती दिखाई देती है। दर्शन की वैदिक काल से चली आती भारतीय धाराओ और पाश्चात्य भौतिकवादी चिन्ता धाराओ को

---

१. वीणा : पृ०-४०,५०,५१,७७, पल्लव : ९३,११३,१२७, गुजन · ३२—इसी सम्बन्ध में देखिये—परिमल : पृ० ६३,१२९, आधुनिक कवि भाग ३ : १२८, १२९

२. प्रसाद : कामायनी : पृ० २६, महादेवी : रश्मि : पृ० ७०

३. महादेवी : रश्मि पृ० ४३

मिलाकर इन कवियो ने युगानुकूल चिन्तन-पद्धतियों को जन्म दिया। इसलिए छायावादी काव्य मे कोई भी परम्परा अपने शुद्ध रूप में नही मिलती। किसी पर आनन्दवाद, किसी पर सर्ववाद, किसी पर भक्ति-मूलक अद्वैतवाद तो किसी पर बौद्ध दर्शन के दुःखवाद का प्रभाव पड़ा है।[1] किन्तु केवल प्रभाव ही है प्रचार नही।

काव्य के उक्त सत्यमूलक तत्त्व के समान ही महत्त्वपूर्ण है काव्य के सुन्दर का कल्पना तत्त्व। यद्यपि सब कालो मे सब कलाओ मे कल्पना सहायक रही है किन्तु इस युग के काव्य मे उसे अत्यधिक मान मिला है। किसी ने उसे कल्पना के कानन की रानी तो किसी ने सुखदायिनी एव जीवनदायिनी घोषित किया। पश्चिम मे भी रोमाटिक कवियों ने कल्पना को ईश्वर के कार्य मे सहायक[2] स्वीकार करते हुए आध्यात्मिक वस्तु की पक्ति में बैठाया।

हम कह आए है कि छायावादी कविता के तीव्र विकास मे कवियो की युवावस्था सहायक हुई है। कैशोरावस्था समाप्त होते न होते कवि ने जिस 'यूटोपिया' की कल्पना की थी (कवि ही क्यो सभी व्यक्ति इस अवस्था मे रगीन कल्पनाये करते है) वह यथार्थ की चट्टान से टकराकर भग हो गया। फलतः इस व्यक्तिगत दु.ख और विश्वव्याप्त दुःख दोनो से जो करुणा-धारा फूटी वही छायावाद मे वेदना का कारण है। दुखी हृदय को सान्त्वना देने के लिए कवि अतीत की ओर मुड़ा। काल के व्यवधान से उसकी भीषणता कम हो गई थी। ऊपर से कल्पना का रग चढ़ जाने से वह और आकर्षक हो गया।

दूसरी ओर विज्ञान मे उसकी आस्था दिन दिन बढ रही थी। इससे उसे भविष्य की नूतन कल्पना करने की प्रेरणा मिली। इस प्रकार कवि के भूत और भविष्य दोनो ही कल्पना से अतिरंजित हो उठे। इसी का परिणाम था कि जहाँ कही उसने वर्तमान का भी वर्णन किया कल्पना का पानी चढाकर ही किया।

कल्पना को सौन्दर्य के उत्कर्ष विधायक तत्त्व के रूप मे ग्रहण करना तो उचित था किन्तु जब कल्पना का चमत्कार मात्र दिखाना उद्देश्य बन गया तो बात औचित्य की सीमा पार कर गई। वृक्ष की छाया को 'छायानुवाद, उपमा, भावुकता, अविदित भावाकुल भाषा या कटी छँटी, कविता सी, कहना या स्याही की बूंद को 'योग का नीरव तार, ब्रह्म माया का संसार या घट मे सिंधु सा' कहना किसी प्रकार भी उचित नही कहा जा सकता।

विषय वस्तु के विकास मे छायावादी कवियों की सर्वश्रेष्ठ देन है प्रेम तथा नारीभावना को उदात्त तथा उच्च भूमि पर प्रतिष्ठित करना। आदि काल मे प्रेम

---

१. डॉ० शम्भूनाथ सिंह : छायावाद युग : पृ० १४२।
२. केदारनाथ सिंह : कल्पना और छायावाद : पृ० ४१

यौन-स्वार्थो के घेरे में घिरा था। सामती युग मे स्वार्थों के विस्तार के साथ साथ उसके क्षेत्र का भी विस्तार हुआ। इसके दो भेद हो गए—लौकिक और आध्यात्मिक। आध्यात्मिक प्रेम सूफी काव्य मे विस्तार पा गया किन्तु लौकिक प्रेम पुरुष अधिकृत ही रहा। उसका पुष्प बन्द कमरे मे, चहार दीवारी से घिरी वाटिका मे ही खिलता रहा, झरता रहा।

छायावादी कवियो का आराध्य न परम्परागत सगुण ब्रह्म है न निर्गुण ब्रह्म। वह एक ऐसी छाया है जिसका आभास मात्र होता है। विश्वास तो होता है कि कुछ है किन्तु क्या है, यह अच्छी तरह नही जाना जा सकता। कभी उसका प्रत्यक्ष दर्शन उन्हें पागल बना देता तो कभी अनेक प्रयत्न करने पर भी वह निकट नही आता, समस्त जीवन विरह मे बीत जाता है। इतने पर भी कवि निराश नही होता। आराध्य की करुणा पर उसे पूर्ण विश्वास है—

एक दिन थम जायगा रोदन तुम्हारे प्रेम-अंचल में,
लिपट स्मृति बन जायँगे कुछ कन-कनक सींचे नयन-जल में।[1]

लौकिक प्रेम की अभिव्यक्ति उसके सहज आत्मा के गुण के रूप मे हुई है। जैसे आत्मा सब मे व्याप्त है। उसी प्रकार प्रेम भी सब प्राणियो का स्वाभाविक गुण है।[2] यह ससार के सब सम्बन्धो का धारक तत्त्व है। यह न होता तो कौन किसका होता? कौन सहानुभूति रखता? कौन बलिदान करता? तब क्या संसार मे रहने योग्य रहता?[3]

अतएव मानव की इस सहजात वृत्ति की अभिव्यक्ति में इतना सकोच क्यों? धर्म और समाज के महन्तों के नियम साहित्य को जकड़े बैठे थे। फलतः व्यक्तिगत प्रेम का विस्तार, उदात्तीकरण हुआ और वह प्रकृति प्रेम तथा विश्व प्रेम की ओर मुड़ गया। यह छायावाद युग के प्रारम्भ की स्थिति थी। शनैः शनैः समाज की स्थिति बदलती गई और कवियों मे भी साहस आता गया। उत्तरकालीन कवियों में ऐसी कुण्ठाओ के दर्शन नही होते। उन्होने खुलकर, व्यक्तिगत प्रेम, विरह-मिलन के चित्र दिये हैं।[4]

समग्रतः छायावादी कवियो मे लौकिक प्रेम का विरही स्वर ही अधिक मुखर हुआ है। विप्रलम्भ शृगार के लगभग सभी बुद्धिगम्य संचारियो का समावेश मिलता

---

१. निराला : परिमल : पृ० ३२
२. पन्त : पल्लव : पृ० ५९
३. वही : पृ०६० तथा निराला : अनामिका : पृ० ३२
४. शम्भूनाथ सिंह : छायावाद युग : पृ० १०८

है। सम्भोग शृगार मे इतनी व्यापकता नही है। ऐसा लगता है कि इन कवियो को अपने प्रिय को सामने बिठाकर उसके अग प्रत्यग को देखना-सराहना ही अधिक रुचिकर है। वस्तुत. उनका प्रिय है भी इतना सुन्दर कि वह स्वय अपने को देख ले तो मोहित हो जाय। ऐसे प्रिय के सौन्दर्य वर्णन में कवियों की नूतन सौन्दर्य दृष्टि और कल्पना का अच्छा परिचय मिलता है। रीतिकाल की अतिशयोक्ति अधिकाश मे जहाँ तहाँ ऊहायुक्त, सौन्दर्यहीन और ऐन्द्रिकतापूर्ण थी। यहाँ भी सौन्दर्य मे मादकता है किन्तु अभिव्यजना की नूतन प्राणली से वह दिव्यता के स्तर पर पहुंची हुई—

चचला स्नान कर आवे चंद्रिका पर्व में जैसी
उस पावन तरु की शोभा आलोक मधुर थी ऐसी।[1]

प्रिया के सभी अगो का वर्णन होता है किन्तु उपमानो की चकाचौध में उसकी अश्लीलता छिप जाती है।

बाह्य सौन्दर्य की अपेक्षा आत्मिक सौन्दर्य पर कवि की अधिक आस्था है। इसका प्रत्यक्ष वर्णन कही नही मिलता। सभोग शृगार के प्रसगो मे ही कुछ सकेतो से इसकी व्यजना हुई है। क्लासिक साहित्य मे नायिका-भेद के दो मुख्य आधार है—वासना की तीव्रता और उसका आलम्बन। पहले के अनुसार मुग्धा, मध्या और प्रौढा भेद है। दूसरे के अनुसार स्वकीया, परकीया और सामान्या। छायावादी कवियों की प्रियाये सदैव स्वकीयाये रही और अवस्था मे मध्या से आगे न बढ़ सकी। सम्भवत: उनकी सूक्ष्मदर्शिनी दृष्टि उतनी मासलता को सहन नही कर पाती थी। नायिकाओ पर नारी सुलभ लज्जा और वश की कुलीनता ने हर समय सयम रखा है। इन स्थलो पर आत्मिक सौन्दर्य व्यजक शब्दों के चयन मे कवि विशेष सतर्क रहे है।

एक महत्त्वपूर्ण बात और। इन कवियो ने नारी को काम की निम्नतम प्रवृत्ति वासना के कीच से निकालकर समाज के खुले रंगमंच पर आने योग्य बनाया। काम हृदय की आदि वासना है। समाज के लिए हानिकर उसके उद्दाम वेग को रोकने के लिए धर्म का बाँध बाँधा गया। वही काम इस युग के कवियो की प्रेरणा का स्रोत रहा है। उसका नवीन सस्करण तपस्या भग करनेवाला नही है वरन् शिवरूप, सस्कृति का विकास और प्रसार करनेवाला है। कवि प्रसाद ने कामायनी मे काम की आकाश-वाणी द्वारा इसी बात को स्पष्ट किया है। काम केवल विनाश का कारण नही सृजन की प्रेरणा भी है। जीवन का दाँव हारकर बैठ जानेवाले मनु को फिर से कर्म की ओर प्रवृत्त करनेवाली काम की पुत्री कामायनी—जड चेतनता की गाँठ, भूल सुधारो

---

१. प्रसाद : आँसू : पृ० २४ (इसी सम्बन्ध में देखिये—पन्त गुंजन—पृ० ४१) निराला गीतिका : पृ० ५

की सुलझन—ही है। काव्य के उत्तरार्द्ध में यह और भी स्पष्ट हो जाता है। कामायनी ही धर्म, इच्छा और ज्ञान मे समन्वय स्थापित और आनन्द प्रदान करनेवाली है। काम का यह लोकसंग्रही रूप छायावादी काव्य में अत्यन्त कलात्मक रूप मे निखरा है।

इसी से सम्बन्धित प्रश्न है नारी की मुक्ति का। मुक्ति और आनन्दप्रदायिनी नारी स्वय बन्धन मे रहे। यह कवि को सह्य नही था। द्विवेदी युग मे नारी की महिमा मे जितनी कवितायें लिखी गई उनमे पुरुष की दया भावना ही झाँकती है। विधवाश्रम खोलने, स्त्रियो पर कम अत्याचार करने और उन्हे माता रूपिणी समझने के सम्बन्ध मे खूब नारे लगते किन्तु उनकी मुक्ति की बात कोई नही करता था। आलोच्य काल मे उनकी मुक्ति पर ही अधिक बल दिया गया क्योकि यही इनकी सब समस्याओं का मूल है। उसको 'सखी' और 'सजनी' शब्दो द्वारा सम्बोधित कर अपने समकक्ष बैठाया। इन सम्बोधनों से स्त्री और पुरुष के बीच जिस प्रगाढ साहचर्य की भावना प्रकट होती है वह पत्नी से नही होती। इस साहचर्य की भावना से छायावादी काव्य मे ऐसे अनेक नवीन सम्बन्धो की झाँकी मिलती है जो प्राचीन साहित्य मे अप्राप्य है।

नारी समाज की जीवनी शक्ति, उसकी अपवित्रता के मल को धोनेवाली है, अतः उसका व्यक्तित्व सामान्य नही दिव्य है। वह अपने विभिन्न पहलुओ से पुरुष की विभिन्न आवश्यकताओं की पूर्ति करती है। इसी कारण से पन्त ने उसे देवी, माँ, सहचरी और प्राण अनेक सम्बोधनों से पुकारा है, किसी एक पुरुष से वैवाहिक सम्बन्ध होने पर नारी कलुषित हो जाती है इस धारणा का उन्होने तीव्र विरोध किया है। व्यक्ति शरीर से नही मन से कलुषित होता है। विधवा के लिए 'इष्टदेव के मन्दिर की पूजा-सी' उपमा का प्रयोग करना इन्ही कवियो के विशाल हृदय की बात थी। सैद्धान्तिक रूप से यह सब मान्य होते हुए भी व्यवहार मे नारी के कामिनी रूप के ही अधिक दर्शन होते है किन्तु इतना अवश्य हुआ कि वह भारतीय संस्कृति की गौरवान्वित नारी के पद से च्युत कभी नही हुई।

कला पक्ष

छायावाद अपने तीसरे चरण मे अभिव्यजना की प्रणाली मात्र रह गया। पूर्व-कालीन और उत्तरकालीन छायावादी कवियो के विषय और प्रतिपादन मे बहुत अन्तर है। समानता केवल लाक्षणिक और ध्वन्यात्मक प्रणाली मे है। यदि कहे कि छाया-बाद ने विषय की नवीनता से अधिक अभिव्यजना की नवीनता दी है तो अत्युक्ति न होगी।[1] जिन विषयो का ग्रहण इस युग मे हुआ उस पर पहले भी बहुत कुछ लिखा जा

---

१. डॉ० भोलानाथ : हिन्दी साहित्य (१९२६-:४७) पृ० ३३२

चुका था किन्तु भाषा पुरानी होने से उनमे सजीवता नही थी। छायावाद के उन्नायकों मे श्री मुकुटधर पाण्डेय ने अपने छायावाद पर आलोचनात्मक निबन्धों मे शैली की इस नवीनता की ओर सकेत किया था, "ऐसी रचनाओं मे शब्द अपने स्वाभाविक मूल्य को खोकर साकेतिक चिह्न मात्र व्यजना-प्रधान हुआ करते है।[1] इस उद्धरण से स्पष्ट है कि छायावादी भाषा के मूल मे लक्षणा और व्यजना प्रधान है। इसी बात को कवि प्रसाद ने 'हिन्दी मे नवीन शब्दो की भंगिमा स्पृहणीय आभ्यन्तर वर्णन के लिए प्रयुक्त होने लगी। शब्द विन्यास मे ऐसा पानी चढा कि उसमे एक तड़प उत्पन्न करके सूक्ष्म अभिव्यक्ति का प्रयास किया गया ·· छाया भारतीय दृष्टि से अनुभूति और अभिव्यक्ति की भगिमा पर अधिक निर्भर करती है। ध्वन्यात्मकता, लाक्षणिकता, सौन्दर्यमय प्रतीक-विधान तथा उपचार वक्रता के साथ स्वानुभूति की विवृति छायावाद की विशेषतायें है'[2] कहकर स्पष्ट किया। ये सब इस बात के प्रमाण है कि छायावादी कवियो ने भणिति की भगिमा के लिए सतर्क प्रयास किया। इस प्रकार अनजाने ही उन्होने ध्वनि के सभी उपकरण जुटा दिये।

छायावाद युग : कलापक्ष

कला पक्ष के अन्तर्गत सर्वप्रथम भाषा तत्त्व आता है। पूर्ववर्ती युग मे सस्कृत के तत्सम शब्दो के प्रयोग और कविता के बँधे बँधाये मार्ग पर चलने की प्रवृत्ति थी। चूँकि खडी बोली को काव्यक्षेत्र मे पदार्पण किये हुए थोडा ही समय हुआ था इसलिए उसमे अनगढपन भी बहुत था। शब्द भाण्डार को भरने के लिए प्रान्तीय या अग्रेजी शब्दो के स्थान पर सस्कृत शब्दों के प्रयोग की ओर झुकाव था। ये सभी रीतियाँ इस युग मे बदल गई। इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण कार्य हुआ कोमल शब्दो को गढ़ने का। कवियो ने यह अनुभव किया कि उनकी कोमल अनुभूतियो को आत्मा सहित अभिव्यक्त होने के लिए जिन शब्दों की आवश्यकता है उनका हिन्दी मे अभाव है। फलतः कुछ शब्द अग्रेजी से अनूदित हुए—जैसे, सुनहला स्पर्श (गोल्डेन टच), स्वप्निल मुस्कान (ड्रीमी स्माइल) और कुछ इन्ही के वज़न पर नये गढे गए—जैसे, सोने के सुख साज और सोने का ससार। कुछ शब्द बगला के प्रभाव से प्रयुक्त होने लगे—जैसे, शत-शत और राशि-राशि। कही कही माधुर्य गुण के बनाए रखने के लिए ब्रज के प्रयोग—सपना, किरन आदि—भी रहने दिये है। शब्दो की प्रकृति के सम्बन्ध मे इस युग के कवियो का अपना दृष्टिकोण था। जहाँ पर 'छू' शब्द उपयुक्त है वहाँ स्पर्श से काम नही चल सकता। पल्लव की भूमिका मे पन्त ने इस पर विस्तार से विचार किया है।[3] शब्द

---

१. डॉ० नामवर सिंह की 'छायावाद' पुस्तक से उद्धत : पृ० ९
२. काव्य और कला . पृ०- १२२-१२६
३. पल्लव : पृ० २९

शक्ति की इतनी अनुभूति और उसके प्रयोग मे इतनी सतर्कता हिन्दी साहित्यमे पहली बार बरती गई।

भाषा के क्षेत्र मे दूसरी स्वतत्रता लिंग सम्बन्धी थी। शब्द से सकेतित निर्जीव वस्तु की परुषता तथा कोमलता, लघुता और विराट्ता शब्द का लिंग निश्चित करती है। इसी नियम से पन्त 'प्रभात' को और प्रसाद 'अधेरे' को स्त्रीलिंग मे प्रयुक्त करते है। पन्त के मत से छोटी बूंद स्त्रीलिंग में और बडी बूंद पुलिंग मे प्रयुक्त होनी चाहिये।

इसके साथ ही दूसरा नियम है जिसमे शब्द की रचना सकेतित वस्तु की प्रकृति द्वारा नियन्त्रित होती है। शब्द के उच्चारण मे ही वस्तु की ध्वनि मिलनी चाहिये। यहाँ भी कवियों ने पूरी छूट ली। 'मरुदाकाश' के स्थान पर 'मरुताकाश' की सफाई मे पन्त लिखते है—'मुझे मरुदाकाश ऐसा लगा जैसे आकाश मे धूल भर गई हो—स्वच्छ आकाश देखने को ही नही मिलता। इसलिए मैंने उसके बदले 'मरुताकाश' ही लिखना उचित समझा।' यह चित्र-भाषा-विज्ञान है जिसकी चर्चा प्रथम खण्ड मे हो चुकी है। छायावाद युग की चित्रो की एक बहुत बडी देन है। इसमे श्रुति-चित्रों का निराला और वर्ण-चित्रो का पन्त ने विशेष वर्णन किया है।

उपर्युक्त विवेचन से यह निष्कर्ष निकलता है कि छायावादी काव्य मे शब्दो की व्यजना शक्ति पर पर्याप्त ध्यान दिया गया है। भले ही ध्वनि सम्प्रदाय की मान्यताओं को सामने रखकर कविता न की गई हो, जो अपेक्षित भी नही था, किन्तु उसके सौन्दर्य विधायक नियमो का अपने ढंग से पालन अवश्य हुआ है। नये-नये उपमानों और प्रतीकों की योजना मे धर्म-साम्य से अधिक प्रभाव-साम्य पर बल देना व्यंजना का सूक्ष्म प्रयोग है।

अग्रेजी के विशेषण विपर्यय (ट्रासफर्ड एपिथेट) अलंकार मे अर्थ-सौन्दर्य-व्यजना की अद्भुत शक्ति है। हिन्दी कवियों ने इसको पहिचाना और इसका खूब प्रयोग किया। ये विशेषण कृदन्त और शुद्ध दो प्रकार के होते है। इनका दोनों ही रूपो मे प्रयोग हुआ है। 'सिसकता गान' मे सिसकता कृदन्त है और 'विकल कहानी' में विकल शुद्ध विशेषण है। 'सुप्त व्यथा' 'भीत तारक' आदि प्रयोग भी इसी अलकार के अन्तर्गत आयेगे। ऐसी उक्तियो का सौन्दर्य तब और बढ जाता है जब विशेषण और विशेष्य की प्रकृति भिन्न-भिन्न होती है—जैसे, 'सिसकता गान'। सिसकता और गान दोनो विरोधी प्रवृत्तियाँ है जो एक ही व्यक्ति मे एक ही समय में नही पाई जा सकती। इस तरह दोनों के विरोध से एक चमत्कार उत्पन्न हो गया है।

भारतीय काव्यशास्त्र की व्यवस्था मे विशेषण-विपर्यय लक्षण के एक प्रकार के अन्तर्गत आएगा। दो वस्तुओ के प्रत्यक्ष विरोध के कारण से पहले मुख्यार्थ का बाध होता है फिर उससे सम्बन्धित एक नये अर्थ की प्राप्ति होती है।

अर्थ-व्यजना में सहायक उपमा अलंकार शायद सबसे प्राचीन है किन्तु परम्परा यह रही कि मूर्त या अमूर्त उपमेय के लिए मूर्त उपमान ही अधिकतर लाया जाय। उद्देश्य था चित्र उपस्थित कर विषय को स्पष्ट करना। अब काव्य का मुख्य उद्देश्य हो गया है प्रभाव को सम्प्रेषित करना। इसलिए यदि प्रस्तुत मूर्त भी है किन्तु व्यंजना करनी है उसकी कोमलता की तो अमूर्त उपमान ले आने में कोई हानि नही। प्रसाद ने कामायनी के लिए अनेक अमूर्त योजनाये इसी धारणा वश की। इस प्रकार विधान न केवल प्रस्तुत की सूक्ष्मता और माधुर्य का वरन् अलौकिकता का भी आभास देता है।

इस शृखला का अन्तिम तत्त्व 'रचना' है। काव्यशास्त्रियो का वृत्ति-विचार इसी से प्रेरित है। शृंगार मे कोमल और असमस्त पदावली, वीर और रौद्र मे कठोर और समस्त सघटना का विधान इसी विचार से हुआ है। हम देखते है कि छायावादी काव्य मे इसका भी पूरा ध्यान रखा गया है। 'राम की शक्ति-पूजा' के आरम्भ मे बिना सहायक क्रिया की समस्त पदावली युद्ध की जटिलता को प्रत्यक्ष करने मे बड़ी सहायता करती है। इसी भाँति परिर्वतन कविता की समस्त पदावली परिवर्तन की विकरालता उपस्थित करने में सहायक हुई है।

जहाँ तक छन्द-विधान का प्रश्न है पन्त और निराला ने इस क्षेत्र मे अनेक नये-नये प्रयोग किये है। मुक्त छन्द इस युग की सबसे बड़ी देन है। छन्द शास्त्र के अब तक के किसी नियम का इसमे पालन नही होता। निराला इसको 'कवित्त' के गति पर चलनेवाला मानते है।[1] कुछ ने इसका विरोध किया। वे कवित्त को हिन्दी का छन्द ही मानने को तैयार नही।[2] उनका कहना है कि 'मुक्त काव्य ह्रस्व दीर्घ मात्रिक सगीत की लय पर ही सफल हो सकता है।[3] जो भी हो, यह सर्वमान्य सत्य है कि इसमे गाने की अपेक्षा पढ़ने की कला (आर्ट आफ रीडिंग) अधिक है। हालाँकि हमने ऐसे कवि भी देखे है जो इसे भी कवि सम्मेलनो मे गाकर सुनाते है।

सक्षेप मे यही छायावाद युग की देन है। आधुनिक हिन्दी काव्य भारतेन्दु के काल से आरम्भ होता है। तब से कुछ न कुछ नवीनताये इसमें जुड़ती गईं किन्तु भाव और भाषा का ऐसा संयोग अभूतपूर्व था। कविता की नई धारा दोनो ओर के ऊँचे ऊँचे कगारो को तोड फोड कर नया मार्ग प्रशस्त करती बडे वेग से बह निकली। उसके साथ आई हुई मिट्टी ने काव्य-भूमि को भविष्य के लिए और उपजाऊ बना दिया।

---

१. परिमल, भूमिका भाग : पृ० १९

२. पन्त : पल्लव, भूमिका भाग : पृ० ३८

३. वही : पृ० ४५

विभिन्न ध्वनियों की सोदाहरण व्याख्या

किसी भी साहित्यिक प्रवृत्ति की निश्चित सीमा रेखा निर्धारित करना असम्भव है छायावादी कविता को हम दो विश्व-युद्धों के बीच की कविता कह आए है। इसका कदापि यह अर्थ नही है कि सन् १९३९ के बाद छायावादी कवितायें लिखी ही नही गईं। या इसके पहले छायावाद की प्रमुख प्रवृत्तियो के अतिरिक्त कोई अन्य धारा ही नही बही सन् १९२२ मे श्री माखनलाल चतुर्वेदी ने 'पुष्प की अभिलाषा' जैसी देशभक्ति पूर्ण कविता लिखी किन्तु यह धारा उस युग मे क्षीण ही रही। दूसरी ओर कवि मैथिलीशरण गुप्त द्विवेदी युग की आत्मा लिये 'साकेत' और 'यशोधरा' लिख रहे थे जिनके बीच-बीच मे शायद भूलकर छायावादी गीतो का भी समावेश कर देते थे। स्वयं छायावादी कवियो मे से पन्त मे 'गुजन' के बाद ही प्रगतिवादी लक्षण स्पष्ट होने लगे थे जब कि महादेवी सन् ४२ तक 'दीपशिखा' सी छायावादी प्रौढ रचना देती रही। कवि बच्चन उसके भी बहुत बाद तक 'मिलन यामिनी' के गीत गाते रहे। और निराला प्रगतिवाद और प्रयोगवाद दोनो के विवाद को समाप्त कर फिर उसी पुरानी पद्धति पर 'अर्चना' 'आराधना' करने लग गए।

उक्त कारणो से यद्यपि हमारा कार्य अत्यन्त कठिन हो गया है कि अमुक युग मे किन रचनाओं को ले तथापि युग और कार्य दोनो की प्रवृत्तियो को ध्यान मे रखकर वाछित रचनाओ का चयन किया है। अच्छे उदाहरणो को चुन लेने मे किसी प्रकार का सकोच बाधा नही बना है।

लक्षणामूला ध्वनि

लक्षणामूला ध्वनि के लिए तीन बातो का होना आवश्यक है—

१. मुख्यार्थ का बाध

२. दूसरे अर्थ की प्राप्ति और

३. मुख्यार्थ और दूसरे नये अर्थ का उचित सम्बन्ध।

नये अर्थ को मुख्यार्थ की जितनी आवश्यकता रहती है उसके आधार पर इसके दो भेद है:—

१. **अर्थान्तर संक्रमित**—जिसमे वाच्यार्थ अपने गुण विशेष मे सक्रमित हो जाता है यह सक्रमित अर्थ मुख्यार्थ का ही स्वरूप विशेषभूत अर्थ होता है।

२. **अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य**—मे मुख्यार्थ बिल्कुल ही छोड़ दिया जाता है। प्रसंग के अनुकूल मुख्यार्थ एक ऐसे अर्थ की ओर सकेत करता है जो पद के स्वतंत्र प्रयोग से नही निकलता।

अर्थान्तर संक्रमित के उदाहरण स्वरूप अधिकांश में ऐसी पंक्तियाँ ली जाती है जिनमे एक शब्द दो बार प्रयुक्त होता है—पहला सामान्य अर्थ में और दूसरा विशेष अर्थ में। आलोच्य काल की प्रवृत्ति ऐसे प्रयोगो की ओर नही रही। अतः उसमे अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य के उदाहरण ही अधिक मिलते है। हाँ पुरानी धारा के कवियो मे यहाँ वहाँ बहुधा ऐसे प्रयोग मिलते हैं।

गीति काव्य

पदगत अर्थान्तर संक्रमित अविवक्षितवाच्य ध्वनि—

महाराष्ट्र —कुल —देवी उसकी
भी आराध्य भवानी थी।[1]

कवियित्री रानी लक्ष्मी बाई के स्वभाव पर प्रकाश डालना चाहती है। भवानी को पूजने वाले अनेक प्रान्त है और सभी प्रकार के व्यक्ति है। कोई भी धर्म परायण व्यक्ति भवानी के मन्दिर मे सिर झुकायेगा किन्तु स्वभावानुसार प्रत्येक व्यक्ति किसी विशिष्ट देवी अथवा देव मे आस्था रखता है। युद्ध-वीर भवानी की उपासना विशेष रूप से करते है क्योकि उसके दैत्य-दलन-कारी रूप से शत्रु के पराभव करने की विशेष प्रेरणा मिलती है। भवानी शब्द यहाँ सामान्य देवता के अर्थ को छोडकर युद्ध मे विजय का वरदान देनेवाले देवता के अर्थ मे सक्रमित हो गया है—अर्थ के सक्रमण के साथ ही रानी लक्ष्मीबाई के वीर स्वभाव की व्यजना हो जाती है—यही कवियित्री का अभीष्ट अर्थ है। रानी का महाराष्ट्र प्रान्त-वासियो मे साधारणतया पाया जानेवाला वीर-स्वभाव था। नारी होने से उसमे कोई परिवर्तन नही आया था यही कवियित्री को कहना है।

पदगत अत्यन्त तिरस्कृत अविवक्षिवाच्य ध्वनि—

रुपहले सुनहले आम्र बौर
नीले पीले औ ताम्र मौर
रे गन्ध अन्ध हो ठौर-ठौर
उड़ पाँति पाँति में चिर उन्मन
करते मधु के वन में गुंजन।[2]

यहाँ तीसरी पक्ति मे 'अध' पद मे मुख्यार्थ का बाध है। कोई भी भौरा गन्ध से अन्धा नही हो सकता। गन्ध का सम्बन्ध नाक से है और अन्धेपन का आँख से। अत. मुख्यार्थ पूरी तरह अनुपपन्न हुआ। उपपन्न अर्थ अधे व्यक्ति की कुछ विशेष-

---

१. सुभद्रा कुमारी चौहान : मुकुल : पृ० ६४
२. सुमित्रानन्दन पन्त . गुंजन : पृ० १०

ताओ से निकलता है। ठीक ठीक न देख सकने के कारण वह इधर उधर टकराता लड़खडाता राह-बे-राह चलता है। इसी से मिलता जुलता व्यवहार मद्यप का होता है। अतः 'गन्ध-अन्ध' का लक्ष्यार्थ निकला कि भौरे पुष्प-गन्ध पाकर अपने को भूल गये है सुगन्धित फूल पर जा बैठने के लिए पागल हो गए है। जैसे अन्धा व्यक्ति कुछ नही देख पाता उसी प्रकार भौरे भी आगे की कोई बात न सोचकर टोली की टोली मे निकल पड़े है। यहाँ भौरो का मस्त होकर इधर उधर उडना व्यग्य है। पन्त से ही एक और उदाहरण द्रष्टव्य है—

तुम्हारे छूने मे था प्राण
संग में पावन गगा-स्नान
तुम्हारी वाणी मे कल्याणि
त्रिवेणी की लहरों का गान।[1]

इस छन्द के कई पदो मे लक्षणा है। हम केवल 'प्राण' पद को लें। उक्ति प्रिया के (व्यापक अर्थ मे नारी के) प्रति है। मुख्यार्थ है—'हे प्रिये तुम्हारे छूने से मुझमें प्राणो का संचार हो जाता था। कवि न तो मृत है और न किसी नारी के छूने से मृतक जीवित ही हो सकता है। भिन्नार्थ को प्राप्त करने मे मृतक और जीवन्तकी सूक्ष्म तुलना सहायक होती है। मृत शरीर की अपेक्षा प्राणवान शरीर क्रियाशील होता है। अतः उपपन्न अर्थ यह निकला कि जिस प्रकार सजीवनी सुधा देने से मृतक जीवित हो उठता है, कर्म करने लग जाता है उसी प्रकार हे प्रिये तुम्हारे निकट आने से तुम्हारे मृदुल स्पर्श से मेरा समस्त अवसाद अकर्मण्यता समाप्त हो जाती है और मुझमे नयी शक्ति नया जीवन भर जाता है। यहाँ प्रिया का (व्यापक अर्थ मे नारी का) प्रेरणादायिनी होना व्यग्य है। मुख्यार्थ के पूर्ण त्याग से अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य है और 'प्रेरणादायिनी' वस्तु व्यजना मुख्य होने से यह ध्वनि का उदाहरण है। प्रयोजन रूप व्यग्य है तुम्हारी प्रेरणा से मै उन्नति के पथ पर बढ जाता था।

उक्त पद्धति से ही 'गगा-स्नान' और 'त्रिवेणी की लहरो का गान' पदो से पवित्र कर देने की शक्तिमत्ता का अर्थ ध्वनित होता है।

नव मेघों को रोता था जब चातक का बालक मन
इन आँखों में करुणा के घिर घिर आते थे सावन।[2]

इन पंक्तियो मे 'बालक मन' पद मे मुख्यार्थ का बाध है। चातक का मन बालक का मन नही हो सकता। यदि चातक शावक की बात कही जा रही है तब

१. पन्त : पल्लव : पृ० ७२
२. महादेवी वर्मा रश्मि . पृ० ३२

'बालक' शब्द की आवश्यकता क्या । अत बालक का सामान्य अर्थ त्याग कर उसके भोलेपन और हठ का अर्थ ग्रहण करना पडेगा, लक्ष्यार्थ हुआ भोला चातक बादलो की निष्ठुरता न समझता हुआ उन्ही के प्राप्त जल को पीने की ज़िद ठाने था। भोला मन इस अर्थ मे भी कि अभी बादलो के आने का समय नही हुआ है किन्तु फिर भी वह उन्हे बुलाए चला जा रहा है। व्यग्य है वह ऋतु जब चातक 'पिउ-पिउ' बोलता है ।

इसी प्रकार आँखो मे करुणा के सावन घिर आने की बात है। लक्ष्यार्थ है आँखों मे वाष्प राशि का छा जाना । ध्वन्यर्थ है मन का कोमल स्वभाव । महादेवी का ही दूसरा उदाहरण लेः—

तुम्हें बाँध पाती सपने में
*** * ***
रचती कितने स्वर्ग एक
लघु प्राणों के स्पन्दन अपने में ।[1]

दूसरी पक्ति मे 'स्वर्ग' पद का वाच्यार्थ अविवक्षित है । प्राणो के स्पन्दन में स्वर्ग की रचना नही हो सकती । अत: किसी वैभवशाली स्थान या वस्तु का अर्थ ग्रहण करना होगा । लक्ष्यार्थ हुआ—यदि स्वप्न जैसे क्षणिक और मायामय अवसर में भी तुम्हे बाँध पाती तो उस एक क्षण मे भी मुझे सुख की प्राप्ति हो जाती । प्रिय के प्रति आसक्ति का आतिशय्य ही यहाँ व्यग्य है ।

कवि बच्चन की दो पंक्तियाँ है—

मिट्टी का तन मस्ती का मन
क्षण भर जीवन मेरा परिचय ।[2]

इनमे प्रत्यक्षत: प्याले की चर्चा प्रतीत होती है किन्तु कवि का अभिप्राय मानव शरीर से है। अत: तत्सम्बन्धी व्याख्या ही अभीष्ट है। यहाँ तन पर मिट्टी का आरोप है । तन मिट्टी का नही मास और रक्त का होता है। सामान्य अर्थ का बाध होने से 'मिट्टी' पद 'तुच्छता' लक्ष्यार्थ का बाध कराता है। इसलिए अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य लक्षणा हुई । इससे व्यग्य रूप अर्थ निकला कि तन जैसी तुच्छ वस्तु का अभिमान क्या । उसके प्रति इतना मोह क्यों । अथवा यह कि जब तन के स्थायित्व का कोई भरोसा नही तो जीवन के इन थोड़े से क्षणो को क्यो न आनन्द से भर लिया जाय ।

---

१. **महादेवी वर्मा : नीरजा : पृ० ९**
२. **सोपान : पृ० ४७**

इनकी गाथा छोड़ चलें हम झाँसी के मैदानों में
जहाँ खड़ी है लक्ष्मीबाई मर्द बनी मर्दानों में ।[1]

कवयित्री रानी लक्ष्मीबाई के साहस के प्रति अत्यन्त आस्थावान है। उसे विश्वास है कि जो कार्य मर्द नही कर सकते उसे करने का साहस रानी मे है। रानी मर्द नही बनसकती अत· मर्द का शौर्यपूर्ण व्यक्ति अर्थ लेना होगा। लक्ष्यार्थ हुआ रानी वीरता की मूर्ति बनी खड़ी है। व्यग्यार्थ हुआ जिन अंग्रेजो से सामना करने का साहस अनेक राजाओ मे नही था उन्ही से लोहा लेने और या तो विजयी होने या लडते लडते प्राण देने का व्रत लिए रानी खड़ी थी। कहाँ खडी थी? 'मर्दानो में' रानी के साथ मे मर्द-पुरुष थे ही फिर अभिधा द्वारा उनके कथन की आवश्यकता क्या थी ? यहाँ भी मुख्यार्थ का बाध है। मर्द अपने मुख्यार्थ को त्याग कर साहसवाले मर्द के अर्थ मे संक्रमित हो गया है। मर्द कायर भी हो सकते है किन्तु युद्ध क्षेत्र मे केवल साहसी ही डट सकते है। अभीष्ट अर्थ है वे व्यक्ति जो प्राणों का मोह त्यागकर आये थे। अब सपूर्ण पक्ति का व्यग्यार्थ हुआ कि रानी की सेना के पुरुष यद्यपि अत्यन्त साहसी थे जो अग्रेजो के विरुद्ध लड़ने के लिए तैयार थे किन्तु उनके साहस का आधार मुख्य रूप से रानी का साहस ही था। इसलिए श्रेयरानी को मिलना चाहिये न कि शेष सेना को।

एक उदाहरण कविवर नरेन्द्र शर्मा से भी लें—

मै तो चिर पथिक प्रवासी हूँ
था इतना ही निवास मेरा
रोकर मत रोको राह विवश
यह पारद-पद जीवन मेरा।[2]

अन्तिम पक्ति में 'पद' वस्तु पर 'पारद' वस्तु का आरोपण है। पाव पारे नही होते 'पारद' पद चचलता अस्थिरता का भी अर्थ देता है। इस भिन्नार्थ से पद का सम्बन्ध जुड़ जाने पर अर्थ निकला—मै घुमक्कड हूँ किसी एक स्थान पर अधिक दिनो तक नही ठहरता। इससे प्रयोजन रूप अर्थ निकला तुम्हारे रोने से मेरा मन पिघल जाय यह असम्भव है। मुझे किसी स्थान का मोह नही है। इसलिए तुम्हारा रोना देखकर मैं रुकनेवाला नही। अपने स्वभाववश यहाँ से चला ही जाऊँगा।

अब तक हमने जितने उदाहरण दिये हैं उनमे केवल एक पद ही लक्षक होता था। सम्पूर्ण वाक्य ही जहाँ लक्षक हो ऐसे उदाहरण कम मिलते हैं। जयशकर प्रसाद की दो पक्तियाँ हैं—

सुभद्रा कुमारी चौहान . मुकुल : पृ० ७२
नरेन्द्र शर्मा : प्रवासी के गीत : पृ० १४

सुना है दधीचि का वह त्याग हमारी जातीयता विकास।
पुरन्दर ने पवि से है लिखा अस्थि-युग का मेरे इतिहास ॥[1]

कवि भारत के गौरव का गान कर रहा है, एक समय था जब हड्डियो के हथियार बनाये जाते थे। उस युग में दधीचि की हड्डियों से इन्द्र का वज्र आयुध बना। गौरव की बात यह कि असुरो के दमन के लिए दधीचि ने स्वयं अपने प्राण त्याग किये। दूसरी पक्ति मे 'पवि से है लिखा' वाक्य लक्षक है। वज्र से कोई चीज लिखी नही जा सकती, अत. मुख्यार्थ का बाध हुआ। लक्ष्यार्थ है इन्द्र ने वज्र से वृत्रासुर राक्षस को मार कर अस्थि युग का गौरव प्रदान किया है। वज्र से लिखे जाने के कारण इतिहास के अमिट होने की ध्वनि मिलती है। इसलिए व्यंग्यार्थ हुआ वज्र से सम्बन्धित आत्मत्याग और असुर दलन की घटनायें भारत के गौरव-मय अस्थि-युग को सदैव अमर रखेगी।

अभिधामूला असंलक्ष्यक्रम ध्वनि—

इस ध्वनि मे वाच्यार्थ से व्यंग्यार्थ तक पहुँचने का क्रम तो होता है किन्तु समय इतना कम होता है कि क्रम का पता नही चलता। इसीलिए इसे असलक्ष्यक्रम कहते है और मूल मे अभिधा होने से अभिधामूला। इसके अन्तर्गत रस रसाभास स्थायीभाव भावाभास और सचारी भाव सब आते है। भाषा के जिस तत्त्व से ये प्रकाशित होते है उसके अनुसार इसके छ. प्रकार माने गए है—पदगत पदाशगत वाक्यगत रचनागत वर्णगत और प्रबन्धगत।

१—पदगत असंलक्ष्यक्रम ध्वनि—

आज रहने दो यह गृह-काज।
प्राण रहने दो यह गृह-काज ॥[2]

कवि की उक्ति अपनी प्रिया के प्रति है, वातावरण मादकतापूर्ण है। प्रेमी की इच्छा है कि उसकी प्रिया उससे बात करे उसके निकट बैठे किन्तु वह घर का काम किये जा रही है, न जाने कर्तव्य भावना से न जाने लाज से। इससे कवि के मन मे रति भाव और उद्दीप्त होता है, अतः पहले वह अपनी अधीरता प्रकट करता हुआ कहता है कि घर के काम तो नित्य ही होते रहते है किन्तु ऐसा वातावरण कदाचित् फिर न आए। रोम-रोम मे सिहरन पैदा कर देने वाला दिन शायद फिर न आए। कौन जानता है कल क्या हो जाय ? 'आज' शब्द से प्रेमी का अधैर्य व्यग्य है। किन्तु उसे लगता है सम्भवत· वह अपनी व्याकुलता पूरी तरह प्रकट

---

१. जयशंकर प्रसाद : प्रसाद संगीत : पृ० ९८
२. सुमित्रानन्दन पन्त : गुंजन : पृ० ५१

नही कर पाया है इसलिए दूसरी पक्ति मे 'प्राण' सम्बोधन को रख देता है। नायिका स्वकीया है नायक के वचन अनुभाव है। उनमे 'प्राण' पद विशेष रूप से प्रयुक्त होकर प्रेमाधिक्य व्यजित करता है। अत· यहाँ पद्गत सम्भोग शृगार असलक्ष्यक्रम ध्वनि है।

विरह की घड़ियाँ हुई अलि मधुर मधु की यामिनी सी।[1]

इस वाक्य मे आराधिका का विरह वर्णित है, विरह दशा में एक ऐसी भी अवस्था आती है जब प्रिय का नाम रटते-रटते प्रिया स्वय प्रियमय हो जाती है उसका प्रिय से तादात्म्य हो जाता है। यह साधना की अन्तिम सीढी है। प्रियमय हो जाने पर विरह का ज्ञान भी नही रहता। भ्रान्ति के कारण विरह जन्य दु.खानुभूति मिलन की सुखानुभूति मे परिणत हो जाती है। इस वाक्य मे विरह की उस अवस्था की व्यजना करनेवाला पद 'मधुर' है। आराधिका कहती है कि अब तो विरह की घड़ियाँ भी उतनी ही मधुर हो गई है जितनी मिलन की राते थी। यदि संचारी भावो मे से किसी के अन्तर्गत इसे रख सकते है तो उन्माद के जिसमे यथार्थ ज्ञान भूल जाता है। अतः यहाँ उन्माद से पुष्ट विप्रलम्भ शृगार ध्वनित है। 'मधुर' पद से ध्वनित होने के कारण पदगत है।

२—पदांशगत असंलक्ष्यक्रम ध्वनि—

सिखा दो ना हे मधुप कुमारि
मुझे भी अपने मीठे गान
कुसुम के चुने कटोरों से
करा दो ना कुछ-कुछ मधुपान।[2]

कवि पन्त प्रकृति पर अनुरक्त है, उसके कण कण से उन्हे प्रेम है। यहाँ कवि अनुभव करता है कि प्रकृति की तुलना मे वह बहुत साधारण है। मधुप-कुमारी के गुजन में जो माधुर्य है वह उसके गीतो में नही है। इसलिए वह उससे अनुरोध करता है कि मेरे गीतो मे भी ऐसी ही मिठास भर दो। यहाँ 'ना' पदाश कवि के आन्तरिक भाव को प्रकट करने में अत्यन्त सफल हुआ है। प्रार्थना, निवेदन, दैन्य, अभिलाष आदि उसके मन के समस्त भाव 'ना' से ध्वनित हो रहे है। महादेवी जी का निम्न उदाहरण भी इसी प्रकार है—

कोकिल गा न ऐसा राग
मधु की चिर प्रिया यह राग।[3]

---

१. महादेवी वर्मा : सांध्यगीत : पृ० ३४
२. सुमित्रानन्दन पन्त : पल्लव : पृ० ८०
३. सांध्यगीत : पृ० ८७

इसकी प्रथम पंक्ति 'नही' के दो रूप 'न' और 'मत' के भेद को स्पष्ट कर देती है 'न' कहने से अनुरोध ध्वनित होता है 'मत' कहने से नही होता। 'मत अरुण घूँघट खोल री'[1] कहने से ऐसा लगता है मानो किसी को उपदेश दिया जा रहा हो—देखो यदि तुम यह काम करोगी' तो हानि उठानी पड़ेगी। किन्तु ऊपर की पक्ति मे प्रयुक्त 'न' से ऐसा लगता है कि न तो कोकिला को आज्ञा दी जा रही है न उपदेश दिया जा रहा है वरन् मनुहार की जा रही है। मनुहार करनेवाली का सम्पूर्ण दैन्य 'न' पदाश मे सिमट आया है। 'कोकिल गा मत ऐसा राग 'पंक्ति मे यह बात किसी भी तरह नही आ सकती—

दुःख ही जीवन की कथा रही
क्या कहूँ आज जो नहीं कही।[2]

पूर्व उदाहरणो की भाँति यहाँ भी 'ही' पदांश कवि की मानसिक थकान को स्पष्ट कर देने मे अत्यन्त समर्थ है। सबके जीवन का एक भाग सुखमय और एक भाग दु.खमय होता है। पर ऐसा भी क्या जीवन जिसमे आरम्भ से अन्त तक दु.ख ही दु.ख हो। भगवान कभी तो सुख देता। व्यक्ति कहाँ तक उसको सहे और चुप रहे। दु.ख के आधिक्य से उत्पन्न ग्लानि भाव 'ही' पदाश से ध्वनित है। इसी प्रकार का पदांश 'तो' है जिसका अत्यन्त सार्थक प्रयोग भक्ति भाव पूर्ण वाक्यों मे होता है—

३—वाक्यगत असंलक्ष्यक्रम ध्वनि—

कितने जीवन से करता—
आया प्राणों का संचय
पर अभी न हो पाया है
अपने प्रियतम से परिचय।[3]

छायावाद की रहस्यवाद शाखा के अन्तर्गत आनेवाली ये पक्तियाँ आत्मा और परमात्मा के सम्बन्ध पर प्रकाश डालती है। आत्मा प्रत्येक जन्म मे साधना करती है इस हेतु कि अनन्त सौन्दर्ययुक्त परमात्मा का निकट सम्पर्क पा सके उसे देख सके पहिचान सके किन्तु शरीर मे इन्द्रियो की सहायता युक्त होने पर आत्मा माया के कारण परमात्मा से दूर रहती है और शरीर त्यागने पर शुद्ध चेतना स्वरूप पाने पर वह अनुभूति शून्य हो जाती है। उस स्थिति में ज्ञानेन्द्रियो के बिना परिचय पाये तो कैसे। यही कारण है कि अनेक जन्म लेने के बाद भी प्रियतम परमात्मा उसके लिए

---

१. **नीरजा : पृ० ८१**
२. **निराला : अनामिका : पृ० १३४**
३. **डॉ० रामकुमार वर्मा : चित्ररेखा : पृ० ३८**

अपरिचित ही है। तज्जन्य घोर नैराश्य उक्त वाक्य से व्यजित है। निराशा खेदयुक्त होने से यह वाक्यगत खेद भाव ध्वनि का उदाहरण हुआ।

किसने मरोड़ डाला बादल
जो सजा हुआ था सबल धीर
केवल पर भर में दिया हाय
किसने विद्युत का हृदय चीर
इतना विस्तृत होने पर भी
क्यों रोता है नभ का शरीर।[1]

आत्मा परमात्मा के रहस्यपूर्ण सम्बन्धो की खोज करनेवाली ये पक्तियाँ कवि के व्याकुल हृदय का स्वच्छ प्रतिबिम्ब है—आत्मा परमात्मा का बिलगाव नही सह पाती। विरहावस्था मे यह अचानक असीम वेदना का अनुभव करती है और उसके साथ ही अविरल अश्रुधार बह निकलती है। प्रकृति मे भी उसे पावस के दर्शन होते है जो उसकी अवस्था से पूर्ण साम्य रखता है। वह सोचती है इतने विस्तृत शरीरवाले और सज्जित वीर की यह दशा किसने की। कोई शत्रु तो हो नहीं सकता। अत. निश्चय ही यह भी अपने प्रियतम के वियोग मे व्याकुल है। बादल की व्याकुलता का वर्णन कर कवि अपनी व्याकुलता की ओर सकेत कर रहा है। ईश्वर से अलग होने पर आत्मा किसवेदना का अनुभव कर रही है वही उक्त पक्तियों मे व्यग्य है। अत. यहाँ भगवद्विषयक रति भाव ध्वनित है। इस कविता की 'यह निर्झर मेरे ही समान किसने व्याकुल की है अश्रुधार' पक्ति मे भी यही ध्वनित है।

इस सम्बन्ध मे महादेवी की ये पक्तियाँ भी द्रष्टव्य है—

नहीं अब गाया जाता देव
थकी अंगुली, है ढीले तार
विश्व वीणा मे अपनी आज
मिलालो यह अस्फुट झंकार।[2]

ऊपर की प्रथम दो पक्तियो मे 'श्रम' सचारी भाव का आभास होता है किन्तु कवियित्री वास्तव मे न तो कोई वाद्य बजा रही है न गा रही है। इसलिए श्रम भाव का प्रश्न नही उठता। वह कहना यह चाहती है कि वह अब तक आराध्य को रिझाने के लिए जिन भावनाओ को अभिव्यक्ति देती आ रही थी उनसे उसे सन्तोष नही हुआ। उसने अनुभव किया कि प्रिय को अपने प्रयत्नो से नही प्राप्त किया जा सकता। उसकी

---

१. वही : पृ० ५
२. महादेवी वर्मा : नीहार : पृ० १०

प्राप्ति उसी की कृपा पर निर्भर करती है। कृपा प्राप्ति के लिए अपनी अकिंचनता स्वीकार करना आवश्यक है। उपर्युक्त वाक्यो मे यही स्वीकृति है। इस प्रकार यह वाक्य प्रकाश्य दैन्य ध्वनि का उदाहरण हुआ चूंकि दैन्य किसी अन्य स्थायी भाव के आश्रित नही है इसलिए सचारी न होकर मात्र भाव है।

रचनागत वर्णगत और प्रबन्धगत असलल्यक्रम ध्वनियो के बीच कोई निश्चित विभाजक रेखा खीचना बड़ा कठिन है। भाव के अनुसार चुनी गई रचना–सघटना वैदर्भी आदि मे काफी हद तक वर्णों का भी ध्यान रखा जाता है। वर्णो के चयन से रचना–सघटना मे ओज–माधुर्य गुण स्वभावत. आ जाते है और प्रबन्ध तो इन दोनो से युक्त होता ही है। किसी प्रबन्ध मे यदि रौद्र रस की व्यंजना करनी है तो पूर्णतया कोमल वर्णो से ही काम नही चलेगा। इसी प्रकार शृगार रस की व्यंजना में यदि समस्त पदावली और श्रुति–कटु वर्णो की भरमार कर दी जाय तो अवश्य ही रसभग हो जायगा। इसलिए यदि तीनो प्रकार की ध्वनियो का विचार करते समय केवल प्रधानता का ही विचार हो सकता है। ऐसा भी हो सकता है कि किसी प्रबन्ध प्रकाश्य ध्वनि मे प्रथम दो भी पूर्ण सहयोग दे रहे हो।

४. रचनागत असंलक्ष्यक्रम ध्वनि—

> **मेरे दु:ख में प्रकृति न देती**
> **क्षण भर मेरा साथ**
> **उठा शून्य मे रह जाता है**
> **मेरा भिक्षुक हाथ**
> **मेरे निकट शिलायें पाकर**
> **मेरे श्वास-प्रवाह**
> **बड़ी देर तक गुंजित करती**
> **रहती मेरी आह**
> **'मर-मर' शब्दों में हँसकार पत्ते हो जाते मौन**
> **भूल रहा हूँ स्वयं इस समय मै जग में हूँ कौन।**[1]

इन पक्तियो में कवि का दैन्य भाव किसी एक पद या वाक्य से ध्वनित न होकर समस्त रचना से हो रहा है। दुखी मनुष्य अपने दु.ख का वर्णन करते समय बीच बीच में ठन्ढी साँस भरता जाता और दीर्घ नि.श्वास छोड़ता जाता है। ठीक उसी प्रकार यहाँ असमस्त–पदावली के बीच मे 'भिक्षुक हाथ' और 'श्वास प्रवाह' आदि समस्त पद साक्षात् 'आह' की ध्वनि देते प्रतीत होते हैं जिससे दैन्य की तत्काल व्यंजना हो

---

१. डॉ० रामकुमार वर्मा : आधुनिक कवि ३ : पृ० ११६

जाती है । रचनागत अभिधा मूला ध्वनि मे वाक्यो की आवृत्ति भी ली जा सकती है । भावो की तीव्रता व्यंजित करने मे इसकी अद्‌भुत क्षमता का परिचय मिलता है ।

बहुत बड़ी आशा से आई हूँ
मत कर तू मुझे निराश
एक बार बस एक बार तू
जाने दे प्रियतम के पास ।[1]

तीसरी पक्ति मे 'एक बार' की आवृत्ति 'दैन्य' भाव को ध्वनित कर रही है ।

५. वर्णगत असलक्ष्यक्रम ध्वनि—जितने अंशो मे वर्ण रचना पर आश्रित है उतने ही अशो मे वर्ण रचना पर आश्रित है । वर्ण का कोई स्वतंत्र स्थान नही है । श्रृंगार मे कोमल और रौद्र मे कटु वर्णो के प्रयोग का विधान तो प्राचीन आचार्य कर गये है किन्तु सचारियो की अभिव्यजना मे वर्ण—चयन इस युग के कवियों की अपनी सूझ है । पन्त की कुछ पक्तियाँ है—

आज चंचल-चंचल मन प्राण
आज रे शिथिल-शिथिल तन भार
आज दो प्राणों का दिन-मान
आज संसार नहीं ससार ।[2]

छन्द की दूसरी पक्ति मे आलस्य व्यग्य है । उसको प्रकाशित करनेवाले वर्ण 'थ' और 'ल' है । यदि ये न होते तो आलस्य मे शरीर के ढीलेपन की व्यजना न हो पाती । गाँवो मे अत्यधिक गर्मी से व्याकुल होकर शिथिल गिर पडने के लिए 'लुथ-ड़क' शब्द का प्रयोग करते है । देखिये यह शब्द ध्वन्यार्थ व्यंजना मे कितना शक्ति सम्पन्न है ।

बह चली अब अलि शिशिर-समीर
काँपी भीरु मृणाल-बृन्त पर
नील-कमल कलिकाएँ थर थर
प्रात अरुण को करुण अश्रु भर
लखतीं अहा अधीर ।[3]

उद्धरण मे भाव का आश्रय कमल-कलिकाएँ मानवेतर प्रकृति होने से भावाभास का उदाहरण है किन्तु कवि के दृष्टिकोण से उसमे दैन्य भाव ही मानना पड़ेगा

---

१. सुभद्राकुमारी चौहान : मुकुल : पृ० ३२
२. पन्त : गुंजन : पृ० ५१
३. निराला : गीतिका : पृ० १०

क्योकि प्रकृति को भी मनुष्य की ही भाँति चेतन समझना छायावाद की पहली शर्त है। दैन्य भाव की व्यंजना शरीर के कम्प अनुभाव से होती है जिसकी व्यजना के लिए कवि ने 'र' वर्ण का अधिक प्रयोग किया है। इस प्रकार यहाँ वर्णप्रकाश्य दैन्य भावाभास ध्वनि सिद्ध होती है। निम्न उदाहरण में वर्ण की शक्ति का सर्वाधिक आश्रय लिया गया है ·

> तोड़ो, तोडो, तोड़ो कारा
> पत्थर की, निकलो फिर,
> गंगा - जल - धारा !
> गृह गृह की पार्वती ।
> पुनः सत्य-सुन्दर-शिव को सँवारती
> उर-उर की बनो आरती।—
> भ्रान्तों की निश्चल ध्रुवतारा।—
> तोड़ो, तोड़ो, तोड़ो कारा![1]

कवि का उद्देश्य न केवल उत्साह भाव की व्यंजना अपितु उसका सचार करना भी है। अभीष्ट भाव वर्ण और रचना दोनों से प्रकाश्य है। प्रथम और अन्तिम पक्तियो मे 'त' और 'ड़' वर्ण किसी वस्तु के सचमुच टूटने की प्रतीति कराते है। बीच बीच मे समस्त पदावली भावों को एक झटका सा देती है । आश्रय का आरोपण जनता पर करना पड़ेगा। प्रोत्साहन के शब्द उद्दीपन के अन्तर्गत आयेंगे। किन्तु आलम्बन, रूढियो, के अति सूक्ष्म और परोक्ष होने से भाव रस की कोटि तक नही पहुँचा है। अत. यह भी भाव ध्वनि का उदाहरण हुआ।

६—प्रबन्धगत असंलक्ष्यक्रम ध्वनि—

> वह आता—
> दो टूक कलेजे के करता पछताता पथ पर आता।
> पेट पीठ दोनों मिलकर हैं एक
> चल रहा लकुटिया टेक
> मुट्ठी भर दाने को—भूख मिटाने को
> मुँह फटी पुरानी झोली का फैलाता—
> दो टूक कलेजे के करता पछताता पथ पर आता।
> साथ दो बच्चे भी हैं सदा हाथ फैलाये
> बाएँ से वे मलते हुए पेट को चलते
> और दाहिना दया-दृष्टि पाने की ओर बढ़ाए।

---

१. निराला : अनामिका : पृ० १३७।

भूख से सूख ओंठ जब जाते
दाता-भाग्य-विधाता से क्या पाते।
घूँट आँसुओं के पीकर रह जाते
चाट रहे जूठी पत्तल वे कभी सड़क पर खड़े हुए
और झपट लेने को उनसे कुत्ते भी है अड़े हुए।[1]

इस प्रबन्ध में भिक्षुक और उसके साथ के बच्चे आलम्बन विभाव है। बूढे का अत्यन्त दुर्बल होना बच्चो का पेट मलना ओठों का सूखना आँखों मे आँसू भर आना और जठी पत्तल चाटना उद्दीपन विभाव है। यहाँ दर्शक के अनुभावो के वर्णन की आवश्यकता नही है क्योकि कवि स्वयं दर्शक है। कवि का उसको देखकर काव्य रचना करना ही करुणा भाव की तीव्रता का द्योतक है। आलम्बन और उद्दीपन का वर्णन ही इस प्रकार का है कि बिना अनुभाव के केवल दैन्य सचारी से पुष्ट करुण रस की व्यजना हो जाती है।

स्थानाभाव से अन्य प्रबन्धगत ध्वनियों के उदाहरण न देकर सकेत मात्र किया जा रहा है।

कवि निराला की 'वह तोड़ती पत्थर'[2] शीर्षक कविता दैन्य भाव-ध्वनि का एक और सुन्दर उदाहरण है। सम्पूर्ण कविता मे आलम्बनगत उद्दीपन विभाव के स्थान पर वाह्य उद्दीपन विभाव का अधिक वर्णन हुआ है। आलम्बन पर वातावरण के प्रभाव का वर्णन न होने के करुणा भाव उद्‌बुद्ध मात्र दशा मे रह गया है पुष्ट नही हो पाया। इस कारण वह भाव-ध्वनि का ही उदाहरण माना जायगा।

इन्ही का एक दूसरा गीत है 'नयनों के डोरे लाल गुलाल भरे खेली होली।'[3] नायिका स्वकीया है। चुम्बन लेने पर लज्जा से लाल हो जाती है इसलिए मध्या है। उरोज कठिन हैं इसलिए युवा है। नायक नायिका परस्पर रति भाव के आलम्बन और आश्रय है। चूँकि अधिकाश मे नायिका के ही अनुभावो का वर्णन हुआ है अत नायक की प्राक् क्रीड़ाएँ उद्दीपन विभाव है। लज्जा, हास, श्रम संचारी है। इनसे पुष्टि रति भाव शृंगार रस की कोटि तक पहुँच गया है। सम्पूर्ण प्रबन्ध के आश्रित होने से प्रबन्ध- प्रकाश्य है।

'वे दिन कितने सुन्दर थे'[4] मुख पंक्ति से प्रसाद ने एक गीत लिखा है। आधुनिक कविता की प्रवृत्ति गीतो की ओर अधिक है वे भी छोटे गीत। गीत की

---

१. निराला : परिमल : पृ० १३३।
२. निराला : अनामिका : पृ० ७९
३. निराला : गीतिका : पृ० ४६
४. प्रसाद : लहर : पृ० २७

यह विशेषता है कि उसमे आरम्भ से अन्त तक कवि की एक ही मनःस्थिति का परिचय मिलता है। अनुभावों का प्रश्न ही नही उठता क्योंकि गीत में अभिव्यक्त भाव का आश्रय स्वयं कवि है। अतः स्थायी भाव का आरोपण कवि की मानसिक अवस्था को देखते हुए अपनी कल्पना से करना पडता है। उपरिनिर्दिष्ट गीत मे यह मान लेना पड़ेगा कि कवि की अपनी प्रिया (भले ही काल्पनिक हो) से वियोग होने पर मिलन के दिनो की 'स्मृति' की मन·स्थिति है। सम्पूर्ण कविता में 'स्मृति' भाव व्यक्त हुआ है। आरोपित वियोग से स्थायी भाव रति होगा। उसी को पुष्ट करने के कारण स्मृति संचारी कहलायेगा। इस प्रकार इस गीत में स्मृति से पुष्ट रति भाव का वियोग पक्ष ध्वनित है। 'स्मृति' अत्यन्त क्षीण सचारी है रस प्रक्रिया के अन्य तत्त्व भी नही है इसलिए रति भाव पुष्ट होकर रस दशा तक नही पहुँच सका है। अतएव यह भाव ध्वनि का उदाहरण हुआ।

कवि बच्चन का गीत है 'था तुम्हे मैने रुलाया'[1] पहले की ही भाँति इस गीत के भाव का आश्रय स्वय कवि है। उसे अपने किये पर पाश्चात्ताप है। बीच बीच मे आये 'सरलते' और 'तुम्हे' सम्बोधनो से उक्ति प्रेयसी के प्रति है। क्रिया भूतकालिक होने से विप्रलम्भ शृंगार का उदाहरण है। गीत के आरम्भ से अन्त तक कवि का अनुताप ही प्रकट हुआ है जो अनुभूति के ऊपरी सतह पर ही होने के कारण से उद्‌बुद्ध मात्र स्थायी भाव के अन्तर्गत आयेगा।

जैसा कि आलोच्य काल की प्रवृत्तियो के विश्लेषण के प्रसग मे कहा जा चुका है इस काल मे कवियो की विरही की मनःस्थिति ही अधिक रही है। परिणाम-स्वरूप प्रबन्धों में विप्रलम्भ शृगार ही व्यजित हुआ है। काव्य के सम्बन्ध मे मान्यताएँ बदल जाने से रस व्यंजना के उदाहरण बहुत कम मिलते है। शृगार रस-राज कहा जाता है। छायावादी काव्य मे उसका राज्य बड़ी दूर दूर तक फैला। अब कुछ अन्य भावो के उदाहरण देते है।

अब तक जिन भेदों की चर्चा हुई है। उनका वर्गीकरण प्रकाशक तत्त्वो के आधार पर हुआ है। विषय के आधार पर भाव ध्वनि के जितने प्रकार है यहाँ उन्ही का विवेचन प्रस्तुत किया जा रहा है।

क— रस-ध्वनि : भगवद्‌विषयक रति—शान्त रस

मैं अकेला
देखता हूँ आ रही
मेरे दिवस की सान्ध्य बेला।

---

१. निशा निमंत्रण : पृ० ९१

पके आधे बाल मेरे
हुए निष्प्रभ गाल मेरे
चाल मेरी मन्द होती आ रही
हट रहा मेला।
जानता हूँ नदी झरने
जो मुझे थे पार करने
कर चुका हूँ हँस रहा यह देख
कोई नहीं मेला।[1]

शान्त रस का स्थायी भाव निर्वेद है। कवि स्वय उसका आश्रय है। ससार आलम्बन विभाव, अनुभव और वृद्धावस्था उद्दीपन विभाव है। ससार की प्रवचना पर हँसना अनुभाव विषाद तथा ग्लानि सचारी है। रस परिपाक की पूर्ण सामग्री से पुष्ट होकर निर्वेद शान्त रस में परिणत हो गया है। यौवन और सौन्दर्य के काव्य छायावादी धारा मे शान्त रस या निर्वेद भाव के बहुत कम उदाहरण मिलते है। निराला की बाद की रचनाओ—अर्चना और आराधना—मे भगवद्विषयक रति के अनेक गीत है। हाँ महादेवी वर्मा की रचनाओ में आध्यात्मिक पक्ष कही कही प्रबल अवश्य हुआ है किन्तु मूल मे 'गोपी भाव' होने से वह दाम्पत्य विषयक रति की कोटि में चला जाता है। निर्वेद भाव तो ढूंढे से ही मिले तो मिले। सुमित्रानन्दन पन्त की परिवर्तन शीर्षक कविता में 'प्रात ही तो कहलाई मात।'[2] पक्ति से आरम्भ होनेवाले प्रसंग में करुण रस की अच्छी अभिव्यजना हुई है। प्रबन्ध काव्यो मे रस-व्यंजना पर दूसरे प्रकरण में विचार किया जा रहा है।

ख—रसाभास : रति भाव के अयोग्य वस्तुओं में प्रेम भाव के आरोपण से रसाभास—

इस ध्वनि के उदाहरण स्वरूप निराला जी की 'जुही की कली'[3] कविता को प्रस्तुत किया जा सकता है। जुही की कली में नायिका और पवन मे नायक का आरोपण कर रति भाव की व्यजना की गई है। थोड़ी देर के लिए इन्हे सामान्य पात्रों के रूप मे ग्रहण करे। कली और पवन का प्रणय बहुत पहले से है। इससे रति स्थायी भाव हुआ। पवन विदेश मे है। वासन्ती निशा के मादक वातावरण मे उसकी विरह व्याकुलता उद्दीप्त हो उठती है। बन्सत ऋतु और रात्रि का समय वाह्य उद्दीपन है। मिलन के क्षणों मे 'स्मृति' विप्रलम्भ को पुष्ट करने वाला सचारी है। पवन नायिका के पास आकर प्रेम क्रीड़ाएँ करता है। जब वह नही जागती तो

१. निराला : अपरा : पृ० ४३
२. पल्लव : पृ० १५४
३. निराला : परिमल : पृ० १९१

झकझोर डालता है। नायिका चोंक कर जाग जाती है । प्रिय को निकट देखकर लज्जा से मुख नीचा कर हँस पडती है। ये नायिका के अनुभाव है। इस प्रकार शृंगार रस की पुष्टि की प्रभूत सामग्री उपस्थित हैं। किन्तु जब हम देखते है कि पवन और कली मे प्रेम का साधारण गुण नही है तो रस का आभास मात्र होकर रह जाता है। आस्वादन नही हो पाता । इन कारणो से यह शृंगार रसाभास के अन्तर्गत आएगा। इसी प्रकार पन्त की छाया को सम्बोधित कर लिखी गई कविताओ मे जहाँ जहाँ छाया और वृक्ष मे प्रणय सम्बन्ध स्थापित किया गया है वे सब स्थल रसाभास के अन्तर्गत ही आयेगे।

भयानक रसाभास—अहे वासुकि सहस्रफन

लक्ष अलक्षित चरण तुम्हारे चिह्न निरन्तर
छोड़ रहे है जग के विक्षत वक्षःस्थल पर ।
शत शत फेनोच्छ्वसित स्फीत फूत्कार भयंकर
घुमा रहे है घनाकार जगती का अम्बर ।
मृत्यु तुम्हारा गरल दन्त कंचुक कल्पान्तर
अखिल विश्व ही विवर
वक्र कुंडल
दिड् मंडल ।[1]

कवि परिवर्तन की भयकरता उस पर वासुकि का आरोपण कर दर्शाने का प्रयास कर रहा है। भयानक और वीभत्स रसों मे आलम्बन का वर्णन ही रस परिपाक के लिए पर्याप्त गया है क्योंकि भाव का आश्रय स्वय पाठक होता है। इन भावो की व्यजना परम्परया सिद्धान्त निरपेक्ष रूप से होती आई है। यहाँ वासुकि भय का आलम्बन है। उसके सहस्र फन फूत्कार तथा अम्बर घुमाना आलम्बनगत उद्दीपन विभाव है। अत भाव की भयानक रस मे परिणति होनी चाहिये पर होती नही है। इसमे दो व्यवधान है। एक परिवर्तन स्वयं मे इतनी सूक्ष्म वस्तु है कि उसका प्रत्यक्षीकरण नही हो पाता। जो कुछ चित्त का विस्फार होता है वासुकि के रूप को लेकर न कि परिवर्तन के भयकर रूप के कारण। दूसरे जिस विराट् चित्र का वर्णन हुआ है वह भी अपने विराट्त्व के कारण प्रत्यक्ष नही हो पाता। फलस्वरूप भयानक का आभास मात्र होकर रह जाता है। यहाँ पद्य की रचना भी कुछ सीमा तक भाव को पुष्ट करने मे सहायक सिद्ध हुई है।

वीभत्स रसाभास—

लालची गीधों-से दिन रात
नोंचते रोग शोक नित गात

---

१. पन्त. पल्लव : पृ० १५०

अस्थि पंजर का दैत्य दुकाल
निगल जाता निज बाल ।[1]

लालची गीधो द्वारा शरीर का नोचा जाना, अस्थि पंजर मय दैत्य का अपने ही बच्चों को निगल जाना जुगुप्सा भाव जगाता है परन्तु निरिंद्रिय रोग-शोक में गीधो का और दुकाल में दैत्य का आरोपण होने से रस परिपाक में बाधा पड़ती है। रोग-शोक का नोचे जाने की क्रिया से सम्बन्ध का चाक्षुष बिम्ब खडा करने में कठिनाई होती है।

ग—भाव-ध्वनि : उद्‌बुद्ध मात्र स्थायी भाव

वात्सल्य भाव—

मै सबसे छोटी होऊँ
तेरी गोदी में सोऊँ
तेरा आँचल पकड़-पकड़ कर
फिरूँ सदा माँ तेरे साथ
कभी न छोड़ूँ तेरा हाथ ।[2]

उपर्युक्त पद्य मे वात्सल्य भाव का आलम्बन माँ है और आश्रय पुत्री। पुत्री की अभिलाषा है कि कभी ऐसा अवसर न आए जब माँ का प्यार छोड़ना पडे। यदि वह छोटी ही रहेगी तो सदा माँ का प्यार पाती रहेगी। यहाँ पुत्री की केवल अभिलाषा व्यक्त होती है कि वह सदैव माँ के साथ रहे। ऐसा कोई अवसर नही आया है जहाँ इस रति भाव का उत्कट रूप देखने को मिले। उत्कटता केवल बालिका के अनुभावो के वर्णन द्वारा ही दर्शायी जा सकती है। इस प्रकार भाव उद्‌बुद्ध दशा में ही है।

यद्यपि संस्कृत काव्यशास्त्रियो से अधिकाश ने सन्तान विषयक और गुरुजन विषयक रति भाव की शुद्ध रस मे परिणति नही मानी है तथापि विश्वनाथ ने अन्य रसों से भिन्न प्रकार का चमत्कार उत्पन्न करने के कारण इसे शुद्ध रस कोटि मे ही रखा है।[3] कवि अयोध्या सिंह उपाध्याय ने विश्वनाथ से पूर्ण सहमत होते हुए रस प्रकरण में उदाहरण सहित वात्सल्य का रसत्व सिद्ध किया है।[4] हम भी उक्त विद्वानों से सहमत है। माता का सन्तान के प्रति प्रेम दाम्पत्य रति से भिन्न होता हुआ भी उत्कटता मे कम नही होता। इसी प्रकार सन्तान का विशेषतः छोटे बच्चों का माँ के प्रति प्रेम श्रद्धा से भिन्न होता हुआ भी मन को सम्पूर्णता मे घेरे रहता है।

---

१. पन्त : पल्लव : पृ० १५५
२. पन्त : वीणा : पृ० २७
३. साहित्य दर्पण : ३-२५१-२५३
४. रस कलश : पृ० १८३।

दाम्पत्य रति भाव—

मिल गए उस जन्म में संयोगवश यदि
क्या मुझे पहचान लोगी
चौंक कर चंचल मृगी सी धर तुरत दो चार चल पग
कहो प्रिय क्या देखते ही खोल गृह-पट आ मिलोगी।
खुल लट होगी तुम्हारी झूमती मुख चूमती-सी
कहो प्रिय क्या आ ललक कर पुलक आलिंगन करोगी।[1]

कवि की उक्ति अपनी पत्नी के प्रति है अतः किसी प्रकार का अनौचित्य नही है। इस जन्म की प्रणय चेष्टाओ के वर्णन से उक्ति रतिभाव युक्त है किन्तु उनका आरोपण दूसरे जन्म मे किया गया है अत. काल्पनिक है। कवि की अभिलाषा है कि दूसरे जन्म मे भी हम इसी प्रकार मिल सकते तो कितना अच्छा होता। अभिलाषा हल्का भाव है जिसमें कोई भी भाव (यहाँ रति भाव) उद्‌बुद्ध मात्र दशा मे रहता है। इस प्रकार के उदाहरण सुमित्रानन्दन पन्त की 'भावी पत्नी के प्रति'[2] और 'रूपतारा तुम पूर्ण प्रकाम'[3] कविताओ मे और निराला की 'प्रेयसी'[4] कविताओ में मिलते है।

छायावाद युग की प्रवृत्तियो के अन्तर्गत दिखाया जा चुका है कि ये कवि किसी भी प्रकार की स्थूलता के विरुद्ध थे। इन्हे प्रेयसी से अधिक उसकी कल्पना प्रिय थी। फलतः शृंगार भी रस रूप के स्थान पर रति भाव मात्र रह गया। प्रेयसी की कोई भंगिमा इन्हे पसन्द आ गई या इन्होने स्वयं उसकी कल्पना कर ली बस वही एक पूरी कविता रच डालने के लिए पर्याप्त हो जाती। प्रयोगवादी युग मे डॉ० धर्मवीर भारती मे इस प्रकार की प्रवृत्ति अधिक है।

क्रोध भाव

पार तम के दीख पड़ता एक दीपक झिलमिलाता
जा रहा उस ओर हूँ मै मत्त मधुमय गीत गाता
इस कुपथ पर या सुपथ पर मै अकेला ही नहीं हूँ
जानता हूँ क्यों जगत फिर उँगलियाँ मुझ पर उठाता—
मौन रह कर इस लहर के साथ संगी बह रहे हैं

---

१. नरेन्द्र शर्मा : प्रवासी के गीत : पृ० २८
२. गुंजन : पृ० ३९
३. वही : पृ० ६२
४. अनामिका : पृ० १

एक मेरी ही उमंगें हो उठी हैं व्यक्त स्वर में
हैं कुपथ पर पाँव मेरे आज दुनिया की नज़र में।[1]

यह छन्द अत्यन्त सयमित शब्दो मे उद्बुद्ध मात्र क्रोध स्थायी भाव का उदाहरण है। क्रोध आश्रय भेद से अनेक अनुभावो मे व्यक्त हो सकता है। शिष्ट व्यक्ति अत्यन्त क्रोध युक्त होने पर भी हाथापाई नही कर सकता। दूसरी ओर एक ही कारण व्यक्ति भेद से उत्कट अथवा कोमल भाव को जागृत करने मे समर्थ होता है। निम्न श्रेणी का व्यक्ति स्थूल हानि पर क्रोधित होता है और प्रतिष्ठित व्यक्ति मान हानि पर ही प्राण की बाजी लगा देता है। कवि बच्चन ने ये पक्तियाँ तब लिखी जब समालोचको ने उनकी मधुशाला और मधुबाला की कविताओ को अश्लील शृंगार युक्त कहकर आपकी आलोचना आरम्भ की। ससार व्यापक वस्तु होने के कारण से शस्त्र उठाने का प्रश्न नही उठता। कविता मे सयमित भाषा का ही प्रयोग हो सकता है। इसलिए इसके अत्यन्त रूक्ष होने का आग्रह नही किया जा सकता। सम्पूर्ण छन्द मे कुछ वाक्य जैसे—'इस कुपथ पर या सुपथ पर' 'जानता हूँ ···उठाता'—ही अमर्ष को व्यक्त कर देते हैं और उन्ही से सम्बन्ध जोड़ने पर अन्य पक्तियो का आश्रय भी स्पष्ट होता है।

ग—भाव-ध्वनि—प्रधानतया व्यजित सचारी भाव

अरे कहीं देखा है तुमने मुझे प्यार करनेवाले को
मेरी आंखों में आकर फिर आँसू बन ढरनेवाले को।[2]

ये पक्तियाँ उन्माद की दशा को व्यजित करती है। प्रेमी विरह दशा मे उस अवस्था को पहुँच गया है जहाँ उसे इस बात का भी ज्ञान नही रहता कि वह क्या कह रहा है किससे कह रहा है। बस पागल की भाँति पुकारता फिरता है—किसी ने मेरे प्रिय को देखा है। यहाँ प्रधान रूप से उन्माद की व्यजना होने से भाव-ध्वनि है।

पर समेट लेती शरमा कर बिखरी सी मुस्कान
मिट्टी उकसाने लगती है अपराधिनी समान।[3]

हर्ष को लज्जा के कारण प्रकट न कर सकना अवहित्या है। यहाँ प्रधानतया उसी की व्यजना हो रही है।

अपनी ही आग बुझा लेता
तो जी को धैर्य बँधा देता

---

१. बच्चन : सोपान : पृ० ८८
२. प्रसाद : लहर : पृ० ३८
३. दिनकर : रसवंती : पृ० १६

मधु का सागर लहराता था लघु प्याला भी मैं भर न सका
मैं जीवन में कुछ कर न सका ।[1]

ससार सब सुखो की खान है किन्तु वे सब कर्मशील व्यक्ति को ही प्राप्त होते है । कवि को इसका खेद है कि दूसरो को सुख पहुँचाने की बात तो दूर रही यदि स्वयं को भी तृप्त कर पाता तो कुछ सतोष मिलता । खेद का एक और कारण यह भी है कि सुख प्राप्ति के लिए बडे भारी कष्ट उठाने की आवश्यकता नही थी । अपनी अकर्मण्यता पर पाश्चात्ताप और उससे उत्पन्न उदासीनता इस पद्य मे प्रधानतया व्यजित है अतः यह खिन्नता भाव-ध्वनि का उदाहरण कहलाएगा ।

निष्ठुर यह क्या छिप जाना मेरा भी कोई होगा
प्रत्याशा विरह-निशा की हम होगे औ दु:ख होगा ।[2]

विरही बडे साहस का परिचय देता है । प्रिय की निष्ठुरता पर इतना व्याकुल नही होता कि मरण की दशा तक पहुँच जाय । बडे ही स्थिर मन से कहता है—यदि तुम इतने निष्ठुर हो गए हो कि मेरा साथ नहीं देते तो न सही दुःख तो मेरा साथ देगा । तात्पर्य यह कि अनेक कष्टो को भोगता हुआ भी मैं जीवित रहूँगा । मन के धैर्य के कारण यह धृति भाव-ध्वनि हुई ।

छायावाद युग मुख्यत· लघु कविताओ का युग है जिनमें किसी कथा के न होने से सचारियो का किसी मुख्य भाव के अग रूप मे वर्णित होने का प्रश्न नही रहता । दूसरी बात यह कि श्रगार वर्णन की प्रणाली ही बदल गई थी । विप्रलम्भ मे 'मोह' 'मरण' आदि की कल्पना वे स्वप्न मे भी नही कर सकते थे ।

रसाभास की भॉति ही औचित्य की सीमा का उलघन करने पर कोई भाव भावाभास की कोटि मे चला जाता है । इसके अतिरिक्त आचार्यों ने भावशान्ति और भावोदय आदि ध्वनियाँ भी मानी है । यहाँ फिर इस बात को दुहराने की आवश्यकता है कि कवियों के काव्य के प्रति दृष्टिकोण बदल जाने से इन ध्वनियों के उदाहरण बहुत कम मिलते है । साथ ही गीति काव्य मे इसके लिए ज्यादा गुजाइश भी नही होती । रीति काल मे आचार्य मिश्रित कवि प्रयत्न करके ऐसे छन्द लिखते थे जो उपर्युक्त ध्वनियो के उदाहरण स्वरूप प्रस्तुत किये जा सकते थे । आधुनिक काव्य उदाहरण देने के लिए नही अपनी बात कहने के लिए रचा जाता है ।

घ—भावाभास

रसाभास के अन्तर्गत हमने देखा है कि निरिन्द्रिय वस्तुओ मे भाव की

---

१. **बच्चन : सोपान : पृ० १२८**

२. **प्रसाद : आँसू : पृ० १५**

परिपक्वावस्था दर्शाना इसका एक कारण है। उसी नियमानुसार निरिन्द्रय वस्तुओं मे भाव का आरोपण भावाभास होगा। कविवर माखनलाल चतुर्वेदी की 'पुष्प की अभिलाषा'[1] शीर्षक कविता इसका उदाहरण है। अब तक आचार्यो ने रति भाव के आलम्बन भेद से केवल तीन प्रकार किये है। स्वतत्रता सग्राम के साथ ही 'देश' या 'राष्ट्र' एक चौथे आलम्बन के प्रवेश पा लेने से 'देश-प्रेम' या' राष्ट्र-प्रेम' भी रति भाव के अन्तर्गत ही आएगा। उक्त कविता मे फूल उस धूल मे विलीन हो जाने की अभिलाषा प्रकट करता है जो देश-भक्तो के चरण-स्पर्श से पवित्र हो चुकी है। चूँकि यह प्रेम अन्य सहायक तत्त्वो से युक्त होकर रस कोटि तक नही पहुँच पाया है और मानवेतर प्रकृति मे आरोपित है इसलिए यह रति भावाभास ध्वनि का स्थल हुआ।

गीति-काव्य में ध्वनि-विवेचन

अभिधामूला संलक्ष्यक्रम ध्वनि—अभिधामूला सलक्ष्यक्रम ध्वनि के मुख्य दो भेद हैं—शब्द शक्ति प्रकाश्य एव अर्थ शक्ति प्रकाश्य। देखा जाय तो प्रथम भेद का सौन्दर्य भी अर्थ मे ही होता है किन्तु उसमे विशेष शब्द के प्रयोग से ही अर्थ-सौन्दर्य आता है। उसके पर्यायवाची से नही। इस महत्त्व को दिखलाने के लिए इसे शब्द शक्ति प्रकाश्य कहा।

शब्द शक्ति प्रकाश्य ध्वनि के लिए तीन शर्तें है। १—श्लिष्ट पद का प्रयोग। २—प्रसंग से उसका एक ही अर्थ मे नियमन हो जाय और ३—इसके फलस्वरूप पद पर्यायवाची रख देने से अर्थ सौन्दर्य समाप्त हो जाय। इनमे से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अन्तिम ही है अनेक स्थलो पर प्रथम दो की उपेक्षा भी मिलती है। यह सौन्दर्य वस्तु रूप भी हो सकता है और अलकार रूप भी और आचार्य भगीरथ मिश्र के अनुसार भाव रूप भी।

इस युग में कवियों को जान बूझ कर अलकारो विशेषत शब्दालंकारो का प्रयोग अभीष्ट नही है। उनकी मान्यता है कि काव्य शब्द चमत्कार नही अर्थ चमत्कार है। अर्थालंकारों मे भी गिने-चुने अलंकारों पर ही अधिक बल है। अतएव इस ध्वनि के उदाहरण कम ही मिलते हैं:—

शब्द-शक्तिमूला पदगत अलकार-ध्वनि—

चढ़ मृत्यु-तरणि पर तूर्य-चरण
कह-पितः पूर्ण-आलोक-वरण

---

१. युग-चरण : पृ० ३१

करती हूँ मैं यह नहीं मरण
'सरोज' का ज्योतिः शरण-तरण ।[1]

निराला जी ने अपनी पुत्री 'सरोज' के मुख से यह उक्ति कहलाई है । पिता को प्रबोध देने के लिए वह दृष्टान्त देती है कि 'सरोज' (कमल) का प्रिय सूर्य है । सूर्य उसे खिलाता है । यदि वह सूर्य के प्रकाश मे मिल जाय तो प्रिय से इस तादात्म्य को नाश न कहकर मुक्ति (चिरतन जीवन) कहना चाहिये । इसी प्रकार मैं (आत्मस्वरूप होने के कारण ब्रह्म की एक किरण के अर्थ मे) ब्रह्म से मिलने जा रही हूँ । इसे आप मेरी मृत्यु न समझे । यहाँ 'सरोज' पद से दृष्टान्तालंकार ध्वनित है । यदि पुत्री का नाम कुछ और होता तो यह सौन्दर्य नही आ सकता था ।

शब्द-शक्तिमूला पदगत वस्तु-ध्वनि—

देख वसुधा का यौवन भार
गूँज उठता है जब मधुमास
विधुर उर के से मृदु उद्‌गार
कुसुम जब खुल पड़ते सौच्छ्‌वास ।[2]

उपर्युक्त प्रथम दो पक्तियो का मुख्यार्थ है—मधुमास आने पर पृथ्वी पर अनेक फूल खिल जाते है और उन पर भौरे गुजार करने लग जाते है । इसके साथ ही यह अर्थ भी ध्वनित होता है कि नायिका के युवावस्था को प्राप्त होने पर नायक उससे प्रणय याचना करने लगता है । वसुधा नायिका है फूलो का खिलना उसका पुष्पवती होना है और भौरों का गुजार मधुमास रूपी नायक का प्रणय प्रस्ताव करना है । ध्वन्यर्थ है जब प्रकृति से भी प्रेम व्यापार के सकेत मिलते है । यहाँ 'मधुमास' के स्थान पर मधुऋतु या वसन्त ऋतु के प्रयोग से नायक नायिका भाव पैदा नही हो सकता इसलिए वह शब्द विशेष की सपत्ति सिद्ध होता है न कि अर्थ की ।

संलक्ष्यक्रम अर्थ-शक्तिमूला ध्वनि—

इस ध्वनि के भेद ध्वनि को प्रकाशित करनेवाली वस्तु की प्रकृति के आधार पर किये गये है—ये तीन हैं :—

१—स्वत: सम्भवी—वह वस्तु जो ससार मे साधारणतया दिखलाई पड़ती है अथवा जिसका वस्तु जगत में अस्तित्व है ।

२—कविप्रौढ़ोक्तिमात्रसिद्ध—जिस वस्तु का कवि परम्परा मे अस्तित्व हो अर्थात् जो उसकी कल्पना से ही सिद्ध हो सकती हो ।

---

१. निराला : अनामिका : पृ० ११७

वस्तु से रूप वस्तु का संकेत है। किन्तु यह सौन्दर्य विनाशकारी नही है उसका प्रवाह उद्दाम नही है। तीसरी पंक्ति में 'लज्जित गति' समस्त पद उसके उच्च कुलोद्भव होने का प्रमाण दे रही है। यहाँ क्रियावस्तु से गुण वस्तु की व्यजना हो रही है। इसी प्रकार निम्न पक्तियो मे :—

नत-नयन लाल कुछ गाल किये
पूजा हित कचन-थाल लिये
ढोती यौवन का भार अरुण
कौमार्य-बिन्दु निज भाल दिये।[1]

आराधिका की 'नत नयन मुद्रा' और कपोलो की अरुणिमा यह सूचित करता है कि उसे अकेले बाहर निकलने का अभ्यास नही है। किसी की ओर आँख उठाकर देखने का उसमे साहस नही है और इस कल्पना मात्र से कि लोग उसकी ओर देख रहे होगे उसका मुख अरुणिम हो उठता है। अत: प्रथम पक्ति के दोनो समस्त पदों से सुशीलता तथा नारी सुलभ लज्जा की व्यजना हो रही है। पदो का पर्यायवाची रख देने से अर्थ मे कोई अन्तर नही आ सकता इसलिए ध्वनि अर्थ-शक्तिमूला तथा व्यग्य-व्यजक मे कोई अलकार न होने के कारण वस्तु से वस्तु ध्वनि सिद्ध होती है।

छायावाद काल मे प्रकृति मे चेतना एव नारी भावना का आरोपण होने से अनेक ऐसे स्थल है जिनमे उक्त कोटि की व्यंजना मिलती है जैसे—निराला की जुही की कली मे। किन्तु प्रकृति मूलत: नारी न होने के कारण वहाँ-वहाँ वस्तु ध्वनि का शुद्ध स्वरूप नही मिलता।

पदगत अलंकार से अलंकार-ध्वनि—

निशि गई मोती सजाकर
हाट फूलों में लगाकर
लाज से गल जायँगे
मत पूछ इनसे मोल री।[2]

प्रात.काल का वर्णन है। पुष्प-दलो पर ओस बिन्दु चमक रहे है। उनकी चमक को देखते हुए कवियित्री 'मोती' पद का प्रयोग करती है। उपमैय के स्थान पर केवल उपमान का प्रयोग होने से रूपकातिशयोक्ति अलंकार है। इस अलकार के आधार पर कवियित्री आगे बढती है। ये साधारण मोती नही है क्योकि साधारण मोती का मूल्य आँका जा सकता है पर इनका नही। इनको अपने अमूल्य होने पर अभिमान है। है सखी यदि तूने इनका मोल पूछ लिया तो बेचारे लाज से गल जाँयगे। इनके

---

१. **दिनकर : रेणुका : पृ० ४९**
२. **महादेवी वर्मा : नीरजा : पृ० ८१**

मूल्य का आका जाना इनके लिए बडी लज्जा की बात होगी। इस प्रकार इन मोतियों का अमूल्य होना सामान्य मोतियों की अपेक्षा एक विशिष्टता है। इससे व्यतिरेक अलकार सिद्ध होता है। किन्तु इसका आधार है वही रूपकातिशयोक्ति। अत: यह रूपकातिशयोक्ति से व्यतिरेक अलकार की ध्वनि का स्थल है।

भटक रहे है किसके मृग-दृग
बैठी पथ पर कौन निराश
मारी मरु-मरीचिका की
ताक रही उदास आकाश।[1]

इस पद्य की प्रथम पक्ति मे -'मृग-दृग' मे उपमा अलकार है। मृग-दृग की व्याख्या मृग रूपी दृग नही हो सकता क्योकि उपमान मृग की आँखे है न कि स्वय मृग की आँखों की चकचकाहट से नायिका की आँखो की चचलता की तुलना की जा सकती है। मृग-दृग कहने से आँखो की चचलता रूप क्रिया वस्तु व्यग्य है। इस उपमा के आधार पर कवि ने नायिका की उस मृगी से तुलना की है जो मरु-मरीचिका द्वारा प्रवचिता हुई है। मरु-मरीचिका जीवन की वचनाये है। इस प्रकार वचना वह सामान्य गुण है जिसके आधार पर नायिका और मृगी को समान स्तर पर रखा गया है। यहाँ उपमान का आरोपण करना पडेगा। इस प्रकार प्रथम वाचक धर्म लुप्ता उपमा से द्वितीय उपमान लुप्ता उपमा की ध्वनि निकल रही है। पदगत अलंकार से वस्तु-ध्वनि--पदगत मे सबसे अधिक इसी ध्वनि के उदाहरण मिलते है।

मेरा पावस ऋतु-सा जीवन
मानस-सा उमड़ा अपार मन
गहरे धुँधले धुले साँवले
मेघों से मेरे भरे नयन।[2]

कवि अपने जीवन की तुलना वर्षा ऋतु से कर रहा है। पावस में बादल हर समय छाये रहते है और जब बरसने शुरू होते है तो कब तक बरसते जाँयगे कुछ नही कहा जा सकता। इसी प्रकार कवि का हृदयाकाश भी वेदना व्याप्त रहता है। कब वेदना उमड़कर आँखो की राह बह निकले कोई निश्चय नही। इसी प्रकार भरे मेघों से अपने नेत्रों की तुलना करने का अभिप्राय ही है कि उनसे कभी भी अश्रुधार बह निकल सकती है। इन दोनो अलकारो द्वारा कवि प्रिया के प्रति प्रेम का आतिशय्य और तज्जन्य विरहावस्था की व्यञ्जना करना चाहता है। यहाँ क्रिया के द्वारा गुण व्यग्य है।

---

१. निराला . परिमल : पृ० ५१.
२. पन्त : पल्लव : पृ० ६६

पास आओ चन्द्रमा के होंठ चूमूं
कुन्तलों के बादलों के साथ चूमूँ ।[1]

प्रेयसी के मुख के लिए कवि चन्द्रमा का प्रयोग करता है । अत. रूपकातिशयोक्ति है । होठ चूमने से चन्द्रमा मे सौन्दर्य के साथ साथ अमृत की ओर भी सकेत है । व्यग्य है 'हे प्रिये तुम्हारे होठ चन्द्रमा के समान ही अमृतपूर्ण है ।' इससे होठो की अत्यधिक मधुरता की ध्वनि निकल रही है । इस प्रकार यह अलंकार से गुण वस्तु-ध्वनि है ।

यमुने तेरी इन लहरों में किन अधरों की आकुल तान
पथिक प्रिया-सी जगा रही है उस अतीत के नीरव गान ।[2]

यमुना की लहरो की तान को पथिक-प्रिया का गान कहने से उपमा अलकार है । उपमान पथिक-प्रिया है । पथिक-प्रिया को इसका निश्चय नही होता, आशा भी बहुत कम होती है कि उसका प्रिय कभी लौट आएगा । प्रिय के साथ सुख के कुछ क्षण जीवन भर की वेदना दे जाते है । वे क्षण थोडे होते हुए भी अपनी क्षमता मे इतने पूर्ण होते है कि सदा के लिए अमर हो जाते है । यही दशा यमुना की है । उसकी लहरो का कलकल स्वर क्षण भर के लिए भी नही रुकता । कवि को उसमे किसी हृदय की व्याकुलता की अनुभूति होनी है । दुखानुभूति का यह नैरन्तर्य 'पथिक-प्रिया' पदमे ग्रहण होता है । जड वस्तु मे भी चेतना की अनुभूति कर कवि अतीत की स्मृति से अपने मन का पूर्ण रूपेण अभिभूत हो जाना व्यजित करना चाहता है ।

जिन प्राणों से लिपटी हो
पीड़ा सुरभित चन्दन-सी
तूफानों की छाया हो
जिसको प्रिय आलिंगन-सी ।[3]

प्राण और पीडा की एकता को दर्शाने के लिए महादेवी जी ने सुरभित चन्दन की अप्रस्तुत योजना की है । चन्दन और सुरभि का आदर्श योग है । सुरभि चन्दन के कण कण मे व्याप्त है । चन्दन को काटने, चूर्ण बनाने अथवा जलाने पर भी वह साथ नही छोडती । यदि कहे कि सुरभि चन्दन का स्वभाव है तो अत्युक्ति न होगी । सुरभि बिना चन्दन चन्दन नही । ठीक यही दशा प्राणो की हो गई है । 'तुमको पीडा

---

१. **बच्चन : मिलन यामिनी : पृ० २८**
२. **निराला : परिमल : पृ० ४५**
३. **महादेवी वर्मा : नीरजा : पृ० ६१**

मे ढूँढा तुममें ढूँढूँगी पीडा' में भी उन्होंने यही बात कही है। तात्पर्य यह कि पीड़ा उनके प्राणो का स्वभाव बन गई है। उक्ति व्यंजना 'सुरभि चंदन सी' समस्त पद से प्राप्त होती है। सी वाचक होने से यहाँ उपमा अलंकार है। इस तरह यह उपमा अलकार से गुण वस्तु-ध्वनि का उदाहरण बनता है।

वाक्यगत वस्तु से वस्तु-ध्वनि—

> **कॉपता उधर दैन्य निरुपाय**
> **रज्जु सा छिद्रों का कृशकाय**
> **न उर में गृह का तनिक दुलार**
> **उदर ही मे दानों का भार।[1]**

यह दीन व्यक्ति का चित्र है। ससार के सम्बन्ध तभी तक है जब तक व्यक्ति मे स्वयं कुछ हाथ पॉव हिलाने की शक्ति रहती है। कष्ट पड़ने पर सबसे पहले व्यक्ति स्वय की रक्षा करता है। तीसरी पक्ति मे कवि ने यह लिखकर कि दीन व्यक्ति के हृदय मे घर के लिए कोई प्यार नही रह गया है उसके अत्यन्त कष्टमय जीवन की ओर सकेत किया है। जिस परिवार के पालन पोषण के लिए व्यक्ति अनेक श्रम करता है उसी की ओर से विमुख हो जाना सामान्य बात नही है।

इसी प्रकार अन्तिम पक्ति मे दुर्बलता की चरमता व्यग्य है। अनेक दिन उपवास रखने पर एकाएक अधिक नही खाया जा सकता। थोड़ा सा अधिक खा लेने पर पेट भारी हो जाता है। ऊपर जिस दीन व्यक्ति का चित्र है उसे इतने दिनों से भूखे रहना पडा है कि आज थोडे से अन्न के दाने भी उसे भारी प्रतीत होते है। इससे उसके कई कई दिनों तक भूखे रहने के कारण दुर्बलता की चरमावस्था व्यग्य है। दोनो वाक्यो से व्यक्ति की चरम निर्धनता ध्वनित है। यह क्रिया द्वारा धर्म व्यजना है।

> **जहॉ पर चमकीले रंगीन**
> **झाड़ फानूसों की थी शान**
> **लगा कर छत्ता बैठी बर्रं**
> **रही है मकड़ी जाला तान।[2]**

यहाँ कवि ने दो विरोधी चित्रो को उपस्थित कर अभीष्ट अर्थ की ओर सकेत किया है। जिन महलो मे कभी झाड़ फानूस टंगे रहते थे, जिनको सुन्दर दीखने के लिए इतना प्रयत्न किया जाता था, वे आज निर्जन हैं। बर्रो का छत्ता तानना और मकडी का जाला बुनना स्थान की निर्जनता त्यक्तावस्था की ओर इगित करता है।

---

१. **पन्त : पल्लव :** पृ० १५४

२. **बच्चन : हलाहल :** पृ० ८०

इस प्रकार पदार्थ रूप वस्तु से 'ससार नाशवान है यहाँ कोई वस्तु चिरतन नही है' आदि विचार रूप वस्तु ध्वनित हो रही है ।

पर शेष नहीं होगी यह
मेरे प्राणों की क्रीड़ा
तुमको पीड़ा में ढूँढ़ा
तुममें ढूढ़ूँगी पीड़ा ।[1]

इस पद्य की अन्तिम दो पक्तियाँ मे कवि प्रौढोक्ति का भ्रम हो सकता है । पीड़ा में परमात्मा को देखना कवि-कल्पना नही तो क्या है । किन्तु आध्यात्मिक पक्ष की मान्यताओ और आराधिका के विश्वास को देखते हुए इसे स्वत सम्भवी के अन्तर्गत रखना ही ठीक है । जब पत्थर की पिडी मे भगवान की भावना सत्य समझी जा सकती है तो पीड़ा मे ही भगवान् की भावना मे सत्य का अभाव क्यों देखा जाय । अस्तु, पीडा और प्रिय मे तादात्म्य स्थापिन कर कवियित्री इस तथ्य की ओर सकेत करना चाहती है कि दुखानुभूति से ही प्रिय की प्राप्ति सम्भव है । दु:खवाद का गूढ विश्लेषण करना हमारा लक्ष्य नही है । हाँ गम्भीर विचार की व्यंजना होने से यह उदाहरण क्रिया से विचार-ध्वनि के अन्तर्गत आएगा ।

वाक्यगत वस्तु से अलंकार-ध्वनि—

विकसित सरसिज-वन वैभव
मधु-ऊषा के अंचल मे
उपहास करावे अपना
जो हँसी देख ले पल मे ।[2]

इन पक्तियो का लेखक अपनी प्रिया को हँसी के लोकोत्तर प्रभाव को बतलाना चाहता है । सामान्यत: कवियो ने अब तक जितने उपमान प्रयुक्त किये है उनमें से कोई भी हँसी की मादकता का बिम्ब खड़ा करने में समर्थ नही है इसलिए कवि कल्पना करता है कि उषा के क्रोड़ मे बहुत से कमल खिले हुए है । एक तो कमल वैसे ही आकर्षक होता है फिर उषा के अंचल मे वातावरण के प्रभाव से उसका आकर्षण और बढ़ जाना स्वाभाविक है । इतने से भी कविव सन्तुष्ट नही है अत: वह ऐसे अनेक कमलो के एकत्रित वैभव की कल्पना करता है । किन्तु उसका विश्वास है कि उक्त घनीभूत वैभव भी उसके प्रिय की हँसी के सामने स्वयं को अत्यन्त तुच्छ समझेगा । 'उपहास कराने' से इस ओर सकेत किया गया है । उपमेय के आगे उपमान की व्यर्थता की व्यंजना होने से प्रतीप अलंकार व्यग्य है । इस प्रकार यह क्रिया

---

१. महादेवी वर्मा : नीहार : पृ० ४६
२. प्रसाद : आँसू : पृ० २३

रूप वस्तु से अलकार ध्वनि का उदाहरण सिद्ध होता है। ठीक इसी तरह का भाव पन्त की इन पंक्तियो मे आया है—

लालिमा भर फूलों में प्राण
सीखती लाजवती मृदु लाज
माधवी करती झुक सम्मान
देख तुममें मधु के सब साज।[1]

माधवी अब तक स्वय को ही सर्व मधु युक्त समझती थी। किन्तु तुममें भी मधु के सब साज देखकर उसे अपनी व्यर्थता का पता लग गया। इससे इसमे प्रतीप अलकार की ध्वनि है। यदि यह माने कि माधवी मे मधु के थोडे ही साज है और तुममे सब तो उपमेय की उपमान से श्रेष्ठता व्यग्य होने से व्यतिरेक अलकार की ध्वनि मानी जानी चाहिये।

सर-सरित उमड़े गगन से मेघ बरसे
सब जगह पर तप्त मेरे प्राण तरसे
अब नयन जलधार निर्मल तुम बहाओ
आज सगिनि प्रीति के तुम गीत गाओ।[2]

विरही का तप्त शरीर रस-सरित और मेघ किसी के भी जल से शीतल नही हुआ। ये सब विरहाग्नि की जलन को शात करने मे असमर्थ रहे। कवि अपनी प्रिया से प्रार्थना करता है कि यदि तुम्हारे नेत्रो से स्नेह अश्रु बहे तो अवश्य जलते प्राणो को शीतलता प्राप्त हो सकती है। नेत्र निःसृत जल की तुलना मेघ आदि से प्राप्त किसी भी जल से हो सकती है। अश्रु-धार की समता वर्षा की झडी से की ही जाती है अतः सरितादि जल उपमान है। किन्तु विरहाग्नि बुझाने मे उपमान व्यर्थ सिद्ध होता है। वह गुण उपमेय मे ही है। विरहाग्नि बुझाने की क्षमता का गुण अधिक होने से उपमेय की श्रेष्ठता अभीष्ट है। वाचक शब्द का प्रयोग न होने से यह व्यतिरेक अलकार-ध्वनि का विषय है। उपमान सामान्य वस्तु स्वत. सम्भवी है। क्रिया रूप वस्तु सम्पूर्ण वाक्य मे व्याप्त होने से स्वत. सम्भवी वाक्यगत वस्तु से अलकार-ध्वनि सिद्ध होती है।

वाक्यगत अलकार से अलंकार-ध्वनि—

देखती मुझे तू हँसी मन्द
होठों में बिजली फँसी स्पन्द।[3]

---

१. पन्त : गुंजन : पृ० ५८
२. बच्चन : मिलन यामिनी। पृ० ३७।
३ निराला : अनामिका : पृ० १३२

उपर्युक्त उक्ति कवि निराला की अपनी पुत्री सरोज के प्रति है। पिता प्रेमाधिक्य के कारण अपनी सन्तान के सामान्य गुणों को भी असाधारण रूप मे देखता है। वे कहते हैं—हे पुत्री मुझे देखकर तू मन्द मन्द हँस दी परन्तु उसमे ही मुझे ऐसा लगा कि तेरे होठो में बिजली आ फँसी हो। अर्थात् तेरी मुसकान मे बिजली की आभा थी। एक वस्तु को नये रूप मे देखने के कारण से यहाँ वस्तूत्प्रेक्षा है। कवि कल्पना इसके भी आगे पहुँचती है। जब मन्द हँसी ही बिजली की समता कर सकती है तो उन्मुक्त हँसी कितनी उज्ज्वल होगी। हँसी का एक अश ही बिजली की समता कर लेता है इस व्यतिरेक की व्यजना हो रही है। मन्द स्मित आनन नये रूप मे दिखाई पड रहा है अतः उत्प्रेक्षा अलंकार से अलकार-ध्वनि है।

जगत घट को विष से कर पूर्ण
किया जिन हाथों ने तैयार
लगाया उसके मुख पर नारि
तुम्हारे अधरों का मधु सार।[1]

इन पंक्तियो का रचयिता यह बतलाना चाहता है कि ससार अनेक प्रकार की प्रवचनाओ से पूर्ण है। मूल मे प्रत्येक वस्तु विषमय है जीवन का हनन करनेवाली है क्योकि उसकी प्रकृति दुखदायिनी है। यदि इन सबके बीच नारी के अधरों का मधु न होता तो ससार रहने योग्य नही होता। यही मधु विष के प्रभाव से रक्षा करता है। ससार को विष-घट मान उसी के आधार पर नारी के अधरो की मधुरता को 'सार' कहने से परम्परित रूपक प्रमाणित होता है। किन्तु इससे यह अर्थ भी ध्वनित होता है कि ससार में नारी के अधरों को छोडकर कही मधुरता नही है। सब स्थानों से माधुर्य गुण हटाकर एक ही वस्तु मे केन्द्रित कर देना उद्देश्य होने से यहाँ परिसख्या अलकार की ध्वनि भी मिलती है। अत. यह स्थल परम्परित रूपक से परिसंख्या अलकार की ध्वनि का विषय है।

डुबकी रमणियाँ लगाती हैं
लट ऊपर ही लहराती है
जलमग्न कमल को खोज खोज
मधुपावलियाँ मँडराती हैं।[2]

नदी या ताल मे स्नान करती हुई रमणियों का चित्र है। डुबकी लगाने पर उनका सारा शरीर जलमग्न हो जाता है केवल वे लटे ही ऊपर तैरती रहती हैं।

---

१. **बच्चन : हलाहल : पृ० ३५**
२. **दिनकर : रेणुका : पृ० ५९**

इसी चित्र को कवि दूसरे रूप मे भी देखता है—प्रतीत होता है मानों कमल पानी मे डूब गया है और भौरो की पंक्ति ऊपर ही ऊपर उतरा रही है। वह कमल को खोज रही है किन्तु कमल मिल नही रहा है। चित्र को नये ढंग से देखने के कारण उत्प्रेक्षा अलंकार है। इसी मे विशेषोक्ति अलकार की ध्वनि भी निकल रही है। भौरों द्वारा जलमग्न कमल का खोजा जाना कारण है कार्य है कमल का मिलना। कारण की उपस्थिति मे भी कार्य का न होना विशेषोक्ति अलकार है। परन्तु ध्वनित अलकार का आधार है उत्प्रेक्षा ही। यदि मुख मे कमल और बालो मे भौरो की भावना न की जाय तो कार्य कारण सम्बन्ध नही जुड सकता। जड वस्तु बालों में खोजने की क्रिया का अरोपण नही किया जा सकता।

खुले केश अशेष शोभा भर रहे
पृष्ठ-ग्रीवा-बाहु-उर पर तर रहे
बादलों में घिर अपर दिनकर रहे।[1]

प्रात.काल के समय नायिका सोकर उठी है बिखरे हुए बालो के बीच उसका मुख घिर गया है। बालो की श्यामलता उनमे बादलो की प्रतीति कराता है। इसी आधार पर कवि कल्पना करता है कि ऐसा प्रतीत होता है मानो एक दूसरा सूर्य बादलो मे घिरा हुआ है। एक सूर्य तो स्वच्छ आकाश मे चमक ही रहा है। इससे उत्प्रेक्षा अलकार सिद्ध है। किन्तु अलकार की विशेषता यह है कि कवि मुख को केवल सूर्य नही दूसरा सूर्य कहता है। अर्थात् सूर्य आकाश मे ही नही यहाँ पृथ्वी पर भी है। संसार मे एक नही दो दो सूर्य है। इसलिए आकाश के सूर्य को गर्व नही करना चाहिए। मुख को दूसरा सूर्य कहने से प्रतीप अलंकार ध्वनित होता है। बादल और सूर्य स्वत. सम्भवी वस्तुये है। इस तरह यह स्वत: सम्भवी वाक्यगत उत्प्रेक्षा अलकार से प्रतीप ध्वनि का उदाहरण सिद्ध होता है।

वाक्यगत अलंकार से वस्तु-ध्वनि—कोमल कपोल पाली में
सीधी सादी स्मित रेखा
जानेगा वही कुटिलता
जिसने भौं में बल देखा।[2]

कवि अपनी प्रिया के सौन्दर्य को विशेष आकर्षक सिद्ध करने के लिए उसके मुख पर दो विरोधी वस्तुओ का चमत्कार दिखलाता है (ब्यूटी लाइज इन कन्ट्रास्ट) उसकी मुस्कान अत्यन्त ऋजु है किन्तु उसके निकट ही भौहो की वक्रता दर्शक को साक्षात् कुटिलता के दर्शन करा सकती है। ससार की चाहे किसी वक्र वस्तु मे

---

१. निराला : गीतिका : पृ० ४

२. प्रसाद : आँसू : पृ० २२

कुटिलता की प्रतीति न हो किन्तु भौहो से अवश्य हो जायगी अथवा जिसने भौहो की वक्रता देखी है वही वस्तुत जान सकता है कि कुटिलता किसको कहते है। संसार की अन्य सभी वस्तुओ से कुटिलता धर्म को हटा कर केवल भौहो मे केन्द्रित कर देने से परिसख्या अलकार की सिद्धि होती है। जिससे भौहो का अत्यन्त आकर्षक बॉकपन व्यंग्य। ध्वन्यर्थ की प्रतीति सम्पूर्ण वाक्य से हो रही है।

मेरी सांस कर रही
मेरे जीवन पर अघात।[1]

लोग कहते है उम्र बढती है किन्तु आयु छोटी होती है। प्रत्येक साँस हमारी कुल साँसों मे एक की कमी और कर जाती है। प्रत्येक पल हमारी मृत्यु को एक पल और निकट ले आता है। सॉसका जीवन पर आघात करने का यही अर्थ है। अत: यहाँ वाक्यगत पर्यायोक्त अलकार है। इस सकेत द्वारा कवि देवता से यह निवेदन करना चाहता है कि तुम शीघ्र ही मुझे आत्म-साक्षात्कार का वरदान दो। सॉस जीवन के सबसे अधिक निकट है किन्तु आश्चर्य की बात है कि वही जीवन को मृत्यु के मुख मे भी ढकेल रही है। अत. स्पष्ट है कि ससार मे कोई किसी का नही है। यहाँ के सब उपकरण दु:खमूलक है। देव ही आत्मसाक्षात्कार द्वारा परमानन्द प्राप्त करवा सके तो सम्भव है अन्यथा नही।

जल तरंग बजता जब चुम्बन
करता प्याले को प्याला
वीणा झकृत होती चलती
जब रुनझुन साकी बाला।[2]

उपर्युक्त पक्तियो मे प्रतीक विधान और हालावाद की मान्यताओ का विश्लेषण न करते हुए उसका सामान्य अर्थ ही लिया जा रहा है। मधुपायी को मधुशाला ही सब प्रकार का आनन्द देनेवाली होती है। पीने के पहले जब दो व्यक्ति अपने अपने प्यालों को छुआते है तो उनसे उत्पन्न ध्वनि ही जलतरग है। अर्थात् उसे प्यालो की खनक नही जलतरंग समझना चाहिये। इसी प्रकार साकी के घुँघुरुओ की रुनझुन को वीणा झकार समझना चाहिये। उपमेय का निषेध कर उपमान की स्थापना करने से अह्नुपति अलकार है। इससे यह वस्तु रूप ध्वनि प्राप्त होती है कि मधुपायी के लिए मधुशाला ही समस्त ससार है। उसी मे उसे संसार के सब सुखो की उपलब्धि हो जाती है जो और कुछ नही उसकी मधुशाला से अत्यासक्ति ही है।

---

१. डॉ० रामकुमार वर्मा · चित्ररेखा : पृ० १

२. बच्चन : मधुशाला : पृ० ११

प्रबन्धगत वस्तु से वस्तु-ध्वनि—

मैंने झुक नीचे को देखा
तो झलकी आशा की रेखा—
बिप्रवर स्नान कर चढ़ा सलिल
शिव पर दूर्वादल तण्डुल तिल
लेकर झोली आए ऊपर
देख कर चले तत्पर वानर ।
द्विज राम-भक्त भक्ति की आस
पूजते शिवको बारहो मास
कर रामायण का पारायण
जपते है श्रीमन्नारायण
दुख पाते जब होते अनाथ
कहते कपियों से जोड़ हाथ
मेरे पड़ोस के वे सज्जन
करते प्रति दिन सरिता-मज्जन
झोली से पुए निकाल लिये
बढ़ते कपियों के हाथ दिये
देखा भी नहीं उधर फिरकर
जिस ओर रहा वह भिक्षु इतर
चिल्लाया किया दूर दानव
बोला मै—'धन्य श्रेष्ठ मानव' ।[1]

उक्त प्रबन्ध मे ससार का ढोग व्यग्य है । धर्म का डका पीटनेवाले गगा स्नान करेंगे मन्दिर मे भगवान को नैवेद्य अर्पित करेंगे भगवान की भक्ति प्राप्त करने के लिए जिस तिस पत्थर की पूजा करते फिरेंगे हनुमान के अवतार बन्दरो को नित्य पुए खिलायेंगे किन्तु मानव को भूखा मरते देखकर भी अनदेखा कर देंगे । मनुष्य आज अपने परम धर्म मानव-कर्तव्य से कितनी दूर चला गया है यही विचार इस प्रबन्ध की घटना से व्यग्य है । भूखे मनुष्य के स्थान पर बन्दरो को पुए खिलाना किसी भी प्रकार से धर्म नही कहा जा सकता । अतः ऐसे व्यक्ति का पूजा पाठ धर्म-कर्म सब स्वार्थ एवं ढोग है ।

आज दस बरसों से यह पीत
चमेली खिलती एक प्रकार

१. निराला : अनामिका : पृ० २५

उतर आती इस पर हर साल
अनोखी एक बसन्त बहार
मगर आकर हर बार बसन्त
पूछता मुझसे एक सवाल
वही क्या तुम हो सचमुच व्यक्ति
जिसे मैने देखा पर साल।[1]

प्रकृति की अन्य वस्तुओ की तुलना मे मनुष्य-जीवन का परिवर्तन भिन्न प्रकार का है। कवि देखता है कि हर वर्ष बहार आने पर चमेली की लता मे उसी प्रकार के फूल वही रंग वही गन्ध जो दस वर्ष पहले थी अब भी खिलते है जिससे ज्ञात होता है कि उसका यौवन जरा भी कम नही हुआ है। वह आज भी बसन्त का उसी प्रकार स्वागत करती है जिस प्रकार दस वर्ष पहले करती थी। कवि स्वय से पूछता है कि क्या मधुबात उसे भी आज उसी प्रकार गुदगुदा जाता है जिस प्रकार दस वर्ष पहले गुदगुदाता था? उत्तर नही मे मिलता है। तात्पर्य यह कि उसका मन और शरीर दोनो ही उत्साह खो बैठे है। यह तथ्य प्रत्येक व्यक्ति के जीवन का सामान्य सत्य है। इस घटना रूप वस्तु से विचार रूप यह वस्तु ध्वनित होती है कि मानव-जीवन बदलता जाता है उसका दृष्टिकोण बदल जाता है किन्तु ससार के कार्य पूर्व गति से बराबर चलते जाते है। किसी एक व्यक्ति के लिए ससार ठहरता नही।

प्रबन्धगत वस्तु से अलंकार-ध्वनि—

निरंजन बने नयन-अंजन।
कभी चपल गति अस्थिर मति
जल-कलकल तरह प्रवाह
वह उत्थान-पतन-हत अविरत
संसृति-गति उत्साह
कभी दु.ख-दाह
कभी जलनिधि-जल विद्युत अथाह—
कभी क्रीड़ारत सात प्रभंजन—
बने नयन-अंजन।
कभी किरण-कर पकड़ पकड़ कर
चढ़ते हो तुम मुक्त गगन पर
झलमल ज्योति अयुत-कर-किंकर

---

१. बच्चन : हलाहल : पृ० ५७

सीस झुकाते तुम्हें तिमिरहर—
अहे कार्य से गत कारण पर।
निराकार, है तीनों मिले भुवन—
बने नयन-अंजन।
आज श्याम-घन श्याम, श्याम छवि,
मुक्त कण्ठ है तुम्हें देख कवि
अहो कुसुम कोमल कठोर-पवि।
शत-सहस्र-नक्षत्र-चन्द्र रवि संस्तुत
नयन-मनोरजन।
बने नयन-अंजन।[1]

उक्त कविता बादल को सम्बोधित कर लिखी गई है। कवि ने बादल को क्रीड़ारत बालमूर्ति भगवान के रूप मे देखा है। श्यामल छवि, सूर्य का उसके आगे निष्प्रभ हो जाना, कोई निश्चित आकार न होना, एक साथ अत्यन्त कोमल अति कठोर होना एवं नदियो द्वारा सेवित होना आदि वे धर्म है जो बालमूर्ति भगवान और बादल मे समान है। इस प्रकार बिना वाचक के भी दोनो में उपमेय उपमान भाव होने से उपमा अलंकार व्यग्य है। यहाँ व्यजक वस्तु रूप और व्यापार दोनो ही है।

प्रबन्धगत अलंकार से वस्तु-ध्वनि—

भूलकर भी तुम न आए।
आँख के आँसू उमड़कर,
आँख ही में हैं समाए
सुरभि से शृंगार कर—
नव वायु प्रिय-पथ में समाई,
अरुण कलियों ने स्वयं, सज,
आरती उर में सजाई।
वन्दनाकर पल्लवों ने,
नवल वन्दनवार छाये॥
मैं ससीम असीम सुख से,
खींच कर संसार सारा।
साँस की विरुदावली से,
गा रहा हूँ यश तुम्हारा।
पर तुम्हें अब कौन स्वर,

१. निराला : परिमल : १८४

स्वरकार! मेरे पास लाये ?
भूल कर भी तुम न आये ।[1]

उक्ति आराध्य के प्रति है । आराधक प्रिय को रिझाने के लिए बुलाने के लिए अनेक प्रयत्न करता है । वेदना से उमड़े आँसू आँखो मे ही सूख गए फिर भी प्रिय नही पसीजा । प्रकृति ने भी ऐसे मादक वातावरण का निर्माण किया है कि प्रिय को आना ही चाहिये । फिर भी वह नही आता । कारण होते हुए भी कार्य न होने से 'विशेषोक्ति' अलकार है जिससे प्रिय स्वरकार की निष्ठुरता रूपी धर्म-वस्तु ध्वँनित है ।

जिन नयनों की विपुल नीलिमा
में मिलता नभ का आभास
जिनका सोभित उर करता था
सीमाहीनों का उपहास
जिस मानस में डूब गए—
कितनी करुणा कितने तूफ़ान
लोट रहा है आज धूल में
उन मतवालों का अभिमान ।

उद्धरण के प्रथम तीन वाक्यों मे अलग अलग प्रतीप अलंकार व्यग्य है । अन्तिम वाक्य में उसी अलंकार के आधार पर वस्तु व्यग्य है । अर्थात् संसार की बड़ी से बड़ी शक्ति एक दिन नष्ट हो जाती है फिर सामान्य व्यक्तियो की बात ही क्या । इस प्रकार के विचार प्रधान पद्यों का सौन्दर्य ही अलग है जिसका साहित्य में विशिष्ट स्थान है ।

आधुनिक युग में प्रतीक पद्धति पर रचना करने की प्रथा अत्यन्त व्यापक हो गई है । भारतीय काव्यशास्त्र की भाषा में इसे ही अन्योक्ति या समासोक्ति जैसा प्रसंग ही कहेगे । एक उदाहरण इसका भी लें—

डाल पर मुरझाए फूल !
हृदय में मत कर वृथा गुमान ।
नहीं हैं सुमन कुंज में अभी ।
इसी से है तेरा सम्मान ।।
मधुप जो करते अनुनय विनय
बने तेरे चरणों के दास ।

---

१. डॉ० रामकुमार वर्मा : आधुनिक कवि ३ : पृ० ४९

नयी कलियो को खिलते देख
नहीं आवेंगे तेरे पास ।।
सहेगा कैसे वह अपमान ?
उठेगी वृथा हृदय में शूल ।
भुलावा है मत करना गर्व
डाल पर के मुरझाये फूल ।।[1]

यह समझना भूल होगी कि लेखिका के मन मे कोई विचार जागा और उसकी काव्यात्मक अनुभूति के लिए उसने यह विषय चुना। हमारे विचार से प्रकृति की उक्त घटना को देखकर ही एक सार्वभौम विचार उसे सूझा। अतः यह समासोक्ति है। इसका अप्रस्तुत अर्थ होगा 'किसी आदमी को अपने रूप या धन का गर्व नही करना चाहिये क्योकि ये अस्थायी वस्तुएँ है। इनके कारण जो लोग आज उस व्यक्ति की चापलूसी कर रहे है इनके नाश होने पर वे भी नही आयेगे।' इस अप्रस्तुत अर्थ की ध्वनि यह है कि हमे अस्थायी वस्तुओ का अभिमान नही करना चाहिये या वक्त गुज़र जाने पर आदमी को अपने आप पीछे हट जाना चाहिये नही तो जमाना पीछे हटा देगा ।

संलक्ष्यक्रम रस-ध्वनि—

अलंकार से विप्रलम्भ श्रृंगार-ध्वनि-पदगत—

तडित सा सुमुखि तुम्हारा ध्यान
प्रभा के पलक मार उर चीर
गूढ़ गर्जन कर जब गम्भीर
मुझे करता है अधिक अधीर ।[2]

प्रथम पक्ति के 'तड़ित-सा' समस्त पद मे लुप्तोपमा है। बिजली की चमक से आँखे चौधिया जाती है और अधिक वर्षा का अनुमान होता है। गरज गरज कर होनेवाली वर्षा मे उसकी भयकरता का भाव निहित है। प्रिया का ध्यान भी इसी प्रकार रह रह कर कसकता है तत्पश्चात् अश्रु-प्रवाह और वेगवान हो जाता है। प्रिया उसकी समस्त अन्तवेदना मे व्याप्त हो जाती है। वातावरण रूपी अन्धकार उसकी स्मृति से नष्ट हो जाता है और उसके बाद भी उसकी चेतना में यदि कुछ शेष रह जाता है तो स्मृतिमात्र। यह सब प्रेमी की अत्यन्त व्याकुल स्थिति की व्यजना करते है किन्तु इन सबका मूल है वही 'तड़ित-सी' समस्त पद। इसी प्रकार का एक और उदाहरण ले—

---

१. सुभद्रा कुमारी चौहान : मुकुल : पृ० १७

२. पन्त : पल्लव : पृ० ६६

वाक्यगत—

दीप-शिखा है अन्धकार की
बनी घटा की उजियाली।
ऊषा है यह कमल भृंग की
है पतझड़ की हरियाली ॥[1]

कवियित्री अपनी पुत्री को सम्बोधित कर अनेक प्रकार से अपनी प्रसन्नता व्यक्त करती है। केवल प्रथम पंक्ति को लें। कवयित्री के अभावमय जीवन रूपी अन्धकार के लिए वह दीप-शिखा के समान है। पुत्री का दीप-शिखा होना माता के जीवन के अन्धकार रूप पर निर्भर होने से परम्परित रूपक है। लेखिका कहना यह चाहती है कि पुत्री को देखकर वह आनन्द विभोर होकर अपने सब अभावों को भूल जाती है। इस प्रकार यह अलंकार से भाव ध्वनि का उदाहरण सिद्ध होता है।

अलंकार से हर्ष भाव-ध्वनि-वाक्यगत—

यह तुम्हारा हास आया
इन फटे से बादलों में
कौन सा मधुमास आया।[2]

हास के आने के व्यापार को नये रूप में देखने के कारण उत्प्रेक्षा का भ्रम होता है किन्तु बादल और मधुमास दुःख-सुख के उपमान स्वरूप प्रयुक्त हुए हैं। केवल उपमानो के प्रयोग के कारण रूपकातिशयोक्ति अलंकार है जिससे कवि का हर्ष भाव व्यग्य है।

वस्तु से विप्रलम्भ श्रृंगार-ध्वनि-पदगत—

आह यह मेरा गीला गान।[3]

इस पक्ति मे गीला गान कहने से अग्रेजी से लिये गये विशेषण विपर्यय का आभास होता है। भारतीय काव्यशास्त्रानुसार यह लक्षणा का उदाहरण होगा। हमारे विचार से गान को न तो इसलिये गीला कहा गया है कि उसका रचयिता अश्रु मोचन कर रहा है और न इसलिये कि उसको सुननेवालो का हृदय द्रवित हो उठता है। यह शुद्ध रूप से गान का ही विशेषण है तथा इसके माध्यम से कवि गीत की विशेष प्रकृति की ओर संकेत करना चाहता है जो उसके भाव पक्ष और कला पक्ष दोनो का अपने भीतर समाए हुए है। 'गीला गान' पढते ही कवि की जिस मनोदशा

---

१. सुभद्राकुमारी चौहान : मुकुल : पृ० १७
२. डॉ० रामकुमार वर्मा : चित्ररेखा : पृ० ३
३. पन्त : पल्लव : पृ० ६४

का आभास मिलता है और अपने भीतर हम जिस विचित्र अनुभूति को व्याप्त पाते है वही उसका अभीष्ट है।

वाक्यगत वस्तु से रस-ध्वनि—

तुम्हें आज पहिचान गया।
मेरे दुःख का समय आज जब
सुख के समय समान गया।[1]

रहस्यवादी कवि को आज इस बात का बड़ा हर्ष है कि जिसे वह इतने दिनो से ढंढ़ रहा था आज उसे पा गया और पहिचान गया। प्रथम पक्ति से व्यंग्य हर्ष का ज्ञान शेष दो पंक्तियो की व्याख्या पर निर्भर करता है। प्रिय को पहिचान लेने के पश्चात् आराधक के दु.ख सुख का भेद मिट गया। दुःख और भी सुख बन गया। ये प्रिय की पहिचान के आनन्द में दोनो भाव एक साथ ही डूब गये है। इस प्रकार दुःख सुख के समान हो जाने की कल्पना का विश्लेषण करने पर ही भाव-ध्वनि का ग्रहण होने से यह संलक्ष्यक्रम रस-ध्वनि का विषय है। कवियित्री महादेवी वर्मा की निम्न पंक्तियाँ भी इसी प्रकार की है—

विरह का युग आज दीखा मिलन के लघु पल सरीखा
दुःख सुख में कौन तीखा मैं न जानी औ न सीखा।[2]

प्रबन्धगत वस्तु से रस-ध्वनि—

समीरण धीरे से बह जाओ।
मै क्या हूँ इन कलियों के
कानों में कह जाओं
वे विकसित होकर जग को
देंगी सुख सौरभ भार
किरणे हिम-कण के भीतर
होंगी ज्योतित सुकुमार
तृण तृण ले लेंगे उज्ज्वलता
का नूतन परिधान
विहगों का होगा अपने
मधुमय कण्ठों का गान

---

१. डॉ० रामकुमार वर्मा : चित्ररेखा : पृ० ३
२—महादेवी वर्मा : सान्ध्यगीत : पृ० ४२

इस जीवन में साँस-रूप हो
कुछ क्षण को रह जाओ ।[1]

समीरण प्रकृति को 'मै' का परिचय देगा । उससे प्रकृति मे क्या क्या परिवर्तन होंगे ? कलियाँ खिल पडेगी किरणे हिम-कण मे प्रतिबिम्बित हो उठेगी तृण तृण मे नये नये अंकुर फूट निकलेंगे और पक्षी मधुमय गान प्रारम्भ कर देंगे । इतना चमत्कारी सिद्ध होगा कवि का परिचय भला समीर कहेगा क्या । यह कि आज कवि ने अज्ञात सत्ता को पहिचान लिया है उम परम मिलन के आनन्द मे वह आत्म विभोर हो गया है । यही समाचार शेष प्रकृति को भी आह्लादयुक्त करने मे समर्थ है । सम्पूर्ण सम्बन्ध से कवि के हर्ष की व्यजना हो रही किन्तु वह परिचय की व्याख्या और शेष प्रकृति पर उसके प्रभाव की वस्तु से व्यंग्य है ।

कवि प्रौढ़ोक्तिसिद्ध अर्थ शक्तिमूला ध्वनि

पदगत वस्तु से वस्तु-ध्वनि—

स्वर्ग सुना करता यह गाना
पृथ्वी ने तो बस यह जाना
अगणित ओस-कणों में तारों के नीरव आँसू आते है
कहते है तारे गाते है ।[2]

स्वर्ग प्रकृत वस्तु नही है केवल परम्परा सिद्ध है । इस आधार पर कवि कल्पना करता है कि क्या पृथ्वी वासियो ने यह जानने का प्रयत्न किया है कि ये ओस-बिन्दु क्या है ? वे इतना ही जान कर रह जाते है कि ये तारो के आँसू है । किस वेदना से ये आँसू उमडे इसकी ओर कोई ध्यान नही देता है । उपर्युक्त पक्तियो मे कवि इसी रहस्य का उद्घाटन करता है । वह घोषणा करता है कि स्वर्ग (स्वर्ग मे रहनेवाले देवता) वस्तुतः मेरे करुणाजनक गीतों को सुनकर ही रोता है । जिस गीत की करुणा पृथ्वी की परिधि को लाघकर···स्वर्ग तक पहुँची है वह कितना करुणाजनक होगा । तात्पर्य यह कि ससार के मनुष्यो की तो बात ही क्या स्वर्ग के देवता जो सासारिक सुख दुःख से परे है वे भी मेरे गीतों से पसीज उठते है । इससे गीतो का अतिशय कारुणिक होना व्यंग्य है । ओस के गिरने व्यापार रूप वस्तु से गीतो का करुणा-धर्म रूप वस्तु व्यंग्य है । इसका आधार 'स्वर्ग' पद होने से पदगत है ।

निठुर होकर डालेगा पीस
इसे अब सूनेपन का भार

---

१. **डॉ० रामकुमार वर्मा : चित्ररेखा : पृ० १७**

२. **बच्चन : निशा निमंत्रण : पृ० ५४**

गला देगा पलकों में मूँद
इसे इन प्राणों का उद्गार ।[1]

सूनापन कोई ठोस वस्तु नही है कि उसका भार किसी वस्तु को पीस सके । अत: सूनेपन का भार कवि प्रौढोक्ति है । अभीष्ट अर्थ यह है कि जब मैं अकेली होती हूँ तो तुम्हारी याद और अधिक आती है । फलत. मेरी आँखे भी सदैव अश्रुपूर्ण रहती हैं । उक्त तथ्य को वे इस चमत्कारी ढग से कहती है कि मेरे हृदय की अत्यधिक शून्यता मे तुम्हारी याद भी निपट एकान्तावस्था अन्य सभी वृत्तियो का शमन शून्यता 'सूनेपन का भार' समस्त पद से व्यजित है। व्यंजक और व्यग्य अलकार रहित होने से वस्तु से वस्तु ध्वनि है ।

पदगत अलंकार से अलकार—

थी किस अनग के धुन की
वह शिथिल शिजनी दुहरी
अलबेली बाहु लता या
तनु छवि-सर की नव लहरी

प्रिया की बाँहो मे कवि को कितनी मादकता मिलती है कि उसे प्रतीत होता है ये बाँहे नही है वरन् कामदेव के धनुष की प्रत्यचा है । प्राचीन काल मे जब धनुष युद्ध होता था तो शत्रु को धनुष मे फँसा कर भी खीच लिया जाता था । ठीक यही स्थिति कवि की हो गई थी बाहो के स्थान पर शिजनी की स्थापना करने से अपह्नुति अलंकार है । अनंग और उसका धनुष काल्पनिक वस्तुएँ है । अत कवि प्रौढोक्ति है । 'शिथिल शिजनी' पद मे शिथिल विशेष अर्थगर्भित है । कामदेव के धनुष की डोरी इकहरी होती है और तभी काम करती है जब कसी हो किन्तु यह बाहु लता शिथिल होते हुए भी वही काम कर रही है । उपमेय की इस उत्कृष्टता से व्यतिरेक अलकार व्यग्य है । पद प्रकाश्य होने से पदगत है ।

पदगत अलंकार से वस्तु ध्वनि—

अहे विश्व अभिनय के नायक !
अखिल सृष्टि के सूत्रधार !
उर उर की कंपन में व्यापक !
ऐ त्रिभुवन के मनोविकार ![1]

---

१. महादेवी वर्मा : नीहार : पृ० ७३

२. प्रसाद : आँसू : पृ० २४

३. पन्त : पल्लव : पृ० ८२

उदाहरण की प्रथम दो पक्तियो मे कामदेव के लिए दो उपमान 'विश्व अभिनय के नायक' और 'सूत्राधार' प्रयुक्त हुए है । उपमेय की अनुपस्थिति मे रूपकातिशयोक्ति सिद्ध होता है । प्रथम उपमान से कवि ससार मे कामदेव की प्रभुसत्त व्यजित करना चाहता है । इसी प्रकार 'सूत्राधार' पद है । नाटक की समस्त घटनाये और पात्र नायक के चारो ओर ही घूमते है । इसी तरह ससार मे भी मनुष्यों के अधिकाश कर्मो के पीछे प्रत्यक्ष और परोक्ष भाव से अनग की प्रेरणा रहती है । ध्यान देने की बात है कि कवि के कामदेव का स्वरूप पौराणिक कामदेव से भिन्न सौन्दर्यानुभूति के अधिक निकट है । 'नायक' एव 'सूत्राधार' पद व्यजक होने से पदगत ध्वनि है ।

वाक्यगत वस्तु से वस्तु-ध्वनि—

यह द्वार वही जिसने उसके
आते ही उसके पग चूमे
ये गलियारे दे गलबाहीं
जिसमें हम हँस-हँसकर घूमे
इन कमरों की दीवारों के
मुख होता तो वे रच देतीं
ऐसी कविता जिसको सुनकर
धरती नाचे अम्बर नाचे ।[1]

कवि अपने सुखमय दिनो की स्मृति के आह्लादजनक रूप का वर्णन कर रहा है । जिन कमरो मे हमारा प्रणय-व्यापार चलता था यदि उसकी दीवारे कविता कर सकती होती तो उसका प्रभाव इतना मादक होता कि धरती और आकाश झूम उठते । 'धरती नाचे अम्बर नाचे' वाक्य कवि कल्पता से सिद्ध हो सकना है । अभिप्राय यह कि जो कविता धरती और आकाश जैसे जड पदार्थो को मस्त बना सकती है वह चेतन मनुष्यो पर कितना प्रभाव न डालेगी । इससे कवि के प्रणय व्यापारो की अतिशय मादकता व्यग्य है । समापिका क्रिया युक्त होने से 'धरती नाचे' या 'अम्बर नाचे' पूर्ण वाक्य है ।

पीड़ा का साम्राज्य बस गया
उस दिन दूर क्षितिज के पार
मिटना था निर्वाण जहाँ
नीरव रोदन था पहरेदार ।[2]

---

१. बच्चन : मिलन-यामिनी : पृ० ११८
२. महादेवी वर्मा : नीहार : पृ० १२

कवियित्री महादेवी वर्मा पीड़ानुभूति को जीवन की सर्वाधिक महान् विभूति समझती है क्योंकि पीड़ा प्रिय की देन है। जिस दिन से प्रिय की चल चितवन देखी है उसी दिन से हृदय असीम पीड़ा से भर गया है। 'पीड़ा का साम्राज्य' और 'रोदन पहरेदार' दोनो ही कवि कल्पित वस्तुएँ है। पहरेदार की रक्षा मे से वस्तु चुराई नही जा सकती। जिस पीड़ा का पहरेदार रोदन हो उसका क्या कहना। अभिप्राय यह कि आराधिका विरह-वेदना को क्षण भर के लिए भी नही भूलती। पीडा भी कम नही है उसकी समस्त अन्तश्चेतना को घेरे हुए है।

जिसको अनुराग सा दान दिया
उससे कण माँग लजाता नहीं।[1]

यह उक्ति पपीहे के प्रति है। पपीहे का बादल से प्रेम कवि प्रौढोक्ति है। उसी का आधार लेकर कवियित्री ने नवीन अर्थ की व्यंजना की है। पपीहे का बादल के प्रति स्नेह आदर्श समझा जाता है। लेखिका को इसी पर आपत्ति है। एक ओर पपीहा बादल को निष्कलुष प्रेम रूपी सर्वस्व प्रदान करता है पर दूसरी ओर उसी से एक कण जल दे देने की रट लगाए हुए है। जो उसके स्वार्थ का परिचायक है। शुद्ध प्रेम मे प्रतिदान प्राप्ति की भावना नही होती सो भी जल-कण जैसी तुच्छ वस्तु का। अत. पपीहा या तो स्वय को बादल का प्रेमी कहलाना छोड़ दे या उससे भीख माँगना छोड़ दे। जो स्वय दानी है वह भिखारी कैसे हो सकता है। प्रेम पूर्ण हृदय ससार की सबसे मूल्यवान वस्तु है उसकी तुलना मे जल-कण अत्यन्त तुच्छ है। ध्वनि यह निकली कि सच्चा प्रेम प्रतिपादन की अपेक्षा नही रखता। प्रेमास्पद उत्तर दे या न दे प्रेमी अपना कर्त्तव्य निबाहता चलता है।

वाक्यगत वस्तु से अलकार-ध्वनि—

हलाहल की उमड़ी है धार
करूँगा इसको मथकर पार
यहाँ जो भी आता है पास
उसे मिलता हूँ बाहुपसा।[2]

इन पक्तियो में कवि अपने साहस का परिचय दे रहा है। 'हलाहल कवि परम्परा सिद्ध वस्तु है अतः 'हलाहल की उमड़ी है धार' वाक्य कवि प्रौढ़ोक्तिसिद्ध है। उसको मथ कर पार करने का तात्पर्य हुआ चाहे कितना ही कष्ट क्यों न झेलना पडे मैं साहस नही खोऊँगा। हलाहल की धारा को नाव मे बैठकर किसी का आश्रय

---

१. महादेवी वर्मा : रश्मि : पृ० ७२

२. बच्चन : हलाहल : पृ० ४८

लेकर पार करने की बात नही वह करता न उसके किनारे बैठ रहने का विचार करता है अर्थात् संसार के कष्टों को झेल सकने के लिए तो उसे किसी सहायक की अपेक्षा है न उनसे बच निकलने की आकाक्षा है। बल्कि उन्हे लड़कर विजित कर लेने की इच्छा है। पौराणिक आख्यान के अनुसार समुद्र-मथन से हलाहल की कुछ बूंदे निकली थी। उतने से ही देव दानव घबरा गये थे। परन्तु यहाँ तो ससार सागर से हलाहल की प्रचण्ड धारा ही उमड पडी है। उसे मथ कर पार हो जाने की प्रतिज्ञा कर कवि साहस मे स्वयं को देव दानवो से श्रेष्ठ सिद्ध करता है इससे व्यतिरेक अलकार व्यग्य है।

इन ललचाई पलकों पर
पहरा जब था क्रीड़ा का
साम्राज्य मुझे दे डाला
उस चितवन ने पीडा का।[1]

कवियित्री प्रिय से मिलन का आलंकारिक वर्णन करती है। प्रिय जब सामने आये तो लज्जा से उसकी पलके झुक गईं आंखे बहुत चाहती थी कि प्रिय को जी भरकर देख ले किन्तु व्रीडा ने उन्हे मनमानी न करने दी। 'ललचाई' पद से आँखो की उत्कट अभिलाषा व्यक्त होती है। फिर भी कनखियों से ही प्रिय की जिस चितवन के दर्शन हुए उसी की स्मृति अब तक साल रही है। 'साम्राज्य' पद से पीडा की व्यापकता की सूचना मिलती है। अर्थात् हृदय के हर कोने मे पीडा बस गई। पीडा का अनोखा राज्य देकर चितवन ने कवियित्री को 'पीड़ा की रानी' बना दिया। साम्राज्याधिकार धर्म कवियित्री और साम्राज्ञी मे सामान्य होने से दोनों में उपमानोपमेय भाव है। अतः उपमा अलंकार व्यंग्य है। अन्तिम दो पक्तियों के सम्पूर्ण वाक्य से वाक्तगत ध्वनि है। चितवन द्वारा अभिषेक और पीड़ा का साम्राज्य कवि कल्पना सिद्ध होने से कवि प्रौढोक्ति है।

वाक्यगत अलंकार से अलंकार-ध्वनि—

सूखे सिकता सागर में
यह नैया मेरे मन की
आँसू की धार बहाकर
खे चला प्रेम बेगुन की।[2]

उक्त पक्तियाँ प्रेमी की उस अवस्था की ओर संकेत करती हैं जब अनेक अवरोधो-ससार के व्यग्य बाण तथा प्रिय की उदासीनता—के रहते हुए भी प्रेम कम नही

१. महादेवी वर्मा : नीहार : पृ० २०
२. प्रसाद : आँसू : पृ० ४२

होता। अश्रु मोचन ही शेष जीवन की कहानी बन जाता है तो भी प्रेम बढता ही जाता है। सम्पूर्ण छन्द मे साँग रूपक है। मन नाव, अवरोध विस्तृत रेतीला मैदान और प्रेम नाविक है। 'गुन' पद मे श्लेष है नाव के अर्थ मे रस्सी मनुष्य के अर्थ मे मानवीय गुण का अर्थ देता है। प्रेम गुणो को नही देखता। उसका सम्बन्ध अतरात्मा से है। लैला सुन्दर नही थी। मजनू उसके सामने ससार भर के ऐश्वर्य को तुच्छ समझता था। एक बार पूछने पर उसने उत्तर दिया था 'लैला को मेरी नजरो से देखो।' साधारण नाविक सूखी रेती मे अपनी ओर से धार बहाकर बिना रस्सी के नाव नही खीच सकता किन्तु प्रेम मे वह शक्ति है। प्रेम रूपी नाविक मे सामान्य नाविक से अधिक विशेषता दर्शाने के कारण व्यतिरेक अलकार व्यग्य है। साँग रूपक से व्यतिरेक अलकार। समस्त पक्तियो का केन्द्र अश्रुधार है। यह सामान्य धार नही है जिसकी कुछ बूंदे प्रत्येक की आँखो मे देखी जा सकती है वरन् वह नदी की धारा है। जिसके प्रवाह मे गोपियो को ब्रज के डूब जाने का निश्चय हो गया था। इसीलिए उदाहरण कवि प्रौढोक्ति के अन्तर्गत रखा गया है।

वाक्यगत अलंकार से वस्तु ध्वनि—

> **अब छुटता नहीं छुटाये**
> **रंग गया हृदय है ऐसा**
> **आँसू से धुलानिरबरता**
> **यह रंग अनोखा कैसा।**[1]

इन पक्तियो मे जिस रग का उल्लेख है वह है प्रेम का रग। प्रेम का लाला होना, उससे हृदय का रंग जाना, उसका रग पक्का होना आदि सभी उक्तियाँ कबि परम्परा सिद्ध है। यहाँ हृदय का अनुराग के रग मे रग जाने की बात है।

छन्द की प्रथम पक्ति मे विशेषोक्ति अलकार है क्योकि कारण होने पर भी कार्य नही हुआ। प्रेमी विरहजन्य वेदनानुभूति के कारण प्रेमास्पद के और निकट आ जाता है। अर्थ का सौन्दर्य इस विरोध मे है कि साधारणतया मनुष्य उससे दूर भागता है जिससे उसे पीडा मिलती है किन्तु अनुराग मे ठीक इसका उलटा होता है। विरोध का चमत्कार अन्तिम दो पक्तियो मे अपनी चरमता पर पहुँचा गया है। धोने पर रंगीन कपड़े का रग फीका पड़ना चाहिये किन्तु हृदय रूपी वस्त्र ज्यों ज्यों अश्रुजल से धुलता है त्यो त्यों उसका रग चटख होता जाता है। विपरीत कारण से कार्य होने के कारण पाँचवी विभावना है। प्रथम वाक्य मे विशेषोक्ति तथा द्वितीय में विभावना अलंकारों द्वारा 'विरहावस्था मे ही प्रेम चरम बिन्दु पर पहुँचता है'

---

१. **प्रसाद : आँसू : पृ० ३७**

अभिप्राय व्यग्य है। इसके साथ ही यह व्यग्यार्थ भी सम्भव है कि प्रेम ससार की सभी वस्तुओ से भिन्न है, दिव्य है। इस प्रकार यह अलंकार से प्रेम के गुण रूपी वस्तु व्यजना का उदाहरण सिद्ध होता है।

वह नभ कम्पनकारी समीर
जिसने बादल की चादर को
दो झटके मे कर तार तार
दृढ़ गिरि अंगों की शिला हिला
डाले अनगिन तरुवर उखाड़
होता समाप्त अब वह समीर
कलि की मुस्कानों पर मलीन।[1]

समीर का उद्धत रूप किसी रुकावट को नही मानता। उसकी भयंकरता शिलाओ के हिलने और वृक्षो के उखडने से स्पष्ट है। वही कली के निकट पहुँचकर अत्यन्त कोमल हो जाता है। कवि इसका कारण कली की मुस्कान मानता है। असमर्थ या अपूर्ण कारण से कार्य सिद्धि होने के कारण दूसरी विभावना है। इससे यह वस्तु रूप अर्थ ध्वनित होता है कि स्नेह से भयकरतम वस्तु को भी बश मे किया जा सकता है। प्रेम ससार की सर्वोपरि शक्ति है। दूसरे दृष्टिकोण से उक्त पक्तियो में काव्यलिग अलकार भी ध्वनित होता है क्योकि समीर के कली के पास आकर कोमल हो जाने से उसका पूर्व प्रेम व्यंग्य है। दोनो व्याख्याओ समीर और कली का प्रेम कवि प्रौढोक्ति ही रहेगा।

मैं तुमसे मिल सकूं यथा उए से सुकुमार दुकूल
समय लता में खिले मिलन के दिन का उत्सुक फूल
मेरे बाहुपाश से वेष्टित हो यह मृदुल समीर
चारो ओर स्वर्ग के होगा पृथ्वी का प्राचीर।[2]

यहाँ अन्तिम दो पंक्तियो मे प्रतिवस्तूपमा अलंकार है। तीसरी पंक्ति का 'वेष्टित' और चतुर्थ का 'चारों ओर' शब्द एक ही धर्म की विभिन्न प्रकारेण अभिव्यक्तियाँ है। प्रिया के गात के लिए 'स्वर्ग' और 'अपने लिए 'पृथ्वी' का प्रयोग हुआ है किन्तु मुख्यता स्वर्ग की है। इसलिए कवि प्रौढोक्ति है। मुख्यार्थ है कि मेरा शरीर पृथ्वी की भाँति अपवित्र है और तुम स्वर्ग की भाँति दिव्य हो। जब स्वर्ग के वरदान से पृथ्वी का उद्धार हो जाता है तब स्वर्ग को अपनी परिधि मे घेर लेने से तो पृथ्वी

---

१. बच्चन : आकुल अन्तर : पृ० ४०
२. डॉ० रामकुमार वर्मा : आधुनिक कवि ३ : पृ० ९०

का कल्मष सदैव के लिए दूर हो जायगा। इससे व्यंग्यार्थ रूप अभिप्राय यह है कि तुम्हे बाहुपाश में बद्ध कर मैं पार्थिव अनुभूतियो की सीमा पार कर दिव्यानुभूति के क्षेत्र मे प्रवेश कर जाऊँगा। मे भावना मार्ग से जीवन-मुक्त हो जाऊँगा।

पद्य की प्रथम दो पक्तियो मे स्वत सम्भवी उदाहरण अलकार से वस्तु-ध्वनि है। १—जिस प्रकार पतला कपडा तुम्हारे शरीर से लगकर अपना पृथक अस्तित्व खो देता है उसी प्रकार मै भी तुमसे एक हो जाऊँ या २—जैसे कोमल वस्तु को तुमने अपने हृदय पर स्थान दिया है उसी प्रकार मुझे भी अपने हृदय मे स्थान दो।

सृष्टि के प्रारम्भ में
मैने उषा के गाल चूमे
बाल रवि के भाग्यवाले
दीप्त भाल विशाल चूमे
प्रथम संध्या के अरुण दृग
चूम कर मैंने सुलाये
तारिकाकलि से सुसज्जित
नव निशा के बाल चूमे
वायु के रसमय अधर
पहले सके छू होंठ मेरे
मृत्तिका की पुतलियों से
आज क्या अभिसार मेरा।
कह रहा जग वासनामय
हो रहा उद्‌गार मेरा।[1]

इस प्रबन्ध में यद्यपि किसी भी ऐसी वस्तु का वर्णन नही हुआ है जिसका संसार में अस्तित्व न हो किन्तु जिस रूप मे हुआ है वह स्वत. सम्भवी नही है। छायावाद युग की यह विशेषता रही है कि इन कवियों ने प्रकृति को नारी रूप मे देखा है। यहाँ भी प्रकृति की उषा संध्या आदि अलग अलग वस्तुओ को मानव कोटि में लाकर उनसे दृढ सम्बन्ध स्थापित किया है। इसमे कल्पना विशेष क्रियाशील होने के कारण कवि प्रौढ़ोक्ति है। इसी के आधार पर कवि अपने गीत की पवित्रता ध्वनित करता है।

आधुनिक कविता की एक विशेषता यह भी है कि अनेक स्थलों पर उसके सौन्दर्य एवं अर्थगाम्भीर्य को तब तक नही समझा जा सकता जब तक कि रचना-कालीन या पूर्व कालीन परिस्थितियों तथा विचारों से अवगत न हो जाया जाय।

---

१. बच्चन : सोपान : पृ० ८१

अन्तिम दो पक्तियाँ कवि के आलोचको तथा कविता की प्रेरणा की ओर सकेत करती है। कवि बच्चन के मधुशाला तथा मधुबाला काव्य सग्रहो को देखकर कुछ आलोचको ने कहना शुरू किया था कि वे कलुषित हृदय के उद्गार है इसी आरोप के विरोध मे कवि ने 'कवि की वासना' और 'पथ भ्रष्ट' रचनायें प्रस्तुत की।

अपने गीतो की पवित्रता व्यजित करने के लिए कवि ने सृष्टि की दिव्यतम एव पवित्रतम वस्तुओ को चुना है। जिसने सृष्टि की प्रथम उषा के कपोलो को, प्रथम संध्या की पलको को चूमा हो, वायु ने अन्य वस्तुओ के सम्पर्क मे आकर कलुषित होने के पूर्व सबसे पहले जिस व्यक्ति के होठो का स्पर्श किया हो भला वह मिट्टी की तुच्छ पुतलियो से क्या अभिसार करेगा। मिट्टी की पुतलियाँ सासारिक नारियो के लिए प्रयुक्त हुआ है। इस स्थल पर कवि का अह जाग उठता है। समस्त पक्तियों मे गीतो की प्रेरणा की पवित्रता तो व्यग्य है ही साथ मे यह भी कि कवि सामान्य जन कि वासना से बहुत ऊँचाई पर होता है। सासारिक कर्म शरीर का धर्म है आत्मा उससे निर्लिप्त रहती है।

घटना से धर्म व्यजना के अतिरिक्त उक्त पक्तियो मे अलंकार व्यजना भी है। कवि पर न्योछावर होनेवाली जिन-जिन वस्नुओ का वर्णन हुआ है वे विश्वदेव के अतिरिक्त किसी अन्य को समर्पित नही हो सकती। अतएव कवि और विश्वदेव में उपमेय उपमान भाव होने से उपमा अलकार ध्वनि भी सिद्ध होती है।

प्रबन्धगत अलंकार से अलंकार-ध्वनि—

> **बजा दीर्घ सांसो की भेरी**
> **सजा सटे कुच कलशाकार**
> **पलक पांवड़े बिछा खड़े कर**
> **रोओं के पुलकित प्रतिहार**
> **बाल युवतियाँ तान कान तक**
> **चल चितवन के वन्दनवार**
> **देव तुम्हारा स्वागत करतीं**
> **खोल सतत् उत्सुक दृग द्वार[1]**

प्रबन्ध मे कामदेव के स्वागत् का वर्णन है। कामदेव पौराणिक पात्र है। अत' उसके स्वागत् की कल्पना भी कवि प्रौढोक्ति है।

कामदेव के स्वागत मे बाल युवतियाँ अपने भिन्न-भिन्न अगो को ही स्वागत सामग्री के रूप मे प्रस्तुत करती है। दीर्घ सांसे नगाडे, कुच कलश, पलक पावड़े, रोयें प्रतिहार तथा चलचितवन वन्दनवार है। इससे साग रूपक सिद्ध होता है। ये

---

१. पन्त : पल्लव : पृ० ८७

सब वे ही वस्तुयें है जिनका राजा के स्वागत् मे भी उपयोग होता है। विशेष रूप से नगाड़े और प्रतिहार का अतः कामदेव और राजा में उपमेय्_उपमान भाव सकेतित होने से उपमा अलंकार व्यग्य है।

इससे कवि यह भी दर्शाना चाहता है कि यौवन काल आते ही बालाओं के शरीर मे उक्त परिवर्तन होने लगते है। कुचा का कलशवत् उठ आना, शरीर का हर समय रोमांचित रहना, चचल कटाक्ष करना आदि वे लक्षण है जो कन्या के पूर्ण युवती हो जाने की सूचना देते है। इस व्याख्या के आधार पर यह अलकार से रूप वस्तु-ध्वनि का उदाहरण बनता है।

संलक्ष्यक्रम रस-ध्वनि

अलंकार से विप्रलम्भ शृंगार-वाक्यगत—

पटक रवि को बलि सा पाताल
एक ही वामन पग में
लपकता है तमिस्र तत्काल
धुएं का विश्व विशाल[1]

उपर्युक्त पक्तियो मे वाक्यार्थोपमा के द्वारा कवि हृदय की दशा की ओर इंगित करता है। जब व्यक्ति को प्रकृति के व्यापार भी अपनी ही भावनाओ से रगे दिखाई पड़ते हैं लेखक अपनी विरहावस्था का वर्णन कर रहा है। इसके पूर्व वह बतला चुका है कि सध्या की लाली मुझे अग्नि की लपटो सी भयानक प्रतीत होती है। तत्पश्चात् अन्धकार मे सूर्य का छिप जाना भी ऐसा लगता है मानो अन्धकार ने उसे बलपूर्वक पाताल भेज दिया हो। महा पराक्रमी सूर्य की जब यह स्थिति है तो दुर्बल मानव की क्या हो सकती है। ससार ने बल पूर्वक उसके स्वर्णिम विहानो को छीन लिया है उसी का प्रतिबिम्ब कवि प्रकृति मे भी देखता है। उसे व्यापार मे अत्याचार नाश के दृश्य दिखाई पड़ते है। इस प्रकार वामन और बलि के पौराणिक आख्यान के माध्यम से विप्रलम्भ शृगार-ध्वनित हो रहा है।

अलंकार से हर्ष-भाव-ध्वनि - वाक्यगत—

मैं बचपन को बुला रही थी
बोल उठी बिटिया मेरी
नन्दन वन-सी फूल उठी
यह छोटी सी कुटिया मेरी[2]

---

१. पन्त : पल्लव : पृ० ६७

२. सुभद्राकुमारी चौहान : मुकुल : पृ० ५७

अपनी पुत्री की आवाज़ सुनकर कवयित्री भाव विह्वल हो जाती है जिसमे वह जीवन के सभी अभावो को क्षण भर के लिए भूल जाती है। नन्दनवन कवि प्रौढ़ाक्ति है।—कुटिया का नन्दनवन सा फूल उठना उपमा अलकार है। कवयित्री के हर्ष तक पाठक नन्दनवन की व्याख्या द्वारा पहुँचता है। इसलिए ध्वनि सलक्ष्यक्रम है।

वस्तु से विप्रलम्भ शृंगार - वाक्यगत—

नवोढ़ा बाल लहर
अचानक उपकूलों के
प्रसूनों के ढिग रुककर
सरकती है सत्वर[1]

प्रकृति मे कही भी तो स्नेह पर बन्धन नही है। बाल लहर जहाँ चाहती है अपना स्नेह बांटती चलती है फिर भी मनुष्य के मार्ग मे ही इतनी बाधाये क्यों। इस प्राकृतिक व्यापार को देखकर मानव प्रकृति मे विषमता की ओर उसका ध्यान जाता है जिससे उसको एकाकीपन और अखर ने लगता है। एकाकीपन की व्याकुलता यहाँ व्यंग्य है। यदि यह माने कि बाल लहर और फूलो के क्षणिक प्रणय व्यापार से उसे अपने बीते दिनो की याद आ जाती है तो असलक्ष्यक्रम स्मृति भाव-ध्वनि का उदाहरण बन जायगा।

कविनिबद्ध वक्तृपौढ़ौक्ति सिद्ध अर्थ-शक्तिमूला ध्वनि

प्रबन्ध के प्रथम खण्ड मे यह चर्चा हो चुकी है कि प्राचीन आचार्यों ने कवि की कल्पना शक्ति से सिद्ध वस्तुओ को दो कोटियो मे विभक्त किया है। एक वे जिन्हे वह अपनी ओर से कहता है और दूसरी वे जिनको स्वय निर्मित पात्र से कहलवाता है। पात्रोक्त स्थल कवि निबद्धवकतृप्रौढौक्तिसिद्ध के अन्तर्गत आते है। आधुनिक कविता पर इस दृष्टकोण से विचार करते समय प्राचीन और नवीन कविता का स्पष्ट अन्तर देख लेना होगा।

लगभग समस्त प्राचीन साहित्य मे रचयिता स्वय को प्रच्छन्न रूप में ही प्रवेश कराता है। यह प्रच्छन्न वेश कोई पात्र होता है अन्यथा कवि तटस्थ दर्शक की भाँति वर्णन करता चलता है। साहित्य की परम्परा 'मे' को पात्र बनाने की अनुमति नही देती थी। आज मान्यताएँ बदल गई है। व्यक्तिवाद के उन्मेष ने 'मे' शैली पर अधिक बल दिया। अब नारी सौन्दर्य का वर्णन करने के लिए कवि शकुन्तला या दमयंती का आश्रय नही लेता न तत्प्रेरित भावोन्दोलन व्यक्त करने के लिए दुष्यन्त या नल का निर्माण करता है। वह अपनी प्रेयसी का ही नख-शिख वर्णन करता है

१. पन्त : पल्लव : पृ० ६७

तथा स्पष्ट शब्दो मे 'प्रिये' 'प्रेयसी' 'प्राणो की प्राण' घोषित करता है इसलिए जहाँ कही कवि भी पात्र के वेष मे आता है वहाँ भी उपर्युक्त भेद ही माना जाना चाहिये ।

शंका हो सकती है कि क्या सभी स्वानुभूति व्यजक काव्य साहित्य कविनिबद्धवक्तृ-प्रौढोक्तिसिद्ध के अन्तर्गत चला जायगा । ऐसे स्थलो पर दो बाते ध्यान देने की हैं । प्रथम, पात्र नियोजना मे नाटकीयता हो । दूसरे, कवि के स्वय का उस पर आरोपण न हो । उदाहरणार्थ, पन्त की 'ग्रन्थि' और 'आत्मिका' को ले । प्रथम मे पुरुष पात्र स्वय कवि है और नायिका के सौन्दर्य का अनेक प्रकार से वर्णन करता है । ऐसे स्थलो पर पाठक कवि से तादात्म्य स्थापित कर उसके सौन्दर्य से चमत्कृत होता है । किन्तु आत्मिका मे पाठक कवि मे एक नही हो पाता । हाँ, तटस्थ भाव से उसकी अनुभूतियो का आनन्द अवश्य उठाता है । अलंकारो का वैभव बुद्धि को भले ही चमत्कृत कर दे, हृदय मे अपनत्व की भावना नही जगाता । उनमे वही भेद बना रहता है । जो आत्मकथा और उपन्यास मे है । आत्मकथा का आनन्द तटस्थ भाव से उठाया जाता है किन्तु उपन्यास का उसके नायक से एक होकर । 'मे' शैली मे लिखे गए उपन्यासो मे भी यह भेद बराबर बना रहता है ।

उक्त भेद का एक और प्रकार भी देखने में आता है । सभी भाषाओ के प्राचीन साहित्य मे ऐसी कथाये मिलती है जिनमे इतर प्राणी भी मानव भाषा मे बातें करते है । इनमे अग्नि आदि जड वस्तुओ मे भी देवता का आरोप कर सचेतन प्राणी के कर्म करवाये जाते है । आज यह सब धर्म साहित्य की कोटि मे रखा जाता है क्योकि वहाँ मानव का बुद्धिपक्ष अत्यन्त प्रबल है । या यो कहे कि इनमें उपदेश का अश अधिक है और सौन्दर्य का अश बहुत कम । इस युग मे भी उपदेश की प्राचीन प्रणाली को अपनाया गया हे किन्तु सौन्दर्य के आवरण मे लपेट कर प्रतीक पद्धति पर । आधुनिक साहित्य मे प्रयुक्त प्रतीकों का जो लक्षण ग्राह्य है वह अग्रेजी साहित्य की देन है । भारतीय काव्य शास्त्र की भाषा मे अचेतन प्रतीक रसाभास या भावाभास के अन्तर्गत आयेगे । जैसे माखनलाल चतुर्वेदी रचित 'पुष्प की अभिलाषा' । संस्कृत आचार्यो ने ध्वनि के प्रसग मे ऐसे उदाहरण नही दिये हैं । हमारा विचार है कि इन आचार्यो के मन मे उक्त भेद निर्धारित करते समय केवल मानव पात्र ही थे क्योकि मानव पात्रो को ही जीवन की विभिन्न परिस्थितियो में डालकर गम्भीर अर्थो की कलात्मक अभिव्यंजना की जा सकती है । इसलिए यदि 'पुष्प की अभिलाषा' कविता को उक्त कोटि मे रखा जाय तो उसका प्रकार विशेष ही मानना पडेगा । इसी पद्धति पर आचार्य भगीरथ मिश्र इस कविता का यह अर्थ लेते है 'जब फूल में भी राष्ट्र के लिए बलिदान होने की चेतना है तो मनुष्य मे इससे अधिक होनी चाहिये ।'

कुछ व्यक्तियों का विचार है कि सम्पूर्ण कविता पढ जाने पर भी पुष्प अपने पुष्पत्व को नही छोड़ता। हमारे मन में बराबर यह धारणा बनी रहती है कि वह अचेतन वस्तु है और उसका कथन कवि कल्पना से ही सिद्ध हो सकता है। अतः इसे कवि प्रौढोक्ति के अन्तर्गत ही रखना चाहिये।

अन्त में यह सत्य स्वीकार करना ही पड़ेगा कि ध्वनि का उक्त प्रकार मूलतः प्रबन्ध कार्यों से सम्बन्ध है। गीति काव्य से उसका कोई सम्बन्ध नही है।

प्रबन्ध काव्य में ध्वनि विवेचन

छायवाद काल मे गीति काव्य के साथ साथ उसी शैली मे कुछ सुन्दर प्रबन्ध काव्य भी दिये। इसी के समानान्तर तथा काव्य की एक और धारा बह रही थी जिसके अग्रणी थे बाबू मैथलीशरण गुप्त। आनन्दवर्धन द्वारा निर्देशित ध्वनि के अनेक भेद कहलानेवाले, सुननेवाले अन्य व्यक्ति की निकटता आदि की विशिष्टता लिए हुए है जिनके लिए गीति काव्य मे कोई स्थान नही है। ध्वनि के प्रबन्ध प्रकाश्य भेद का उचित प्रतिनिधित्व प्रबन्ध काव्य ही करते है। संस्कृत काव्यशास्त्रियों को इस भेद के उदाहरण देने मे अत्यन्त कठिनाई हुई है। प्रबन्ध की महाकाव्य के रूप मे परिभाषा दे देने पर भी प्रतीत होता है उसके मन मे कथा काव्य का रूप ही सदैव रहा। इसके अतिरिक्त संचारियों का एक मात्र स्थान प्रबन्ध काव्य ही है। इन सब कारणो से ध्वनिवादी के लिये काव्य के इस भेद की बडी महत्ता है।

लक्षणामूला ध्वनि

पदगत अर्थान्तर संक्रमित अविवक्षित वाच्य ध्वनि—

तो क्या अबलाएँ सदैव ही
अबलाएँ हैं—बेचारी।[1]

उक्त भेद का यह बड़ा प्रसिद्ध उदाहरण है। सस्कृत आचार्यो ने भी बहुधा ऐसे ही उदाहरण दिये हैं। प्रथम दृष्टिपात में अबला शब्द का दो बार प्रयोग पुनरूक्ति दोष लगता है किन्तु द्वितीय प्रयोग वस्तुतः उसके व्युत्पत्यर्थ पर बल दे रहा है। प्रथम में उसका अर्थ साधारण नारी है किन्तु दूसरे मे वह 'बलहीन' (अबला) के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। इस प्रकार दूसरा प्रयोग सामान्य व्यापक अर्थ को छोड़कर विशिष्ट अर्थ में ही सीमित हो गया है। शूर्पणखा कहती है कि स्त्रियाँ सदैव निर्बल नही होती। ध्वनि है—यदि तुम सीधे सीधे मेरे प्रणय-प्रस्ताव को नही स्वीकार करोगे तो मुझे बल प्रयोग करना पड़ेगा।

---

१. मैथलीशरण गुप्त : पंचवटी : पृ० ५८

कहा हँसकर 'अतिथि हूँ मैं और परिचय व्यर्थ
तुम कभी उद्विग्न इतने थे न इसके अर्थ।[1]

उक्ति कामायनी की मनु के प्रति है। कई दिन साथ रहने पर भी मनु श्रद्धा के आन्तरिक भावो को न समझ पाये तो एक दिन पूछ बैठे। उसी के उत्तर मे श्रद्धा कह रही है यही है यहाँ 'अतिथि' पद ध्वन्यात्मक है। सामान्यत: कुछ काल के लिए हमारे घर मे परिवार से बाहर का जो व्यक्ति आता है 'अतिथि' कहलाता है। हम उससे अच्छी तरह परिचित भी हो सकते है किन्तु उक्त पक्तियो का सौन्दर्य 'अतिथि' के व्युत्पत्यर्थ को लेकर ही स्पष्ट होता है। अतिथि कौन ? जिसके आने और जाने की कोई तिथि निश्चित न हो। ऐसे व्यक्ति पर हमारा कोई अधिकार भी नही होता है न यही निश्चिय होता है कि भविष्य मे उससे कब भेट होगी जब यह परिचय काम आयेगा। श्रद्धा के कथन से यह ध्वनि निकलती है कि जैसे बिना किसी पूर्व सूचना मे यहाँ आयी हूँ वैसे कभी भी जा सकती हूँ। इसलिए परिचय प्राप्त कर सम्बन्ध बढाने की बात व्यर्थ है। ऐसे व्यक्ति के बारे मे जानना न जानना एक समान है।

पदगत अत्यन्त तिरस्कृत अविवक्षित वाच्य ध्वनि—

कौन हो तुम बसन्त के दूत
विरस पतझड़ के अति सुकुमार
घन तिमिर में चपला की रेख
तपन में शीतलमन्द बयार।[2]

मनु अकेले बैठे चिन्तन कर रहे है। उन्हें अपने जीवन मे कोई आनन्द न होने से शेष संसार भी आनन्दरहित प्रतीत होता है। उसी समय अतीव सुन्दर श्रद्धा अचानक ही उसके सामने आ खड़ी होती है। मनु को पहले अपनी आँखो पर विश्वास नही होता। यह उक्ति मनु की है और इसमे 'बसत के दूत' समस्त पद श्रद्धा के लिए प्रयुक्त हुआ है। श्रद्धा वसंत का दूत नही है। ऋतु विशेष से उसका कोई सम्बम्ध नहीं है। इसलिये पद में मुख्यार्थ का बाध हुआ। मनु का जीवन पतझड के समान ही है क्योंकि उनके सुख रूपी समस्त पत्ते झड गए है। उन्हे यह बहुत कम आशा थी कि प्रलय मे कोई दूसरा मानव भी बचा होगा या बचकर उन तक पहुँच सकेगा। और श्रद्धा जैसी सुन्दरी की उन्होने मन में भी कल्पना नही की थी। वसंतागम के पहले उष्ण वायु इधर, उधर फले दो एक फूल यह सूचना देते है कि आनेवाली ऋतु आनन्ददायिनी है। उसी प्रकार श्रद्धा के आगमन से मनु को भी विश्वास हो गया

---

२. प्रसाद कामायनी : पृ० ८७

१. प्रसाद : कामायनी : पृ० ५०

कि उनका भविष्य आनन्दपूर्ण होनेवाला है। प्रेम प्रकार 'वसन्त का दूत' का ध्वन्यर्थ 'भविष्य के आनन्द की सूचना देनेवाला' जिसकी स्थापना श्रद्धा मे की गई।

देव जब महादेव दर्शनार्थ थे गये
आए तब पाटन थे आप यह सुन के
खेद हुआ उनको कि स्वागत न आपका
हो सका यथोचित।[1]

सिद्धराज के सोमनाथ यात्रा पर जाने के बाद मालव महीप नरवर्मापाटन पर चढ आया और मंत्री द्वारा सिद्धराज की यात्रा का पुण्य फल विजय स्वरूप लेकर लौट गया। सिद्धराज ने लौटकर जब यह समाचार सुना तो मंत्री की कायरता पर क्रुद्ध हुआ। वह तत्काल मालव पर चढ आया और दूत द्वारा नरवर्मा की सभा में उक्त संदेश भिजवाया। यहाँ स्वागत का अर्थ कदापि यह नही है कि सिद्धराज उसके आगमन के उपलक्ष्य मे नगर सजवाता या कोई अमुल्य भेट अर्पित करता। लक्ष्यार्थ है कि मेरी अनुपस्थिति मे चढाई करने की जो धृष्टता आपने की उसका उचित दण्ड न मिल सका। यहाँ युद्ध की चुनौती व्यंग्य है।

अभिमामूला असंलक्ष्यक्रम ध्वनि—

१—पदगत—

पर हृदय सब भाँति तू कंगाल है
उठ किसी निर्जन विपिन में बैठकर
अश्रुओं की बाढ़ में अपनी बिकी
मग्न भावी को डुबा दे आँख-सी।[2]

नायिका का दूसरे व्यक्ति से विवाह हो जाने पर नायक की युक्ति अपने प्रति है। इतने दिनो से जो आशा थी वह आज भग हो गई। सब कल्पनाये नष्ट हो गयी ऐसे समय कोई उससे सहानुभूति तक रखनेवाला नहीं है। न किसी का प्यार मिल सका न सहानुभूति। तब हृदय के पास क्या सम्पत्ति रही। यहाँ 'कंगाल' पद से नायक के क्षोभ और दैन्य की व्यजना हो रही है। जो विप्रलम्भ शृंगार की पुष्टि मे सहायक है। 'कंगाल' पद में यद्यपि लक्षणा शक्ति भी कार्य कर रही है किन्तु भावाभिव्यक्ति में उसकी क्षमता इतनी है कि वस्तु ध्वनि की ओर ध्यान ही नही जाता।

शैल निर्झर न बना हतभाग्य
गल नहीं सका जो कि हिमखण्ड

---

१. मैथलीशरणगुप्त : सिद्धराज : पृ० ३०
२. पन्त : ग्रन्थि : पृ० ३५

दौड़कर मिला न जलनिधि अंक
आह वैसा ही हूँ पाषंड ।[1]

मनु श्रद्धा को अपना परिचय दे रहे है। देव सृष्टि के विनाश के बाद वे अकेले ही जीवन व्यतीत कर रहे। प्रकृति मे चारो ओर देखते है तो कोई भी वस्तु एकाकी नही दीखती। सबके अपने अपने युग्म है। यह देखकर उन्हे और भी कष्ट होता है। वे ही इतने हतभाग्य क्यो कि अकेले जीवन बिता रहे है। यह विषाद अब तक तो हृदय में ही घुमड रहा था किन्तु जैसे ही कोई सहानुभूति दर्शाने वाला मिला कि भावावेग की धारा बह निकली। एकाकी जीवन से वे कितने दुखी है 'हतभाग्य' पद से स्पष्ट हो जाता है, वैसे तो वे बडे भाग्यवान है कि प्रलय के थपेडो से बच निकले पर सगी साथियो का अभाव प्रलय के कष्ट से भी कही अधिक सालनेवाला है। इसी विषाद की ध्वनि अन्तिम 'पाषंड' पद से भी हो रही है जिसके मूल मे लक्षणा कार्य कर रही है।

आज मै हूँ कौसलाधिप धन्य
गा विरुद गा कौन मुझ-सा अन्य।
कौन हा मुझ सा पतित-अतिताप।
हो गया वर ही जिसे अभिशाप।[1]

राम-वन-गमन के पश्चात् दशरथ की मृत्यु हो जाती है। भरत ननिहाल से आकर सब समाचार सुनते है। यह ज्ञात होने पर कि उन्हे राजा बनाने के अर्थ ही केकयी ने यह सब किया है उनके क्रोध और ग्लानि की सीमा नही रहती। यहाँ इन्ही दोनों भावो की परिणति निवेद मे हुई है। अपने समस्त दुखो के मूल मे उन्हे राज्य ही दिखाई पड रहा है। न वे राजकुमार होते न केकयी के मन मे राजमाता बनने का लोभ पैदा होता न अग्रज को गृह निष्कासन एवं पिता की मृत्यु होती। कैकयी ने लाभ ही लाभ देखा था, भरत के माथे पर लगनेवाले कलक की कल्पना भी नही की थी। भाई के वन गमन और पिता की मृत्यु का मूल कारण बन कर 'राजा' कहलाना कितनी भारी विडम्बना है। यह 'धन्य' पद से व्यक्त है वे इस समय स्वयं को तुच्छतम प्राणी से तुच्छ समझ रहे है। इष्ट वियोग (पिता से उनकी मृत्यु और भाइयों तथा भाभीयो से उनके बन-गमन के कारण) से उत्पन्न सम्पूर्ण निर्वेद 'धन्य' पद में सिमट आया है। यहाँ 'धन्य' का प्रयोग 'धिक्कार' के अर्थ में हुआ है। अतः पद के मूल मे विपरीत लक्षणा कार्य कर रही है।

---

१. प्रसाद : कामायनी : पृ० ४८

प्रसंगानुकूल दशरथ की मृत्यु हो जाने से शोक स्थायी भाव है। शोक के मूल कारण माता द्वारा अपने राजापन की कल्पना के प्रति भरत की विरक्ति स्वाभाविक है जो स्थायी भाव को पुष्ट कर रही है। कोसलाधिप का पद उनके लिए कितना गर्हणीय है इसी की व्यजना 'धन्य' पद मुख्य रूप से कर रहा है।

उपर्युक्त उदाहरण की अन्तिम पक्ति मे 'ही' पदाश वर देने की प्रथा पर पाश्चात्ताप व्यक्त करता है। क्या वर देने जैसा कल्याणकारी कर्म भी किसी के लिए अभिशाप हो सकता है ? किसी के लिए हो या न हो पर भरत के लिए तो हो ही गया। यह ध्वनि 'ही' पदांश से विशेष रूपेण व्यक्त होने के कारण से यह पदाशगत ग्लानि सचारी भाव-ध्वनि का भी उदाहरण है।

एक झिटका-सा लगा सहर्ष
निरखने लगे लुटे-से कौन—
गा रहा यह सुन्दर संगीत
कुतूहल रह न सका फिर मौन।[1]

छन्द की दूसरी पक्ति का 'लुटे-से' समस्त पद मनु के हृद्गत भावो को ध्वनित कर रहा है। बहुत दिनों के बाद अकल्पनीय रूप से चिर आशा को पूरा होते देख पहले हमे विश्वास ही नही होता। उसमे आश्चर्य और हर्ष दोनों ही मिले होते है। मानवी वाणी सुनने पर मनु को हर्ष हुआ किन्तु आँख उठाने पर जो सौन्दर्य दिखाई पडा उसकी उन्होने कल्पना भी नही की थी। एक क्षण के लिए वे स्वय को भूल गये। हर्ष का तत्त्व प्रथम पक्ति के अन्तिम पद से वाच्य है किन्तु उसका आधिक्य और आश्चर्य का मिश्रण 'लुटे-से' पद द्वारा ही व्यजित हो रहा है।

२—पदांशगत—

धूलि धूसर है तो क्या यो तो मृन्मात्र भी
वस्त्र ये वल्कल से तो है सुरम्य सुपात्र भी।[2]

उर्मिला का यह वाक्य सखी के प्रति है। सखी उससे कहती है कि तुम्हारे वस्त्र मैले हो गए है इन्हे बदल लो। इतना सुनते ही उर्मिला को लक्ष्मण का ध्यान आ जाता है। जो वल्कल धारण कर बन को चले गए है। एक तो वल्कल दूसरे बदलने की सूविधा भी नही। लक्ष्मण की स्थिति से अपनी तुलना करते ही उसका दु.ख और गहरा हो जाता है। प्रियवियोग के कारण रति स्थायी भाव है। उक्त विशिष्ट परिस्थिति में विषाद द्वारा वह पुष्ट होता है अत. विषाद सचारी हुआ।

---

१. **प्रसाद : कामायनी : पृ० ४५**
२. **मैथिलीशरण गुप्त : पृ० २७२**

तुलना की विषमता 'तो' पदाश से विशेष व्यक्त है। इस प्रकार उक्त स्थल पदांशगत विषाद असलक्ष्यक्रम ध्वनि का उदाहरण सिद्ध होता है।

३—**वाक्यगत**—

एक पल मेरे प्रिया के दृग पलक
थे उठे ऊपर सहज नीचे गिरे।[१]

पर पुरुष को जिसके प्रति अनुराग भी हो सामने देखकर और यह जानकर कि वह व्यक्ति उसकी ओर देख रहा है मुग्धा नायिका की जो दशा हो सकती है उसी का यह चित्र है। प्रिया की पलको का एक पल के लिए ऊपर उठना उसके अनुराग का सूचक है। किन्तु उस क्षेत्र मे नई होने के कारण दूसरे ही क्षण उसे लज्जा आ घेरती है। तथा पलक अपने आप झुक जाती है। यहाँ 'सहज' पद से उसकी निश्छलता व्यंग्य है और सम्पूर्ण वाक्य मे लज्जा भाव जो सम्भोग शृगार का पोषक होने के कारण सचारी कहलाएगा। निम्न पक्तियाँ भी इसी से मिलते जुलते भाव को प्रकट करती हैं—

पद-नखो को गिन समय के भार को
जो घटाती थी भुलाकर अवनि तल
खुरच कर वह जड़ पलों की घृष्टता
थी वहाँ मानों छिपाना चाहती।[२]

पद-नखो को गिनना, अवनि तल को खुरचना लज्जा भाव को छिपने के कार्य हैं। अत: अवहित्था सचारी व्यग्य है। नायक नायिका परस्पर आलम्बन विभाव है। नायिका के अनुभाव नायक के लिए उद्दीपन विभाव है। उधर नायिका के लिए नायक के वचन (जो पहले आ चुके है और जिनका यहाँ आरोपण करना पड़ेगा) उद्दीपन विभाव है। पद-नख गिनना तथा अवनि तल खुरचना अनुभाव है। इस प्रकार लज्जा और अवहित्या से पुष्ट रति भाव शृंगार रस की कोटि तक पहुँच गया है। इस प्रकार लज्जा और अवहित्था से सम्पूर्ण वाक्य में अभीष्ट भाव प्रसरित होने से यह वाक्यगत सभोग शृगार ध्वनि का स्थल है।

"दिन भर थे कहाँ भटकते तुम"
बोली श्रद्धा भर मधुर स्नेह
"यह हिंसा इतनी प्यारी है
जो भुलवाती है देह-गेह।[३]

---

१. **पन्त : ग्रंथि : पृ० १०**

२. **वही : पृ० १४**

२. **प्रसाद : कामायनी : पृ० १४४**

श्रद्धा और मनु मे परिणय सम्बन्ध न होने पर भी उससे अधिक सुदृढ प्रणय सम्बन्ध था। वह मनु के पुत्र की माता होनेवाली थी। प्रथम पक्ति से मनु के प्रेम मे आ जानेवाली प्रेम की कमी की व्यजना हो रही है। वे श्रद्धा के प्रति उदासीन हो हो गये है। यहाँ इसी कारण उनको उपालम्भ दिया जा रहा है। उपालम्भ उसी को दिया जा सकता है जिस पर कोई अधिकार नही है। प्रस्तुत परिस्थित मे अधिकार का कारण विजय नही प्रेम है। दूसरी पंक्ति मे 'मधुर स्नेह' पद प्रयुक्त हो जाने पर भी अन्तिम दो पक्तियो का सौन्दर्य कम नही हुआ है। जिनकी ध्वनि है—'तुम्हारा पहले वाला प्रेम कहाँ गया ? श्रद्धा की उक्ति से दाम्पत्य रति का वह पक्ष ध्वनित हो रहा है जब नारी का पुरुष से दूसरा सम्बन्ध स्थापित हो जाता है—(१) प्रिया के रूप मे और (२) उसके पुत्र की माता के रूप मे। माता को प्रिया से कुछ अधिक अधिकार प्राप्त है। उसके प्रेम मे गाम्भीर्य एव स्थिरता आ जाती है। किन्तु रहती है तब भी वह अबला ही। पुरुष भी उसके प्रेम को स्थिर जान कर निश्चिन्त हो जाता है जो उदासीनता का रूप धारण कर लेती है। श्रद्धा का उपालम्भ वास्तव मे प्रेम की उसी परिपक्वावस्था को ध्वनित कर रहा है इसीलिए 'मधुर स्नेह' का प्रयोग उसके सौन्दर्य को नष्ट नही कर सका है।

अब और अभीप्सित और आर्य वह किसका
संसार नष्ट है भ्रष्ट हुआ घर जिसका
मुझसे मैने ही आज स्वय मुँह फेरा
हे आर्य बता दो तुम्हीं अभीप्सित मेरा।[1]

मनस्ताप की वह स्थिति जब व्यक्ति स्वय को ही धिक्कारने लगे निर्वेद कहलाती है। पिता की मृत्यु और राम वन-गमन का मूल कारण भरत अपने को समझते है। न वे पृथ्वी पर जन्म लेते न उनकी माता को दो वरदान माँगने की अवाश्वकता पडती। एक और पिता की मृत्यु का शोक दूसरी ओर पितृ तुल्य बडे भाई का चौदह वर्ष के लिए बिछडने का दुख दोनो मिलकर भरत को इतना क्लेश दे रहे है कि उन्हे स्वयं से घृणा हो जाती है। 'मुझसे मैने ही आज स्ययं मुँह फेरा' वाक्य भरत की आत्मग्लानि की चरमावस्ता 'निर्वेद' को ध्वनित कर रहा है। अर्थात् लोग तो कैकयी से मेरा सम्बन्ध होने के कारण मेरी निन्दा कर ही रहे होगे पर मै स्वय भी उसी सम्बन्ध के कारण लज्जा से गडा जा रहा हूँ। यहाँ शौक स्थायी भाव है तथा निर्वेद संचारी। साकेत से ही एक और उदाहरण ले—

आप अवधि बन सकूँ कहीं तो क्या कुछ देर लगाऊँ
मै अपने का आप मिटा कर जाकर उनको लाऊँ।[2]

---

१. मैथलीशरण गुप्त : साकेत : पृ० २४७
२. वही :: पृ० ३२४

उर्मिला जानती है लक्ष्मण चौदह वर्ष समाप्त होने के पहले नही लौट सकते और वह चाहती है कि शीघ्राति शीघ्र लौटें। इन परस्परविरोधी बातों का समाधान कैसे हो। वह कल्पना करती है कि यदि वह स्वय अवधि बन सकती तो अपने को मिटाना उसके बस की बात हो जाती इस प्रकार स्वय के रूप में अवधि को तत्काल मिटाकर लक्षमण को लौटा लाती। इससे उर्मिला का औत्सुक्य व्यग्य है। स्थायी होने से यह सचारी रूप मे प्रकट हुआ है। कुछ लोग विवाद कर सकते है कि जब उर्मिला स्वय को ही मिटा देगी तो लक्ष्मण के आने का भी क्या अर्थ होगा। किन्तु विरहावस्था मे इस तरह की तर्क सम्मत उक्तियों के लिए स्थान नही होता—

'यह है उपाय' कह उठे राम ज्यों मंद्रित घन—
कहती थी माता मुझे सदा राजीव नयन
दो नील कमल है शेष सभी यह पुरश्चरण
पूरा करता हूँ देकर मात' एक नयन।[1]

'शक्ति' द्वारा नील कमल उठा लिए जाते पर राम अत्यन्त दुखी हो जाते हैं। दु.ख का मुख्य कारण यह है कि सीता की मुक्ति जब असंभव प्रतीत होने लगी। राम का क्लेश विरहजन्य है वही उनको प्रयत्न की प्रेरणा दे रहा है इसीलिए स्थायी भाव रति का वियोग-पक्ष है। दूसरी पक्ति मे स्मृति सचारी है। मति संचारी को व्यजित करनेवाली तीसरी और चौथी पक्तियाँ उसी से पुष्ट उत्साह भाव को भी ध्वनित कर रहा है। उद्दीपन विभाव और आलम्बन विभाव के अभाव मे भाव रस-कोटि तक नही पहुँचा है। उत्साह की व्यंजना वाक्य पढते ही हो जाती है। अत' वाक्यगत असंलक्ष्यक्रम ध्वनि सिद्ध होती है।

कनी चाट लेना अच्छा है कनिक माँगने क्यों जाऊँ
तुम प्रियतम भूखे सो जाओ मैं कुछ खाकर सों जाऊँ।[2]

नूरजहाँ की माँ अपने पति गयास बेग को विदेश जाने के लिए उत्साहित कर रही है। गरीबी आ जाने पर अपने सम्बन्धियो के बीच रहने मे उसे बड़ी लज्जा का अनुभव हो रहा है। जिन व्यक्तियो को कभी उसने खैरात बाँटी थी उन्ही से अन्न माँग लाने मे उस जैसी स्वाभिमानी स्त्री को कितनी ग्लानि होती होगी इसका 'कनी चाट लेना अच्छा है' वाक्य से सहज अनुमान लगाया जा सकता है। वैभव के नष्ट हो जाने पर उसे विषाद है माँगने जैसे गर्हित कर्म के लिए वाध्य होने पर ग्लानि है इन दोनों की ही चरम स्थिति दोनो वाक्यों से अलग अलग हो रही है।

---

१. निराला : अनामिका : पृ० १६४
२. गुरुभक्त सिंह 'भक्त : पृ० ५

बीर के गले में पड़ी पुण्डरीक माला-सी
पत्र रचना-सी थी कपोल परबाला के।[1]

खगार रानक दे के सम्मुख प्रणय प्रार्थी के रूप मे उपस्थित हुआ। परस्पर के विचार विनियम के बाद रानक दे खगार को पति रूप मे ग्रहण करना स्वीकार कर लेती है। उसी अवसर पर भाव विभोर होकर रानक दे उसके गले में बाहे डाल देती है पर साथ ही नारी सुलभ लज्जा के कारण उसके कपोल लाज से अरुण हो गये। यह अरुणिमा पत्र-रचना से व्यग्य है। प्रसंग को देखते हुए खगार आलम्बन विभाव एव एकान्त अलिन्द उद्दीपन विभाव है। रानक दे को मालुम है कि खगार प्रेमी-रूप मे आया है। उससे वार्तालाप की स्वीकृति देना इस तथ्य का द्योतक है ही वह उसे अपने हृदय मे स्थान देती है। अतः रति स्थायी भाव है। परस्पर के स्पर्श से उत्पन्न लज्जा भाव से वह विशेष पुष्ट हुआ है। इसलिए लज्जा सचारी भाव है। बाला शब्द से लज्जा का आधिक्य व्यग्य है क्योकि रानक दे मुग्धावस्था मे है। इस प्रकार पूर्ण वाक्य ध्वनि का प्रकाशक होने के कारण से यह वाक्य प्रकाश्य भाव-ध्वनि का उदाहरण सिद्ध होता है।

कब तक चोर अकेले कह दो
हे मेरे जीवन बोलो
किसे सुनाऊँ कथा कहो मत
अपनी निधि न व्यर्थ खोलो।[2]

मनु एकांकी जीवन से बड़े दुखी हैं। वे कितना चाहते है कि कोई उनसे बात करनेवाला होता कुछ उनकी सुनता कुछ अपनी सुनाता। दिन पर दिन बीतते चले जा रहे हैं किन्तु कोई ऐसा लक्षण नही दिखाई पड़ता जिससे यह आशा हो कि भविष्य मे उनकी इच्छा पूरी होगी—यहाँ प्रत्येक वाक्य से उक्त अभावजन्य गहरा विवाद व्यक्त हो रहा है। अन्तिम वाक्य मे वह चरम सीमा पर पहुँच गया है। जब व्यक्ति अत्यधिक निराश या दुखी होता है तो किसी झूठे सहारे को भी सच समझने लगती है। ऐसे समय वह नही चाहता कि उसके भ्रम को दूर करे क्योकि भ्रम ही तो उसे दुःख दे रहा है। कहो मत ' मैं यही विषाद ध्वनित हो रहा है।

४—रचनागत—

रोदन रणन वही उद्यत करें हमे
मृत्यु-भय छोड़ हम शत्रुओं से वैर लें।

---

१. मैथिलीशरण गुप्त : सिद्धराज : पृ० ७०

२. प्रसाद : कामायनी : पृ० ३७

हनुमान से सलक्ष्मण को शक्ति लगने का समाचार पाकर भरत-शत्रुघ्न सहायतार्थ सेना लेकर लंका जाने का निश्चय करते है। रात्रि के समय आपत्ति सूचक उनके शंखों की ध्वनि सुनकर हड़बडा कर जाग उठते है और स्वभाववश उनके हाथ हथियारों पर जा पहुंचते है। उधर स्त्रियाँ उठकर जल्दी जल्दी अपने कपडे ठीक करने लगती है। सम्भ्रम की यही स्थिति उदाहरण की समस्त पदावली से व्यंजित हो रही है।

५—वर्णगत—

चौड़े चौड़े चार वक्ष-से लंका गढ़ के
तोड़े द्वार-कपाट कटक ने बढ़ के चढ़ के।

* * *

दल बादल भिड़ भये धरा धंस चली धमक से
मड़क उठा क्षय कड़क से चमक दमक से।[1]

यह निश्चित है कि अकेले वर्णो को सजाकर रख देने से किसी भी प्रकार के भाव का ग्रहण नही हो सकता। सार्थक शब्दो द्वारा अर्थ ग्रहण के अभाव में भाव नही जाग सकता। इसलिए यह कहना कि वर्णगत ध्वनि शुद्ध रूप से वर्ण प्रकाश्य है ठीक नही। हमारे विचार प्रसंग मे पाठक जिस भाव की अपेक्षा करता है वर्ण उसी की अभिव्यक्ति में विशेष सहायक होते है। चरणो ने वीर और रौद्र रसों के प्रसंगों में इसका खूब प्रयोग किया है। पर सच पूछा जाय तो ऐसे स्थलो पर वर्णो मे केवल व्यंजनो के सौष्ठव पर ही विशेष ध्यान जाता है। आधुनिक युग में भी व्यंजनो की सूक्ष्म प्रकृति पर पर्याप्त ध्यान दिया गया है किन्तु उसके स्थूल रूप के बहुत कम दर्शन होते है। तो भी प्रतीत होता है कि ई० कतिपय भावो के उद्‌बोधन मे उनकी सहायता अनिवार्य हो जाती है। उपर्युक्त पंक्तियो में महाप्राण और श्रुति कटु वर्ण उत्साह भाव जगाने में अन्य तत्त्वों से अधिक सहायक सिद्ध हो रहे है।

६—प्रबन्धगत—

देखी मैंने आज जरा
हो जावेगी क्या ऐसी ही मेरी यशोधरा
हाय मिलेगा मिट्टी में वह वर्ण-सुवर्ण खरा।
सूख जायगा मेरा उपवन जो है आज हरा।
सौ सौ रोग खड़े है सम्मुख पशु ज्यों बाँध परा
धिक् जो मेरे रहते मेरा चेतन जाय चरा।

१—वही : पृ० ४८१

रिक्त मात्र है क्या सब भीतर बाहर भरा-भरा।
कुछ न किया यह सूना भव भी यदि मैंने न तरा।[1]

सिद्धार्थ के मन मे ससार के प्रति विरक्ति जगाने के समय का प्रसंग है। ससार की कोई वस्तु स्थायी नही है नाशवान है क्षणभंगुर है। अतः ससार निर्वेद स्थायी भाव का आलम्बन है। जरा का प्रत्यक्ष दर्शन और यशोधरा के सुन्दर शरीर का भी जरा जीर्ण होने जाने की कल्पना उद्दीपन विभाव है। मानव की असमर्थता से चिन्ता जरा के दर्शन से विषाद यशोधरा के भविष्य से शंका हर वस्तु की भीतरी रिक्तता को पहचान लेने से यति तथा चेतन को हरण होने से बचा लेने के साहस से धृति आदि संचारी भाव है। स्वयं को धिक्कारना तथा कोई उपाय ढूंढ निकालने का निश्चय अनुभाव है। सिद्धार्थ आश्रय है। इन सब अंगों से पुष्ट होकर निर्वेद स्थायी भाव शान्त रस मे परिणत हो गया है। यह रस किसी एक वाक्य अथवा रचना से नही वरन् सम्पूर्ण प्रबन्ध से ध्वनित है। इसी काव्य के 'महाभिनिष्क्रमण' सर्ग मे भी अनेक स्थलों पर शान्त रस व्यग्य है।

ऊपर महाकाव्य के अर्थ मे प्रयुक्त प्रबन्ध-ध्वनि का उदाहरण दिया है। इसके अतिरिक्त सम्पूर्ण प्रबन्ध में भी एक व्यापक रस होता है। जैसे—कामायनी में शान्त रस साकेत यशोधरा आंसू और ग्रन्थि में विप्रलम्भ शृंगार और राम की शक्ति पूजा मे उत्साह भाव व्यग्य है।

क—रस-ध्वनि—

संभोग शृंगार—

हाथ लक्ष्मण ने तुरन्त बढ़ा दिये
और बोले - 'एक परिरम्भण प्रिये'
सिमिट-सी सहसा गई प्रिय की प्रिया
एक तीक्ष्ण अपांग ही उसने दिया।
किन्तु घाते में उसे प्रिय ने किया
आप ही फिर प्राप्य अपना ले लिया।[2]

इन पक्तियो मे यद्यपि लक्ष्मण और उर्मिला दोनों ही परस्पर रति भाव के आलम्बन और आश्रय हैं फिर भी लक्ष्मण की अधिक क्रियाशीलता को देखते हुए यदि उन्हें आश्रय मानें तो उर्मिला का सहसा सिमट जाना कटाक्ष करना उद्दीपन विभाव कहलायेगे। लक्ष्मण का हाथ बढ़ा देना फिर सहसा प्रिया को घाते में ले

---

१. मैथिलीशरण गुप्त : यशोधरा : पृ० १३
२. मैथिलीशरण गुप्त : साकेत : पृ० ४०

लेना अनुभाव होगे। हर्ष संचारी होगा। नायिका स्वकीया होने के नाते प्रेम मे कोई अनौचित्य नही है। इन विभावानुभावों के सहयोग से परस्पर का रतिभाव शृगार रस मे परिणत हो गया है।

विप्रलम्भ शृगार—

उनका यह कुंज-कुटीर वही झड़ता उड़ अंशु अबीर जहाँ
अलि कोकिल कीर शिखी सब है सुन चातक की रट 'पीव कहाँ'
अब भी सब साज समाज वही तब भी सब साथ अनाथ यहाँ
सखि जा पहुँचे सुध-संग कहीं यह अंध सुगन्ध समीर वहाँ।[1]

विरहिणी यशोधरा के मुख से ये पक्तियाँ कहलाई गई है। सिद्धार्थ आलम्बन विभाव है। पति के प्रति प्रेम होने से कोई अनौचित्य नही है। दूसरी पंक्ति में कोयल कीर मोर और चातक का बोलना उद्दीपन विभाव है। करुण स्वर मे इन पक्तियो का कथन ही अनुभाव है। प्रथम पंक्ति से स्मृति और अन्तिम पंक्ति से वितर्क तथा 'अनाथ' पद से दैन्य संचारी ध्वनित है। इस प्रकार सब अंगों से पुष्ट रति भाव विप्रलम्भ शृगार रस मे व्यजित हो रहा है।

करुण रस—

किन्तु मन-मन ही है पत्थर तो हैं नहीं
पत्थर भी पिघल उठेगा यहाँ सुन के
नित्य हत सैनिकों की नारियों का माँओं का
बहनों का बेटियों का बालकों का वृद्धों का
क्रन्दन कठोर मध्य रात्रि जब अपना
सन्नाटा निहार स्वयं सन्न रह जाती है
और हम लोग स्वप्न देखते है निद्रा में
रोदन-रणन नहीं रुकता है तब भी
एक-एक पत्ते पर लौटता है मत्त-सा
पाता नहीं चैन कहीं भू परतों उठ के
सिर है नभ-शिला के ऊपर पटकता
हो उठता अस्थिर है साँ साँ कर शून्य भी
छूटते स्फुलिंग तारे टूटते है चोट से।[2]

सिद्धराज के मालव-युद्ध का प्रसग है। वर्षो के युद्ध मे जिसमें मालव की बड़ी हानि हुई। एक दिन नर वर्मा साधारण रोग से स्वर्ग सिधार जाता है। उसके पश्चात्

---

१. **मैथिलीशरण गुप्त : यशोधरा : पृ० ४४**
२. **: सिद्धराज : पृ० ३९-४०**

एक सभा इस पर चर्चा करने बैठती है। कि क्या सिद्धराज से सधि कर लेनी चाहिये। सधि के पक्ष वालो का उपर्युक्त कथन है। नरवर्मा तथा युद्ध में हत सैनिको की मृत्यु शोक का कारण है। शोक मे आलम्बन सदैव प्रत्यक्ष नही होता। सामान्यत. शव शोक का आलम्बन बनता है किन्तु सब प्रसगो मे शव की स्थिति आवश्यक नही होती। ऐसे स्थलों पर मृत व्यक्ति की स्मृति ही आलम्बन का कार्य करती है। प्रस्तुत उदाहरण इसी प्रकार का है। बच्चो स्त्रियो और वृद्धो का रात दिन रोदन उद्दीपन विभाव है। युद्ध क्षेत्र के दर्शन से मृत व्यक्तियो की स्मृति संचारी है। अनुभावों का वर्णन नही है यद्यपि रंगमच पर उच्छ्वसित वाणी द्वारा इसका भी प्रदर्शन हो सकता है तथापि विलाप की करुणोत्पादक व्यापक गूज के वर्णन से ही रस परिपाक हो गया है। कुछ रस इतने सक्रामक होते है कि उसकी किंचित् अभिव्यक्ति भी सामाजिक के हृदय को पूर्णतया अभिभूत कर लेती है। करुण रस उन्ही मे से है। मूल प्रश्न यह नही है कि रस के सभी अंगो का वर्णन हुआ है या नही वरन् यह कि क्या सामाजिक के मन में रसोद्रेक हुआ है। सैद्धान्तिक पक्ष मे हम दिखला आए है कि केवल आलम्बन या अनुभावो के वर्णन से भी रस निष्पत्ति सम्भव है। उपर्युक्त उदाहरण सिद्धान्त—निरपेक्ष रस-ध्वनि का स्थल है।

'माँ कहाँ गए वे पूज्य पिता'
करके पुकार यों शोक-सिता
उर्मिला सभी सुध-बुध त्यागे
जा गिरी कैकयी के आगे
*** * ***
कैकयी का मुंह भी न खुला
पाषाण शरीर हिला न डुला
बस फट सी गई बड़ी आँखें
मानों थीं नई जड़ी आँखें।[1]

करुण रस का यह दूसरा प्रसंग है। दशरथ की मृत्यु हो गई है अत. शोक स्थायी भाव है। इस दुखद समाचार का आघात न सह सकने के कारण उर्मिला मूर्छित होकर गिर पडती है। वियोग शोक भय आदि के आधिक्य से मिरगी के राग जैसे लक्षण प्रकट होना 'अपस्मार' है। यहाँ वह सचारी का कार्य कर रहा है।

उद्धरण के उत्तरार्ध मे शोकाधिक्य की एक दूसरी प्रतिक्रिया 'जड़ता' का वर्णन है। कैकयी ने इसकी कल्पना भी नही की थी कि राम के वियोग में दशरथ की मृत्यु भी हो सकती है। आज उसे अपने कुकृत्य के भयंकर परिणाम का पता लगा।

---

१. मैथिलीशरण गुप्त : साकेत : पृ० १७९

इस अनर्थ का मूल वही है। शरीर की निश्चलता और आँखों की खुली रह जाने का कारण स्मरण और निर्णय शक्ति का लुप्त हो जाना जो जडता के लक्षण हैं। 'अपस्मार' और जड़ता संचारियो से पुष्ट मूर्च्छा तथा निश्चलता अनुभावो से व्यक्त शोक भाव करुण रस की कोटि तक पहुँच गया है।

वात्सल्य रस—

'माँ'—फिर एक किलक दूरागत गुंज उठी उस कुटिया सूनी
माँ उठ दौड़ी भरे हृदय में लेकर उत्कण्ठा दूनी
लुटरी खुली अलक रज धूसर बाहे आकर लिपट गईं
निशा तापसी के जलने को धधक उठी बुझती धूनी।[1]

बालक मानव वात्सल्य भाव का आलम्बन और श्रद्धा आश्रय है। 'माँ' की पुकार उद्दीपन है। माँ का दौड पडना अनुभाव है। तीसरी पंक्ति बालक के बिखरे बालों का दर्शन और धूल भरी बाहो का लिपट जाना फिर उद्दीपन विभाव है। श्रद्धा का उसे गोदी में भर लेना आरोपित अनुभाव है। अन्तिम पक्ति श्रद्धा के वात्सल्य प्रेम की तडप का वर्णन करती है। इस प्रकार सचारियो के अभाव मे भी वात्सल्य रस की व्यंजना हो जाती है।

ख—रसाभास—

दण्ड आ हो दण्ड कैसा दण्ड पर कहाँ उद्दण्ड ऐसा दण्ड।
घोर नरकानल चिरन्तन चण्ड किन्तु वह तो है यहाँ हिम-खण्ड।
चण्डि सुनकर ही जिसे सातंक चुभ उठें सौ बिच्छुओं के डंक।
दण्ड क्या उस दुष्टता का स्वरूप है तुषानल तो कमल-दल-तल्प।
जो द्विरसेन हम सभी को मार कठिन तेरा उचित-न्याय-विचार।[2]

केकयी की दुर्भावना से पिता की मृत्यु हुई और अग्रज को वनबास मिला। अतः वह भरत के क्रोध का आलम्बन है। केकयी का वात्सल्य प्रदर्शन जिसमें उन्हे कृत्रिमता की गन्ध मिल रही है उद्दीपन विभाव है। उनके द्वारा अपनी माँ के लिए अपशब्दों का प्रयोग अनुभाव है। भरत जैसा शात व्यक्ति आदरास्पद के प्रति अपशब्द का प्रयोग करे इससे क्रोध की भीषणता का सहज ही अनुमान किया जा सकता है। उग्रता संचारी है। इस प्रकार रस की पूरी सामग्री उपस्थित है किन्तु काव्य शास्त्रियो के मत से यह उदाहरण रसाभास के अन्तर्गत आएगा क्योकि क्रोध भाव आलम्बन आश्रय का पूज्य और स्त्री है। गुरुजन के प्रति क्रोध का प्रदर्शन भारतीय मर्यादा के अनुसार अनुचित है।

---

१. प्रसाद: कामायनी : पृ० १७९
२. मैथिलीशरण गुप्त : साकेत : पृ० १९६

हमारे विचार से भरत का क्रोध करना पूर्ण उचित है। यदि ऐसा न होता तो भरत की पितृ-भक्ति और राम के प्रति अनुराग की थाह कहाँ मिलती। भरत माता के प्रति आदर भाव से यदि चुप रह जाँय तो जनता की यह धारणा पुष्ट हो जाती है कि अवश्य ही भरत की इस घटना से पूर्ण सहमति है। अतः हमारी सम्मति से ये पक्तियाँ शुद्ध रसध्वनि का उदाहरण है। रसाभास का उचित प्रसग उस समय उपस्थित होता है जब केकयी बिना तथ्य का पता लगाए मंथरा के वचनों को ही सत्य मानकर परम्परा विरुद्ध बात के लिए क्रोध एवं हठ करती है।[1] इसके अतिरिक्त वह क्रोध केवल इसलिए था कि राजा का ध्यान उसकी ओर आकर्षित हो और एक ऐसी परिस्थिति पैदा हो जाय कि राजा उसकी बात न टाल सकें। वस्तुतः कैकयी का क्रोध त्रियाचरित्र के अन्तर्गत आएगा शुद्ध क्रोध के अन्तर्गत नहीं इसीलिए उद्दीपन विभाव अनुभावो के विशद् वर्णन और संचारियो के रहते हुए भी रसभंग हो गया है।

रसाभास का एक और उदाहरण—

> **सुन्दर**
> **मै मुग्ध हो गई हूँ देख**
> **अनुपम तुम्हारा रूप।**
> **जैसे मै सुन्दरी हूँ**
> **योग्य ही हो मेरे तुम।**
> **मचल रहा मानस मम**
> **इच्छा यह पूर्ण करो—**
> **कामिनी की कामना**
> **अपूर्ण नहीं रखते पुरुष।**[2]

यह उक्ति शूर्पणखा की राम के प्रति है। राम उसके रति भाव के आलम्बन है। राम की पत्नी सीता जी भी निकट बैठी हैं। शूर्पणखा इस तथ्य से परिचित भले न हो तो भी राम के विवाहित होने की अधिक सम्भावना मानी जा सकती है। विवाहित पुरुष के प्रति प्रेम प्रदर्शन अनुचित है। सुन्दर व्यक्ति को देखकर एकाएक उस पर आसक्त हो जाना प्रेम के स्थान पर वासना ही अधिक प्रदर्शित करता है। सीता और लक्ष्मण के सामने ही प्रणय प्रस्ताव रखना उसकी निर्लज्जता दर्शाता है। सभी बाते लोक और वेद के विरुद्ध होने से यह रसाभास का स्थल है।

---

१. **मैथिलीशरण गुप्त : साकेत : पृ० ३५**
२. **निराला : परिमल : पृ० २५६**

रसाभास का इससे भी अधिक सफल स्थल नूरजहाँ काव्य मे आए है। तीसरे सर्ग मे[1] अनारकली नृत्य और सौन्दर्य देखकर एकाएक सलीम का इतना पागल हो जाना कि वह उसे अपनी बाहो मे भरकर चुम्बनो की झड़ी लगा दे बडा अशोभनीय और अप्राकृतिक लगता है। इसी प्रकार छठे सर्ग मे मेहर के साथ सलीम का व्यवहार अप्राकृतिक है।[2] शास्त्र के जो विरुद्ध है केवल वही अनुचित नही है जो अप्राकृतिक है वह भी अनुचित है। सलीम शाहजादा है कोई सन्देह नही और उसका प्रेम पाकर कोई भी स्वय को भाग्यशालिनी समझेगी फिर भी नारी अपनी मर्यादा को एकाएक नही तोड़ पाती। उसके लिए उचित अवसर और स्थिति का निर्माण करना कवि प्रतिभा का कार्य है।

ग—भाव-ध्वनि—

भय उद्‌बुद्धमात्र स्थायी भाव—

जहाँ लाल साड़ी थी तनु में
बना चर्म का चीर वहाँ
हुए अस्थियों के आभूषण
थे मणि-मुक्ता हीर जहाँ।
कंधों पर के बड़े बाल वे
बने अहो आँतों के जाल
फूलों की वह वरामला भी
हुई मुण्डमाला सुविशाल।[3]

राम लक्ष्मण से कोरा उत्तर पाकर शूर्पणखा अपना भयंकर रूप दिखलाती है। आँते अस्थियाँ और मुण्डमाला को देखकर भयभीत हो जाना स्वाभाविक है किंतु भयानक रस मे इसकी पुष्टि मे दो व्यवधान है। (१) राम लक्ष्मण का साहस। वह साहस जिसने ताडका जैसी राक्षसी का वध किया था और (२) सौन्दर्य की भयकरता मे परिणति अपने सम्मुख देखने के कारण से उसकी वास्तविकता मे अविश्वास। इस कारण भय भाव केवल जागकर रह जाता है।

हर्ष—

उस मूर्छित नीरवता में हलके से स्पन्दन आए
आँखें खुलीं चार कानों में चार विन्दु आकर छाये।[4]

---

१. **गुरुभक्त सिंह 'भक्त' : नूरजहाँ : पृ० २५**
२. **वही : पृ० ५०**
३. **मैथिलीशरणगुप्त : पंचवटी : पृ० ६१**
४. **प्रसाद : कामायनी : पृ० २१५**

सघर्ष के पश्चात् मनु मूर्च्छित पडे है, श्रद्धा उन्हे ढूँढते-ढूँढते जाती है। उसके शीतल स्पर्श से मनु मे कुछ चेतना लगती है। वे आँखे खोलकर श्रद्धा को देखते है। शुत्रुओ की नगरी मे अपनी प्रेयसी को पुनश्च पाकर उन्हे कितनी प्रसन्नता हुई होगी। उधर श्रद्धा को भी यह जानकर कि मनु अभी जीवित है कितना हर्ष हुआ होगा किन्तु यहाँ कवि ने उसकी सूचना मात्र दी है। 'चार कोनो मे चार विन्दु' कहकर हर्ष को जगाया भर है। ऐसी स्थिति मे अविरल अश्रु धार की कल्पना सम्भवतः वह नही कर सकता है। श्रद्धा या मनु के मुख से केवल एक शब्द हर्ष को रस कोटि तक पहुंचा सकता था। गुरुभक्त सिंह ने इस स्थिति को अधिक कौशल से निभाया है। जंगल मे अचानक मिल जाने पर अनारकली और सलीम की रोते-रोते हिचकी बँध जाती है। सलीम एक ओर तो अनारकली को चुप हो जाने का निवेदन करता है किन्तु स्वय आँसुओ की बाढ को नही रोक पाता।[१] इससे अधिक हर्ष विह्वलता का वर्णन और क्या हो सकता है।'

प्रधानतया व्यजित संचारी भाव

ग्लानि—

> **हाय रे हृदय तूने**
> **कौड़ी के मोल बेचा जीवन का मणि-कोष**
> **और आकाश को पकड़ने की आशा में**
> **हाथ ऊँचा किये सिर दे दिया अतल में।**[२]

प्रबन्ध की नायिका कमला जीवन के मोहवश कर्तव्य का पालन न कर सकी। आई तो थी सुल्तान से बदला लेने पर सुल्तान को अपने रूप पर अनुरक्त देख उसके विचार बदल गये। सोचा आतमघात करने से क्या लाभ जीवन इस तरह गँवा देने के लिये थोडे ही है। क्यो न बादशाह की प्रेयसी बनकर उन सुखों का उपभोग करूँ जो अब तक अप्राप्य थे। एक दिन सहसा परिस्थित का वास्तविक ज्ञान होने पर उसे भान होता है कि उसने भूल की। शरीर का क्या भरोसा। तुच्छ शरीर के सुख के लिए जीवन की पवित्रता आदर्श रूपी मणि को खो दिया। अब भविष्य मे क्या होगा इसी की शका सता रही है। अनुचित कार्य करने से लज्जा भी है और तज्जन्य खिन्नता भी अत. व्रीड़ा से पुष्ट ग्लानि प्रधान होने के कारण से भाव-ध्वनि है।

व्याधि—

> **इसी क्षण भूप ने कुछ शक्ति पाई**
> **पिता ने पुत्र की दृढ़ भक्ति पाई**

---

१. नूरजहाँ : पृ० ४१

२. प्रसाद : प्रलय की छाया : लहर—पृ० ७४

बढ़ाकर बाहु तब वे छटपटाये[1]
उठे पर पैर उनके लटपटाये ।

राग और वियोग आदि से उत्पन्न मनस्ताप व्याधि है जिसके अनुभाव है अगो की शिथिलता और श्वॉस मे वृद्धि केकयी के वर माँगने से राम वन-गमन निश्चित था। पुत्र वियोग की आशका मनस्ताप का कारण है। बाहुओ का छटपटाना और पॉवो का लटपटाना वे अनुभाव है जिनसे भाव्य व्यक्त हुआ है। अतः इन पक्तियो मे व्याधि भाव व्यग्य है।

दैन्य—

उत्तर मे 'नहीं' सुने न कहीं
इसलिए राम 'राम लौटे कि नहीं
यह पूछ न सके सचिव—वर से
पुरवासी मौन रहे डर से ।[2]

अनेक प्रयास करने पर भी अभीष्ट की सिद्धि न होना विषाद का कारण है। पुरवासियो ने राम को वन-गमन से रोकने के लिए अनेक प्रयास किये किन्तु सब व्यर्थ गये। इस विषाद से उत्पन्न अपने भाग खोटे होने के कारण मे दीनता है। यह जानते हुए भी कि मत्री के अकेले लौटने का अर्थ है राम नही लौटे वे 'नही' नही सुनना चाहते। क्योकि कौन जाने 'नही' सुनते ही उनकी क्या दशा हो जाय। जैसे किसी स्त्री को पुत्र की बहुत इच्छा हो और उसके कोई सन्तान न हो तो वृद्धावस्था मे वह कल्पना करने लगती है कि उसके एक बड़ा नटखट लडका है। अपनी पडोसिनो से वह उसकी चर्चा भी करती है। उस समय यदि कोई कह दे कि तुम्हारे कोई सन्तान नही है तो उसकी क्या दशा होगी नही कहा जा सकता। ठीक यही दशा पुरवासियों की है। वे नही चाहते कि उनकी मिथ्या कल्पना यथार्थ की चमक से अन्धी हो जाय। सम्पूर्ण उद्धरण उनके अत्यधिक दैन्य की व्यजना कर रहा है।

साकेत मे केकयी के प्रसग मे ग्लानि और दैन्य तथा उर्मिला के प्रसंग मे मोह व्याधि आदि भावो की सुन्दर व्यजना हुई है। कुछ आलोचको ने यहाँ तक निर्णय दे दिया है कि साकेत के नवम् सर्ग मे सभी सचारियो की अभिव्यक्ति हुई है किन्तु जितना सफल 'उन्माद' का चित्र रहा है शायद अन्य किसी का नही।[3] पहले उर्मिला को यह भान होता है कि लक्ष्मण लौट आए है। वह उन्हे धिक्कारती है लक्ष्मण अपनी सफाई देते है। यह चरम उन्माद की पूर्वावस्था है। उत्तरावस्था मे उर्मिला स्वय को ही

---

३. मैथिलीशरण गुप्त · साकेत : पृ० ७२

१. वही : पृ० १७३।

२. पृ० वही : पृ ३३२-३३८ तक।

लक्ष्मण समझ लेती हैं। उसकी स्थिति विरहिणी राधा की उसी अवस्था सी है जिसमे वह स्वय को कृष्ण समझ कर राधा राधा की रट लगाये है। अनारकली का उन्माद भी इसी भाति वर्णित है।[1]

घ—भावाभास—

सोचती थी—
पद्मिनी जली थी स्वयं किन्तु जलाऊँगी
वह दावानल ज्वाला
जिसमें सुलतान जले।
देखें तो प्रचण्ड रूप-ज्वाला-सी धधकती
मुझको सजीव वह अपने विरुद्ध।[2]

'प्रलय की छाया' की नायिका पद्मिनी के जौहर करने का समाचार पाकर अलाउद्दीन से बदला लेने का निश्चय करती है। पद्मिनी से उसका कोई सम्बन्ध नही है इसलिए उसका क्रोध उद्बुद्ध मात्र स्थायी भाव है। किन्तु किसी से बदला लेना है? किस साधन से लेना है? इन दो बातो मे भावाभिव्यजना मे अवरोध उत्पन्न कर दिया है। एक चंचल चित्त नारी सुलतान से बदला लेने की बात करती है वह भी रूप ज्वाला से। सुल्तान आलम्बन विभाव है नायिका की उक्तियाँ अनुभाव है किन्तु रूप-दर्प अनुचित साधन होने से भाव व्यजना मे बाधा पहुँचती है। अतः यह भावाभास का स्थल है। इसी प्रकार का प्रसंग पंचवटी मे आया है।[3]

भाव के अत्यन्त क्षीणकारण वाले स्थलो के अतिरिक्त भाव के अनुचित कारणो वाले विषय के अन्तर्गत लिये जाते है। कामायनी मे श्रद्धा गर्भवती होने पर पहले की भाँति मनु का स्वागत करने मे असमर्थ है। भावी सन्तान के लिए वह कपड़ा बुनती है छाजन बनाती है और बड़े हर्ष से मनु को इसकी सूचना देती है। आखिर वह मनु के पुत्र की माता होनेवाली थी। भावी सन्तान के प्रति श्रद्धा का यह स्नेह देखकर मनु ईर्ष्याजन्य क्रोध में भरकर अन्यत्र चले जाते है।[4] भावी सन्तान से ईर्ष्या और उसी कारण श्रद्धा पर क्रोध अनुचित है। इसीलिए क्रोध का आभास मात्र होकर रह जाता है।

---

१. गुरुभक्त सिंह 'भक्त' : नूरजहाँ : पृ० ३१।
२. प्रसाद : लहर : पृ० ६४
३. निराला : परिमल : पृ० २५६
४. प्रसाद : कामायनी : पृ० १५४

ङ—भावशान्ति—

'अच्छा यदि आप कर देना नहीं चाहते
तो हमारे दान को ही अंगीकार कीजिये।'
'धोखा।' चौंक चिल्ला पड़ा राजा उठ रोष से।
महता परन्तु हँसता ही रहा, बोला यों—
'मै क्या करूँ भाग्य ही है ऐसा कुछ आपका
कन्यादान लेना ही पड़ेगा सिद्धराज से।'
डूब बचा अणोराज मानो सुधा-सिंधु से।[1]

महता की बात सुनकर अणोराज कुछ हो जाता है किन्तु दान की व्याख्या सुनते ही हर्ष द्वारा क्रोध की शाति हो जाती है। हर्ष का सकेत सुधा-सिधु मे मिल जाता है।

यद्यपि भावोदय मे भी पहले से चले आते हुए भाव का शमन होता है किन्तु उस शमन से अधिक नए भाव के उदय पर ध्यान रहता है जब की भाव शान्ति मे पहले से चले आते हुए भाव पर ही अधिक ध्यान रहता है। उत्सुकता इस बात की नही होती कि नया भाव कैसे उदित हुआ बल्कि इस बात की कि पहला भाव कैसे शान्त हुआ। भावोदय में आगे की कथा का सम्बन्ध उदित हुए भाव से होता है। भावशान्ति मे प्रसग लगभग वही समाप्त हो जाता है।

वही करूँगा जो कहती हो
सत्य अकेला सुख क्या।
यह मनुहार रुकेगा प्याला
पीने से फिर सुख क्या।[2]

अपने पालित पशु की बलि होने से श्रद्धा मनु से मान किये बैठी है। मनु सोम पात्र लिए उसके पास पहुँचते है और उसे पी लेने की मनुहार करते हैं। मनुहार के साथ ही श्रद्धा मे प्रेम उमड पड़ता है और मान की शान्ति हो जाती है।

च—भावोदय—

माँ माँ पिता प्राप्त हुए देख तू ये दादाजी—
दादा जी—समेत हर्ष-विह्वल से आ रहे।
अब तो न रोयेगी तू अब भी तू रोती है।[3]

---

१. मैथिलीशरण गुप्त : सिद्धराज : पृ० १०७
२. प्रसाद : कामायनी : पृ० १३४
३. मैथिलीशरण गुप्त : यशोधरा : पृ० १२३

भावोदय मे भावशान्ति के विपरीत उदित हुए भाव मे चमत्कार होता है। बालक राहुल को यह सुनकर बडा हर्ष होता है कि पिता का पता लग गया है और अब वह उनके दर्शन कर सकेगा। इससे भी अधिक प्रसन्नता इस बात की है कि अब मा का दु:ख भी समाप्ति पर है। हर्ष से विह्वल हो वह यशोधरा का समाचार देने आता है किन्तु आह्लादकारी समाचार सुनने पर भी माँ हँसने के बजाय रो रही है यह देखकर उसका हर्ष विषा मे परिणत हो जाता है। यहाँ विषाद के उदय मे काव्य चमत्कार है जिसके अभाव मे प्रसग की मार्मिकता नष्ट हो जाती।

यशोधरा मे ही भावोदय का एक दूसरा स्थल है।[1] राहुल यह कल्पना करता है कि उसके पख होते तो वह पिता को अवश्य ढूँढ लाता। एकाएक पहुंचकर कैसे वह पिता को आश्चर्य मे डाल देता और कैसे उनको लाकर अपने सब परिजनो के दु:ख को हरता—इसी काल्पनिक आनन्द मे वह मग्न है कि अचानक उसे ध्यान आता हे कि बिना पखो के उसकी योजना सफल कैसे होगी। पख न होने से मनुष्य पक्षियो से भी गये बीते है। यथार्थ की भूमि पर उतरते ही प्रसन्नता को दबाकर विषाद का उदय होता है जो अधिक चमत्कारी है।

'राम की शक्ति पूजा' मे निराला ने दिखलाया है कि राम बड़े उत्साह से राक्षसो से लड रहे है। तभी शक्ति पुज रावण सामने आ जाता है। उनका उत्साह और बढता है किन्तु सभी मत्र पूत बाणो का उसके शरीर मे लीन होते देखकर वे आश्चर्य चकित रह जाते है। इसी आश्चर्य के पश्चात् यह विचार आता है कि रावण को मारना असम्भव है। फलत सीता की मुक्ति भी असम्भव है।[2] उत्साह आश्चर्य का कारण बना और आश्चर्य ने दीनता को जन्म दिया। यहाँ काव्य का सौन्दर्य दैन्य के उदय मे है आश्चर्य की शान्ति मे नही।

भाव-सन्धि—

> **छूते थे मनु और कंटकित**
> **होती थी वह बेली**
> **स्वस्थ व्यथा की लहरों-सी**
> **जो अंग-लता थी फैली।[3]**

समान चमत्कारी भावो का एक साथ आना भावसन्धि है। यहाँ श्रद्धा मनु से मान किये लेटी तो है फिर भी उसका हृदय स्नेह-शून्य नही हो गया है। मनु के स्पर्श

---

१. वही : पृ० ५६
२. निराला : अनामिका : पृ० १५२
३. प्रसाद : कामायनी : पृ० १२६

से वह रोमाञ्चित हो उठती है। न बोलती है। यह उसके मान को व्यक्त करता है। मान और स्नेह दोनो के समान रूप से चमत्कारी होने के कारण यह भाव-सन्धि का विषय है।

गृह-योग बने है बन स्पृही
वन योग्य हाय हम बने गृही।[1]

राम को छोडकर सुमन्त्र लौटे है। वे बतला रहे है कि विदा होते समय किस किस ने क्या क्या कहा। सीता की चर्चा आते ही दशरथ की पीड बढ़ जाती है। प्रथम पक्ति से उनका विषाद व्यग्य है। वे व्यक्ति जिन्होने युवावस्था मे पदार्पण किया ही है वन को चले जाँय बिषाद का स्वाभाविक कारण है और यदि वे पुत्र एव पुत्र वधू ही तो विषाद की सीमा कहाँ रहेगी। पर इसी के साथ दशरथ को इस बात की ग्लानि भी है कि वे स्वय जिनका गृहस्थाश्रम छोडने का समय हो गया है परिस्थितिवश गृहस्थी बने हुए है। उन्हे सन्तानो के वियुक्त होने का दु:ख अधिक है या अपनी आडम्बरपूर्ण असहाय स्थिति पर खिन्नता नही कहा जा सकता। सम्भवत: दोनों ही अन्योन्याश्रित है।

सिद्धराज में भाव-सन्धि का एक बड़ा सुन्दर स्थल आया है। कांचनदे का अणोराज के प्रत्यक्ष दर्शन से पूर्वराग हो गया है। दूसरे दिन वह अणोराज किसी बहाने मिलना चाहती है किन्तु सकोचवश जिसमे उसी का मन वाधक है जा नही पाती। इसीलिए जब सखी जाने के लिए कहती है तो मना कर देती है और जब वह न जाने का समर्थन करती है तो जाने का प्रदर्शन करने पर भी बैठी रह जाती है।

"किन्तु यदि जाऊँ मैं कौन रोक लेगा मुझको ?
जाती हूँ अभी मैं। "किन्तु कांचनदे बैठी थी।[2]

यहाँ लज्जा और उत्सुकता का बडा सुन्दर सम्मिश्रण हुआ है।

ज—भाव शबललता—

ये श्वापद से हिंसक अधीर
कोमल शावक वह बाल वीर
सुनता था वह वाणी शीतल
कितना दुलार कितना निर्मल
कैसा कठोर है तव हृत्तल।
वह इड़ा कर गई फिर भी छल।

---

१. साकेत : पृ० १७७
२. साकेत : पृ० १०७ से १०८

तुम बनी रही हो अभी धीर
छुट गया हाथ से आह तीर ।[1]

दो से अधिक चमत्कारी भावो का एक के बाद एक उदित होना भाव शबलता है । यह उक्ति मनु की श्रद्धा के प्रति है । पहली पक्ति मे घृणा दूसरी मे पुत्र पर गर्व और उसके अनिष्ट से शका तीसरी-चौथी पक्ति मे वात्सल्य पाँचवी पक्ति मे आश्चर्य और अन्तिम मे दैन्य मिश्रित विषाद व्यग्य है । एक और उदाहरण साकेत से ले :—

'बेटा, बेटा, नहीं समझती हूँ यह सब मै,
बहुत सह चुकी, और नहीं सह सकती अब मै ।
हाय! गए सो गए, रह गये सो रह जावें,
जाने दूँगी तुम्हें न, वे जावें जब आवे ।
तुष्ट तुम्ही में उन्हें देखकर रही, रहूँगी,
तुन्हें छोड़कर निराधार मै कहां रहूँगी ?
देखूँ तुझको कौन छीनने मुझसे आता ?'
पकड़ पुत्र को लिपट गई कौशल्या माता ।[2]

हनुमान के मुख से लक्ष्मण की मूर्च्छा का समाचार सुनकर भरत ने सेना सहित लका के लिए प्रस्थान करने का निश्चय किया । उन्हे रोकते हुए कौशल्या माता की यह उक्ति है । पुत्र और पुत्रबधू के बनगमन और पति की मृत्यु ने उन्हे इतना शकालु बना दिया है कि वे भरत को आँखो से ओझल नही होने देना चाहती । आवेग अत्यधिक अनर्थो के कारण उत्पन्न होने वाली चित्तवृत्ति है । पहली दो पक्तियों मे वही व्यजित है । 'हाय गए सो गए' विषाद, 'जाने दूँगी तुम्हे न' से शका, 'तुष्ट तुम्ही मे उन्हे देखकर रही रहूँगी' मे दैन्य, 'देखू तुझको कौन छीनने मुझसे आता' मे प्रिय वस्तु की हर प्रकार से रक्षा के निमित्त 'ओज' एव 'उत्कण्ठा' और अन्तिम पक्ति मे वात्सत्य भाव की व्यंजना है । अनेक भावो के सम्मिश्रण से यह भावशबलता का उदाहरण सिद्ध होता है ।

इसी प्रकार नवम सर्ग मे उर्मिला को चित्र रचना की चाह वाले प्रसग[3] मे भी वितर्क, उत्कण्ठा, विषाद एवं हर्ष भावो का सुन्दर सगम हुआ है । सैद्धान्तिक पक्ष मे हम रस से वस्तु ध्वनि पर विचार कर आए है । इसको अलग से एक प्रकार मानने की आवश्यकता नही है क्योकि प्रथम चरण मे रस असलक्ष्यक्रम ही होता है । कुछ स्थलों पर भाव मग्नता ही एक मात्र उद्देश्य होता है किन्तु कही कही उसकी परिणति

१. प्रसाद : कामायनी : पृ० २४८
२. साकेत : पृ० ४४७-४४८
३. वही : पृ० २७६

विचार मग्नता मे होती है । जैसे-उर्मिला या यशोधरा का विरह वर्णन केवल रस मग्न करने के लिए है किन्तु सघर्ष के पश्चात मनु की मूर्छितावस्था का कारुणिक वातावरण इस ओर भी सकेत करता है कि अन्याय का एक न एक दिन प्रतिकार अवश्य होता है । दशरथ की मृत्यु पर उत्पन्न शोक भाव नारी के अत्यधिक आसक्ति या बहु विवाह प्रथा के दुष्परिणामो पर विचार करने को बाध्य करता है । सम्पूर्ण प्रबन्ध में भी कभी कभी रस के अतिरिक्त विचार की व्यंजना होती है । कायामनी के शान्त रस के बाद यह धारणा भी दृढ होती है कि इस शान्ति को प्रदान करने वाली नारी ही है । उससे अलग होकर पुरुष की कोई गति नही है । यशोधरा का विरह हमे कोई ऐसा सिद्धान्त नही देता । वहाँ नारी सम्बन्धी इसी परम्परा का पोषण होता है कि वह सदैव आँचल मे दूध और आँखो मे पानी लेकर गौरवान्वित हुई है । सारांश यह कि विचार-युक्त रस-ध्वनि के काव्यो को उनसे अलग करके देखना पड़ेगा । जिनमे रस-व्यंजना केवल आनन्द प्रदान करने की दृष्टि से हुई है । रीतिकालीन नारी भावना और छायावाद कालीन नारी-भावना मे यही सबसे बडा अन्तर है ।

असलक्ष्यक्रम के अन्तर्गत वस्तु-ध्वनि भी आती है । इसमे विशेषत. पदार्थ रूप वस्तु की ध्वनि होती है । उदाहरणार्थ साकेत मे 'सखि निरख नदी की धारा'[1] वाला गीत । इसमें 'ढलमल ढलमल चचल आँचल झलमल झलमल तारा' पढ़ते ही पानी का स्वरूप सामने आ जाता है ।

प्रबन्ध-काव्य

सलक्ष्यक्रम शब्द-शक्तिमूला-ध्वनि पदगत वस्तु से वस्तु—

> **'उर्मिला बोली अजी तुम जग गए ।**
> **स्वप्न-निधि से नयन कबसे लग गए ।'**
> **'मोहिनी ने मंत्र पढ़ जब से छुआ**
> **जागरण रुचिकर तुम्हे जब से हुआ ।'[2]**

उपर्युक्त पंक्तियों का सौन्दर्य भारतीय समाज के पातिव्रत और पत्नीव्रत धर्म के प्रकाश मे ही देखा जा सकता है । उर्दू शायरो ने पर्दे मे छिपे जल्वे पर न जाने कितने शेर कहे है । रीतिकाल मे भी घूंघट से ढंके सौन्दर्य पर असख्य उक्तियाँ मिलती है जो आज व्यर्थ सिद्ध होती है ।

लक्ष्मण एक पत्नीव्रत है । स्वप्न मे भी किसी दूसरी स्त्री का ध्यान करना उनके लिए पाप है । 'नयन लग जाना' मुहावरा प्रेम हो जाने का अर्थ देता है । उर्मिला

---

१. **साकेत : पृ० ३०२**
२. **मैथिलीशरण गुप्त : साकेत : पृ० २९**

'निधि' शब्द की स्त्रीलिंग के आश्रय मे ठिठोली करनी है कि तुम्हारा उससे कब से प्रेम हो गया। बडे पत्नीव्रत वाले बनते हो और रात भर मुझे भूलकर स्वप्नो मे खोये रहते हो। कहाँ तो यह दम्भ कि मुझे क्षण भर भी न भूलने की घोषणा और कहाँ ये लक्ष्मण कि रात भर स्वप्ननिधि से मन बहलाते रहे। मतलब यह कि अब तुम सच्चे प्रेमी का डका पीटना छोड दो। यहाँ 'निधि' के स्थान पर यदि दूसरा पुलिग शब्द रख दिय जाय तो यह चमत्कार नही आ सकता।

लक्ष्मण ठिठोली का उत्तर ठिठोली से देते है। उन्होने पुरुषवाचक जागरण पद की सहायता ली। व्यग्य है—क्या करे जब तुम्हें मेरी अपेक्षा जागरण अधिक प्रिय हो गया तो मुझे भी कही और मन लगाना पडा। अपराध का दोष मुझ पर इसलिए भी नही है क्योकि तुम्हीं ने अपने जादू से हम दोनो का मेल कराया है। यहाँ भी 'जागरण' के स्थान पर 'जागृति' आदि स्त्रीवाचक पद के प्रयोग से उक्ति का सौन्दर्य नष्ट हो जायगा।

पदगत वस्तु से अलंकार-ध्वनि—

चाहे फटा-फटा हो मेरा अम्बर अशून्य है आली
आकर किसी अनिल ने भला यहाँ धूलि तो डाली।[1]

उर्मिला अपने कपडो की आकाश से तुलना करती है। प्रतीत होता है कि वे फटे पर भी इतने व्यर्थ नही है जितना आकाश। आकाश शून्य है पर मेरे कपडो पर पवन ने धूल तो डाली है। अर्थात् उसने मेरे कपड़ों को किसी योग्य तो समझा। आकाश को तो उतना महत्त्व भी नही मिला। यहाँ अम्बर वस्त्र मे अम्बर आकाश की अपेक्षा उत्कृष्ट दर्शाने के कारण से व्यतिरेक अलकार व्यग्य है। जो अम्बर के द्वयर्थक तथा अशून्य के विशेष अर्थयुक्त होने से सम्भव हुआ है। इन शब्दों के पर्यायवाची रख देने से उक्त अर्थ की प्राप्ति नही हो सकती।

इसका दूसरा अर्थ यह भी हो सकता है कि मेरे प्रिय को स्पर्श कर आनेवाले पवन ने जो धूलि मेरे कपडों पर डाली है वह उनके सन्देश के समान है। स्वच्छ वस्त्र इससे रहित होने के कारण मुझे नही चाहिये।

संलक्ष्यक्रम अर्थ-शक्तिमूला ध्वनि स्वतः सम्भवी

पदगत वस्तु से वस्तु-ध्वनि—

सिहरे प्रभु माँ को देख हुई जड़ रसना।[2]

---

१. मैथिलीशरण गुप्त : साकेत : पृ० २०२

२. मैथिलीशरण गुप्त : साकेत : पृ० २४१

इसके पूर्व की पक्तियो मे कवि ने केकयी के पाश्चात्ताप से गलित विधवा वेश का आलंकारिक वर्णन किया है। राम शक्ति शील और सौन्दर्य के पूर्ण प्रतीक है। शील का एक अग हृदय की कोमलता भी है। किसी भी विधवा को देखकर थोड़ा बहुत दु:ख होता ही है। माँ के दु ख को देखकर राम के हृदय मे हलचल न मचती तो उनकी सवेदनशीलता का पता कहाँ लगता। किन्तु विशेष बात यह है कि यह माँ केकयी है जिसके कारण उन्हे पत्नी सहित बन-बन भटकना पड रहा है। चौदह वर्ष के लिए बनवास दे देनेवाली सौतेली माँ को भी जब राम विधवा वेश मे देखते है तो सिहर उठते है अर्थात् उन्होने सहानुभूति के औपचारिक शब्द नही कहे वरन् वस्तुत उन्हे दु ख हुआ। यहाँ राम की अत्यधिक कोमलता की व्यजना 'सिहरे' पद से प्रकाश्य है।

पदगत अलंकार से वस्तु-ध्वनि—

शौर्य-वीर्य-साहस की प्रतिमा सजीव-सी
मन्दिर-समान उस सुन्दर शिविर की
करती है मण्डल बनाकर परिक्रमा।[1]

सिद्धराज की माता मीनलदे का शिविर है जिसके चारो ओर स्त्रियो का पहरा है। शिविर को मन्दिर-समान कहने से उसकी पवित्रता उससे भी अधिक उस पात्र की पवित्रता की व्यजना करना है जिसके सम्पर्क से सम्पूर्ण शिविर ही पवित्र हो गया है। प्रबन्ध काव्य मे प्रयुक्त होने के कारण से भविष्य के घटनाचक्र की ध्वनि भी इस पद से मिलती है। जैसे मन्दिर के द्वार से कोई भी भक्त निराश नही लौटता है उसी प्रकार इस शिविर के आगे भी जिसने न्याय माँगा उसे निराश नही होना पडा है।

मन्दिर-समान पद मे उपमा अलंकार है। उससे शिविर तथा शिविर निवासिनी मीनलदे के गुण-रूप वस्तुएँ व्यग्य है।

सबने रानी की ओर अचानक देखा
वैधव्य तुषारावृता यथा विधु-लेखा।
बैठी थी अचल तथापि असंख्य तरंगा
वह सिंही अब थी हहा गोमुखी गंगा।[2]

चित्रकूट की सभा मे केकयी राम से घर चलने की प्रार्थना करती हैं। जिसने राम को बन भेजा वही अब उन्हे घर चलने के लिए कहे—बडे आश्चर्य की बात

---

१. मैथिलीशरण गुप्त : सिद्धराज : पृ० ७
२ मैथिलीशरण गुप्त : साकेत

थी। किन्तु केकयी की ओर देखने पर उन्हे विश्वास हो गया कि वह बिल्कुल बदल गई है। इस परिवर्तन को कवि दो विभिन्न उपमानों द्वारा व्यक्त करता है। केकयी पहले शेरनी थी अब गोमुखी गगा है। उपमेय लुप्त होने से रूपकातिशयोक्ति अलकार है। 'शेरनी' पद से उसके क्रोधी स्वभाव क्रूर मनोवृत्ति की ओर सकेत है। 'गोमुखी' पद से पश्चात्ताप के अनन्तर प्राप्त पूर्ण पवित्रता की व्यंजना की गई है। गगाजल वैसे तो सागर पर्यन्त दिव्य माना गया है किन्तु उक्त स्थान पर उसकी पवित्रता रूप और भावना दोनो के साथ है। अभिप्राय यह कि केकयी की सदाशयता और शुद्ध मनोवृत्ति मे उसी प्रकार सन्देह नही किया जा सकता था जिस प्रकार गोमुखी गंगा की पवित्रता मे। दोनों स्थलों पर अलकार पदगत होने से सम्पूर्ण अर्थ भी पदगत ही रहेगा।

वाक्यगत वस्तु से वस्तु-ध्वनि—

अब हाथ बढ़ा लतिका से वह फूल तोड़ लाती है।[1]

मेहर की बाल्यावस्था का वर्णन है। कवि सीधे-सीधे उसकी अवस्था नही बतलाता, व्यापार के माध्यम से उसकी ऊँचाई बतलाता है। ध्वनि यह है कि मेहर चार-पाँच बरस की हो गई है।

अपने उपास्य के ललाट पर ध्यान मे
नित्य देखता था वह तीसरे नयन में
ओढ़ के पलक-पट शान्त कालानल है
झलक रहा है कान्त शीतल सुधांशु ही।[2]

उपर्युक्त वाक्य मे सिद्धराज की सामर्थ्य एवं चित्तपरिवर्तन की ध्वनि है। प्रजाजन उसके तेज से प्रभावित हैं उसके सामने जाने का साहस नही करते किन्तु स्वयं वह उनके निकट आना चाहता है। नाश करने की शक्ति रखता हुआ भी आनन्द देने में अधिक सुख मानता है। उसका रूप शिव के समान था जिसके ललाट पर अग्नि-नेत्र बन्द हैं सुधावर्षी चन्द्र प्रकट है। कवि ने उपास्य देव का वर्णन कर उसके आराधक सिद्धराज की मनोवृत्ति की व्यंजना की है।

वाक्यगत वस्तु से अलंकार-ध्वनि—

देव-दम्पति अटूट देख सराहते
उतर कर विश्राम करना चाहते।[3]

---

१. गुरुभक्तसिंह 'भक्त' : नूरजहाँ : पृ० २०
२. सिद्धराज : पृ० १११
३. मैथिलीशरण गुप्त : साकेत : पृ० १९

किसी भी नगर का शोभाधिक्य स्वर्ग से तुलना कर दर्शाया जाता है। अयोध्या नगरी की अट्टालिकाये इतनी सुन्दर है कि स्वर्ग के देवता भी उनमे विश्राम करने को ललचा रहे है। तात्पर्य यह इसके सामने स्वर्ग भी तुच्छ है। उपमान की तुच्छता से प्रतीप अलकार ध्वनित है। व्यजना का आधार सम्पूर्ण वाक्य होने से वाक्यगत है।

एड़ी डूबी पिंडली डूबी घुटने डूबे जब पैर बढ़ा
फिर उसके भरे नितम्बों पर धीरे ही धीरे सलिल चढ़ा।[1]

अनारकली जलधारा को पार कर रही है। जल मे प्रवेश करने पर शनैः शनैः जल की गहराई बढती गई। अगो के एक-एक कर डूबने से ज़मीन का हलका उतार व्यंग्य है। भरे नितम्बो पर धीरे-धीरे जल के चढने से उनकी विशालता व्यग्य है। ये दोनो ध्वन्यर्थ वस्तु से वस्तु रूप है व्यापार से धर्म-ध्वनि। किन्तु अन्तिम पंक्ति से सलिल मे नायक भाव के आरोपण की व्यजना भी मिलती है। चतुर नायक किस प्रकार प्राक् क्रीडा मे इतर अगो के स्पर्श के बाद कुचो और नितम्बो पर आता है और उन्हे भी आरम्भ मे बड़े धीरे-धीरे सहलाता है क्योकि नायिका प्रथम बार उसके पास आई है उसी प्रकार सलिल भी शनै-शनैः एड़ियो से जघाओ तक आया तत्पश्चात् नितम्बों का धीरे-धीरे स्पर्श कर अपने मे समा लेता है। सलिल और नायक की क्रीड़ाओ मे समानता दर्शाकर परस्पर उपमानोपमेय भाव से उपमा अलकार व्यग्य है।

वाक्यगत अलंकार से अलंकार-ध्वनि—

थी पड़ी पुरी भी काली-सी
जगती थी जहाँ दिवाली-सी
खोले थी मानो केश पुरी
रक्खे थी विधवा-वेश पुरी।[2]

राम को छोड़कर सुमंत्र लौटे हैं। पुरवासियों को क्या मुँह दिखायेंगे क्या उत्तर देंगे। इन्ही सबसे बचने के लिए उन्होने रात्रि के साथ नगर में प्रवेश किया। दीप-हीन अँधेरी पुरी को देखते ही वे ठक से रह गए। उन्हें लगा यह अन्धकार नही है नगरी रूपी स्त्री के केश हैं जिन्हे उसने विधवा होने पर खोल दिया है। पुरी को विधवा के वेश में देखने के कारण हेतूत्प्रेक्षा है। एक स्त्री का जो सम्बन्ध पति से

---

१. गुरुभक्त सिंह 'भक्त' : नूरजहाँ : पृ० ३६
२. साकेत : पृ० १७२

होता है वही पुरी का राम से है। राम और पति मे उपमेय उपमान कल्पना करने से औपम्यविधान व्यग्य है।

तलवारे अभी म्यान मे है धनु प्रत्यंचा से खाली है।[1]

कवि मेहरुन्निसा की अवस्था की ओर इगित करना चाहता है। तलवारे अर्थात् कटाक्ष धनुष अर्थात् भौहे। उपमानो का ही प्रयोग होने से रूपकातिशयोक्ति अलकार सिद्ध है। अर्थ होगा मेहरुन्निसा न अभी कटाक्ष करना जानती है न भ्रू बक करना। इससे उसकी कैशोरावस्था व्यग्य है।

इसके साथ ही मेहर को भावी रण चतुर सैनिक के रूप मे भी देखा गया है। रणक्षेत्र मे पदार्पण करने के पूर्व योद्धा की तलवार म्यान मे होती है और धनुष प्रत्यचा उतरा हुआ। यौवन रणक्षेत्र है जहाँ पहुँचकर मेहर को तलवारो के हाथ दिखाने है। बाणो से लक्ष्यबेध करना है। नारी को प्रेम-योद्धा के रूप मे देखने की बडी पुरानी परम्परा है। इस व्याख्या के अनुसार रूपकातिशयोक्ति से उपमा अलकार व्यग्य सिद्ध होता है।

हमारी धारणा है कि कवि को द्वितीय अर्थ ही अभीष्ट है क्योकि इसके थोडा ही आगे वह मेहरुन्निसा के यौवन मे पदार्पण का वर्णन करता है—

दो शिविर अंग है खड़े हुए मैदान आज है मरा हुआ।
है 'मार' 'मार' की धूम, उठा जीवित हो जो था मरा हुआ।
दो मीन-केतु फहराते है. दोनों दल मिलते जाते हैं।
सैनिक आँखों में अजन दे, आयुध पर सान चढ़ाते है॥
इन दृग रसाल मे काम छिपा किस पर है वाण चलाने को।
हो गया त्रयम्बक से अनंग जाता दृग चार लड़ाने को॥[2]

जिसमे उसकी देह यष्टि को रणक्षेत्र के रूप मे देखा गया है। प्रबन्ध मे रूप-कातिशयोक्ति, श्लेष, रूपक से उपमा अलकार व्यग्य है।

वाक्यगत अलंकार से वस्तु-ध्वनि—

रत्नाभरण भरे अगों ऐसे सुन्दर लगते थे
ज्यों प्रफुल्ल बल्ली पर सौ सौ जुगनू जगमग जगते थे।[3]

शूर्पणखा का वर्णन है। उसका कोमल सुन्दर शरीर प्रफुल्ल बल्लरी के समान है। उस पर स्वर्णाभरण जगमगानेवाले जुगनुओ के समान हैं। शका हो सकती है

---

१. गुरुभक्त सिंह 'भक्त' : नूरजहाँ . पृ० ४४
२. वही : पृ० ४५
३. मैथिलीशरण गुप्त : पंचबटी : पृ० २०

कि सौ सौ जुगनू कहने का क्या तात्पर्य । शूर्पणखा क्या सैकडो आभूषण पहने थी । वस्तुनः इसके द्वारा कवि अगो की स्वच्छता स्निग्धता सुचिक्कणता पर बल देना चाहता है । उसके अग दर्पण की भॉति स्वच्छ और स्निग्ध है । इसलिए आभूषण थोडे ही है किन्तु प्रतिबिम्ब और उनके प्रतिबिम्ब अनेक है । जिससे जिधर देखो आभूषण ही आभूषण दिखाई पडते है । बिहारी ने भी छबि वर्णन मे लिखा है—

अंग अग प्रतिबिम्ब परि, दरपन से सब गात ।
दुहरे तिहरे चौहरे, भूषन जाने जात ॥

किन्तु उनकी उक्ति अधिक अभिधेयात्मक हो गई है । एक वस्तु को प्रकृत रूप मे देखने के पश्चात् आलकारिक रूप मे भी देखने के कारण उत्प्रेक्षा अलकार है । इस प्रकार वाक्यगत अलकार से रूप वस्तु-ध्वनि सिद्ध होती है ।

दृढ़ जटा-मुकुट हो विपर्यस्त प्रति लट खुल
फैला पृष्ठ पर, बाहुओं पर, वृक्ष पर विपुल,
उतरा ज्यों दुर्गम पर्वत पर नैशान्धकार
चमकती तारायें ज्यों हों कहीं पार ।[1]

'राम की शक्ति पूजा' का एक प्रसंग है । सूर्यास्त के बाद राम युद्ध से लौट रहे हैं । उधर अन्धकार बढता जा रहा है । पर्वत श्रृंग उसमे छिप गए है । इधर दिन भर के श्रम से राम की जटाये खुलकर पृष्ठ और बाहुओ पर फैल गई है । अन्धकार मे जैसे केवल तारा समूह ही दिखाई पडते हैं उसी प्रकार इधर भी केवल आँखो की चमकती तारायें दिखाई पड़ती है । उत्प्रेक्षा अलकार वाच्य है । ताराओ को कही पार चमकता हुआ कहने का अर्थ है उनके क्षीण प्रकाश की ओर सकेत करना जिससे आँखो का निस्तेज रूप-वस्तु और उसके कारण रूप खिन्नता, ग्लानि भाव व्यंग्य हैं । आज के युद्ध मे उन्होने रावण का विकराल रूप देखा और देखा कि महाशक्ति उसकी रक्षा कर रही है । यह दृश्य देखकर रावण का पराजित होना. असम्भव जान पड़ा जिसका अर्थ हुआ जानकी का उद्धार न होना । उनके मानसिक क्लेश का वास्तविक कारण यह है । ताराओ में भी श्लेष है अत. उपमानोपमेय भाव होने से उपमा अलकार भी व्यग्य माना जा सकता है । तारक स्वतः सम्भवी वस्तु है । वस्तु रूप ध्वन्यर्थ सम्पूर्ण वाक्य से प्राप्त होता है ।

केश रचना के सहायक हैं शिखी
चित्र में मानों अयोध्या है लिखी ।[2]

---

१. निराला : अनामिका : पृ० १४९
२. मैथिलीशरण गुप्त : पृ० २०

प्रकृति मे मानव जिन त्रुटियो का अनुभव करता है कला के माध्यम से उन्ही की पूर्ति का प्रयास करता है किन्तु अयोध्या को देखने पर लगता है जैसे उसमे कोई त्रुटि ही नही है। वह पहले से ही पूर्ण है। अयोध्या सब प्रकार से पूर्ण है यह भाव द्वितीय पक्ति के उत्प्रेक्षा अलकार से व्यग्य है।

सरसी उसका फिर मिली एक जिसमे आकाश नहाता था
नभहंस उतर तरंग मे जिसके डूब डूब उतराता था।[1]

प्रथम पक्ति मे पर्यायोक्त तथा द्वितीय मे रूपकातिशयोक्ति अलकार है। कवि को केवल इतना ही कहना है कि सरसी के जल मे आकाश की नीलिमा तथा सूर्य का प्रतिबिम्ब बिल्कुल स्पष्ट था। प्रतिबिम्ब स्पष्ट तभी होगा जब जल स्वच्छ होगा अतः स्वच्छा का गुण व्यग्य है। इसी प्रबन्ध मे एक वाक्य से तिथि की व्यजना बड़े सुन्दर ढग से हुई है—

संध्या थी रवि शशि के पलड़े का ठीक बीच में काँटा था।[2]

सम्पूर्ण आकाश तराजू है रवि शशि उसके पलड़े है। सध्या समय पश्चिम मे सूर्य डूब रहा है पूर्व मे चन्द्रमा उदित हो रहा है। यह दृश्य केवल पूर्णमासी की तिथि को ही दिखाई पडता है और उसी दिन चन्द्रमा का पलडे का रूप होता है अतः रूपकालकार से पूर्णमासी तिथि व्यग्य है।

प्रबन्धगत अलकार से अलकार-ध्वनि—

गहन विपिन में भूली भूली आई इक सरिता के तीर
सहस करों से खींच रहा है दिन नायक जिसका वरचीर।
बे पानी होने के भय से कृष्ण कृष्ण चिल्लाती है
मीन ब्याज तड़पी जाती है लहर ब्याज बल खाती है।
अचल बने गिरि निरख रहे हैं पत्थर की करके छाती
पानी खो पानी पानी हो तरुणी है रोती जाती
किन्तु खड़ा वह नटनागर हो पर्दे में उस निर्झर के
जलप्रपात का अम्बर देकर आब खाँ का पट दे दे।
मद-मंथन कर दिया सूर्य का कर अनंत उस सागी को
लज्जित हो फिर डूब गया रवि शीश नवा बनवारी को।[3]

---

१. गुरुभक्त सिंह 'भक्त' : पृ० ३९
२. गुरुभक्त सिंह 'भक्त' : पृ० ४०
३. वही : पृ० ३९

सम्पूर्ण वर्णन चीर हरण का दृश्य उपस्थित करता है। स्थान स्थान पर वह अत्यन्त अभिधामय भी हो गया है किन्तु अन्त तक 'द्रौपदी' पद कही वाच्य नही हुआ है। कवि का उद्देश्य सरिता और द्रौपदी मे साम्य दिखलाना मात्र है। सरिता उपमेय है, द्रौपदी उपमान। इस प्रकार प्रबन्ध में औपम्य विधान का ही सौन्दर्य है। वर्णन में कैतबापह्नुति रूपक, पर्यायोक्त का आश्रय लिया गया है। इस प्रकार इन अलकारों से यह उपमा अलकार-ध्वनि का उदाहरण सिद्ध होता है।

संलक्ष्यक्रम वस्तु से रस-ध्वनि—प्रबन्धगत—

प्रबन्ध काव्यो मे ऐसे स्थलो पर प्रकृति वर्णन की सहायता ली जाती है। प्रसंग से विशिष्ट वर्णन का अभिप्राय समझ मे आने के कारण हमने उसे संलक्ष्यक्रम ध्वनि अन्तर्गत रखा है। उदाहरण के लिए नूरजहाँ के बारहवे सर्ग को ले। इसके अन्तिम भाग मे शेर अफगन विमलराय को कत्ल कर देता है। ठीक उसके बाद कवि प्रदोष काल का वर्णन करने लगता है। अन्त की दो पक्तियो मे वर्णन के अभिप्राय की कुंजी रख देता है—

एक चिता की क्षीण ज्योति में मूर्च्छित कोई है उस पार
धूमिल दृश्य हुआ सब तट का अंधकार उसका संसार।[1]

जिसके द्वारा हम समझ जाते है प्रकृति वर्णन से 'सर्वसुन्दरी' का शोक व्यग्य है।

'नूरजहाँ' प्रबन्ध मे ही मेहरून्निसा और शेर अफगन के विवाहोपरान्त कवि प्रकृति और पुरुष के विवाह का वर्णन करता है। उस सम्पूर्ण आलंकारिक वर्णन से नव दम्पति का हर्ष व्यग्य है।

कवि प्रौढ़ोक्ति सिद्ध पदगत वस्तु से वस्तु-ध्वनि—

पाकर विशाल कच-भार एड़ियाँ धँसती
तब नख ज्योति मिष मृदुल अँगुलियाँ हँसती।[2]

सीता माता वाटिका मे काम कर रही है। उनके अगो की सुकुमारता उक्त वर्णन से व्यग्य है। पाँव रखते ही समय एड़ियाँ दब जाती है। इसका कारण शरीर का भार नही कच-भार है। बालो के भार से उक्त घटना को घटित मानने से कवि प्रौढोक्ति है। सीता जी इतनी सुकुमार है कि कच-भार से ही उनकी एड़ियाँ धँस

---

१. गुरुभक्त सिह 'भक्त' : नूरजहाँ · पृ० ९७

२ मैथिलीशरण गुप्त : साकेत : पृ २२१

जाती है। इस तरह कवि परम्परागत पदार्थ वस्तु से धर्म-वस्तु की व्यंजना हो रही है।

तटवर्ती प्रासादों के प्रतिबिम्ब-शिशु
निश्चल सोते थे यमुना के बक्ष पर।[1]

यह सामान्य पर्यवेक्षण का विषय है कि बहुधा जल मे पडे प्रतिबिम्ब को देख कर ऐसा लगता है जैसे बिम्ब को दबा दिया गया है। प्रतिबिम्ब का बिम्ब से छोटा होना 'प्रतिबिम्ब शिशु' से व्यंग्य है। पद कवि-कल्पना से व्याख्या की अपेक्षा रखता है। इस तरह यहाँ पदार्थ-वस्तु से पदार्थ-वस्तु व्यग्य है।

पदगत अलंकार से वस्तु—

होकर विनमित यौवन के नवकुसुम भार से भोरी
है क्षीण लंक लचकाती कर चितवन से चितचोरी।[2]

अनारकली के वक्षोजो के लिए 'यौवन का नव कुसुम' कहने से पर्यायोक्त अलंकार है। उसके भार से कमर का लचक जाना कवि प्रौढोक्ति है जिससे अनारकली के खड़े होने या नृत्य की विशेष मुद्रा व्यंग्य है। हमारे विचार से यह पदार्थ से रूप या चित्र ध्वनि है।

वाक्यगत वस्तु से वस्तु—

तृण भी वृक्षों से होड़ लगा उठते ही जाते थे ऊपर
लतिका-भूषित-तरु-शाख-जाल मे विहँगों के फँस जाते पर।[3]

लताओं और तरु शाखाओं की सघनता मे पक्षियो के परों का फँस जाना कवि कल्पना हैं। इससे वन की सघनता व्यग्य है।

कविनिबद्धवक्तृप्रौढ़ोक्तिसिद्ध—

पदगत वस्तु से वस्तु-ध्वनि—

भीगी रात चलो सोवें अब कल दूँगा इसका उत्तर।[4]

गयास की उक्ति अपनी बेगम के प्रति है। 'भीगी' पद से रात्रि के उस प्रहर की ओर इंगित है जब ओस पडने लगती है। लगभग आधी रात का समय।

---

१. गुरुभक्त सिंह 'भक्त' : नूरजहाँ : पृ० २२
२. वही : पृ० २८
३. वही : पृ० ३७
४. वही : पृ० ८

पदगत अलंकार से अलंकार-ध्वनि—

बेटी उठ मै तुझे छोड़ नहीं जाऊँगा
तेरे अश्रु लेकर ही मुक्ति-मुक्ता छोड़ूँगा ।[1]

यह समाचार पाकर कि गौतम मगध मे है शुद्धोदन गोपा सहित वहाँ जाने का विचार करते है किन्तु गोपा बिना पति की आज्ञा के घर छोड़ने से इनकार कर देती है। उसी अवसर पर शुद्धोदन ये वाक्य उससे कहते है।

मुक्ति-मुक्ता पद मे रूपक अलकार है। शुद्धोदन मुक्ति-प्राप्त अपने पुत्र को छोड़ने को तैयार है किन्तु अश्रुयुक्त बहू को नही छोड़ सकते। वे घोषणा करते है कि पुत्र की अपेक्षा भी मुझे तेरे अर्थ ही है। इसी बात को वे इस प्रकार कहते है—'तेरे आँसुओं की चमक के आगे मुक्ति रूपी मोती की चमक भी तुच्छ है।' अश्रु उपमेय है मोती उपमान। उपमान को तुच्छ दर्शाने के कारण प्रतीप अलंकार व्यंग्य है। जिसका आधार है 'मुक्ति-मुक्ता' पद।

अब न कपोलों पर छाया-सी
पड़ती मुख की सुरभित भाप
भुजमूलों में शिथिल वसन की
व्यस्त न होती है अब माप ।[2]

प्रलय के पश्चात् मनु अकेले बैठे विगत जीवन की भूलो का स्मरण कर रहे है। वह सौन्दर्य और वासना का साम्राज्य था जो प्रलय में नष्ट हो गया था। इस छन्द मे उसी की झलक मिलती है। देव रमणियो के कपोल इतने स्वच्छ और स्निग्ध होते थे कि प्रणय क्रीडा के समय देवताओ की साँस उनसे टकराती तो स्पष्ट दृष्टिगोचर होती। ऐसा लगता था जैसे उस स्थल पर साँस की छाया पड गयी हो। इससे यहाँ गम्योत्प्रेक्षा सिद्ध होती है जिससे कपोलो की अतिशय स्वच्छता स्निग्धता व्यंग्य है। उत्प्रेक्षा केवल 'छाया-सी' पद से सिद्ध है।

इन्ही पक्तियों की दूसरी व्याख्या से लुप्तोपमा सिद्ध होती है। प्रणय क्रीड़ा मे देवताओं की साँस को गालों पर अनुभव कर देव रमणियों को वही सुख मिलता था जो धूप से व्याकुल व्यक्ति को छाया मे बैठकर होता है। उसका जी चाहता है कि अधिक से अधिक विलम्ब तक इस शीतलता और सुख का अनुभव कर सके। इसी प्रकार देव रमणियाँ भी यही चाहती हैं कि यह स्पर्श-सुख अधिक से अधिक देर तक

---

१. मैथिलीशरण गुप्त : यशोधरा : पृ० १२६

२. प्रसाद : कामायनी : पृ० १०

मिलता रहे। इस दृष्टिकोण से छाया-सी पद में उपमा मान लेने पर देवता अति अदम्भ एव निरतर विलासी प्रवृत्ति व्यग्य है।

मै रति की प्रतिकृति लज्जा हूँ
मैं शालीनता सिखाती हूँ
मतवाली सुन्दरता पग में
नूपुर-सी लिपट मनाती हूँ।[1]

मनु के प्रति प्रेम की प्रतीति होने पर श्रद्धा मे नारी सुलभ लज्जा का उदय होता है। वह अपने शरीर मे विचित्र परिवर्तन का अनुभव करती है। इसका कारण पूछने पर लज्जा उत्तर देती है जिसमे कार्यों के वर्णन से उसका परिचय भी मिल जाता है।

नर्तक पाँव मे बँधे घुँघुरुओं के कारण सदैव ताल-सुर मे रहने का प्रयत्न करता है। जरा सा बेताला होने पर भी लोगो को इसका ज्ञान हो जाता है। यह बन्धन शृखलाओ का कठोर बन्धन नही है जो शरीर पर भार बनकर उसकी गति अवरुद्ध कर दे। इसका सूक्ष्म सम्बन्ध स्वनिर्धारित होने के कारण मन से है। इसी प्रकार लज्जा का सूक्ष्म बन्धन मन से जुड़ा है। समझदार के लिए इतना ही बहुत है। नूपुर-सी उपमा के द्वारा बन्धन की सूक्ष्मता मधुरता आदि धर्म व्यग्य है।

कुछ ही दिन को हूँ कूल-द्रुम
छू लूँ पद फिर कह देना तुम।[2]

पिता का यह सन्देश रत्नावली को उसका भाई दे रहा है। प्रथम पक्ति में उपमेय-वाचक लुप्तोपमा है। नदी किनारे का पेड कब ढह जायगा नही कहा जा सकता। नदी की धारा नीचे नीचे ही उसे खोखला बना देती है। इसी प्रकार समय की धारा ने मेरे जीवन को खोखला कर दिया है मृत्यु कभी भी आ सकती है। ध्वनि है तुम शीघ्र आओ विलम्ब से आने पर मैं न मिला तो तुम्हारा आना व्यर्थ होगा।

कौन हो तुम खींचते यों मुझे अपनी ओर
और ललचाते स्वयं हटते उधर की ओर
ज्योत्सना निर्झर! ठहरती ही नहीं यह आँख... ..।[3]

---

१. प्रसाद : कामायनी : पृ० १०३

२. निराला : तुलसीदास : पृ० ४३

३. प्रसाद : कामायनी : पृ० ६८

मनु और श्रद्धा को साथ रहते कई दिन बीत गये है किन्तु अभी तक मनु उसे अच्छी तरह समझ नही पाए हैं। एक दिन पूछ ही बैठते हैं—'ज्योत्सना निर्झर' मे रूपकातिशयोक्ति है। ज्योत्सना से व्यंग्य है–आँखो को शीतलता प्रदान करनेवाला श्रद्धा का गौर वर्ण। केवल इतने से ही श्रद्धा का आकलन नही हो पाता। जिस प्रकार निर्झर के क्षिप्र प्रवाह पर आँख नही ठहरती उसी प्रकार उसके अंगों से भी सुषमा का स्रोत झर रहा है। जिसकी उज्ज्वलता के कारण उस पर आँख ठहरती ही नही इसका एक कारण अगों की स्निग्धता भी हो सकता है यह भाव भी उज्ज्वलता मे निहित है। जब आँख ठहरती नही तो सौन्दर्य को पूरी तरह देख भी नही पाती। इस प्रकार 'ज्योत्सना निर्झर' समस्त पद में रूपकातिशयोक्ति अलंकार के माध्यम से पदार्थ से रूप श्रद्धा का विलक्षण सौन्दर्य की ध्वनि है।

वाक्यगत वस्तु से वस्तु-ध्वनि—

—'हे महाराज
ईश्वर की गाज
यहाँ है गिरी है विपत बड़ी
पड़ा है अकाल
लोग पेट भरते हैं खा-खाकर पेड़ों की छाल।[1]

उपर्युक्त पंक्तियो मे दूकानदार यद्यपि भयानक संकट के अर्थवाची अनेक पर्यायों का प्रयोग करता है और अकाल शब्द भी प्रयुक्त करता है किन्तु इनमे से किसी के द्वारा भी सकट की भयकरता का चित्र नही उभरता है। अन्तिम पक्ति का यह वाक्य कि लोग पेडो की छाल खा रहे है दुर्भिक्ष की भयकरता पुस्तक की भाँति खोल देता है। वाक्य मे कोई अलकार नही है। छाल खाने के व्यापार से भयंकर दुर्भिक्ष की घटना की व्यंजना हो रही है।

वाक्यगत वस्तु से अलंकार—

सुरा सुरभिमय वदन अरुण वे
नयन भरे आलस अनुराग
कल कपोल था जहाँ बिछलता
कल्पवृक्ष का पीत पराग।[2]

मनु देव रमणियों की त्वचा के वर्ण तथा स्निग्धता का वर्णन कर रहे हैं। गौर वर्ण के लिए पराग प्रसिद्ध उपमान है यदि वह कल्प-वृक्ष का हो तो उसकी पिच्छलता

---

१. निराला : अनामिका : पृ० १७९
२. प्रसाद : कामायनी : पृ० ११

का कहना ही क्या। वह पराग भी जिस कपोल पर आकर बिछल जाए उसकी सुचिक्कणता एव स्निग्धता की केवल कल्पना हो सकती है। यह वर्णन 'छाँहों चाहति छाँह' जैसा है जिसमे ग्रीष्म का आधिक्य व्यंग्य है। उपमेय को उपमान से अधिक पिच्छल दर्शाने के कारण प्रतीप अलकार व्यंग्य है। ठीक यही भाव निम्न पंक्ति मे आया है—

तेरी आँखें देख चुराते हैं आँखें बन में आहू।[1]

गयास अपनी पत्नी से कहते है कि हिरन तेरी आँखे अपनी आँखो से अधिक सुन्दर चपल पाकर लज्जा से तेरी ओर देखते नही है। 'आँखें चुराने' का भाव यही है। यहाँ भी उपमान की हीनता से प्रतीप अलंकार व्यंग्य है।

वाक्यगत अलंकार से अलंकार—

देव कामिनी के नयनों से
जहाँ नील नलिनों की सृष्टि
होती थी अब वहाँ हो रही
प्रलयकारिणी भीषण वृष्टि।[2]

देव-सृष्टि के विनाश सम्बन्धी मनु की विचार-शृखला चल रही है। छन्द के पूर्वार्ध के दो अर्थ निकलते है। प्रथम देव कामिनियाँ जिधर देखती थी उधर ही लगता था जैसे नील कमल निकल आए हो। इसमे आँखो का नील कमल सा सुन्दर होना व्यंग्य है। द्वितीय देवलोक मे स्थान स्थान पर नील कमलो का सौन्दर्य बिखरा पडा था। कवि कहता है कि उन नील कमलो की उत्पत्ति का मूल कारण और कुछ नही देव कामिनियो का दृष्टि निक्षेप ही है। हेतु की कल्पना करने से हेतूत्प्रेक्षा अलकार है जिससे ध्वनि यह निकल रही है कि वास्तविक उपमान नीलकमल नही हैं देव कामिनियो की आँखें। अत प्रतीप अलकार व्यंग्य है।

वाक्यगत अलंकार से वस्तु—

पहले आँखों में थे मानस में कूद मग्न प्रिय अब थे
छींटे वही उड़े थे बड़े बड़े अश्रु वे कब थे।[3]

विरहाकुल उर्मिला सखी से अपने आँसुओ का असली कारण बतलाती है। प्रिय अब तक आँख मे थे अब मानस मे कूदकर जा बसे है। 'मानस' पद से श्लेष है। आँसुओं के कारण की कल्पना करने से हेतूत्प्रेक्षा अलकार है। पर साथ ही

---

१. गुरुभक्त सिंह 'भक्त' : नूरजहाँ : पृ० ३
२. प्रसाद : कामायनी : पृ० १२
३. मैथिलीशरण गुप्त : साकेत : पृ० २६९

उर्मिला आँसुओं को आँसू मानने से अस्वीकार करती है उन्हे पानी के छीटे कहती है । सत्य को छिपाने से अपह्नुति और हेतु भी बतलाने से हेत्वापह्नुति अलकार सिद्ध होता है । व्यग्य है प्रिय मेरे अन्तस् मे रोम रोम मे वास करते है । मैं प्रतिपल उनके ध्यान में मग्न रहती हूँ ।

प्रथम भय से मीन के लघु बाल जो
थे छिपे रहते गहन जल में तरल
उर्मियों के साथ क्रीड़ा की उन्हें
लालसा अब है विकल करने लगी

कमल पर जो चारु दो खंजन प्रथम
पंख फड़काना नहीं थे जानते
चपल चोखी चोट कर अब पंख की
वे विकल करने लगे हैं भ्रमर को ।[1]

इन छन्दो को पढते ही सूर के 'अद्‌भुत एक अनूपम बाग' का स्मरण हो आता है । दोनो छन्दो मे रूपकातिशयोक्ति के द्वारा प्रत्यक्ष दर्शन से उत्पन्न पूर्वानुराग की स्थिति व्यंग्य है । प्रथम छन्द मे मीन के लघु बाल आँखे हैं । मछलियों की लहरों से क्रीड़ा करने की इच्छा नायिका की कटाक्ष करने की इच्छा है । अर्थात् जिन आँखो मे पहले भोलापन और स्थिरता थी उनमें अब चातुर्य एव चाचल्य समा गया है ।

दूसरे छन्द मे कमल मुख के लिए खंजन आँखो के लिए तथा भ्रमर प्रेमी के लिए प्रयुक्त हुए हैं । कमल पर बैठे दो खंजन पक्षी जो पहले इतने भोले थे कि पंख तक नहीं फड़काना जानते थे अब पंखों पलकें की चोट कर भ्रमर को व्याकुल करने लग गए हैं । अर्थात् प्रेमिका के कटाक्ष प्रेमी को व्याकुल करने लगे है । इस प्रकार दोनो वाक्यो मे रूपकातिशयोक्ति से नायिका का यौवन में पदार्पण व्यंग्य है ।

आँखों के एक इशारे से राज उलट जावेंगे
तू जिसे देख भर लेगी बस भाग पलट आवेंगे ।[2]

अकबर अनारकली के सामने प्रणय-प्रार्थी है । अपने पराक्रम और प्रभुत्व की शक्ति दिखलाकर वह उसे आकर्षित करना चाहता है । अपूर्ण कारण से कार्य के होने का विश्वास दिलाने से दोनों वाक्यों में विभावना अलंकार है जिससे उसकी विशाल शक्ति व्यग्य है ।

---

१. पन्त : ग्रन्थि : पृ० १८

२. गुरुभक्त सिंह 'भक्त' : नूरजहाँ : पृ० ३२

प्रबन्धगत वस्तु से वस्तु—

> **पूछी थी सुकाल दशा मैंने आज देवर से**
> **कैसी हुई उपज कपास ईख धान की।**
> **बोले—'इस बार देवि देखने में भूमि पर**
> **दुगुनी दया-सी हुई इन्द्र भगवान की।**
> **पूछा यही मैंने एक ग्राम में तो कृषकों ने**
> **अन्न गुड़ गोरस की वृद्धि ही बखान की**
> **किन्तु 'स्वाद कैसा है न जाने इस वर्ष हाय'**
> **यह कह रोई एक अबला किसान की।[1]**

धन धान्य मे वृद्धि से व्यग्य है कि शासन धर्म सम्मत है। भरत का तप धर्म मे वृद्धि कर रहा है। किन्तु किसी चीज़ में मिठास नही है इससे राजवर्ग और जनवर्ग के जीवन मे आनन्द का अभाव व्यग्य है। कारण है राम का वनगमन। जो कुछ हो रहा है कर्तव्य समझकर हो रहा है। उसको करने में सुख मिलता हो सो बात नही है।

संलक्ष्यक्रम अलंकार से रस-ध्वनि—

> **देख रति ने मोतियों की लूट यह**
> **मृदुल गालों पर सुमुखि के लाज से**
> **लाख-सी दी त्वरि लगवा बन्द कर**
> **अधर-विद्रुम द्वार अपने कोष के।[2]**

नए कवि परम्परा से हट कर नए उपमानो का कितना सुन्दर प्रयोग कर सकते है इसका यह छन्द एक उत्कृष्ट उदाहरण है। कवि श्रृंगारिक कवियो से पर्याप्त प्रभावित जान पड़ता है। सेनापति ने श्लेष से नायिका को राम की तलवार ग्रीष्म ऋतु आदि अनेक विचित्र रूपो मे देखा है। बिहारी ने क्रिया साम्य के आधार पर नायिका की छवि को वरमा कहा है। ऐसे वर्णनों मे केवल शब्द चातुर्य होता है। उक्त पक्तियो मे नायिका को 'कोष' के रूप मे देखा गया है।

रति कोषाध्यक्ष है लज्जा उसकी सहायिका है। तीसरी और चौथी पंक्तियों में उपमा और उत्प्रेक्षा अलंकार है। प्रसग है—नायिका नायक को उत्तर देना चाहती है किन्तु केवल 'नाथ' ही कह पाती है कि भावो के आवेग और लज्जा के कारण मौन हो जाती है। उसी का आलकारिक वर्णन है। रति ने जब यह देखा कि उसके

---

१. **मैथिलीशरण गुप्त : साकेत : पृ० ३०६**
२. **पन्त : ग्रन्थि : पृ० १४**

खजाने से मोती लूटे जा रहे है तो उसने तत्काल लज्जा को आज्ञा देकर कोष के द्वार बन्द करवा दिये और उस पर लाख की मुहर लगवा दी। गालों के लाज से अरुणिम हो जाने का आलकारिक वर्णन होने से संलक्ष्यक्रम लज्जा भाव व्यग्य है।

नैश गगन के गात्र में पड़े फफोले हाथ
तो क्या अरी न आह भी करूँ आज निरुपाय
तारक चिन्ह दुकूलिनी पी पीकर मधु पात्र
उलट गई श्यामा यहाँ रिक्त सुधाधर पात्र।[1]

उर्मिला की अपनी सखी के प्रति उक्ति है। प्रथम दो पंक्तियो के अनुसार तारे तारे नही है अपितु उर्मिला की आह से आकाश के शरीर में पड़ गए फफोले हैं। आकाश मे फफोले पडने का अपर्याप्त कारण होने से दूसरी विभावना है। व्यग्य है विरहिणी खुलकर रो भी नही सकती। समाज के बन्धन इतने कसे हुए हैं कि दु.ख प्रकट करना भी बस मे नही रह गया है।

तीसरी और चौथी पक्ति मे रात्रि का वर्णन इस प्रकार किया गया है कि मद्यप नारी का सकेत भी मिलता है। रात्रि रूपी नारी चन्द्रमा के समस्त अमृत को पी कर रिक्त पात्र यहाँ पटक गई है। कृष्ण पक्ष में रात्रि चन्द्र का अमृत पीती रही है। शुक्ल पक्ष मे तारक चिन्ह दुकूलिनी कृष्ण पक्ष की रात्रि स्वय तो चली गई है रिक्त चन्द्रमा को यहाँ उलट गई है। व्यंग्यार्थ है विरहिणी को चन्द्रमा भी सुधा रहित प्रतीत होता है। सम्पूर्ण वाक्य से यह अर्थ निकलता है कि विरहिणी के लिए न कृष्ण पक्ष मे सुख है न शुक्ल पक्ष मे। इस प्रकार दोनो वाक्यो से उर्मिला का विरह विप्रलम्भ शृगार व्यग्य है।

---

१. मैथिलीशरण गुप्त : साकेत : पृ० ३०४

अष्टम अध्याय

प्रगतिवाद युग

साहित्य क्षेत्र मे एक धारा का ह्रास ही दूसरी नई धारा के जन्म का सूचक है। नई धारा का बीज पुरानी धारा के बीच मे से ही अकुरित होता है। हाँ, उसको पल्लवित और पुष्पित होने के लिए नये वातावरण की आवश्यकता होती है। इस लिए यह कहना अत्यन्त कठिन है कि काव्य मे अमुक चेतना यहाँ समाप्त हो जाती है और यहाँ से नव्य चेतना आरम्भ होती है। इन्ही कारणो से छायावाद और प्रगतिवाद को बिल्कुल अलग अलग करके देखना असम्भव है। यह कठिनाई तब और बढ जाती है जब हम देखते हैं कि एक युग के चरम उन्नायक दूसरे युग के उन्नायको मे भी प्रमुख स्थान ग्रहण किये हुए है।

आलोचको ने जहाँ से उत्तरकालीन छायावाद युग का प्रारम्भ माना है उसी के दो तीन वर्षों के बाद ही काव्य क्षेत्र मे जो नई विचार-धारा दिखाई पड़ी उसी को आगे चलकर प्रगतिवाद की सज्ञा से अभिहित किया गया।[1] बहुत सम्भव है स्वय कवियो को भी इस तथ्य की चेतना न रही हो कि आज वे जिस प्रकार की कविता लिख रहे है वही आगे चलकर युग की मुख्य धारा बन जायगी। इससे यह सिद्ध हो जाता है कि जो लोग प्रतिगशील लेखक सघ की स्थापना से ही भारतवर्ष मे प्रगतिवाद का आरम्भ मानते हैं वे कितने भ्रम मे है। यह अवश्य है कि उक्त संघ ने इस दिशा मे कवियो को नैतिक बल और प्रेरणा दी।

जिस प्रकार द्विवेदी युग की कमियो को पूरा करने के लिए छायावादी कविता उठी उसी प्रकार छायावाद की अत्यधिक (उधार ली हुई) भावप्रवणता एव कल्पना शीलता के विरोध में प्रगतिवाद की वस्तुवादी कविता आई। दोनो युगों की प्रवृत्तियों मे मौलिक अन्तर है। आकाश मे विचरण करने वाले धरती पर उतर आये थे। छायावादी काव्य मे अभिव्यक्ति की भगिमा पर जितना बल है उतना विषय पर नही। वहाँ पद्धतियाँ ही साहित्यकार का प्रधान लक्ष्य होती थी, विषय प्रायः सीमित और व्यक्ति से सम्बद्ध था। यहाँ, प्रगतिवाद मे विषय पर ही अधिक बल दिया गया, विषय जो व्यक्ति नही लोकोन्मुख है। पं० रामचन्द्र शुक्ल के मत से रहस्यवाद

---

१. सुमित्रानन्दन पन्त : चिदम्बरा . पृ० १५

२. शिवनाथ : नया साहित्य, अक्टूबर १९५१ . पृ० ४१

से इतर कवितायें भी छायावाद के अन्तर्गत अपनी प्रतीक पद्धति के कारण ही आ सकी हैं।[१] किन्तु प्रगतिवादी कविताओं की पहिचान उनकी समाजवादी चेतना है और प्रगतिवादियो का इसके लिए आग्रह भी है। यही हमे उन विरोधियो का उत्तर मिल जाता है जो इस धारा की सज्ञा पर ही आघात करते है।[२] ऐसे व्यक्ति प्रगतिशील साहित्य और प्रगतिवादी साहित्य दोनो को एक कर देते है।

यह निश्चित है कि किसी भी युग की कविता जब तक अपने अस्तित्व को सिद्ध नही कर सकती जब तक वह पिछले युग की कविता से कुछ आगे न बढ़े। प्रगति तो प्राकृतिक गति है वह परिवर्तनशील वस्तु-व्यापार का आवश्यक परिणाम है।'[३] क्या इसके पहले के तीन चार आन्दोलन प्रगतिशील नही रहे? अवश्य रहे। तब इसे ही क्यो यह नाम दिया जाय? इसके उत्तर मे नम्र निवेदन यह है कि प्रगति निस्सन्देह साहित्य को स्थायित्व प्रदान करती है किन्तु सामाजिक और राजनैतिक चेतना साहित्य को माध्यम बनाकर एक विराट आन्दोलन के लिए जनता को संगठित और तैयार करने के उद्देश्य को लेकर केवल इसी युग का साहित्य चला यहाँ तक कि कभी-कभी वह शुद्ध प्रचारात्मक हो गया। प्रगति की इस चेतना और आग्रह के कारण इसका यही नाम उपयुक्त है। प्रगतिशील लेखक संघ के घोषणा-पत्र इसके प्रमाण है।

कविवर सुमित्रानन्दन पन्त ने एक स्थान पर लिखा है, 'छायावाद इसलिए अधिक नही रहा कि उसके पास भविष्य के लिए उपयोगी, नवीन आदर्शों का प्रकाशन, नवीन भावना का सौन्दर्य बोध और नवीन विचारों का रस नही था।'[४] प्रगतिवाद ने इन अभावो की पूर्ति जिस आधार पर करनी चाही उसकी स्पष्ट रूपरेखा उसे साम्यवाद के तर्क-सम्मत भौतिकवाद (डायलेक्टिकल मैटीरियलिज्म) मे मिली जिसके प्रवर्तक थे हेगेल और व्याख्याता कार्ल मार्क्स। अतएव सर्वप्रथम इसे समझ लेना आवश्यक है।

तर्कसम्मत-भौतिकवाद का मूलभूत सूत्र है—ससार में प्रत्येक वस्तु गतिशील है······जीवन परिवर्तित होता है, उत्पादक शक्तियाँ बढती है और पुराने सम्बन्ध टूटते जाते है।[५] इस निष्कर्ष पर पहुँचने की पद्धति तर्कसम्मत है और सिद्धान्त भौतिकवादी। इसीलिए उसको तर्कसम्मत भौतिकवाद कहते है। हिन्दी के अनेक

---

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास : पृ० ६६९
२. आचार्य नन्ददुलारे बाजपेयी : आधुनिक साहित्य : पृ० ३७८
३. वही : पृ० ३७८
४. आधुनिक कवि, भूमिका : पृ० ११
५. कार्ल मार्क्स : स्तालिन की 'एनार्किज्म या सोशलिज्म' में उद्धत : पृ० १३

लेखको ने इसी के लिए 'द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद'[1] 'वैज्ञानिक भौतिकवाद' और 'तर्कयुक्त भौतिकवाद' का प्रयोग किया है।

सामाजिक जीवन सदैव विकसित होता रहता है। उसके कुछ तत्त्वो का सदैव ही नाश होता रहता है और कुछ का जन्म। आज जिसका जन्म हुआ है उसका कल नाश होगा। उसी के नाश में से नवीन का जन्म होगा। अतः जीवन मे प्राचीन और नवीन, विकासमान और मरणशील, क्रियाशील और प्रतिक्रियाशील का सदैव द्वन्द होता रहता है। जीवन से तात्पर्य उसके दोनों पक्षो से है। उसमें इनमें से किसी एक का पूर्ण अभाव नही होता। इसलिए जीवन को हमे इसी रूप मे ग्रहण करना चाहिये। यदि जीवन को समझना है तो यह देखना होगा कि उसमें किसका ह्रास हो रहा है और किसकी उन्नति। ह्रासशील शक्तियाँ बावजूद अपने अपार बल के भी नष्ट होंगी और विकासशील धीरे धीरे सबल होती जाँयगी।

यह मत वास्तव में द्वैतवादियों का है न कि भौतिकवादियों का। इसका कारण है कि विकासमान शक्तियाँ युग की परिस्थितियो के अनुकूल विचारो के अधिक निकट होती है इसलिए वे प्रसार प्राप्त करती जाती है जब कि ह्रासमान शक्तियाँ युग के प्रतिकूल, गर्हित होने से क्रमशः नष्ट होती जाती है।

यह सिद्धान्त जितनी सत्यता से प्रकृति पर चरितार्थ होता है उतनी ही सत्यता से मानव समाज पर भी। आज जो वर्ग या सिद्धान्त शक्ति सचय कर रहा है कल

---

१. इस नाम को ग्रहण करनेवाले लेखको ने इसका प्रतिपादन यों किया है—'चूँकि इस सृष्टि की कोई चीज़ अपने में पूर्ण नहीं है और न पूर्ण हो सकती है इसलिए उसमें कहीं न कहीं असगतियाँ अवश्य छिपी मिल जॉयगी। ये असंगतियाँ बढ़ती रहती है। एक अवस्था ऐसी आ जाती है जब इसके कारण पदार्थ का वर्तमान स्वरूप बिल्कुल बदल जाता है। इस परिवर्तित स्वरूप में भी फिर असगतियाँ पैदा हो जाती हैं। वे बढ़ती है। इस रूप में भी परिवर्तन होता है और एक नवीन स्वरूप दिखाई पड़ता है जो सतुलित एवं सामंजस्यपूर्ण दिखाई पड़ता है। इस प्रकार यह सृष्टि दो विरोधी तत्त्वों के द्वन्द्वों से स्वयं गतिशील रहती है। कुछ काल तक तो दोनों विरोधी तत्त्व साम्यावस्था में दिखाई पड़ते हैं किन्तु शीघ्र ही फिर उनमें प्रारम्भ हो जाता है द्वन्द्व और परिवर्तन का क्रम निरन्तर चला करता है। वस्तु या पदार्थ की मात्रा में परिवर्तन होता ही है, उसके गुण भी परिवर्तन के चक्र से मुक्त नहीं। विरोधी शक्तियों का द्वन्द्व कभी कभी इस स्थिति में आ जाता है कि वस्तु की मात्रा और उसके गुण में बड़े वेग से परिवर्तन होता है। इसे हम पदार्थ की सृष्टि या क्रान्ति कहते हैं। यही द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद है।

—डॉ० भोलानाथ : हिन्दी साहित्य—१९२६–४७ : पृ० ३६६

वही दोषयुक्त तथा पुराना पड़कर निर्बल और व्यर्थ हो जायगा। इसका कारण है समाज के ऊपरी ढाँचे का बदलना। कवि बच्चन ने 'जग बदलेगा किन्तु न जीवन' कहकर इसी ओर सकेत किया है। ससार की कोई वस्तु पूर्ण नही है। पूर्ण होने के लिए ही वह सदैव विकसित होती रहती है। अपने इस विकासक्रम में जब उसकी आत्मा और ढाँचे मे विरोध बहुत बढ़ जाता है तो क्रान्ति होती है। जो उन दोनों मे बहुत कुछ सीमा तक साम्य स्थापित करती है। इस प्रकार उक्त गति के दो पहलू है—एक विकास का दूसरा क्रान्ति का। छोटे छोटे परिवर्तन ही भविष्य के विराट् आन्दोलन की भूमिका तैयार करते है।

अब तक हमने सिद्धान्त के पूर्व पक्ष, तर्कसम्मत, का विवेचन किया। दूसरा प्रश्न यह है कि इसे भौतिकवाद क्यो कहा जाता है। मार्क्स ने इसका उत्तर यो दिया है—

पदार्थ चेतना से उद्भूत वस्तु नही वरन् चेतना ही पदार्थ की सर्वश्रेष्ठ उत्पत्ति है।[1] अर्थात् चेतना पदार्थ पर निर्भर करती है न कि पदार्थ चेतना पर। अतः मूल वस्तु पदार्थ हुई। वही सवेदनाओं एवं विचारो का स्रोत है। इस निष्कर्ष पर पहुँचने के लिए वे सृष्टि की उत्पत्ति और मानव के जन्म की कथा दुहराते है। किन्तु फिर भी यह मूल प्रश्न मूल बना रहता है कि प्रकृति और समाज चेतना का कारण है या चेतना 'प्रकृति' और 'समाज' का कारण है?

चेतनावादियो (Idealists) का मत है कि विश्व-चेतना पहले से थी और प्रकृति एवं समाज का विकास उसी के अनुरूप हुआ। अतः वह उनेक लिए आधार का काम करती है। वे (प्रकृति एवं समाज) उसका बाहरी ढाँचा है तथा उसके क्रमिक विकास की मात्र अभिव्यक्ति है। द्वैतवादियों (Dualists) के अनुसार दो शक्तियाँ, चेतना और पदार्थ, पहले से है जो एक दूसरे की विरोधी हैं। इसलिए ससार की घटनायें भी दो वर्गो मे बँट जाती है—चेतनमय और पदार्थमय। इन्ही के परस्पर सघर्ष से प्रकृति और समाज का निरन्तर विकास होता रहता है।[2]

भौतिशवादी इन दोनो ही सिद्धान्तों के विरुद्ध है। चेतना और पदार्थ एक दूसरे की विरोधी शक्तियाँ नही अपितु एक ही प्रकृति के दो पहलू है। एक से अलग कर दूसरे के बारे मे विचार भी नही किया जा सकता। इसी प्रकार यह कहना भी हास्यास्पद है कि चेतना का पहलू पदार्थ से पहले का है। सृष्टि का विकासक्रम इसका

---

1. Matter is not a product of consciousness, but consciousness itself is merely the highest product of conscionsuess.

सौमित्र रचित प्रगतिवाद से उद्धृत : पृ० ११

2. J. *Staln* : Anarchism or Socialism : P. 30-31

प्रमाण है। पदार्थ मे जैसे जैसे परिवर्तन आते गए उन्ही के अनुरूप चेतना भी विकसित होती गई। इससे निष्कर्ष यह निकला कि पहले ऊपरी ढाँचे, पदार्थ मे परिवर्तन होता है उसी के अनुरूप उसका भीतरी पहलू, चेतना भी बदलता है। इस प्रकार मूल मे पदार्थ को मानने के कारण यह सिद्धान्त भौतिकवादी कहलाया।

भौतिकवादी इसी पद्धति पर इतिहास की भी अर्थ मूलक व्याख्या करते है। अर्थ समाज का भौतिक आधार है—मूल तत्त्व (content) है और वैधानिक, राजनैतिक, धार्मिक और दार्शनिक विकास उसका विचारात्मक रूप (ideological-form) ऊपरी ढाँचा है। आर्थिक आधार को बदलते ही सारा ऊपरी ढाँचा भी शीघ्रतापूर्वक बदल जाता है। (With the change of the economic foundation the entire immense structure is more or less rapidly transformed—Marx)[1] इसका यह अर्थ नही कि आर्थिक तत्त्व ही अकेला निरूपात्मक तत्त्व है। वह तो आधार मात्र है। किन्तु ऊपरी ढाँचे के अनेक तत्त्व वर्ग युद्ध के राजनैतिक रूप और उसके परिणाम एक सफल युद्धके पश्चात् विजेता वर्ग द्वारा स्थापित विधान आदि कानून की प्रकारें, इन वास्तविक युद्धो के उनमे भाग लेनेवालों के मस्तिष्को मे पड़े प्रतिबिम्ब, रानैजतिक, वैधानिक, एव दार्शनिक सिद्धान्त, धार्मिक विचार और आगे बढ़कर उनके विकसित रूप मतवाद ऐतिहासिक सघर्ष की गति पर अपना प्रभाव डालते है, और अक्सर सघर्ष के बाह्यरूप को निर्धारित करने मे प्रमुख रहते है। इन सब तत्त्वो मे अतर्क्रिया होती है, जिसमें आकस्मिक घटनाओ के अबाध पुज मे आर्थिक प्रक्रिया आवश्यक रूप से अन्त मे प्रमुखता हासिल कर लेती है।[2] अतएव किसी विचार के मूल स्रोत को मनुष्य के मस्तिष्क अथवा कल्पनाशक्ति मे नही अपितु आर्थिक व्यवस्था मे खोजना चाहिए।[3] इसी प्रकार मनुष्यों को अपराधों का दण्ड न देकर अपराध की प्रेरणा देनेवाली परिस्थितियों को नष्ट करना चाहिए। आधुनिक समाज मे होनेवाले संघर्ष के सम्बन्ध में उनका कहना है कि कुछ काल पश्चात् उत्पत्ति के स्वायत्तीकरण का रूप, जो आरम्भ मे सहायक होता था, उत्पत्ति की शक्तियो पर बन्धन बन जाता है। तब सामाजिक क्रान्ति जन्म लेती है। आज भी स्वायत्तीकरण का रूप वैयक्तिक—निजी सम्पत्ति के सचय के नियम के अनुसार—है जब कि उत्पादन की शक्तियाँ निर्वैयक्तिक, सामाजिक प्रकृति की है। उत्पादन समाज के कई व्यक्ति मिलकर करते है किन्तु उसका फल एक व्यक्ति भोगता है।

---

1. J. Stalin : Anarchism or Socialism : P. 37
२. शिवदान सिंह चौहान : रल्फ फाक्स के मार्क्सवाद और साहित्य के अनुवाद से : —हस, अप्रैल १९४१
३. जे० स्टालिन : एनार्किज्म आर सोशलिज्म : पृ० ४०

पूँजी सामूहिक प्रयत्न का परिणाम है, वह सामाजिक वस्तु है ।[1] अतः उसका उपयोग सम्पूर्ण समाज द्वारा होना चाहिये किन्तु ऐसा होता नही । इसीलिए सघर्ष होता है । उत्पादन का स्वरूप युग के अनुकूल, साम्यवादी है अतः उसे अभी बदला नही जा सकता । चूँकि स्वायत्तीकरण का रूप पुराना, पूँजीवादी है अतः उसी को बदलना चाहिए । पारिभाषिक शब्दावली मे कहे तो पूँजीपति वर्ग को नष्ट होकर सर्वहारा वर्ग मे मिल जाना होगा ।

समाज के सम्बन्ध मे ऐसी धारणा रखनेवाले साहित्य को भी विशिष्ट दृष्टि-कोण से देखते है ।

साहित्यकार एक सामाजिक प्राणी है । समाज का एक बड़ा भारी उत्तरदायित्व उस पर है । यदि वह उसको नही सभालता तो समाज के प्रति अपराध करता है और इसीलिए अपने प्रति भी ।[2] व्यक्ति अपने मे कुछ नही है, जो कुछ है समाज है । जिन सवेदनाओं और विचारो को वह अपना समझता है वे वास्तव मे उसे समाज से ही प्राप्त हुए है आज सामाजिक विषमता को दूर करने के लिए अथवा शासन नीति को बदलने के लिए राजनीतिक, धार्मिक या वैज्ञानिक नेता अपने ढग से प्रयत्न कर रहे हैं । अत· साहित्यकार का भी यह कर्त्तव्य है कि वह अपने साहित्य के द्वारा युगानुकूल विचारो को जनता तक पहुँचा कर उनकी सहायता करे । भारतवर्ष मे अनेक साहित्यिक मोर्चो ने समय समय पर घोषणा पत्र जारी कर जनता का ध्यान इस ओर आकृष्ट किया ।[3] कला कला के लिए नही जीवन के लिए है । अतः वही

---

१. के० मार्क्स सण्ड एंजेलस : मैनिफ़ास्टो ऑव कम्यूनिस्ट पार्टी : पृ० ६४

२. अंचल : प्रगतिवाद ही क्यों : हंस, अप्रैल १९४३

३. सन् ३६ मे भारतीय साहित्य परिषद ने नागपुर के अधिवेशन में एक घोषणा पत्र प्रकाशित किया था जिस पर पं० नेहरू, मुंशी प्रेमचन्द, आचार्य नरेन्द्रदेव और मौलवी अब्दुलहक़ के दस्तख़त थे । घोषणा पत्र में कहा गया था—

हमारा ख़याल है कि साहित्य के मसेलों को जिन्दगी के दूसरे मासलों से अलग करके नहीं देखा जा सकता । जिन्दगी पूर्ण ईकाई है । उसे साहित्य, दर्शन, राजनीति वग़ैरह खानों में तकसीम नहीं किया जा सकता । साहित्य ज़िन्दगी का आईना है । इतना ही नहीं, बल्कि वह ज़िन्दगी के कारवाँ का रहबर है । उसे केवल ज़िन्दगी के साथ स्वर में स्वर मिलाकर नहीं चलना है, बल्कि उसकी रहनुमाई भी करना है ···· अगर जिन्दगी के साथ सबसे महत्त्वपूर्ण मसला यह है कि समाज के चेहरे से बेकारी, गरीबी और ज़ुल्म के दाग़ धोये जाँय तो यह कहने की ज़रूरत नहीं रह सकती कि अदब का, साहित्य का इशारा किस ओर हो वह क्या करे, किनसे कहे और किस तरीके से कहे ।

ज़िन्दा और सच्चा अदब वही है जो समाज को बदलना चाहता है, उसे ऊँचा उठने की राह दिखाता है । हमें यकीन है कि हमारे मुल्क का अदब जिन्दगी से अपने को सम्बद्ध करेगा और ज़िन्दगी की प्रगति का अलम-बरदार होगा ।

उसकी उपादेयता उससे प्राप्त शक्ति से ही सिद्ध होती है। यही कारण है कि प्रगतिशील साहित्यिकों ने शृंगारिक विषयो के प्रति उदासीनता प्रकट की। उन्होने मुख्य रूप से (१) रूढियों का विरोध, (२) शोषितो के प्रति सहानुभूति और शोषको की निन्दा, (३) धार्मिक जीवन की निन्दा और वैज्ञानिक जीवन की प्रशसा और (४) क्रान्ति की भावना पैदा करनेवाले साहित्य की रचना की।[1] इसके पीछे उनका उद्देश्य पूँजीवाद का मूलोच्छेदन और साम्यवाद की स्थापना रहा।

भारतवर्ष में जिस साहित्य को प्रगतिशील कहा जाता है (और जिसकी प्रगतिशीलता पर उसके सर्जकों को गर्व भी है) उसकी अपनी कुछ सीमायें रही जिनके कारण वह अधिक लोकप्रिय नही हो सका। अतः उसको प्रगतिवादी कहना ही अधिक उपयुक्त है। यहाँ जिस समय प्रगतिशील लेखक संघ की स्थापना हुई सारा देश विदेशियों के दमनचक्र में पिस रहा था। स्वतंत्रता प्राप्ति के अनेक प्रयत्न निर्ममतापूर्वक कुचल दिये गए थे। उसके कुछ ही दिनों बाद द्वितीय महायुद्ध आरम्भ हो गया जिसने विचार की सभी शक्तियों को आकर्षित कर लिया। इसके साथ ही गांधी जी के अहिंसात्मक असहयोग आन्दोलन और गर्मदल के हिंसात्मक कृत्यो ने बल पकड़ा। ये बाह्य घटनाये इतनी प्रकाशमान थी कि कवि को अन्तस् के प्रकाश को अनुभव करने का अवकाश ही नही मिला। फलस्वरूप काव्य स्थूल से स्थूलतर, वस्तुपरक, होता गया। दूसरी ओर विज्ञान के नित्य नये आविष्कारों ने कवि के कल्पना-संसार के समस्त रगो को झकझोर कर झाड़ दिया जिससे उसका साहित्य वैज्ञानिक बुद्धिवाद के शिकंजे में कसता गया। पहले से किसी निर्देशक योजना के न होने से प्रगतिशील लेखक सघ के घोषणापत्र[2] ही साहित्य का नियमन करने लगे।

---

१. डॉ० हरदेव बाहरी : हिन्दी की काव्यशैलियों का विकास : पृ० २२७

२. (अ) अखिल भारतीय प्रगतिशील लेखक संघ की १९३८ की घोषणा थी—"प्रत्येक भारतीय लेखक साहित्य में वैज्ञानिक बुद्धिवाद का समावेश करके देश में क्रान्ति की भावना के विकास में सहायता पहुँचाये'।

(ब) भारतीय लेखकों ने सन् १९४२ में घोषणा की—'आज हमारा कर्तव्य है कि हम फैशीस्ट आक्रमण के ख़िलाफ़ अपनी मातृभूमि की रक्षा करने की राष्ट्रीय भावना अपने देश की जनता मे जगाये .अपनी रचनाओं द्वारा हमें फैशीज़्म के ख़िलाफ़ अपने को दिमाग़ी तौर पर मज़बूत बनाने में जनता की मदद करना चाहिये। किताबों और पैम्पलेटों, रेडियो और सिनेमा, गानों और रंगमंच के ज़रिये हमें विशाल जनता के पास पहुँचना चाहिये

(क) प्रगतिशील लेखक सघ ने सन् ४३ में घोषणा की—'छोटे छोटे नाटकों,

(शेष पृष्ठ २८२ पर)

इसका दुष्परिणाम यह हुआ कि भारत के अधिकाश प्रगतिवादी लेखक बात-बात मे रूसी और चीनी साहित्य की दुहाई देने लगे, मास्को उनके लिए स्वर्ग बन गया। वे प्रत्येक समस्या का हल रूसी सविधान में खोजने लगे। अपने देश की परम्परा और तत्कालीन परिस्थितियाँ उनकी आँखो से ओट हो गई। ऐसे साहित्यिकों को लक्ष्य कर डॉ० राम विलास शर्मा ने कटाक्ष किया था, 'मेरी समझ से जो प्रगतिशील लेखक अपने प्रोग्राम से राष्ट्रीय स्वाधीनता का उद्देश्य निकाल देता है उसका जीवित सत्य काफी निर्जीव रह जाता है।'[1]

इसके अतिरिक्त जीवन की स्थूल समस्याओं के समावेश और मानव मूल्यो के निरादर से कल्पना, स्वानुभूति और संवेदनशीलता की कमी आई उससे प्रगतिवादी काव्य का बहुत सा अश नारेबाजी और साम्यवाद का प्रचार मात्र बनकर रह गया। यद्यपि कुछ प्रगतिशील साहित्यिकों का यह आग्रह रहा कि उद्देश्य सिद्धि के लिए साहित्य प्रचारवादी हो।[2] किन्तु हमें यह कभी नही भूल जाना चाहिये कि साहित्य सब कुछ होते हुए भी कला के उच्च आसन से कभी स्खलित नही होना चाहिये। मिल मजदूरों, चकलो और चालो के भद्दे और अश्लील यथातथ्य चित्र खींचने को जो साहित्य सृजन समझ बैठे थे उनके लिए हीरेन मुखर्जी ने लिखा था, 'प्रगतिशील आलोचना को सामान्यत: दो बुराइयो के कारण क्षति उठानी पड़ती है, एक ओर तो नकली मार्क्सवादी का असंयम जो अपने उत्साह में यह भूल जाता है कि लिखना एक शिल्प है जिसकी अपनी एक लम्बी अनूठी परम्परा है, और दूसरी ओर गरीबों के दुखों के फोटो सदृश चित्रण की प्रशंसा करते न थकानेवाले और बाकी सारी चीजों को प्रतिगामी पुकारने वाले भावना-प्रधान व्यक्ति की कोरी भावुकता।'[3] यह बात नही कि प्रगतिवादी अपने कमज़ोर शिल्प को समझते न हों। छायावादियों की तुलना

(पृष्ठ २८१ शेष का)

कहानियों, कविताओं, गीतों और पवाड़ों की रचना जिनमें सम्राज्यवादी गुलामी से छुटकारा पाने के लिए और जापानी आक्रमणकारियों से देश की रक्षा करने के लिए राष्ट्रीय एकता की आवश्यकता पर ज़ोर दिया गया हो।

विदेशी प्रगतिशील रचनाओं का और विशेषकर सोवियत और चीनी साहित्य का अनुवाद और प्रचार करना चाहिये। —शिवदान सिंह चौहान: प्रगतिवाद के परिशिष्ट से।

१. राष्ट्रीय स्वाधीनता और प्रगतिशील साहित्य : पृ० १३७
२. चन्द्रबली सिंह : प्रगतिशील साहित्य और उसके झाड़ झंखाड़ : नया साहित्य, अगस्त १९४९ : पृ० ५६
३. प्रगतिशील आलोचना : हंस, अप्रैल १९५२

मे उनका यह पक्ष कितना दुर्बल है वे खूब जानते थे किन्तु बजाय उसके सबल करने के उन्होने इसका इल्ज़ाम समाज पर थोप दिया।[1] पर सच तो यह है कि वाद के दायरे में फँस कर प्रगतिवादी कवियो की कविताओ में मुख्य विषय केवल क्रान्ति रहा जिसकी चकाचौध के आगे उन्हें और कुछ सूझा ही नही। यहाँ क्रान्ति पर भी विचार कर लेना अनुचित न होगा।

प्रगतिवादियो ने क्रान्ति के दो रूप देखे—(१) फैशीज़्म के विरोध में साम्यवाद और (२) पूंजीपतियो के विरुद्ध सर्वहारावर्ग। पहले वर्ग मे वे कवितायें आती है जिनमे रूस और चीन की प्रशंसा की गई है और यह आशा प्रकट की गई है कि भारतवर्ष का भाग्य भी इन्ही की सहायता से बदला जा सकता है। जैसे—

महायुद्ध के कीर्तिस्तम्भ, बने, अड़े रहो तुम स्तालिन ग्रेद,
वीर योग्य बसुन्धरा पर खड़े रहो तुम स्तालिन ग्रेद

—सुमन

क्या सोचा है मित्रो तुमने इस अचरज का कभी भेद
जीत नहीं पाये जापानी क्यों अब तक चीनी प्रदेश।

—सुरेन्द्र

दूसरे वर्ग मे वे कविताये आती है जिनमे दलित वर्ग का करुणाजनक चित्र खीचा गया है। ऐसी रचनाओ का उद्देश्य वस्तुतः जनता मे उनके प्रति सहानुभूति उत्पन्न करना होता है ताकि उनके आन्दोलन मे समस्त जनता उनका साथ दे सके। ऐसे चित्र अचल, केदारनाथ अग्रवाल तथा भगवतीचरण वर्मा ने अधिक दिये है जैसे—

वहीं पर मैली शैया
धानी चुनरी बिछाये लेटी नारी
घायल-चील-सी
अधनंगी अजात
किसी श्रमजीवी की अभिशाप
चूसता फिर निचोरता सूखे स्तन
भूखा शिशु

—अचल

रात है
अंध वासना में नर
खूब पिये
रंडियों के साथ खोया

---

१. शिवनाथ : वर्तमान साहित्य की रूप रचना : नया साहित्य, अक्तूबर, १९५१

नर्क में डूबा है
रात है सत्य ज्ञान
उच्चादर्श
गदी मल मूत्र की नालियों में बहते हैं
विश्व का निकृष्ट व्यंग्य मूलगंज
रात है !!

—केदारनाथ अग्रवाल

उस ओर क्षितिज के कुछ आगे
कुछ पाँच कोस की दूरी पर
भू की छाती पर फोड़ों से
है उठे हुए कुछ कच्चे घर

पशु बनकर नर पिस रहे जहाँ
नारियाँ जन रही हैं गुलाम
पैदा होना, फिर मर जाना
बस यह लोगों का एक काम ।

—भगवतीचरण वर्मा ।

क्रान्ति का सीधे सीधे आह्वान करनेवालो का नेतृत्व कवि दिनकर और भगवती-चरण वर्मा ने किया । किन्तु सबसे बड़ा दोष जो इस प्रकार की कविताओं मे आया वह था क्रान्ति का अत्यन्त अस्पष्ट चित्र । ऐसा प्रतीत होता है कि उन्होंने कोरी भावुकतावश केवल नाश की ही कल्पना की है । नाश के पश्चात् सृजन का क्या रूप होगा इस ओर उनका ध्यान ही नही गया । वे अपने इसी में मग्न रहे कि किसी अज्ञात दिशा से शकर प्रलयंकारी नृत्य करेगे,[1] जिससे आज की विषम सामाजिक व्यवस्था नष्ट हो जायगी और फिर उसके बाद चारों ओर सुख ही सुख, शाति ही शान्ति दिखाई पड़ेगी । दिनकर जिस विपथगामिनी[2] और भगवती चरण वर्मा जिस बादल का आह्वान करते हैं वे क्रांति के प्रतिरूप न होकर अराजकता का ही स्वरूप अधिक खड़ा करते है । उसमें भय संचार का जितना प्रयत्न किया गया है उतना भविष्य निर्माण का नही । उसमे यही कारण है कि जब लाल देश और लाल सेना से भी उनके सुख-स्वप्न पूरे होते न दिखाई दिये तो वे उसकी भी आलोचना करने लग गए जो इन पक्तियो से स्पष्ट है—

---

१. दिनकर : रेणुका : पृ० १

२. हिन्दी काव्य की प्रवृत्तियाँ, राजकमल प्रकाशन : पृ० ३५

या फिर वे हिटलर, स्टैलिन ही
अपनी हिंसा की बर्बरता
को ही रखेंगे यहाँ अमर ?
—भगवतीचरण वर्मा

प्रगतिशील साहित्य की यथार्थवादी दृष्टि, जिसमे भविष्य की कल्पना का भी समावेश हो जाता है, का इनमे अभाव सा ही है। इस दृष्किोण से देखने पर कवि सुमित्रानन्दन पन्त ही ऐसे कवि ठहरते हैं जिन्होने नई संस्कृति की रूपरेखा को स्पष्ट देखा और उसके लिए एक उच्च सिद्धान्त भी दिया।[1] उनके अनेक काव्य-सग्रह नई दृष्टि, नये मानवतावाद, को प्रतिपादित करते हैं जिसमें उनकी पूर्ण आस्था है। कला की दृष्टि से उनके मूल्याकन मे मतभेद हो सकता है किन्तु उनकी गम्भीर-विचार प्रधानता में कोई सन्देह नही। यो कहे कि क्रान्ति की अभिव्यंजना करनेवाली भावुकताप्रधान कविताओ को उन्होंने बुद्धि की रीढ़ दी।[2]

इस युग की एक और धारा जिसकी परम्परा छायावादी युग मे कवि बच्चन और नरेन्द्र शर्मा ने चलाई, शृंगार की थी जिसने अब एक नया मोड़ ले लिया था। द्विवेदी युग तक के निर्वैयक्तिक प्रेम के विरोध मे पूर्वकालीन छायावादी काव्य में वैयक्तिक प्रेम को प्रधानता मिली। पन्त ने भी 'भावी पत्नी के प्रति' आदि कुछ ऐसी कवितायें लिखी किन्तु अपने अभिसार को भी सामाजिक प्रदर्शन का रूप उत्तर-कालीन छायावादियों ने दिया। कुछ सीमा तक उन्होने भी कला के झीने आवरण के पीछे अश्लीलता को छिपाए रखा। प्रगतिवादियो ने उसे भी उघाड़ दिया। सत्य तो यह है कि नारी सम्बन्धी जितने अशोभनीय चित्र प्रगतिवाद ने दिये और किसी ने नही। यह उसका सबसे दुर्बल पक्ष है। नारी से चोली उतरवाकर, छाती और जाँघें खुलवाकर[3] कवि उसको किस प्रगति के पथ पर आरूढ़ करवाना चाहता है यह तो वही जाने किन्तु यदि सचमुच ऐसी स्त्रियाँ समाज में चारो ओर दिखाई देने लग जाँय तो मानवता के स्थान पर पशुता का प्रदर्शन होगा जिसको कवि की लाक्षणिकता भी नही ढक पायगी। 'प्रेम-तीरथ' कविता की कुछ कविताएँ द्रष्टव्य हैं—

नर है एक, एक नारी है।
दोनों नगे सटे खड़े हैं,

---

१. वह सिद्धान्त है—अन्तर्मुख अद्वैत पड़ा था युग युग से निष्क्रिय, निष्प्राण,
जग में उसे प्रतिष्ठित करने दिया साम्य ने वस्तु विधान। —युगवाणी : पृ० ४

२. शिवनाथ सिंह चौहान : प्रगतिवाद : पृ० ६८

३. केदारनाथ अग्रवाल : 'नारी से', हंस, जून १९४२

दोनों की जाँघें मिलती है
दोनों की कटि एक हुई है
दोनों की बाहें जकड़ी हैं,
वर की दृढ़ छाती से दबकर
नारी का कुछ तुरत दरकने वाला है,
बाहर आधा निकल रहा है.

—केदारनाथ अग्रवाल ।

इन पंक्तियो मे कवि ने प्रगति की किस दिशा की ओर संकेत किया है यह उसके प्रशसक ही जाने । नारी भोग्या ही नही, कन्या और मातारूपिणी भी है । यह पक्ष प्रगतिवाद मे बिल्कुल छूट गया ।

अनेक दोषो के रहते हुए भी प्रगतिवादी साहित्य ने दलित एवं कृषक तथा श्रमिक वर्ग की ओर ध्यान आकर्षित, मनुष्य मनुष्य मे परस्पर कर्तव्य की ओर सकेत, तथा काला बाजार करनेवालो के कारनामे उघाडकर राजनीति से समाज के प्रत्येक का अभिन्न सम्बन्ध दर्शाया है । इस प्रकार इसने अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण देकर जन व्यक्ति जागृति में जो सहायता दी वही उसके ऐतिहासिक मूल्य को अक्षुण्ण रखेगी ।

छायावाद युग : कला पक्ष

प्रगतिवाद ने कला पक्ष मे कोई क्रान्ति नही की । छायावादी कवियों ने व्यापक रूप से भाषा मे परिवर्तन किये थे उनको इसने ज्यो का त्यो ले लिया, हाँ, उनकी सस्कृतनिष्ठ शैली अवश्य नही अपनाई । इसका कारण यह था कि प्रगतिवादी अपने भावो को जनता के उस वर्ग तक भी पहुँचाना चाहते थे जो उस भाषा को केवल समझता है, पढ़ भी नही सकता । इसलिए वे अपने प्रतिपादन को अधिक सरल और जनता के निकट का बनाना चाहते थे ।[1] इस युग की अनेक कवितायें उद्‌बोधनात्मक है । जिस वर्ग के प्रति सहानुभूति प्रकट की जा रही है या जिनको परिवर्तन के लिए जगाया जा रहा है वे ही उसके गाम्भीर्य को समझ न सके तो वह साहित्य किस काम का । साहित्य का सामाजिक मूल्य ही भाषा की सरलता के लिए शर्त बन गया ।

इसके अतिरिक्त कवियो ने उन विदेशी शब्दों को भी बेझिझक ग्रहण किया जो अपने तत्सम या अपभ्रश रूप मे जनता मे प्रवेश पा चुके थे और इसलिए भाव अथवा विचार जगाने में अनूदित हिन्दी शब्दो से अधिक सक्षम थे । जैसे, कामरेड, कैपिटेलिस्ट, बुर्जुआ आदि । अरबी फारसी के शब्दो की ओर भी कुछ कवियो का झुकाव अधिक रहा । नरेन्द्र शर्मा ने देश विदेश का वर्णन करते समय उन देशज शब्दों का

१. राम गोपाल सिंह चौहान : 'साहित्य को नई दिशा' : नया साहित्य, मई १९५१

भी प्रयोग किया है जो केवल वही के है। इस प्रकार यद्यपि भाषा में व्यापकता लाने का प्रयत्न किया गया है किन्तु तुलनात्मक अध्ययन करने पर स्पष्ट हो जाता है कि शब्दों के प्रयोग पर इस युग में पूर्ववर्ती युग की अपेक्षा कम ध्यान दिया गया है (यहाँ उन कवियों की बात नही है जो छायावाद युग से आए थे)। कुछ घिसे घिसाये शब्दों को लेकर शोले उगलनेवाले और प्रलय मचानेवाले ऐसे बहुत से कवि हुए जिनका व्यक्तित्व अत्यन्त सामान्य कोटि का था।

अलंकार योजना के सम्बन्ध मे कवि पन्त एक नारा[1] पहले ही दे चुके थे। पदगत और वाक्यगत अलकारों की अपेक्षा अन्योक्ति पद्धति पर प्रबन्धगत अलंकार के बड़े सुन्दर नमूने इस युग ने दिये। पन्त की 'स्वीट पी' और 'सृष्टि' नरेन्द्र शर्मा की 'पलाश बन' और 'मिट्टी के फूल' केदारनाथ अग्रवाल की 'छोयले' शीर्षक कवितायें इसी प्रकार की हैं। बीच बीच मे उपमाओं का ही अधिक प्रयोग हुआ है।

छन्दो के क्षेत्र में मुक्त छन्द के साथ साथ मात्रिक छन्दो का भी बराबर प्रयोग होता रहा। किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि कवियों के दो अलग अलग वर्ग रहे। एक ने अधिकतर मात्रिक छन्द का ही प्रयोग किया—जैसे, पन्त, नरेन्द्र, सुमन ने। दूसरे वर्ग ने मुक्त छन्द को प्रधानता दी जिसके अग्रणी अचल और केदारनाथ है। नए कवि मुक्त छन्द की ओर अधिक झुके किन्तु मुक्त छन्द का स्वाभाविक प्रवाह बहुत कम कवियो मे मिलता है।

विभिन्न ध्वनियों की सोदाहरण व्याख्या

गीति काव्य में ध्वनि-विवेचन

छायावाद युग की भाँति प्रगतिवाद-युग मे भी गीतों की प्रधानता रही जिनमे विचारोद्‌बोधन तथा भावोद्‌बोधन के लिए शब्द की लक्षणा शक्ति की विशेष सहायता ली गई है।

लक्षणामूला ध्वनि

पदगत अर्थान्तर संक्रमित वाच्य—

चढ़ा दे स्वातंत्र्य—प्रभु पर अमर पानी।
विश्व माने—तू जवानी है; जवानी।[2]

---

१. वे पंक्तियाँ हैं: तुम वहन कर सको जन मन में मेरे विचार
वाणी मेरी चाहिये तुम्हें क्या अलंकार॥

२. माखनलाल चतुर्वेदी: हिमकिरीटिनी: पृ० ११५

पहले कहा जा चुका है कि अर्थान्तर सक्रमित वाच्य ध्वनि मे पद थवा अवाक्य अपने व्यापक अर्थ को त्याग कर केवल उसके अश मे ही सीमित हो जाता है। उक्त पक्तियों मे कवि नवयुवको को स्वातंत्र्य युद्ध के लिए ललकार रहा है। दूसरी पंक्ति मे 'जवानी' शब्द दो बार आया है। अर्थ है—हे जवानी देश की स्वतत्रता के लिए बलिदान होकर यह सिद्ध कर दे कि तू वास्तव मे जवानी है। पद का दूसरा प्रयोग सम्बोधन है और प्रथम में उसके गुणो की ओर संकेत है। 'जवानी' मनुष्य की एक अवस्था का नाम है जिसमे वह जोश से भरा रहता है। कुछ कर गुजरने की तमन्ना उसे पागल किये रहती है। इस अवस्था में सोच विचार की शक्ति कम और भावुकता अधिक होती है। 'जवानी' का प्रथम प्रयोग इसी उत्साह और भावुकता की अवस्था के अर्थ मे हुआ है। अवस्था के लिए प्रयुक्त संज्ञा उस अवस्था के गुणों में सक्रमित हो जाने के कारण अर्थान्तर संक्रमित वाच्य लक्षणा सिद्ध होती है। ध्वनि है—'यह समय सोच विचार का नही बलिदान करने का है। जो अधिक विचारशील है वह बलिदान नही कर सकता। अभी बलिदान दे दोगे तो अमर हो जाओगे। यदि सोचते विचारते ही रहे तो मानव जीवन व्यर्थ हो जायगा।

> **हाय छिनी भूखों की रोटी,**
> **छिना नग्न का अर्ध वसन है,**
> **मज़दूरों के कौर छिने है**
> **जिन पर उनका लगा दसन है,** [1]

इन पंक्तियो मे दलितो की अत्यन्त दीन दशा व्यग्य है। प्रथम पक्ति मे 'रोटी' पद का अर्थ लक्षणा से भूख मिटाने के साधनो मे सक्रमित हो गया है। रोटी सभी खाते है कुछ रूखी कुछ चिकनी चुपड़ी कुछ मजबूरन कुछ शौकिया किन्तु उसके कार्य मे कोई अन्तर नही आता वह जीवन की एक आवश्यकता है। सम्पूर्ण वाक्य का अर्थ हुआ—भूखे जो किसी प्रकार थोड़ा बहुत रूखा-सूखा भोजन प्राप्त करते भी है वह भी उनसे छिन जाता है। इससे उन पर होनेवाले अत्याचार व्यंग्य है। जिन केपास जीवन के कम से कम साधन भी नही हैं उनका जीवन कितना कष्टमय है इसकी कल्पना की जा सकती है। इसी प्रकार दूसरी पंक्ति का 'अर्द्ध वसन' पद अपने विशिष्ट अर्थ मे संक्रमित होकर उक्त वस्तु व्यंजित करता है।

> **प्रभु का अनन्त वरदान तुम्हें उपभोग करो प्रतिक्षण नव नव**
> **क्या कमी तुम्हें है त्रिभुवन में यदि बने रह सको तुम मानव।** [2]

---

१. दिनकर : हुंकार : पृ ४७

२. पन्त : युगान्त : पृ० ५६

मानव ईश्वर की सर्वश्रेष्ठ कृति है। इतर सब वस्तुएँ उसी के उपभोग के लिए है। वह संसार मे शीर्ष स्थान का अधिकारी है। पर ईश्वर यह भी चाहता है कि उस मे योग्य अधिकारी के गुण बने रहे। मानव विवेक के बल पर पशुता को अधिकृत कर ही ऊँचा उठा है उठ सकता है। विवेक न हो तो पशु और मानव मे क्या अन्तर रह जाय। सामान्यतः मानव शब्द किसी भी मानव रूपधारी के लिए प्रयुक्त हो सकता है। उसके लिए मानव बने रहने के उपदेश मे मुख्यार्थ का बाध है। अतः 'मानव' पद से मानव मूर्ति नही मानवोचित गुणो का अर्थ लेना पडेगा। यह पदार्थ का विशिष्ट अर्थ मे सक्रमण है। व्यग्य है आज सुख की अपार सामग्री के रहते हुए भी मनुष्य क्यो दुखी है। क्योकि अपने आदर्श से गिरकर वह उस योग्य नही रह गया है। मानवीय गुणो का फिर से विकास करने पर वह सुखी हो सकता है।

खबरदार ऐ मददगार गद्दारों के
अधम पुजारी खून रँगी तलवारों के।[1]

कवि निजी स्वार्थो के लिए सघर्ष करनेवालो (ट्रु मैन चर्चिल) को ललकार रहा है और उनके साथ ही उनके मददगारो को भी। गद्दार उन्हे इसलिए कहा जा रहा है कि गरीब जनता की सहायता से वे उन्ही के शोषण का षड्यत्र रचते है। दूसरी पक्ति मे ऐसे व्यक्तियो को खून रँगी तलवारो के पुजारी कहा गया है। आज का युद्ध तलवारों का युद्ध नही रह गया है इसलिए कोई तलवारो का भक्त नही हो सकता। अतः 'खून रँगी तलवारो' समस्त पद मे मुख्यार्थ का बाध है। लक्ष्यार्थ है लडाई का सामान। युद्ध में काम आना तलवार का विशिष्ट धर्म है। इस प्रकार लक्ष्यार्थ हुआ वे व्यक्ति जिन्हे अपनी युद्ध-सामग्री पर गर्व है और निरन्तर उस शक्ति को बढाते चले जा रहे है। मनुष्य का प्राकृतिक गुण जीवन आनन्द है। मरण-दुख नही। तुम इसके विरुद्ध कार्य कर रहे हो इसलिए गद्दार हो। ध्वनि है जो सघर्ष को प्रोत्साहन देता है वह मानव जाति का शत्रु है।

उठो अब विजय करो जागृति हो चुकी विश्व ने नीद तजी।[2]

निद्रा जगत्-जीवन में विश्रान्ति निष्क्रिया का काल है। यह सदसत् में भेद स्थापित करनेवाली बुद्धि की जड़ता का काल भी है। उक्त पक्ति में 'नीद' इसी दूसरे अर्थ मे ही प्रयुक्त हुआ है। लक्ष्यार्थ है अब तक सामान्य जन भले बुरे का ज्ञान नही रखते थे। वे भ्रम मे पड़े हुए अपने शत्रुओ को ही मित्र समझे बैठे थे। किन्तु अब वे उस स्थिति से निकल आए है। ध्वनि यह कि साम्राज्यवादियों फासिस्टों का युग समाप्त हो गया है। यह लोकशाही युग है।

---

१. शंकर शैलेन्द्र : नया साहित्य, जुलाई, १९४९ पृ० ९१
२. राजीव सक्सेना : नया साहित्य, नवम्बर, १९५० : पृ० २३

तुम सब कुछ हो फूल लहर तितली विहगी मार्जारी
आधुनिके तुम नहीं अगर कुछ नहीं सिर्फ तुम नारी ।[1]

तीसरे उदाहरण की भाँति इन पक्तियो में कवि आधुनिक नारी पर कटाक्ष करता है । झूठी प्रतिस्पर्द्धा मे नारी ने जिन अप्राकृतिक गुणो को ग्रहण और विकसित किया है उनसे उसका नारीत्व नष्ट हो गया है । भारतीय संस्कृति मे समस्त दैवी गुणों दया ममता करुणा क्षमा धैर्य की प्रतिष्ठा नारी में की गई है और उसे पृथ्वी को धारण करनेवाली शक्ति के रूप में देखा गया है । इसके विपरीत आधुनिका के गुण है पुष्प सी कोमलता लहर सी चचलता तितली सी शोखी विहगी सी सदैव एक डाल से दूसरी डाल पर उडते फिरने की आकांक्षा और अन्त बिल्ली की सी चालाकी जो घात में ले ले । इन गुणो से समाज का भला होनेवाला नहीं । इन गुणों से युक्त नारी का हम आदर नही कर सकते । ये नारी के आदर्श गुण नही हैं जिनके कारण उसे देवी शब्द से सम्बोधित किया जाता हैं । कवि आदर्श गुणों को ही महत्त्व देता हुआ कहता है कि यदि नारी में उनका अभाव है तो वह चाहे जो कुछ हो नारी नही हो सकती । दूसरी पक्ति का अन्तिम शब्द नारी के सामान्य अर्थ को छोडकर केवल आदर्श गुणो में सक्रमित हो गया है । व्यंग्यार्थ है—'आधुनिक नारी जिसको उन्नति समझ बैठी है वह वास्तव में उसकी अवनति है ।' अब नारी के लिए उससे उच्च योनि 'देवी' का नही वरन् पशु पक्षियों की निम्न योनि 'विहगी' 'मार्जारी' आदि का प्रयोग करते है । यह नारी को फिर से उठने की चेतावनी है ।

उदाहरण की प्रथम पक्ति में आए हुए 'फूल' 'लहर' 'तितली' 'विहगी' तथा 'मार्जारी' पदों मे अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य लक्षणा कार्य कर रही है । इसमें संकेतित वस्तु का पूर्ण तिरस्कार है केवल उनके गुणों का ग्रहण है। नारी फूल या लहर आदि कुछ नही हो सकती । अतः ये सम्बोधन कोमलता एवं चचलता आदि गुणो का अर्थ देकर रह जाते हैं । जिससे नारी की अवनति व्यग्य है । नीचे ध्वनि के कुछ अन्य उदाहरण दिये जा रहे हैं ।

पदगत अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य—

कामरेड्स ऐसे कसाइयों को
च्यांग के सगे भाइयों को
क्या जवाब है आप का ।[2]

कवि भारतवर्ष के उन व्यक्तियों को ललकार रहा है जो शासको के सहायक बन गरीब जनता को लूट रहे है । निश्चित है कोई भारतवासी चीनी अतएव च्यागकाई

---

१. पन्त : ग्राम्या : पृ० ८३
२. शंकर शैलेन्द्र : नया साहित्य, वर्ष दो, अंक चौथा : पृ० ४०

शेक का सगा भाई नही हो सकता। लक्ष्यार्थ हुआ जिस प्रकार च्यागकाई शेक और उसके साथी विदेशी पूँजीवादी एव साम्राज्यवादी शक्तियों की सहायता से अपने ही देशवासियो को पीसे जा रहे है उसी प्रकार इस देश के कुछ व्यक्ति (जिनमें कवि मुरारजी देसाई का नाम लेता है) स्वार्थ सिद्धि के लिए जनता के सच्चे नेताओ को धोखा दे रहे है। यहाँ ऐसे व्यक्तियो को अपदस्थ करने या देश निकाला देने की जनता से अपील व्यग्य है।

यह तो मानव लोक नहीं रे, यह है नरक अपरिचित
यह भारत का ग्राम्य, सभ्यता संस्कृति से निर्वासित।[1]

उक्त पक्तियो मे कवि इस सर्वप्रचलित धारणा का विरोध करता है कि भारतीय सस्कृति और सभ्यता गाँवो मे निवास करती है। ग्रामीण जनता जिस अंधविश्वास और मूढता के बन्धनो मे जकडी हुई है। हाँ यदि कोई उसे ही सस्कृति सभ्यता कहना चाहे तो बात दूसरी है। नरक उन बड़ी से बडी यातनाओ का स्थान है जो मनुष्य को अपने पापो के फलस्वरूप भोगनी पडती है। नरक चाहे बुद्धिवादी काल्पनिक स्थान माने चाहे धार्मिक वस्तु सत्य किन्तु गाँव गाँव है नरक नही। अतः नरक अपने सर्वमान्य अर्थ को छोडकर केवल एक ऐसे स्थान का अर्थ देता है जहाँ कष्ट ही कष्ट हो। कवि को ग्रामीण जनता न केवल अन्धविश्वासी और मूढ़ अपितु दुखी भी लगी। कष्टो की चरमता दर्शाने के लिए ही 'नरक' पद का प्रयोग हुआ है। व्यग्य वस्तु है गाँवो की अत्यन्त दीन दशा। जिस हीनता की कल्पना भी नही की जा सकती वहाँ प्रत्यक्ष देखने को मिलती है।

दूधिया हँसी
धो रही पाप मानवता के।[2]

कवि गाधी जी की हँसी को दूधिया कहता है। हँसी कोई तरल पदार्थ नही है कि उसमे दूध मिलाया जा सके और न वर्णयुक्त कोई भौतिक पदार्थ है। साहित्य में पाप का वर्ण काला और पुण्य का श्वेत माना गया है। दूधिया कहने से हँसी की निर्मलता निष्कपटता व्यग्य है। हिन्दी भाषा में 'दूध का धोया' मुहावरा भी सरलता भोलेपन के अर्थ मे ही प्रयुक्त होता है।

तोप टैंक सब तज रख भागा कुमितांग का दुर्योधन
वीर माओ के लाल चीन को आज हमारा अभिनन्दन।[3]

---

१. पन्त : ग्राम्या . पृ० १६
२. शिवमंगल सिह सुमन · पर आँखें नहीं मरीं : पृ० ९०
३. मानसिह 'राही' : नया साहित्य, जनवरी, ५१ पृ० ३६

कुमितांग चीन का एक प्रबल राजनीतिक दल था। दुर्योधन भारतीय पौराणिक आख्यान का एक पात्र है। आधुनिक चीन से उसका क्या सम्बन्ध। स्पष्ट है कि दुर्योधन पद का लाक्षणिक अर्थ जो अत्यन्त तिरस्कृत है ग्रहण करना पड़ेगा। जिस प्रकार दुर्योधन ने षड्यंत्र रच कर अपने भाइयो का राज्य हडप लिया था किन्तु अन्त मे उसके मूल्य स्वरूप अपने प्राण गँवाने पडे थे। भीष्म कर्ण आदि जिन योद्धाओं पर उसे गर्व था उनमें से कोई भी उसकी रक्षा नही कर पाया। उसी प्रकार कुमितांग दल को अपनी सैनिक शक्ति का घमण्ड था किन्तु वह सब रखी रह गई। लक्ष्यार्थ हुआ कुमितांग दल का अत्याचारी नेता भाग गया। ध्वनि है भौतिक बल पर अन्याय-पूर्ण शासन करनेवाला शासक अधिक दिनों तक नही टिक सकता। जनता के आगे उसको झुकना ही पडता है।

आ गई प्रबल नव स्फूर्ति रगों का
पानी फिर से खून हुआ।[1]

उपर्युक्त पक्तियो मे भारतवर्ष के नवजागरण का संकेत है। जब से भारत मुसलमानों के अधीन हुआ कोई आन्दोलन इतना व्यापक नही हो पाया जिसमे सम्पूर्ण देश ने भाग लिया हो। जो प्रयत्न हुआ भी उनमे विदेशी शासकों ने यही के लोगो को लड़ा भिड़ाकर सफलता प्राप्त कर ली। धीरे धीरे स्थिति इतनी गिर गई कि अंग्रेजों से खिताब प्राप्त व्यक्ति अपने ही देश के विरुद्ध हो गये। चरित्र की इसी गिरावट को कवि ने 'पानी' पदसे व्यंजित किया है। रगों में पानी नही बहता और न पानी कभी खून बन मकता है। इसलिए उसका लाक्षणिक अर्थ लेना पड़ेगा। रक्त की तुलना मे पानी शीतल जड़ तथा निर्जीव है। इसी से वह कायरता व उत्साह-हीनता का प्रतीक बन गया। यहाँ लक्षणा बड़ा सूक्ष्म कार्य कर रही है। ध्वनि है जो व्यक्ति अभी तक स्वार्थवश अंग्रेजों के हितैषी बने फिरते थे वे भी उत्साहपूर्वक स्वातंत्र्य संग्राम में भाग ले रहे है।

इन्सानों में नस्ल-वतन-मज़हब का विष बोनेवालो
अब यह लंका जल के रहेगी मैं वो आग लगा दूंगा।[2]

मानव जाति को सबसे अधिक हानि हुई है परस्पर के भेदभाव से फिर वह नस्ल, वतन या मजहब किसी का क्यो न हो। विष जीवन के लिए हानिकर भौतिक पदार्थ है। भेदभाव सूक्ष्म वस्तु है किन्तु हानि करने का गुण समान होने से उसकी तुलना विष से की गई है। यह जीवन का विनाशक जीवन का शत्रु है। इसी पद्धति पर जो व्यक्ति मानव मानव मे किसी प्रकार के भेद को स्थापित करते है या प्रोत्सा-

---

१. शिवमंगल सिह 'सुमन' : प्रलय सृजन : पृ० ५५
२. ताजवर सामरी : नया साहित्य, जून, १९४९ : पृ० ७३

हन देते है वे मानव जाति के शत्रु है। व्यग्य है—ऐ मानव जाति के शत्रुओ ! तुम्हें मेरी चुनौती है। भविष्य मे तुम यह काम नही करने पाओगे।

जब कुत्तों की मौत मर गए बिलख बिलख नर नारी
कहाँ गई थी भाग उस समय मरदानगी तुम्हारी।[1]

उक्त पक्तियो मे कवि का बगाल के अकाल की ओर सकेत है। मनुष्य मनुष्य की मौत मरेगा कुत्ते की नही। अतः 'कुत्ते की मौत' समस्त पद मे मुख्यार्थ का बाध है। कुत्ते की मृत्यु पर किसी को दुःख नही होता। किसी का अपना कुत्ता हो तो बात दूसरी है इसलिए कि मनुष्य उसे अपनी जाति का नही समझता। उसके होने न होने से उसके जीवन पर कोई प्रभाव नही पड़ता। मृत्यु के पश्चात् उसके क्रिया कर्म की चिन्ता भी किसी को नही रहती। नगरपालिका के भगी आकर उसे घसीट ले जाकर दफना देते है। दूसरी ओर मनुष्य की मृत्यु पर बड़े ही आदर और स्नेह से उसका दाह सस्कार किया जाता है। बगाल के अकाल मे मनुष्य इतनी बडी संख्या मे मरे कि उनका दाह कर्म असंभव था। दूसरे जिनके पास खाने के लिए पैसे न थे वे लकड़ी पर और कफन पर क्या खर्च करते। जिनके पास जीवित रहने के साधन नही थे ऐसे व्यक्तियो की दुर्दशा 'कुत्ते की मौत' पद से व्यंग्य है। पद से मृत्यु के पश्चात् शव की दुर्दशा ही नही जीवित व्यक्ति की दुर्दशा भी ध्वनित हो रही है।

पदगत अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य—

नए भगीरथ सरिताओं की धार मोड़ते
धनुष रूढ़ियों का जनता के राम तोड़ते
ग्राम ग्राम में नयी फ़सल का पर्व मन रहा
हल की नोकों से सीता का जन्म हो रहा।[2]

इस छन्द में अनेक लाक्षणिक पद हैं। प्रथम पंक्ति मे 'भगीरथ' और दूसरी मे 'राम' पद असम्भव समझे जानेवाले अत्यन्त कठिन कर्म करनेवालो का अर्थ देते है और अन्तिम पक्ति का 'सीता' पद पतिव्रता नारी का। आज का कोई भी व्यक्ति न 'भगीरथ' हो सकता है न 'राम'। भगीरथ गगा को पृथ्वी पर लाए थे जिससे न केवल उनके पूर्वजों का उद्धार हुआ अपितु जनता का भी कल्याण हुआ। उसी प्रकार आज इजीनियर जन-कल्याणार्थ कठिन परिश्रम करके सरिताओ पर बाँध बाँधते है नहरें निकालते है। राम ने जैसे धनुष भग कर जनक तथा जनकपुर को प्रसन्नता दी थी उसी प्रकार आज के समाजसेवी जनता को रूढ़ियों से मुक्ति दिलाकर आनन्द प्रदान करते हैं। उसका जीवन सुखी बनाते है।

---

१. शिवमंगल सिंह सुमन : विश्वास बढ़ता ही गया : पृ० ५१
२. वही : पृ० १०३

अन्तिम पक्ति में 'सीता का जन्म हो रहा' विशेष परम्परागत अर्थ सयुक्त है। हिन्दू धर्म ग्रथो के अनुसार कन्या-दान महादान है। बिना यह दान किये मनुष्य को पुण्य गति नही मिलती। यदि जनक को धरती माता की कृपास्वरूप सीता न मिलती तो वे महादान के इस पुण्य से वचित रह जाते। इस पद का दूसरा अर्थ कन्या रूपी धन भी हो सकता है। जैसे जनक को हल की नोक से सीता के रूप मे इच्छित फल की प्राप्ति हुई थी और जिससे उनका उद्धार भी हुआ उसी प्रकार आज के किसान भी हल के बल पर अपने घर को धन धान्य से भर पुण्य फलस्वरूप आनन्द की प्राप्ति कर रहे है। सम्पूर्ण छन्द की विशेषकर अन्तिम पंक्ति के सहयोग से ध्वनि है—'आज प्रकृति पर विजय प्राप्त की जा रही है। नये नये स्रोतो से उत्पादन बढ़ाया जा रहा है। इस प्रकार भारतवर्ष की सर्वतोमुखी प्रगति हो रही है। देश सुख-वैभव से परिपूर्ण है।

श्वान के सिर हो—
चरण तो चाटता है।[1]

'जवानी' शीर्षक कविता मे श्री चतुर्वेदी जी देश के नौजवानो को बलिदान की प्रेरणा देते है। वे चाहते है कि सिर कट जाय लेकिन झुके नही। यदि किसी के धड़ पर सिर कहा जा सकता है तो केवल स्वाभिमानी के। कुत्ते के भी सिर होता है किन्तु कहने भर को। इस पक्ति मे उन व्यक्तियो पर कटाक्ष है जो सुखोपभोग की सामग्री प्राप्त करने के लिए अग्रेजो की चापलूसी करते थे। ये व्यक्ति जीवित ही मृत है। यहाँ 'चरण चाटने' का अभिधेयार्थ नही तात्पर्यार्थ बाधित है। लक्ष्यार्थ है स्वामी को प्रसन्न करने के लिए छोटे से छोटा काम भी करना जी हूजूरी करना। व्यंग्य है ये स्वाभिमान रहित व्यक्ति देखने मे सुखी है पर वस्तुतः इनका जीवन कुत्ते की भाँति निकृष्ट है। उनकी गर्दन सदैव दूसरो के पाँवो तले दबी रहती है। स्वतत्रता नाम की वस्तु से इनका परिचय नही है और पराधीनता में कभी सुख नही मिलता।

पर तुम अपने अभिसारों में
गिनते थे तारों की पलकें
चुल्लू भर पानी में मरते
थी लोक लाज भी शेष नहीं
आश्चर्य तुम्हारे सरस कर्ण
सुन पाए हाहाकार नही।[2]

उक्त पक्तियाँ 'अपने कवि' को सम्बोधित कर लिखी गई है। प्रगतिवादी युग

---

१. **माखनलाल चतुर्वेदी : हिमकिरीटिनी : पृ० ११४**

२. **शिवमगल सिंह सुमन : प्रलय सृजन : पृ० ११**

के बहुत पहले से भारत में स्वतत्रता सग्राम चला आ रहा था। कितनी बार जनता शासक वर्ग से टकराई न जाने कितने माई के लाल बलिदान हो गए फिर भी आश्चर्य है कि छायावादी युग मे एक दो को छोडकर किसी ने देश भक्ति का स्वर नही छेडा। काव्यक्षेत्र की मुख्य धारा शृगार की ही रही। सब अपने अपने अभिसारों में मस्त थे। कहते है कवि अन्य व्यक्तियों से अधिक सवेदनशील होता है। उसे भविष्य की घटनाओं का भी आभास मिल जाता है पर एक युग ऐसा भी आया जब उसी वर्ग के व्यक्ति प्रत्यक्ष घटनेवाली महान परिवर्तनकारी घटनाओ से भी असम्पृक्त रहे। उनके लिए यह सचमुच शर्म की बात थी कि सामने जनता हाहाकार कर रही है और वे प्रेयसी के आँचल मे मुँह ढाँपे सिसक रहे है। मुहावरा है चुल्लु भर पानी मे डूब मरना। 'डूब' पद अधिक मात्रा के भय से छोड़ दिया गया है। वाच्यार्थ पूर्णरूपेण बाधित है। लक्ष्यार्थ है बहुत लज्जित होना। ध्वनि है कवि समाज का प्रतिनिधित्व करता है। युग अपने साहित्य मे प्रतिबिम्बित होता है किन्तु छायावादी काव्य अपने महान् उद्देश्य मे असफल रहा।

अभिधामूला असंलक्ष्यक्रम रस-ध्वनि

पद प्रकाश्य—

बिलखते शिशु की व्यथा पर दृष्टि तक जिनने न फेरी
यदि क्षमा कर दूँ उन्हें धिक्कार माँ की कोख मेरी।[1]

जिस समय स्थायी और सचारी भावों का वर्गीकरण हुआ था तब की और आज की सामाजिक तथा राजनैतिक परिस्थितियो एव मान्यताओ और भाव-व्यजना के दृष्टिकोणों मे बहुत अन्तर है। उस समय समस्त भावावेगो के अधिकाश कारण वैयक्तिक समझे जाते रहे। सच्चे प्रेम का आलम्बन पत्नी ही हो सकती थी। देश-प्रेम राष्ट्र-प्रेम और उसके शत्रु के प्रति क्रोध भाव तब अचित्य था। आज जब व्यावहारिक जीवन मे उसी ने समस्त चित्त वृत्तियो को आकर्षित कर लिया है तो साहित्य मे भी उसकी अभिव्यक्ति स्वाभाविक हो गई है। परिस्थिति भेद से अनुभावों के वर्णन मे भी अन्तर आ गया है। यदि आज किसी आततायी को देखकर कोई शस्त्र नही उठाता या लड़ने के लिए ताल ठोककर नही ललकारता तो उसके उत्साह मे कमी नही समझनी चाहिए क्योकि राज्य नियमानुसार शस्त्र रख सकता है और न बीच बाजार मे लड़ने की अनुमति आधुनिक सभ्यता ही देती है। पुलिस को शीघ्र ही सूचना देने मे ही उसका उत्साह व्यक्त हो जाता है। इसी प्रकार यदि कोई पिता अपने लडके को पीटनेवाले व्यक्ति को मारने पीटने अपशब्द कहने से स्वय को रोक लेता है तो उसके क्रोध को उद्बुद्ध मात्र स्थायी भाव नही कहा जा सकता। अधिक से

१. शिवमंगल सिंह सुमन : विश्वास बढ़ता ही गया : पृ० ९

अधिक वह पुलिस मे धमकी दे सकता है दो चार व्यक्तियों को इधर उधर से इकट्ठा कर सकता है। इतने से ही उसके क्रोध की पूर्ण अभिव्यक्ति हो जाती है।

सस्कृत आचार्यो ने गुरु या बन्धु आदि के बधादि महान अपराध से उत्पन्न मारना धमकाना बाँधना जैसे अनुभाव उत्पन्न करनेवाली चित्त वृत्ति को क्रोध सज्ञा से अभिहित किया है। यही चित्त वृत्ति जब निन्दा आदि साधारण वाचिक अपराधो से उत्पन्न होती है तो उग्रता कहलाती है। उक्त पक्तियो मे कवि वसुधैव कुटुम्बकम् की भावना को लेकर चलता है। उक्ति पूंजीवादियों के प्रति है। उन्होने (पूँजीपतियो ने) प्रत्यक्ष किसी शिशु को मारा पीटा नही है किन्तु उनके द्वारा निर्मित सामाजिक व्यवस्था गरीबों के असख्य बालको के भूख से बिलख बिलख कर मर जाने का कारण बनी है। देश भक्ति होने के नाते अन्यायी पूँजीपतियों को वह पहले से ही शत्रुभाव से देखता है। उनको वह दण्ड देना चाहता है। उसकी यह भावना 'धिक्कार' पद से पूर्ण अभिव्यक्त हो रही है। अपराध साधारण नही है अनेक शिशुओं का बिलखा बिलखा कर मारने का घोर पाप है। अतः इसे 'उग्रता' नही कहा जा सकता। फिर भी इसे 'उत्साह' कहे या 'क्रोध' यह प्रश्न बना ही रहता है।

लक्षण ग्रन्थो मे दोनो की सीमा रेखा पहिचानने के लिए अनुभावों के सूक्ष्म भेद की चर्चा है। यदि अनुभावो मे पूर्ण विवेक झलकता है तो उत्साह अन्यथा क्रोध। उक्त प्रसंग मे अनुभावों का इतना कम वर्णन है कि विवेक अविवेक की पहिचान नही हो सकती। किन्तु सूक्ष्म विचार करने पर ज्ञात होता है कि कवि ने अपने क्रोध को ही विशेष अभिव्यक्ति दी है। दण्ड देने की प्रकृति आदि पर उसके विचारो का कोई संकेत नही मिलता। अतः हम क्रोध भाव ही व्यंग्य मानते हैं।

पदांश प्रकाश्य—

रे मानव के युग में भी यह
पशुता के युग की स्मृति कुरूप।[1]

सम्पूर्ण कविता का कथ्य एक 'रिक्शावाला' है। यत्र-युग, जिसमे सभ्यता की चरम उन्नति का मनुष्य को अभिमान है, मे भी मनुष्य पशुओ की भाँति जुत रहा है। इसे सच्ची उन्नति का युग कैसे कहा जाय। संक्षेप मे यही कविता का भाव है।

विषाद का कारण कार्य मे असफलता या अनजाने अपराध का हो जाना है। यही चित्तवृत्ति 'पश्चात्ताप' सज्ञा से भी पुकारी जाती है। इन पंक्तियों मे कवि न तो किसी कार्य मे असफल हुआ है न उससे कोई अपराध ही हुआ है। पूर्व विवेचन की भाँति यहाँ भी युगीन-विचार-धारा की सहायता लेनी होगी। कवि समाज से भिन्न

कोई अस्तित्व नही रखता । समाज की सफलता असफलता मे उसका भी भाग है वह भी समान रूप से उसके लिए उत्तरदायी है । मानव को पशुत्व से ऊपर उठाने के हजारो वर्षो के प्रयत्नो के बाद भी ससार मे यदि कही उसके साथ पशुवत व्यवहार होता है तो वह अब तक की सभी भौतिक और वैचारिक प्राप्तियो की घोर असफलता है। समाज का प्रतिनिधि होने के नाते कवि को इस पर विषाद होना स्वाभाविक है । फिर किसी असभ्य जाति मे यदि ऐसा होता तो कोई बात नही थी । दुख का एक कारण यह भी है कि यह सब आधुनिक सभ्यता के केन्द्र नगर मे होता है । इस तुलनात्मक अध्ययन से उत्पन्न भाव की अभिव्यक्ति 'भी' पदाश से विशेष हो रही है ।

प्रथम पक्ति मे 'मानव' पद लाक्षणिक है । यह मनुष्य को पशुत्व से ऊपर उठानेवाले गुणो के अर्थ मे सक्रमित हो गया है । भाव यह है कि एक ओर तो आधुनिक युग सभ्यता के व्यापक प्रसार का अभिमान करता है दूसरी ओर मानव से ही पशुवत व्यवहार करता है । इसी विरोध स्वरूप विषाद भाव की व्यजना 'भी' पदाश से हो रही है ।

वाक्य प्रकाश्य—

> **यह संग्रह किस लिए हाय इस जग मे क्या अक्षय है**
> **अपने क्रूर करो से छूता सबको यहाँ प्रलय है ।**
>
> * * *
>
> **लो वह देखो वीर सिकन्दर सारी दुनिया छोड़**
> **दो गज़ ज़मी ढूँढ़ने को चल पड़ा कब्र की ओर ।**[1]

इन पक्तियों मे निर्वेद भाव व्यग्य है । आलम्बन-भेद से उत्तम व्यक्ति मे और नीच व्यक्ति में—इसके दो प्रकार माने गये है । निर्वेद मे सासारिक विषयो के प्रति अवज्ञा का भाव होता है । नीच व्यक्ति मे इसका कारण व्यक्तिगत अपमान दारिद्र्य आदि होता है उत्तम प्रकृति मे ससार की असारता क्षणभंगुरता आदि निर्वैयक्तिक ।

यद्यपि उपर्युक्त भेद को स्थापित करना अत्यन्त कठिन है क्योकि निम्न श्रेणी में भी बडे बडे महात्मा हो गये है तथापि यहाँ यही मानकर चलते है कि कवि की उत्तम प्रकृति के अनुरूप ससार की असारता मनुष्य की तुच्छता उपरिनिर्दिष्ट भाव के कारण है । जब विश्व विजय की इच्छा रखनेवाला सिकन्दर भी मरने के बाद दो गज़ जमीन मे ही दफना दिया जाता है तो भौतिक दृष्टि से सामान्य व्यक्ति और राजा मे भेद कहाँ रहा । इसके अतिरिक्त मनुष्य स्वयं नाशवान है अत सग्रह किसके लिए

---

१. दिनकर : हुंकार : पृ० ४७

करे । और किसका । जो अस्थायी है । ये सब उक्तियाँ अलग अलग एक ही भाव 'निर्वेद' की व्यंजना कर रही हैं । इससे भाव की वाक्य प्रकाश्यता सिद्ध होती है ।

घर में विधवा रही पतोहू लक्ष्मी थी यद्यपि पति घातिन
पकड़ मँगाया कोतवाल ने डूब कुँये में मरी एक दिन ।
खैर पैर की जूती जोरू न सही एक दूसरी आती
पर जवान लड़के की सुध कर साँप लोटते फटती छाती ।[1]

छन्द की अतिम पक्तियो मे शोक भाव व्यग्य है । कभी बूढा भी एक सुखी परिवार का सदस्य था। घर मे काम काज करनेवाला बुढापे का सहारा लडका था और थी लक्ष्मी सी बहू । अब न बहू है न बेटा । पुत्र की मृत्यु के कई दिन बीत गए है इसलिए बूढे का शोक स्मृति से पुष्ट है । पुत्र आलम्बन विभाव है । 'साँप लोटना' और 'छाती फटना' वाक्यो मे लक्षणा द्वारा सात्विक अनुभावो का वर्णन है । यदि अन्तिम सम्पूर्ण पक्ति बूढे के कथन रूप मे ले तो उक्ति कायिक अनुभावो की कोटि में चली जायगी । दोनो ही अवस्थाओ मे शोक उद्‌बुद्ध मात्र दशा मे है । यद्यपि स्मृति उद्दीपन का कार्य कर रही है और स्थायी भाव को पुष्टि भी कर रही है किन्तु अनुभावो के अत्यल्प वर्णन से रस का पूर्ण परिपाक नही हो रहा है । पतोहू की मृत्यु का उसको दु.ख नही है । जूती खो जाने जितना भर अवश्य है । यही पक्ति रस परिपाक मे बाधा बन गई है, अन्यथा उसकी मृत्यु का शोक भी पुत्र शोक को पुष्ट कर करुण रस मे परिणत होने में सहायक बनता । इस प्रकार केवल अन्तिम पक्ति ही भाव व्यजक है ।

प्रबन्ध प्रकाश्य—

गर्जन कर मानव केशरि !
मर्मस्पृह गर्जन,—
जग जावे जग में फिर से
सोया मानवपन !
काँप उठे मानस की अंध
गुहाओं का तम,
अक्षम क्षमताशील बनें,
जावें दुविधा, भ्रम!
निर्भय जग जीवन कानन में
कर हे विचरण,
काँप मरे गत खर्व मनुजता के
मर्कट गण !

---

१. पन्त : ग्राम्या : पृ० २५

प्रखर नखर नव जीवन की
लालसा गड़ा कर
छिन्न भिन्न कर दे गत युग के
शव को, दुर्धर !
गर्जन कर, मानव केशरि !
प्राणप्रद गर्जन,
जागें नवयुग के खग,
बरसा जीवन कूजन ! [1]

नवीन शैली मे रस व्यंजना का यह एक सुन्दर उदाहरण है। कवि प्रत्येक मानव को प्रगति के लिए प्रोत्साहित कर रहा है अत. वीर रस व्यग्य है। वीर चार प्रकार के माने गये है, उनमे एक कर्मवीर भी है। यहाँ उसी से सम्बन्ध है। उत्साह भाव का आलम्बन है मानव का उज्ज्वल भविष्य। मानव मे अन्धविश्वास एवं रूढियाँ उद्दीपन विभाव है। गत युग के वर्बर कर्म की स्मृति संचारी है। इस प्रकार उद्दीप्त और पुष्ट होकर ओज भाव वीर रस मे परिणत हो गया है।

प्रबन्ध की उक्त व्याख्या सम्भवत परम्परागत मूल्याकन पद्धति से कुछ हटी हुई प्रतीत हो किन्तु ऐसा किये बिना आधुनिक कविता का उचित मूल्याकन सम्भव नही। भारतीय काव्य-शास्त्र रचना का केवल अन्तरग अध्ययन ही करता है। बहिरग पद्धति पश्चिम से आई है। इसमे कृति की व्याख्या समाज की पृष्ठभूमि पर भी होती है। कविता के पीछे कवि है और कवि के पीछे उसका युग। कविता मे कवि का युग प्रतिबिम्बित होता है। सच तो यह है कि आधुनिक कविता के सौन्दर्य का बहुत सा अश युग की पृष्ठभूमि पर ही चमकता है। यह युग बौद्धिक अधिक है भावुक कम। अध-विश्वासो को समाप्त कर आवश्यक रूढि-बन्धनो को तोड़कर समाज को प्रगतिशील बनाने की प्रेरणा बुद्धि की देन है। कार्य-क्षेत्र इतना व्यापक हो गया है कि बहुधा उसका स्वरूप भी गोचर नही हो पाता। इन्ही सब बातो का ध्यान रखते हुए उपर्युक्त उदाहरण हमे वीर रस का ही प्रतीत होता है

वर्ण प्रकाश्य—

गा कोकिल, बरसा पावक कण।
नष्ट भ्रष्ट हो जीर्ण पुरातन
ध्वस भ्रंस जग के जड़ बन्धन।
***   *   ***
गा कोकिल, भर स्वर में कम्पन।

---

१ पन्त : युगान्त . पृ० २९

झरे जाति-कुल,वर्ण-पर्ण घन
अंध नीड-से रूढ़ि रीति छन
व्यक्ति-राष्ट्र-गत राग-द्वेष रण
झरे मरे विस्मृति मे तक्षण।[1]

उच्च कोटि की कोई ऐसी कविता नही होती जिसको पढकर या सुनकर मन मे कोई भाव न जगे या किसी भाव को व्यजित करनेवाली कविता से वस्तु न ध्वनित होती हो। तब भाव-ध्वनि को वस्तु ध्वनि से अलग करनेवाली सीमा रेखा क्या है? इसके लिए एक मात्र उपाय यही है कि जहाँ कवि वस्तु से अधिक भाव पर बल देता जान पडे, अपने अथवा अपने किसी पात्र की मानसिक स्थिति से अवगत कराना उसका उद्देश्य हो वहाँ भाव-ध्वनि अन्यथा वस्तु-ध्वनि समझनी चाहिये।

अपने (कवि के) भाव की व्यजना मे भी भाव-व्यजना मानने का एक विशेष कारण है उदाहरणार्थ धनुष भग के अवसर पर परशुराम सभा स्थल से पहुँच अपने शौर्य का प्रदर्शन करते हुए वहाँ बैठे सभी राजाओ सहित राम को मारने की धमकी देते है। कविगण इसे क्रोध भाव का स्थल मानते आये है। यद्यपि इससे परशुराम की मन्दबुद्धि आत्मप्रशसा की बुरी आदत तथा आशु क्रोधी स्वभाव रूप वस्तु भी व्यंग्य है किन्तु वह गौण है। अब इसी बात को आधुनिक युग पर घटाने का प्रयत्न करे।

प्रबन्ध काव्यो के स्थान पर लघु कविताओ का युग आ गया है। लघु कविताओं मे भी गीत अधिक मात्रा मे लिखे जा रहे है। जिनका नायक सदैव कवि स्वय होता है। अब इसकी आवश्यकता नही समझी जाती कि वह अपनी बात को किसी पात्र के मुँह से ही कहलावे। जिस प्रकार प्रबन्ध काव्य मे किसी पात्र के मुख से श्रुति कटु एव द्वित्व वर्ण बहुला पदावली पढकर या सुनकर उसके क्रोध की अभिव्यक्ति मान ली जाती है उसी प्रकार गीति काव्य मे ऐसी ही भाषा पढकर कवि के क्रोध-भाव की अभिव्यक्ति मान ली जानी चाहिये। हाँ यह अवश्य देख लेना होगा कि भाव-ध्वनि वस्तुध्वनि से प्रबल हो।

उपर्युक्त उदाहरण मे 'युग के प्रतिकूल प्राचीन मान्यताओ वर्ण–भेद जाति–भेद रूढियो आदि के त्याग एवं नाश मे ही समाज का कल्याण है' वस्तु रूप अर्थ ध्वनित होता है किन्तु 'र' 'र' 'ष्टै' तथा अन्य द्वित्व वर्णो के बहुल प्रयोग से कवि के मन का आक्रोश ही अधिक व्यक्त हुआ है। "साप्ताहिक हिन्दुस्तान" के एक लेख मे० उन्होने इस बात को स्वीकार भी किया था। कविता के रचनाकाल मे उनके सामने ऐसी बहुत सी रूढियाँ रही होगी जिनसे समाज का महान अकल्याण होने की सम्भावना

---

१. पन्त : युगान्त . पृ० १६

थी । कोकिल को अग्नि बरसाने के लिए पुकारना ऐसा ही लगता है जैसे अभी चिनगारी छूटी हो । अग्निबाण छोडा हो । "पावक कण" मे "क" की आवृत्ति से तो ऐसा लगता है जैसे अभी चिनगारी छूटी हो । शत्रु द्वारा की गई हानि अपराध जैसे क्रोध के उद्भव का कारण है वैसे ही रूढियो तथा भेद-भाव से होनेवाला जन-अकल्याण उक्त उदाहरण मे व्यग्य भाव का कारण है ।

इन पक्तियो मे 'क्रोध' या 'उग्रता' मे से किसकी व्यंजना है इस पर भी विचार होना चाहिये । पूर्व के एक प्रसग मे दोनो मे कारणो के आधार पर भेद दिखाया जा चुका है । हमारे विचार मे केवल यही भेद पर्याप्त नही है दोनो के अनुभावो मे भी अन्तर है । क्रोध उग्रता का प्रचण्ड रूप है । परिणाम पर बिना विचार किये लड़ने भिडने लग जाना या कटु शब्द कहते चले जाना क्रोध है । उग्रता मे भी प्रचण्डता रहती है किन्तु परिणाम की कल्पना से थोडा संयम अवश्य रहता है । प्रस्तुत पक्तियो मे कवि ने सीमोल्लघन नही किया है । बस इसी कारण से यह वर्ण प्रकाश्य "उग्रता" भाव ध्वनि का उदाहरण है ।

रचना प्रकाश्य—

होकर बड़े लड़ेगे यों
यदि कही जान मै लेती
कुल - कलंक - सन्तान
सौर में गला घोंट मै देती ।
लोग निपूती कहते पर
यह दिन न देखना पड़ता
मै न बन्धनों में सड़ती
छाती में शूल न गड़ता ।[1]

रचनागत असलक्ष्मक्रम ध्वनि मे समस्त-असमस्त पदावली शब्द-चयन तथा विशेष वाक्यो का प्रयोग सभी कुछ आ जाता है । हिन्दी मे समस्त पदावली के अत्यन्त क्षीण रूप मे दर्शन होते है । हिन्दी क्या सस्कृत से निकली सभी भाषाओ की अश्लिष्ट प्रकृति है । समस्त तथा असमस्त का जितना स्वच्छ विभाजन संस्कृत भापा मे हो सकता है आधुनिक भाषाओ मे नही हो सकता । अत हिन्दी की रचना का विभाजन शब्द-चयन लम्बे छोटे वाक्यो और प्रादेशिक तथा टकसाली प्रयोगो के आधार पर ही हो सकता है ।

प्रस्तुत पक्तियो मे 'उग्रता' भाव व्यग्य है । इसके निम्न कारण है :—

उग्रता का कारण पुत्रो की वजह से उसकी बदनामी है । भावावेश मे व्यक्ति छोटे-छोटे वाक्य बोलता है । 'कुल-कलक' 'गला घोटना' 'निपूती' 'यह दिन

१. **शिवमंगल सिंह सुमन : विश्वास बढ़ता ही गया : पृ० ५०**

न देखना पडता" "छाती मे शूल गड़ना" आदि वे सामान्य प्रयोग है जो हिन्दी भाषी स्त्री के मुख से क्रोध मे सामान्यत. सुनने को मिलते है। यह स्वाभाविक तथा सरल प्रवाहमयी भाषा जितनी अच्छी तरह से भाव व्यजना कर रही है खरादी हुई भाषा नही कर सकती।

भावाभास व रसाभास—

१— शोणित से रँग रही शुभ्र पट
संस्कृति निठुर लिये करवालें
जला रही निज सिंह पौर पर
दलित दीन की अस्थि मशालें।[1]

२— मुझ विपथ गामिनी को न ज्ञात किस रोज़ किधर से आऊँगी
मिट्टी से किस दिन जाग क्रुद्ध अम्बर में आग लगाऊँगी।
आँखे अपनी कर बन्द देश में जब भूकम्प मचाऊँगी
किसका टूटेगा शृंग न जाने किसका महल गिराऊँगी
निर्बन्ध क्रूर निर्मोह सदा मेरा कराल नर्तन-गर्जन।[2]

आचार्यो ने भावाभास एव रसाभास का जो लक्षण किया है उसको देखते हुए प्रस्तुत उदाहरणो मे जुगुप्सा भावाभास और द्वितीय रौद्र रसाभास के अन्तर्गत आयेगा।

वीभत्स रस के लिए कवियो को इतनी स्वतत्रता है कि घृणित वस्तु का विराट चित्र मात्र उपस्थित कर देने से उनका कार्य सिद्ध हो जाता है। आश्रय के अनुभावो की चर्चा की सही अपेक्षा नही रहती क्योकि ऐसे स्थलो पर भाव का आश्रय स्वय कवि या पाठक होता है। यद्यपि ऐसी स्वतत्रता शृंगार वीर आदि अन्य रसो के सम्बन्ध मे भी मिलनी चाहिये थी किन्तु वहाँ सम्भवत. कवि की निर्वैयक्तिक अभिव्यक्ति समाज की तत्कालीन परम्पराओ तथा नियमो से बंधी थी। कवि समाज के वयोवृद्ध ठेकेदारो के सामने अपने प्रेम और बल का प्रदर्शन कैसे कर सकता है। छायावादी कवियो ने इन रसो के प्रसगों मे भी स्वानुभूति की बन्धन रहित अभिव्यक्ति की ओर कदम उठाया। आगे इसकी परम्परा ऐसी चली कि अनुभावो का वर्णन ही समाप्त हो गया। पात्र नियोजन की प्रथा के समाप्त हो जाने का ऐसा परिणाम स्वाभाविक था।

अब 'आभास' भाव या रस के प्रश्न को लीजिए। इसकी पहली और एक मात्र शर्त है भाव व्यजना मे किसी प्रकार का अनौचित्य—अनुचित व्यक्ति मे या

---

१. दिनकर : हुंकार : पृ० २१
२. वही . पृ० ७५

अनुचित व्यक्ति के प्रति भाव प्रदर्शन और भाव प्रदर्शन का अनुचित कारण। इसी मे उन्होने निरिन्द्रिय वस्तु मे भाव प्रदर्शन की भी गणना की।

प्रथम उदाहरण मे भाव उत्पन्न करनेवाली वस्तु का विराट वर्णन न होने से कर्ता का कोई चित्र न उभरने से जुगुप्सा स्थायी भाव उद्‌बुद्ध मात्र दशा मे है तथा सस्कृति के निरिन्द्रिय होने से भावाभास है। इसी प्रकार दूसरे उदाहरण मे प्रसग के आलम्बन का आरोप हो जाने पर अनुभावो और सचारियो के विशद वर्णन से रौद्र रस सिद्ध होता है किन्तु आलम्बन क्रान्ति के निरिन्द्रिय होने से रसाभास है।

आज से सौ वर्ष पूर्व यदि ये पक्तियाँ लिखी गई होती तो इनका मूल्यांकन अवश्य ही उपर्युक्त पद्धति पर होता। आज यह सम्भव नही। सस्कृति और क्रान्ति निरिन्द्रिय वस्तुये होते हुए भी कवि ने उनमे भाव प्रदर्शन की वही पद्धति नही अपनायी है जो निराला ने 'जुही की कली' मे अपनायी है। पवन और जुही नायक नायिका के प्रतीक नही वरन स्वयं नायक नायिका है। यहाँ कवि ने संस्कृति और क्रान्ति को भाव व्यजना मे प्रतीक रूप मे ग्रहण कर अपने घृणा तथा क्रोध भाव के साथ साथ वस्तु-व्यजना पर भी बल दिया है। यह वस्तु है सस्कृति के विकास और आधुनिक समाज-व्यवस्था मे परिवर्तन की आवश्यकता। प्रतीक पद्धति पर लिखी गई बहुत सी कवितायें वास्तव मे वस्तु-ध्वनि के अन्तर्गत चली जाती है। अतः ऐसे उदाहरणो पर वस्तु-ध्वनि के प्रसंग मे भी विचार करेंगे।

भाव व्यजना के प्रसग मे अनौचित्य का प्रश्न विशेषत. तब उठता है जब काव्य में पात्रो की योजना हो ? कौन कह रहा है ? किससे कह रहा है ? क्योकह रहा है ? ये सब प्रश्न गीति काव्य की सीमा के बाहर है। दूसरे आज का कवि इतना सजग है कि जब वह परम्परागत अनौचित्य को प्रश्रय देता है तो उसके औचित्य को सिद्ध करने की परिस्थितियाँ भी पैदा कर लेता है।

भाव-संधि व भावशबलता—

> **सरकाती—पट**
> **खिसकाती—लट—**
> **शरमाती झट**
> **वह नमित दृष्टि से देख उरोजों के युग घट**
> **हँसती खल खल**
> **अबला चंचल**
> **— —**
> **वह मग में रुक**
> **मानों कुछ झुक**

आँचल सँभालती फेर नयन मुख
पा प्रिय पद की आहट

—

आ ग्राम युवक
प्रेमी याचक
जब उसे ताकता है इक टक
उल्लसित चकित
वह लेती मूँद पलक पट ।[1]

भावशबलता का अर्थ है अनेक भावो का एक साथ आ जुटना । खट्टा-मीठा-तीखा आदि सभी रसो को मिला देने से एक नये रस का स्वाद मिलता है उसी प्रकार भाव शबलता मे भी अनेक भावो के मिश्रित आस्वादन से बिल्कुल निराले ढग का आनन्द मिलता है । चित्र ग्राम युवती का है । कवि ने वातावरण के उपयुक्त ही अनुभावो को चुना है । कविता के पूर्वार्द्ध मे 'पट सरकाने' 'लट खिसकाने' से 'गर्व' 'नमित दृष्टि' से 'लज्जा' और 'खल खल हँसी' से 'मद' भाव व्यग्य है । उत्तरार्द्ध मे प्रिय के पदो की आहट पाकर आँचल सँभालने से 'व्रीडा' और पलके मूँदने से 'हर्ष' भाव व्यग्य है । 'उल्लसित' तथा 'चकित' पदो का सम्बन्ध ग्राम युवक से है । यदि युवती को आलम्बन मानकर युवक के भावो का विश्लेषण करे तो वहाँ भाव-सधि हर्ष व आश्चर्य का सौन्दर्य दिखाई पडता है ।

युवक काफी देर से उसे देख रहा है या उसके साथ साथ चल रहा है किन्तु अवसर पाकर ही अपनी स्थिति का भान प्रकट होने देता है । उसे विश्वास है कि नायिका उसे देखकर प्रसन्न होगी । एकान्त में प्रेमिका से मिलने का अवसर पाकर वह स्वयं भी प्रसन्न है । किन्तु उसके भावों की आहट पाते ही जब नायिका आँचल सँभालकर आँखे और मुख फेर लेती है तो आश्चर्यचकित रह जाता है । वह समझ नही पाता है कि क्या वह सचमुच उससे बात नही करना चाहती या वह केवल उसकी अदा है । इसी उलझन को न समझ पाने से "चकित" पद से स्पष्ट किया गया है । प्रिया के दर्शन से उल्लास और व्यवहार को न समझ पाने के कारण आश्चर्य दोनो समान रूप से मुख्य होने के कारण उक्त पंक्तियाँ भाव-सधि का सुन्दर उदाहरण बन गई है ।

नीचे कुछ अन्य भाव-ध्वनियो के उदाहरण दिये जा रहे हैं—

अंधकार की गुहा सरीखी
उन आँखों से डरता है मन

---

१. पन्त : ग्राम्या : पृ० १७

भरा दूर तक उनमें दारुण
दैन्य दुःख का नीरव रोदन
अह अथाह नैराश्य विवशता का
उनमें भीषण सूनापन
मानव के पाशव पीड़न का
देतीं वे निर्मम विज्ञापन।[1]

युग प्रवृत्तियो के विवेचन मे बताया जा चुका है कि प्रगतिवाद ने भाषा छायावादी ही ली। विशेष रूप से जो लेखक छायावाद युग से आए थे, उनमे भाषा का वही रूप मिलना स्वाभाविक भी था। इस युग ने प्रगति मुख्यतः भाव क्षेत्र मे की। उपर्युक्त पक्तियाँ इसका उदाहरण है।

किसी भी भाव प्रदर्शन के लिए पहले जितने अनुभावों के वर्णन की आवश्यकता पडती थी आज नही समझी जाती। उनमें से बहुत से अनुभाव तो व्यावहारिक जीवन मे भी नही रहे। कन्या की विदा बेला को महत्ता प्रदान करनेवाला कारुणिक प्रसग जिसके लिए शकुन्तला नाटक प्रसिद्ध है इस युग के लिए अपवाद है। काव्य मे यह प्रवृत्ति बढती जा रही है कि एक ही अनुभाव का वर्णन अनेक उपमानो द्वारा इतना स्पष्ट कर दिया जाय कि भाव व्यजना हो जाय। यही प्राचीन मालोपमा अलंकार का नवीन सस्करण है।

प्रस्तुत पक्तियो मे कवि ने केवल बुड्ढे की आँखो के द्वारा ही शोक भाव की अभिव्यक्ति का प्रयन्न किया है। उसका परिवार आलम्बन विभाव है। परिवार का नाश भाव का जनक कारण है। स्मृति पुष्ट करनेवाला सचारी है। शोक का वह रूप जिसे दूसरा व्यक्ति देखकर डर जाय उसकी चरम सीमा है। अविरल अश्रुधार बहाकर कृष्ण-भक्त कवि जो करुणाभाव नही जगा पाए वह आँखो को भयकर अन्धकार की गुफा कहने से जगा है। नैराश्य का अन्धकार इतना गहन है कि देखकर डर लगता है। अनेक अवसरो पर अश्रुपात से कही अधिक करुणाजनक ओठों की मुसकान और आँखों का सूनापन होता है।

आया अग जग ऋतुराज तुम आज दूर आज
हीरे बिखराती रात आज तुम दूर आज
हो दूर आज तुम मुझसे कितनी दूर आज
फीके लगते सब साज आज तुम दूर आज।[2]

१. पन्त : ग्राम्या : पृ० २८
२. नरेन्द्र शर्मा : मिट्टी और फूल : पृ० ३३

इन पक्तियों में रति स्थायी भाव की उद्बुद्ध मात्र दशा की झलक मिलती है। भाव का आश्रय स्वयं कवि है। ऋतुराज के आगमन से प्रिया की याद-ताजी हो उठती है। अत. स्मृति सचारी है कि भाव पुष्ट नहीं हो पाया है। 'तुम मुझसे कितनी दूर आज' तथा 'फीके लगते सब साज आज' मे एक हल्की सी व्याकुलता मात्र व्यजित है।

> दिन सूरज का, रात चाँद की
> हुआ न तेरा ही कोई!
> शीतल कर धरती की छाती
> नदियाँ सागर में मिल जातीं,
> नदियों में जल जल में लहरें
> गलबय्याँ डाले बलखातीं;
> भरता जो बाहों में अपनी
> हुआ न तेरा ही कोई।[1]

इस कविता के अन्य छन्दों मे भी इसी प्रकार के भाव व्यक्त हुए है। कवि देखता है कि संसार की प्रत्येक वस्तु को किसी न किसी प्रकार सान्त्वना मिल जाती है। वही इससे वचित है। स्वय को ससार में सबसे दुखी सताया हुआ अकेला समझने से दैन्य भाव व्यंग्य है।

असंलक्ष्यक्रम वस्तु-ध्वनि—

जिस युग मे सस्कृत के काव्य सम्प्रदाय उठे थे तब अनेक बातों पर मतभेद रहते हुए भी रस तत्त्व की सर्वमान्यता स्वय सिद्ध थी। उसे काव्य की आत्मा न मानने-वाले भी प्रकारान्तर से महत्त्वपूर्ण स्थान अवश्य देते थे। रस काव्य का अभिन्न अंग है इसमे किसी को सन्देह नही रह गया था। आज उसी स्थान पर 'बिम्ब' प्रतिष्ठित है। सुन्दर बिम्ब ग्रहण करानेवाली कविता रसोक्ति की कोटि का ही समादर पाती है। इधर कुछ कवियो ने इस पर विशेष ध्यान दिया है।

विशेष रस परिपाक अथवा भाव-ध्वनि के लिए जिस प्रकार उसके अनुरूप सघटना या वर्णों का प्रयोग किया जाता है उसी प्रकार आलोच्यकाल मे बिम्ब विशेष के अनुरूप वर्ण-योजना होती है। बिम्ब का सम्बन्ध किस इन्द्रिय से है यह दूसरी बात है।

> सर् सर् मर् मर्
> रेशम के-से स्वर भरे
> घने नीम दल

---

१. नरेन्द्र शर्मा : पलाशवन : पृ० ४९

लम्बे पतले चंचल
श्वसन—स्पर्श से
रोम हर्ष से
हिल हिल उठते प्रतिपल ।
वृक्ष शिखर से भू पर
शत शत मिश्रित ध्वनि कर
फूट पड़ा लो निर्झर
मरुत—कम्प अर ...
झूम झूम झुक झुक कर
भीम नीम तरु निर्भर
सिहर सिहर थर् थर् थर्
करता सर् सर्
चर् मर् ।[1]

कविता पढते समय 'श' 'स' तथा 'र' वर्णों के प्रयोग से सचमुच ऐसा लगता है कि कोई पेड़ हवा मे सरसरा रहा है। ध्वन्यार्थ व्यजक शब्दों का प्रयोग बिम्ब उपस्थित करने मे बड़ा सहायक होता है। झझा में नीम का क्या रूप होता है उसका एक चित्र उपस्थित करना ही इन पक्तियो का उद्देश्य है। जिस प्रकार रस-ध्वनि के प्रसंग मे रस-निष्पत्ति के स्थान पर रस या भाव केवल व्यग्य भी हो सकता है और उसका साधन अनुभाव व उद्दीपन का वर्णन है उसी प्रकार ऐसी कविताओ मे केवल बिम्ब, सैद्धान्तिक पक्ष मे जिसे चित्र कह आए हैं, ही व्यग्य होता है जिसमे वर्ण विशेष सहायक होते है। उक्त पक्तियो मे व्यग्यार्थ न रस रूप है न अलकार रूप केवल चित्र रूप है।

मचा खूब हुल्लड़ हुड़दंग
धमक धमाधम रहा मृदंग
उछल कूद बकवाद झड़प में
खेल रही खुल हृदय उमंग
यह चमार चौदस का ढंग।
ठनक कसावर रहा ठनाठन
थिरक चमारिन रही छनाछन
झूम झूम बाँसुरी कॉरगा

---

१. पन्त : युगवाणी : पृ० ९३

बजा रहा बेसुध सब हरिजन
गीत नृत्य के संग है प्रहसन ।[1]

उक्त अश 'चमारो का नाच' से लिया गया है । निम्न श्रेणी के लोग किस प्रकार अपना मनोरजन करते है इस अर्थ से अधिक प्रमुख है उस नृत्य का वातावरण शब्द-बद्ध करना । इन पक्तियों को पढ़ते समय ऐसा लगता है मानो सचमुच कही वाद्य बज रहा हो और बहुत से लोग शोरगुल कर रहे हो । यही कविता का सौन्दर्य भी है । आपकी 'धोबियो' का नृत्य भी इसी प्रकार की कविता है ।

अभिधामूला संलक्ष्यक्रम ध्वनि स्वतः सम्भवी

पदगत वस्तु से वस्तु–ध्वनि—

चूनरी लाल नीला लँहगा
बिखरे कुन्तल सहमे उरोज
किस चपल कन्हैया को उसकी
कजरारी आँखें रहीं खोज ।[2]

* *

जब उड़ा ओढ़नी मलयज भी
पल में कृतार्थ हो जाता था
जब उभरे अंगों को छूने
सावन घन घिर घिर आता था ।[3]

कवि जिस नायिका का वर्णन कर रहा है उसकी मानसिक अवस्था का सकेत दो पदो मे मिल जाता है । दूसरी पक्ति मे 'बिखरे कुन्तल, और तीसरी पंक्ति में 'चपल कन्हैया' में उसका अल्हडपन पर साहचर्यजन्य प्रेम व्यग्य है । बालों में न तेल है न वे ठीक से बँधे हैं । इससे स्पष्ट है कि न तो उसे अभी अपने यौवन का ज्ञान है और न इसका भान है कि गुरुजनो के उपदेश की ओर उसे ध्यान देना चाहिये । स्वयं को वह बालिका ही समझती है । किन्तु पद्माकर की भाषा में इतना अवश्य है कि पॉवो की चंचलता नेत्रों में आ गई है । 'कन्हैया' पद में यद्यपि रूपकातिशयोक्ति है तथापि नायिका की मानसिक अवस्था का सकेत 'चपल' से ही मिलता है । इस प्रकार बाल्यावस्था की समाप्ति पर कैशोरावस्था मे पदार्पण की ध्वनि मिलती है । उसके शारीरिक विकास की ओर 'उभरे अगो' से सकेत है । इससे भी कैशोरावस्था ध्वनित है ।

---

१. पन्त : ग्राम्या : पृ० ४४
२. शिवमंगल सिंह सुमन : प्रलय सृजन : पृ० २५
३. वही : पृ० ३०

कैशोरावस्था की ध्वनि 'सहमे उरोज' में लक्षणा से भी प्रतीत होती है। सहमना उरोजो का गुण नही है। सहमने की अवस्था मे व्यक्ति ठिठक जाता है। उसके अंग सकुचित हो जाते हैं। इसी प्रकार नायिका के उरोजो मे उभार तो है किन्तु कम। पूर्ण युवती होने पर जो उनमें प्रसार दृष्टिगोचर होना है वह उनमें नही है। इस तरह तीन पदो में सलक्ष्यक्रम अभिधामूला और एक मे लक्षणामूला कार्य कर रही है।

मै चिता का चाहता हूँ अब उजाला।
बूंद जितना तिमिर सागर बन गया है
बस उसी की लहर में जग फँस गया है
देखने को नेत्र कुछ पाते नहीं हैं—
बस तिमिर है—तिमिर इतना बढ़ गया है।[1]

सम्पूर्ण छन्द के आधार पर अर्थ निकलता है कि कवि इस युग को अन्धकारमय मानता है। इसका कारण है सामाजिक जीवन में विषमता, प्रवचना और तज्जन्य नैराश्य एव दु.ख। उसे इतना विश्वास है कि शनै शनै विद्या के प्रसार से जीवन फिर प्रकाश की ओर उन्मुख होगा किन्तु उसके पहले तात्कालिक उपचार हेतु किसी न किसी प्रकाश की आवश्यकता है। वह किसी के बलिदान से ही सम्भव है। चिता के उजाले से कवि का यही तात्पर्य है। ध्वन्यर्थ है जब तक कुछ लोग इसके हेतु बलिदान नही देंगे जनता का उद्धार होनेवाला नही। बलिदान का भाव 'चिता' पद से व्यग्य होने के कारण 'पदार्थ' वस्तु से 'व्यापार' वस्तु ध्वनि है।

मत विहाग मुझे सुनाओ
जागरण के गीत गाओ
कह रहा हूँ कवि बदल दो
आज निज नैराश्य भाषा।[2]

विहाग विरह वेदना का राग है। उपर्युक्त पक्तियों मे कवि छायावादी कवियो को चुनौती देता प्रतीत होता है। वह स्वभाव से वीरता का पुजारी है। 'विहाग' अमूर्त पदार्थ से ध्वन्यर्थ निकलता है कि छायावाद काल समाप्त हो गया है—अब वैसी कविता का समाज के लिए कोई मूल्य नही है। कवि को चाहिये कि समाज के जीवन को बदलने के लिए गीत लिखे।

पदगत वस्तु अलंकार-ध्वनि—

आ गई याद अमराई भी
यौवन के पथ पर प्रथम चरण

---

१. त्रिलोचन . हस, अक्तूबर १९४०

जब आम लूटने के मिस
अधरों से अधरों का हुआ मिलन
जब भौहे तान मुझे गाली
देकर फिर हँसकर भागी थी
मेरी माँ से कह देने की
जब मीठी सी धमकी दी थी ।[1]

यहाँ छठी पंक्ति मे नायिका के नायक की धृष्टता पर भौहे तानने के बाद भी हँस पडना उसका पूर्वराग सूचित करता है । ज्ञापक कारण के कथन से किसी पूर्व कथन का समर्थन करना 'काव्यलिग' अलकार है । कही ज्ञापक हेतु रहता है किन्तु पूर्व कथन पाठकों की कल्पना पर छोड़ दिया जाता है । ऐसे स्थलों पर उक्त अलंकार व्यंग्य माना जाता है । हँसना एक स्वाभाविक गुण है किन्तु भौहें तानने के बाद दूसरे ही क्षण हँस पडना विशेष अर्थ सूचित करता है । नायक जिस अनुमान के आधार पर इतना बढ गया था कि छल से नायिका के अधरों को चूम लिया उसकी पुष्टि 'हँसने' व्यापार से हो जाती है । अत: यहाँ 'व्यापार' वस्तु से काव्यलिग अलंकार व्यंग्य है ।

पदगत अलंकार से वस्तु-ध्वनि—पहले कह आए है कि ध्वनि के इस भेद के उदाहरण सबसे अधिक मिलते है । अलंकारो का प्रधान उद्देश्य वस्तु का बिम्ब ग्रहण करना होता है । ध्वन्यालोककार ने ध्वनि के मूल मे यह सिद्धान्त माना है कि जहाँ कवि पाठक की कल्पना पर भी कुछ छोड़ दे वही काव्य का सौन्दर्य बढ जाता है किन्तु वर्णन इस प्रकार का हो कि पाठक वही अर्थ लगाए जो कवि चाहता है । उपमागर्भी सभी अलंकारो मे उपमान का धर्म उपमेय पर आरोपित किया जाता है । कुछ अलकारो की प्रकृति ऐसी होती है कि धर्म लुप्त रहता है । उपमा में वह वाच्य है । लुप्तोपमा मे उस धर्म को पाठक की कल्पना पर छोड़ देने से काव्य में कसावट आ जाती है और व्यंजना का सौन्दर्य भी आ जाता है ।

खुली हवा है खिली धूप है
दुनिया कितनी सुन्दर रानी
आओ सारस की जोड़ी-से
निकल चलें हम दोनों प्राणी ।[2]

प्रगतिवाद युग ने भाषा के क्षेत्र मे नवीन उपमाओ के प्रसग मे कुछ परिवर्तन किये है । कवियो के दो वर्ग स्पष्ट देखने मे आते है (१) वे जो छायावाद युग से

---

१. शिवमंगल सिंह सुमन : प्रलय सृजन : पृ० २९
२. नरेन्द्र शर्मा : पलाशवन : पृ० ११

आए या उससे पर्याप्त प्रभावित है और (२) वे जो इस युग के रंग मे पूरी तरह रंगे है। नरेन्द्र और पन्त प्रथम वर्ग मे आते है। द्वितीय वर्ग मे भगवतीचरण वर्मा अंचल और केदारनाथ सिंह है। हमारा अभिप्राय यह नही है कि दूसरा वर्ग छायावाद युग का किसी भी अश मे ऋणी नही है। यह तो कोई भी नहीं कह सकता। हाँ, प्रगतिवादी साहित्य का सर्जन दूसरा वर्ग सचेत होकर काम करता था। उनके सामने रूसी साहित्य और प्रगतिशील लेखक सघ के घोषणापत्र हर समय रहते थे जबकि प्रथम वर्ग विशेषत: कवि पन्त स्वतन्त्र चिन्तन की भूमि तैयार कर रहे थे। दोनों वर्गों की उपमाओं को देखने से यह बात स्पष्ट हो जाती है। दूसरा वर्ग जानबूझ कर ऐसे उपमानो का प्रयोग करता जिनकी हिन्दी मे कोई परम्परा नही होती। जो आधुनिक युग की ही देन होते। उसका कहना था कि जब जीवन मे हम अनेक नई वस्तुओ के मोह मे पुरानी वस्तुएँ छोड़ देते है तो काव्य क्षेत्र मे भी क्यो न नयी परम्परायें चलाये।

उपर्युक्त पक्तियो मे 'सारस की जोड़ी-से' समस्त पद धर्म लुप्तोपमा का उदाहरण है। उपमान भारतीय साहित्य मे प्रसिद्धि-प्राप्त वस्तु है। सारस जोडी मे नर मादा का प्रेम सर्वविदित सत्य है। अत: 'पदार्थ' वस्तु स्वत सम्भवी है। ध्वन्यर्थ है—जैसे सारस पक्षी सदैव साथ रहते हैं उसी प्रकार हम लोग भी एक दूसरे से न बिछुड़े। यदि यहाँ साथ रहने मे बाधा आती है तो कही और चले। सारस पक्षी अपने साथी की मृत्यु पर स्वय भी तड़प तड़प कर प्राण दे देता है—दुनिया का कोई बन्धन उसे प्राण रक्षा के लिए वाध्य नही कर सकता। रहता है तो साथ। इसी भाँति हम भी ऐसी जगह चलें जहाँ हमारे जीवन और मृत्यु पर कोई बन्धन न हो। उन्मुक्त और बन्धनहीन जीवन 'सारस की जोड़ी' समस्त पद से व्यंग्य है।

उन्मुक्त जीवन की ओर छन्द की प्रथम पक्ति के 'खुली हवा' और 'खिली धूप' पदों से पहले ही संकेतित है। हम पाठक की कल्पना पर कुछ छोड़ देने की बात का जो उल्लेख कर आए है उसमे कवि को यह सावधानी बरतनी पड़ती है कि नवीन अर्थ ग्रहण कराने के लिए कही न कही उसकी कुजी अवश्य दे दी गई हो। प्रथम पक्ति उन्मुक्त जीवन का अर्थ ग्रहण कराने में कुजी का काम करती है। नीचे दूसरे वर्ग की कविता का उदाहरण दिया जा रहा है।

> **अधिकांश जनता का**
> **रद्दी की टोकरी का जीवन है**
> **संज्ञाहीन अर्थहीन**
> **बेकार चिरे फटे टुकड़ों सा पड़ा है।[1]**

---

१. केदारनाथ सिंह : हस, दिसम्बर १९४२

यद्यपि इन पक्तियो का व्यग्य अनेक पदो मे वाच्य हो गया है तथापि प्रतीत होता है उतने से ही कवि को सन्तोष नही हुआ है। उसकी चरमता दिखलाने के लिए अन्तिम पक्ति मे उसे अप्रस्तुत योजना की आवश्यकता पडी है। यही कारण है कि उसका सौन्दर्य पूरी तरह नष्ट नही हो गया है।

अन्तिम पक्ति की व्याख्या दो प्रकार से संभव है—(१) अधिकांश जनता का जीवन कागज के चिरे फटे टुकडो-सा बेकार है या (२) अधिकाश जनता का जीवन कागज के बेकार चिरे-फटे टुकडो-सा पडा है, पहली व्याख्या मे धर्म वाच्य होने से कोई सौन्दर्य नही रह जाता दूसरी मे उसी के व्यंग्य होने से आकर्षण सा आ गया है। पंक्ति मे 'बेकार' पद का स्थान भी दूसरी व्याख्या के अधिक उपयुक्त होने की पुष्टि करता है। चिरे फटे टुकड़े बेकार ही हों यह आवश्यक नही, वह भी विज्ञान के युग में। इसलिए कवि उन टुकड़ो की बात कर रहा है जो बेकार समझकर फाड़ दिये गए है और सिवाय जलाने के किसी काम नही आ सकते। (इस ओर उद्धृत अश के आगे सकेत है) वे स्वय तो जलकर तत्काल राख हो जायेंगे पर उन्हे विश्वास है कि उनसे ऐसी आग भड़केगी जो किसी काम आ सकेगी। ठीक ऐसी ही स्थिति मे समाज के ठेकेदारो ने साधारण जनता को डाल दिया है। बात बात मे लोग कहते सुने जाते है—"भाई हम क्या कर सकते है हमारी कौन सुन सकता है" उनका स्वय को शक्ति 'अर्थ-मयता' पर से विश्वास उठ गया है। चिरे फटे टुकड़े कहकर उनके खण्डित तन और मन की अवस्था व्यग्य है। 'बेकार' पद से उनकी वह दीन दशा व्यंग्य है जब व्यक्ति स्वयं को मशीन समझ बैठता है। रोज सुबह काम पर जाना शाम को थके माँदे आकर सो जाना। अपने परिवार का किसी तरह पेट भर देने मे ही कर्तव्य की इति श्री समझ लेना। इसके अतिरिक्त एक सूक्ष्म ध्वनि है—साधारण जनता नेताओ के साध्यो का साधन बन गई है। कागज के टुकड़े अपना अस्तित्व नही पहचानते। चाहे जो उठाकर अपना काम साध ले। परिणामस्वरूप जनता काम करती है और नेतागण उसका फल भोगते है।

एक कुत्ते ने दीना को गर्दन से पकड़ा[1]

यहाँ पुलिसवाले के लिए 'कुत्ते' पद का प्रयोग हुआ है। केवल उपमान का प्रयोग होने से रूपकातिशयोक्ति अलकार है। कुत्ता इतनी हीन प्रकृति का पशु होता है कि जिससे दो टुकड़े पाता है उसी की तरफ से भोकने लगता है। उसमे स्वय सोचने विचारने की शक्ति नही होती। ठीक यही दशा पुलिसमैन की होती है। जो शासक होता है उसी की जी हुजूरी करता है। देशभक्त को गर्दन से पकड़ने के कारण उसकी नीच प्रवृत्ति 'कुत्ते' पद से व्यग्य है।

---

१. शंकर शैलेन्द्र : नया साहित्य : वर्ष दो अक चौथा : पृ० ४२

रे रोक युधिष्ठिर को न यहाँ
जाने दे उनको स्वर्ग धीर
पर फिरा हमें गांडीव गदा
लौटा दे अर्जुन - भीम वीर ।[1]

कवि की मान्यता है कि वर्तमान युग दया क्षमा विनम्रता आदि का नही है । भारतवर्ष की जनता की तुलना पाण्डवो से की गई है । जैसे द्वापर मे कौरवों ने जुए में धोखे से पाण्डवो का राज्य ले लिया था उसी प्रकार अंग्रेजों ने व्यापार के धोखे से भारतवर्ष हथिया लिया है। स्वतत्रता प्राप्ति में प्रयत्नशील व्यक्तियो के दो दल थे—गर्म दल और नरम दल । कवि स्वभाव से वीरता का पुजारी होने के नाते गरम दल का पक्ष लेता है। नरम दल, जिसका नेतृत्व गाधी जी कर रहे थे, का कहना था कि अग्रेज स्वयमेव जो उचित समझेगे करेंगे । हम जिन अधिकारो के योग्य है वे अपने आप मिल जायेंगे । न अग्रेजो को किसी शर्त पर बाध्य करना ठीक है न किसी प्रकार का हिसात्मक कदम उठाना ठीक है । दूसरी ओर गर्म दल लड़ने के लिए तैयार था । उसके कार्यकर्ता बम बनाते बन्दूके इकट्ठा करते और जहाँ मौका मिलता छापा मारते । युधिष्ठिर नरम दल के नेताओ के लिए उपमान स्वरूप आया है और अर्जुन-भीम गर्म दल के उपमान स्वरूप । इसी प्रकार गाडीव और गदा लड़ाई के साधनो के उपमान है । 'गदा' पद मे अर्थान्तर सक्रमित वाच्य ध्वनि का भ्रम हो सकता है । किन्तु कवि के अभिप्राय से यह 'भीम' की विशिष्ट गदा है ।

भिन्न भिन्न उपमानो के प्रयोग से सम्पूर्ण छन्द का ध्वन्यर्थ है—हमे रण-भीरु नही रण-कुशल योद्धा चाहिये । अग्रेज सीधे-सीधे माँगने से स्वराज्य देनेवाले नही उनसे लड़ना पड़ेगा बलिदान करना होगा ।

नव प्रवाह के नये वेग मे
यौवन ज्ञान कहा करता है—
'तट औरो' के लिए छोड़ दो
तुम मँझधार बहो ।[2]

रूपकातिशयोक्ति द्वारा जीवन के शाश्वत सत्यो का उद्घाटन करनेवाला यह एक सुन्दर उदाहरण है । कवि युवावस्था और वृद्धावस्था के बीच एक सूक्ष्म भेद स्थापित करता है । यौवन अनुभवहीन और वेगवान है । उस अवस्था मे बुद्धि

---

१. दिनकर : रेणुका : पृ० ७
२. शिवमगल सिंह सुमन : विश्वास बढ़ता ही गया : पृ० २५

कम भावुकता अधिक होती है । प्रथम पक्ति का 'नव प्रवाह' समस्त पद नए उत्साह के लिए आया है । इसी प्रकार 'तट' और 'मंझधार' पद उपमान स्वरूप आए है । तट पर नाव बाँधी जाती है वहाँ उसके डूबने का भय नही है किन्तु तट पर धारा-प्रवाह का सौन्दर्य स्वच्छ जल की चमक देखने को नही मिलती । मँझधार मे यह देखने को मिलता है तो डूबने का भी भय रहता है । अनुभवी वृद्ध (जिसमे किंचित भीरुता का अश भी होता है) प्राण रक्षा को अधिक महत्व देते है । दूसरी ओर युवक अनुभवहीनता के कारण प्राणो की बाजी लगाकर भी जीवन-सौन्दर्य देख लेना चाहता है । व्यग्यार्थ यह कि यौवन काल में प्रत्येक व्यक्ति जीवन को सकट मे डाल कर भी कुछ कर गुजरने की इच्छा रखता है । क्षण भर की चमक से ही यदि वह समाज का आकर्षण केन्द्र बन जाय तो उसे सुख मिलता है । प्रत्येक युवक मन में यही सोचता है कि पिटे पिटे पिटाए रास्ते पर औरो को चलने दो मै कोई ऐसा काम करूँ जो पहले किसी ने न किया हो भले ही वह सकटमय क्यो न हो ।

कील सी गड़ी मेरे मन की उदासी को
छुरी-सी पीरवाली दिल की तबाही को ।[1]

इन पक्तियो मे पदगत अलकार से वस्तु ध्वनि के दो उदाहरण है—'कील सी' और छुरी सी' । यद्यपि दोनो के साथ 'गडी' और 'पीर' धर्म भी वाच्य है किन्तु उन धर्मो के विशेषण लुप्त है । उपमेय और उपमान मे जो साधारण धर्म वर्णित किया जाता है वह उपमान मे विशेष रूप से होता है । वही विशेषता उपमेय मे आरोपित की जाती है । उपमा सौन्दर्य है भी यही ।

इन पक्तियो मे 'कील-सी' गड़ी कहने पर भी अन्य वस्तुओ की अपेक्षा कील के गड़ने मे जो विशेषता है वही व्यग्य है । कील अपने नुकीले आकार के कारण काष्ठ मे बहुत छोटा किन्तु गहरा छेद करती है । गहराई के कारण ही एक बार गड़ जाने पर आसानी से निकलती भी नही, जकडकर बैठ जाती है । कवि की उदासी भी ऐसी ही है । बाहर से उसका पता शायद ही लग सके पर हृदय मे इतनी गहरी पैठी है कि अनेक प्रयत्न करने पर नही हटती । यह 'घनीभूत पीड़ा' हर समय मस्तक मे छाई रहती है । इसकी कसक भीतर ही भीतर मालूम पडती है ।

इसी प्रकार 'छुरी-सी पीर' सूक्ष्म किन्तु गहरी पीड़ा का अर्थ देती है—

केश नील घन इन्द्र धनुष की
सद्यः शोभा में लिपटा तन

---

१. अंचल : हंस, जून १९४२

तड़ित लता शशि लेखा-सी वह
चकित कर गई दृष्टि मुग्ध मन ।[1]

ये पक्तियाँ 'आत्मिका' कविता से ली गई है । कवि अपने प्रथम परिणय का उल्लेख करते हुए प्रिया के अद्भुत सौन्दर्य की ओर परम्परागत उपमानो द्वारा इगित करता है । तीसरी पक्ति मे दो अलकार है । यदि 'सी' वाचक केवल 'शशि लेखा' से जोड़े तो 'तडित-लता' मे रूपकातिशयोक्ति मानना होगा अन्यथा दोनो पद उपमाएँ बन जायँगे । नायिका को 'तडित लता' कहने से उसका अग प्रत्यग कान्ति-मान होना व्यंग्य है । प्रसाद ने यही बात 'ज्योत्सना' 'निर्झर' से कही है । यदि कवि इतना ही कहकर रह गया होता तो नायिका के दिव्य सौन्दर्य का आभास नहीं मिलता । विद्युत का प्रकाश विनाशकारी भी हो सकता है । उसकी चमक भयकारी भी समझी जा सकती है । सौन्दर्य भी आसुरी हो सकता है किन्तु प्रिया का सौन्दर्य सौम्य तथा कलकरहित है । चन्द्रमा के प्रकाश मे जो स्निग्धता देखने को मिलती है वही सौन्दर्य मे है । "चचला स्नान कर आवे चन्द्रिका पर्व मे जैसी' कहकर प्रसाद ने भी इसी ओर सकेत किया है । 'लेखा' पद से सौन्दर्य की कलकहीनता व्यग्य है । दोनो उपमान वस्तु जगत् के सत्य होने से स्वत सम्भवी अलकार से 'रूप' वस्तु-ध्वनि सिद्ध होती है ।

उस ओर क्षितिज के कुछ आगे
कुछ पाँच कोस की दूरी पर
भू की छाती पर फोड़ों-से
है उठे हुए कुछ कच्चे घर ।[2]

छन्द की तीसरी पक्ति का 'फोडो-से' पद समाज के अछूत वर्ग की दीन दशा व्यजित करता है । फोडा कुरूपता तथा रक्त-विकार का सकेत है । फोडे के लिए शरीर का केवल एक भाग नही अपितु समस्त शरीर उत्तरदायी है । यह विकार जब तक फूट नही जाता शरीर सुखी नही हो सकता । इसी प्रकार अछूतो के झोंपड़े विकृत समाज के सूचक है । जब तक इनकी (लक्षणा से झोपड़े मे रहनेवाले व्यक्ति) दशा नही सुधरती सम्पूर्ण समाज स्वस्थ नही कहा जा सकता । फोडो की स्थिर चिकित्सा उन्हे फोडना नही अपितु रक्त शुद्धि है । इसी प्रकार अछूत समस्या का स्थायी हल आर्थिक और नैतिक अव्यवस्था को सुधारना है । ध्वनि है ये कच्चे घर स्वयं अपने लिए उत्तरदायी नही है । यह सम्पूर्ण समाज के पापों का परिणाम है ।

१. पन्त : वाणी : पृ० १४७

२. भगवतीचरण वर्मा : मानव : पृ० ७५

तुम जो अस्तंगत समाज की छाती पर कोल्हू-से बैठे
दास रूढ़ियों के बन्दी अवरुद्ध शून्य गुरुता में ऐंठे ।[1]

प्रथम पक्ति का 'कोल्हू' पद लोकभाषा का प्रसिद्ध उपमान है। यहाँ उसका साहित्यिक प्रयोग अत्यन्त सुन्दरता से हुआ है। 'तेली रे तेली तेरे सिर पै कोल्हू' मे कोल्हू के भारीपन से ही तात्पर्य है। समाज के ठेकेदारो को अस्तगत समाज की छाती पर 'कोल्हू-से' कहने मे उनकी दमन नीति और जनता का शोषण व्यग्य है। कोल्हू मे गिरा दाना तेल निकल जाने पर छिलका मात्र रह जाता है। दाना न किसी भाँति इससे बच सकता है न कोल्हू की छाती पर से हट सकता है। इसी प्रकार ये समाज के नियन्ता जनता रूपी तिलहन से अर्थ रूपी तेल निकाल रहे है। इस तरह अलंकार रूप मे आए पदार्थ से 'घटना' वस्तु ध्वनि है।

मानव की चिर सहधर्मिणी
युग युग से मुख अवगुंठित
स्थापित घर के कोने में
वह दीप-शिखा सी कम्पित ।[2]

इन पक्तियो मे परम्परागत उपमान नए सन्दर्भ मे नवीन अर्थ मे बडी कुशलता से प्रयुक्त हुआ है। नारी की दीप-शिखा से तुलना शरीर की काति व्यजित करने के लिए कई बार हुई है। पर दोनो का स्थान घर मे है इस धर्म को लेकर कभी नही हुई। 'दीप-शिखा' पद से उत्तर भारत की पर्दा-प्रथा शौर व्यापक रूप से नारियों का घर की सीमा मे ही बन्द रहने पर कटाक्ष है। 'नारी का क्षेत्र घर है' जैसे विषय यहाँ की वाद विवाद प्रतियोगिता के मुख्य विषय रहे है। पुराणपथी नारियो को देवी गृह-लक्ष्मी तो कहते है किन्तु व्यवहार करते हैं दासियो जैसा। उन्हे बाहर की हवा से भी ऐसे ही बचाते है जैसे दीप-शिखा को झोके से। दीप-शिखा घर को प्रकाशमान करने का साधन मात्र है और उसका स्थान केवल घर का कोना है। इसी प्रकार हम पत्नी को समझते हैं। उसका स्थान घर के भीतर है और उसका जीवन पुरुष को सुखी बनाने का साधन मात्र है यहाँ भी अलकार रूप पदार्थ से 'घटना' वस्तु ध्वनित है।

वाक्यगत वस्तु से वस्तु-ध्वनि

कोई खण्डित कोई कुण्ठित
कृश बाहु पसलियाँ रेखांकित

---

१. अंचल : हंस, अप्रैल १९४१

२. पन्त : युगवाणी : पृ० ६६

टहनी सी टाँगे बढ़ा पेट
टेढ़े मेढ़े विकलांग घृणित ।[1]

ग्राम्या में पन्त जी ने गाँव के विभिन्न चित्र दिये है। समग्रत: गाँव के प्रति उनकी धारणा परम्परागत मान्यता से मेल नही खाती। अब तक यही समझा जाता है कि ग्रामीण जनता अधिक स्वस्थ है। भारतीय सस्कृति यदि कही बच रही है तो गाँवों मे। किन्तु पन्त जी वहाँ दैन्य रोग शोक का अधिक प्रकोप देखते है। उन्होने बहुत कुछ सच ही देखा है। उपर्युक्त पक्तियो मे गाँव की जर्जरित दशा व्यग्य है। कोई बालक पूर्ण स्वस्थ नही है। 'कृश बाहु' 'पसलियाँ रेखाकित' और 'टहनी-सी टाँगे' से भोजन की कमी 'बढा पेट' तथा 'टेढे मेढे विकलाग' से रुग्णता व्यग्य है। जिनको भर पेट खाने को नही है वे दवाइयो के लिए पैसे कहाँ से लाये। इस तरह सम्पूर्ण वाक्य से भारत-ग्राम का पिछड़ापन ध्वनित है।

दो गज़ झीनी कफनी में जीवन की प्यास समेटे
सो रहे कब्र में कितने तनु से इतिहास लपेटे ।[2]

जब तक शरीर मे प्राण है मन नई नई इच्छाओ को जन्म देने से विरत नही होता। मृत्यु के पश्चात् दुनिया का व्यवहार सबके साथ बराबर होता है। भिखारी और राजा दोनो ही सिर्फ दो दो गज मे कफन लिपटा कर दफना दिये जाते है। कवि वैभव सम्पन्न उन व्यक्तियो को प्रबोध दे रहे है जो भौतिक बल के नशे मे यह भूल जाते है कि परमात्मा ने सबको समान बनाया है। इसके लिए वह उन व्यक्तियो का उदाहरण देता है जो इतिहास के प्रसिद्ध हो चुके है। 'तनु से इतिहास लपेटे' का लक्षणा से अर्थ होगा 'वे लोग जिनसे ऐतिहासिक घटनाओ का सम्बन्ध है।' सम्पूर्ण वाक्य का व्यग्यार्थ है—प्रत्येक व्यक्ति मरणधर्मा है अन्त समय हर प्रकार का भेद मिट जाता है इसलिए वैभव का अभिमान व्यर्थ है।

पशु बन कर नर पिस रहे जहाँ
नारियाँ जन रही हैं गुलाम
पैदा होना फिर मर जाना
बस यह लोगों का एक काम ।[3]

कवि की 'भैसागाड़ी' कविता गाँव के यथातथ्य चित्रण के लिए प्रसिद्ध है। प्रगतिवादियों में पन्त और भगवतीचरण वर्मा ने ही अधिकतर गाँव के अत्यन्त

---

१. पन्त : ग्राम्या : पृ० २७
२. दिनकर : रेणुका : पृ० १०५
३. भगवतीचरण वर्मा : मानव : पृ० ७५

मानव को कुत्ते की कोटि मे पहुँचा दिया है। वह कुत्ते के समान ही अविवेकी हो गया है। कुत्ते और मनुष्य मे सामान्य धर्म की व्यंजना होने से उपमा अलकार व्यग्य है किन्तु इससे भी मनुष्य की दीन दशा ही व्यंग्य है।

गली-गली वह भद्र कुलों की ललनाएँ बिकते देखो
माताओं के हाथों पथ में शिशुओं को फिकते देखो
कहाँ रहा कुल शील कहाँ अब नारी की ममता-माया
क्षुब्ध तरंगों पर उतराता कंकालों का दल आया।[1]

ये पक्तियाँ भी बगाल के अकाल पर ही लिखी गई है। कुलललनाओ का बिकना और शिशुओ का माताओ द्वारा फेंका जाना 'बुभुक्षा' की चरम सीमा व्यंजित करते है। भूख के सतत् कष्ट ने माता के हृदय से वात्सल्य भी सोख लिया। दोनो वाक्यो से अलग अलग एक ही 'घटना' वस्तु-अकाल की भीषणता की व्यजना हो रही है।

तुम जो बहनों को विधवा कहकर देते हो बाँझ अपावन
किन्तु उन्हें पा भूख बुझाने दानव से होते अति चेतन।[2]

सम्पूर्ण कविता समाज के स्वार्थी संचालको को सम्बोधित कर लिखी गई है। इन पंक्तियो मे उनके नारी पर अत्याचार का परिचय मिलता है। एक ओर से यह नियम बनाते है कि कोई विधवा चाहे युवती ही क्यों न हो विवाह नही कर सकती। अन्य पुरुष से सम्पर्क उसके लिए महापाप है जो कभी क्षमा नहीं किया जा सकता। दूसरी ओर पुरुष के ऊपर से पर नारी संसर्ग का बन्धन उठा देते हैं। जो नियम नारी के लिए है वही पुरुष के लिए भी होना चाहिये, पर है नही। यह नियम वैपरीत्य उनके अपने स्वार्थ से प्रेरित है। विधवाओ पर बन्धन इसलिए लगाया गया कि पुरुषो की भूख मिट सके। इससे पुरुष परिचालित समाज का नारी पर अत्याचार व्यंग्य है।

बढ़ो वृक्ष-से अनायास
तुम सीख राग फल-त्याग।[3]

उदाहरण की प्रथम पक्ति मे उपमा अलकार है। वृक्ष के समान अनायास मुक्त कुण्ठारहित बढो। दूसरी पक्ति का अर्थ करते समय 'वृक्ष से' आरोपित करना होगा। अभिप्राय है—तुम वृक्ष से सहज राग एव फल त्याग की शिक्षा ग्रहण कर बढ़ो वृक्ष से उपदेश ग्रहण करने का अर्थ हुआ वृक्ष के गुण तुममे भी होने चाहिए। अर्थात् वृक्ष के समान तुम भी प्राणिमात्र से स्नेह करो और दान करो। कवि यह

१. नरेन्द्र शर्मा : हसमाला : पृ० ३३
२. अचल : हस, अप्रैल, १९४१
३. पन्त : युगावाणी : पृ० ७९

न कहकर कि वृक्ष उपदेश देते है यह कहा है कि तुम उनसे अमुक बात सीखो । अतः द्वितीय निदर्शना व्यग्य है ।

जिस शिल्पी ने विख्यात राम के महावीर
सीज़र की मूर्ति तराशी थी
वह कहीं देख पाता तुमको
तो एक बार हिल जाती उसकी भी टाँकी ।[1]

'तुमको' सर्वनाम कवि श्री सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला के लिए प्रयुक्त हुआ है । उनके सामंती सुन्दर रूप की तुलना के लिए कवि राम के प्रसिद्ध सामंत सीज़र को उपमान स्वरूप लाता है । किन्तु वह समझता है सम्भवत सीज़र भी उनके जैसा रूपवान नही रहा होगा । उपमेय का प्रसिद्ध उपमान से आगे बढ जाने का अर्थ है उपमान की हीनता । शिल्पी के हाथ की छेनी का हिल जाना सकेत करता है कि निराला सीज़र से अधिक रूपवान थे ।

इसकी दूसरी व्याख्या यो भी हो सकती है—जिसने सीजर के सौन्दर्य की कल्पना की होगी यदि वह निराला जी को देख लेता तो उसे पता लगता कि वे उसकी कल्पना से भी अधिक रूपवान है । इस प्रकार उपमान की हीनता दर्शाने से प्रतीप अलंकार व्यग्य है ।

इधर गोलियों संगीनो भालों का हमला होता
उधर निःशस्त्र प्रजा का लोहू राज पथों को धोता ।[2]

सगीनो के हमलो मे नि शस्त्र प्रजा इतनी अधिक सख्या मे मरी कि उसका खून राजपथो पर पानी की तरह बह चला। पानी साधारण वस्तु होने के कारण से उसके बहाने मे किसी को दु.ख नहीं होता उसी प्रकार सैनिको को निरीह प्रजा का खून बहाने मे कोई दया नही आई है । खून पानी की तरह प्रभूत मात्रा मे बह रहा था । यह उपमा उक्त पक्तियो मे व्यग्य है । जिससे फिर सैनिको की नृशंसता रूप वस्तु व्यग्य है ।

वाक्यगत अलंकार से वस्तु-ध्वनि—

विद्युत की इस चकाचौंध में
देख दीप को लौ रोती है
अरी हृदय को थाम महल के
लिए झोंपड़ी बलि होती है ।[3]

---

१. शिवमंगल सिंह सुमन : विश्वास बढ़ता ही गया : पृ० ५९
२. अंचल : हंस, सितम्बर १९४६
३. दिनकर : रेणुका : पृ० ३९

पहली दो पक्तियो मे विद्युत और दीप की लौ वैभव और निर्धनता का प्रतीक बनकर आए हैं। भारतीय काव्यशास्त्र की सीमा मे वह स्थल अन्योक्ति अलकार का होगा। तात्पर्य है एक ओर धनिक वर्ग आश्चर्य चकित कर देनेवाला वैभव का प्रदर्शन करते हैं दूसरी ओर उसे सम्भव बनानेवाले निर्धन वर्ग की दीन दशा देखकर करुणा उत्पन्न होती है। ध्वनि है बिना एक वर्ग का शोषण किये दूसरा वर्ग वैभव सम्पन्न हो ही नही सकता। गरीबो के आँसुओ की चमक ही अमीरों के मोतियो की चमक बनती है। साराश यह कि प्रत्येक महल न जाने कितने गरीबो का सुख लूटकर बना है।

इस वाक्य की क्रिया 'रोती है' लाक्षणिक है। दीपक की लौ कभी रो नही सकती। जब तक 'दीपक की लौ' की प्रतीकात्मकता स्पष्ट नही होती क्रिया भी अर्थ-हीन रहती है। इसीलिए हमने लक्षण व्यापार को मुख्य न मानकर अलंकार व्यापार को ही मुख्यता दी है।

दूसरी दो पक्तियो की ध्वनि लक्षणामूला भी है और अभिधामूला वस्तु से वस्तु भी। आश्रय आश्रयी भाव से महल धनवान और झोपड़ी निर्धनो के लिए मान कर व्याख्या होगी—धनवानो के सुख के लिए निर्धनो का बलिदान होता है। दूसरी व्याख्या होगी जहाँ गरीबो के झोपड़े है वहाँ अमीरो के महल बन रहे है। यह व्यापार जगत् मे इसी रूप मे सत्य होने के कारण स्वत. सम्भवी है। दोनो ही व्याख्याओ से समाज की शोषण नीति व्यग्य है। यही ध्वनि प्रथम वाक्य की भी है।

तुम्हारे संकेतों के साथ
नाचता था साम्राज्य विशाल
तुम्हारा क्रोध और उल्लास
बिगड़ते बनते थे भूपाल।[1]

अतिशयोक्ति के कार्य और कारण के क्रमानुसार अनेक भेद है। इन पंक्तियों के दोनो वाक्यो मे अक्रमातिशयोक्ति है। कार्य से पहले कारण का होना नियम है। कवि नूरजहाँ को सम्बोधित कर कहता है कि तुम्हारे आज्ञा देने के साथ ही विशाल साम्राज्य उसके अनुरूप बदल जाता था। तुम्हारे क्रोध (करते ही) राजा गद्दी से उतार दिये जाते और प्रसन्न (होते ही) रक राजा बना दिये जाते थे। पहले वाक्य मे आज्ञा (उपादान) कारण और साम्राज्य मे परिवर्तन कार्य दोनो एक साथ घटते है। दूसरे वाक्य मे क्रोध या प्रसन्नता (उपादान) कारण और राजाओ का बिगड़ना या बनना कार्य एक साथ होते है। इससे दोनो मे अक्रमातिशयोक्ति सिद्ध होती है। व्यंग्य है नूरजहाँ का जहाँगीर पर प्रभाव और उसकी असीम शक्ति।

---

१. **भगवतीचरण वर्मा : मधुकण : पृ० ४२**

गिजाएँ सभी अब दवाएँ बनीं
दवाएँ दुआ की तरह बेअसर है ।[१]

पहला वाक्य आजकल की मँहगाई पर बडा सुन्दर कटाक्ष है। गिजाएँ इतनी मँहगी हो गई हैं कि दवाई की तरह थोड़ी थोडी मात्रा मे ही खाई जा सकती है। दूसरी व्याख्या यह भी हो सकती है कि बीमारियाँ इतनी बढ गई है कि व्यक्ति जीवन भर दवाएं खाता ही मर जाता है। वे ही उसका मुख्य साध्य बन गई है। उन्ही के सहारे व्यक्ति जी पाता है।

दूसरे वाक्य मे उपमा अलकार से आज के व्यापारी वर्ग की धोखाधड़ी काला-बाजारी व्यंग्य है। इतनी नकली दवाइयाँ बिकती है कि उनका कोई असर ही नही होता।

आज आसुरी बनी समस्त सभ्यता
गिर पड़ा तुषार लुट गई लता-लता
छिन्न-भिन्न सी ममत्व सत्व-शृंखला
खो गई कहीं मनुष्य की मनुष्यता ।[२]

दूसरी पक्ति मे केवल उपमानो का प्रयोग होने से रूपकातिशयोक्ति है। उपमेयो का सकेत प्रथम पक्तियो से मिलता है। सभ्यता के आसुरी भाव ही तुषार हैं। उससे जल गई लताये मनुष्य है। अर्थ है—स्वार्थ हठधर्मिता आदि से प्रेरित अत्याचारों ने ससार के प्रत्येक व्यक्ति का अकल्याण किया है। भौतिक हानि ही हानि नही है, आत्मा का कलुषित होना भी हानि है। एक ओर अत्याचार से पीड़ित शोषित वर्ग है दूसरी ओर कलुषित आत्मा युक्त शोषक वर्ग आत्मिक शान्ति के अभाव मे दुखी है। ध्वनि है हम जिसको उन्नति समझ बैठे है वह भौतिक उन्नति भी नही है और आत्मिक उन्नति तो हो ही कैसे सकती है। इसका प्रमाण है प्रत्येक मनुष्य का दुखी होना।

एक गिरि उन्नत दीर्घाकार
सामने तू उसके चुपचाप—
सोचता है क्या यह जलधार
गिर रही जो विभक्त हो आज
नहीं हो सकती मिलकर एक ।[३]

---

१. जवाहर चौधरी : नया साहित्य : जून, १९४९

२. शिवमगल सिंह सुमन : विश्वास बढ़ता ही गया : पृ० ११

३. रांघेय राघव : हंस · दिसम्बर, १९४४

उक्त पंक्तियो मे सम्पूर्ण व्यापार मे केवल उपमानो का प्रयोग होने से रूप-कातिशयोक्ति है। कवि ने विशाल भारत को दीर्घ पर्वत और हिन्दू मुसलमानों को जलधारा के रूप मे ग्रहण किया है। अभिप्राय है—ये मुसलमान जो अलग प्रदेश की माँग कर अपने को हिन्दुओ से अलग जतला रहे हैं और ये हिन्दू जो इन्हे म्लेच्छ कहकर घृणा की दृष्टि से देखते है क्या कभी मिलजुल कर एक ही देश मे नही रह सकते।

इस युग की ऐसी अनेक रचनाये युगीन परिस्थितियो की पृष्ठभूमि पर ही समझी जा सकती है। किन्ही मे प्रस्तुत की ओर सकेत करनेवाला कोई भी शब्द नही होता। अतएव ऐसी कविताओं का ध्वन्यर्थ परम्परा से नही तत्कालीन परिस्थितियो से नियमित होता है और वही युगीन वातावरण सामाजिक या धार्मिक विषमता आदि—कविता का व्यग्य बन जाता है। प्रस्तुत उदाहरण मे हिन्दू मुसलमानो का वैमनस्य व्यंग्य है।

प्रबन्धगत ध्वनि—प्रगतिवादी युग की समीक्षा करते हुए हमने इस ओर सकेत किया है कि यह युग देशव्यापी जागरण की चेतना का युग था। घर और बाहर दोनो ओर युद्ध छिड़ा हुआ था। उसके परिणाम की स्पष्ट कल्पना बहुत कम व्यक्तियों को थी। मध्यम और निम्न वर्ग रूस तथा चीन की ओर प्रशंसा की दृष्टि से देखता था। इसका कारण था वहाँ इन दोनो वर्गो का मान था।

अधिकाश कविताये कवियो के क्षुब्ध मन की अभिव्यक्ति थी। क्षोभ के कारण व्यक्तिगत और सामाजिक दोनो ही थे। बढती हुई मँहगाई मे केवल कविता बेचकर पेट पालना असम्भव था। शासक वर्ग यत्र विशारदो को प्रश्रय दे रहा था। यद्यपि द्वितीय विश्व-युद्ध के आरम्भ तक अनेक आन्दोलन हो चुके थे किन्तु समाज का मानस गहराई मे शान्त था। अब वह पहली बार तरगायित हुआ था और उसका सर्वाधिक प्रभाव आराम की कमाई खानेवालो पर, मध्यम स्थिति के शिक्षित वर्ग पर और नारी पर पड़ा। इस युग मे ध्वनित होनेवाले कविताओ के 'भाव' (सेन्ट्रल आइडिया) निम्न वर्गो मे विभक्त किये जा सकते है।

१—मिल मजदूरो का जीवन और उनमे जागरण की चेतना।

यत्र-युग के पूर्व यह विश्वास किया जाता था कि यत्रो से मज़दूरो को कम श्रम करना पडेगा। उत्पादन अधिक होगा परिणाम स्वरूप उनका जीवन सुखी होगा। उस समय इसकी कल्पना भी नही थी कि उत्पादन का सम्पूर्ण लाभ पूँजीपति वर्ग ही ले लेगा और मजदूरो की दशा इससे भी अधिक बिगड जायगी। इसका सफल विरोध करने के लिए उनमे एकता की भावना ट्रेड यूनियनो के रूप मे पैदा करना और लाभ

पर उनके अधिकार का प्रचार प्रगतिवादी कविता का मुख्य स्वर है। अनल और केदारनाथ ने इस ओर अधिक ध्यान दिया।

२—इन्ही से मिलती जुलती उस वर्ग की स्थिति, जो किसी निश्चित पेशे के न होने से सदैव एक स्थान से दूसरे स्थान को यात्रा करता रहता। जहाँ कोई काम मिला, कर लिया अन्यथा माँगकर खा लिया। इस हीन स्थिति के लिए भी समाज का वही वर्ग उत्तरदायी है जिसने एक क्षेत्र मे मशीनें लगवाकर हजारों लाखो मजदूरों को बेकार तो कर दिया किन्तु नये-नये क्षेत्रो का मार्ग खोलकर उन्हे आजीविका नही दी। कवियो ने यह भी देखा कि शहरों मे जैसे मजदूर मिलमालिको के शिकार हो रहे हैं उसी प्रकार गाँवो मे जमीदार किसानो को पीस रहे है। अतः उनके प्रति भी उनकी करुणा उमड़ पडी।

३—आर्थिक दृष्टिकोण से निम्न वर्ग के प्रति सहानुभूति जागृत हो जाने पर कवियो का ध्यान वर्णव्यवस्था के अनुसार निम्न श्रेणी के वर्ग की ओर भी गया। इससे कला का क्षेत्र और भी व्यापक हुआ। कवि पन्त ने उनके जीवन की बड़ी सुन्दर-सुन्दर झाँकियाँ दी है।

४—आधुनिक सभ्यता ने यदि सबसे अधिक आडम्बरपूर्ण जीवन दिया है तो क्लर्को को और अध्यापको को। आय कम और ज्यादा खर्च ने उनके मानसिक स्तर को कितना गिरा दिया है इसका उद्घाटन आज की कहानियो ने विशेष किया है। काव्य मे क्लर्क जीवन ही अधिक लिया गया।

५—कवि स्वय मध्यम वर्ग का प्राणी है। राजाओ के साथ साथ राजकवि का पद भी विलीन हो गया। समाज ने उसकी कद्र नही की, धनिकों को उसकी कविता रुची नही और मज़दूर वर्ग के पास न शिक्षा थी न समय। हमारे विचार से धनिक वर्ग के प्रति इतने अधिक क्रोध की अभिव्यक्ति का प्रमुख कारण यही है। सामाजिक विषमता की चेतना यही जागती है। अमीरो के कुत्सित जीवन का वीभत्स वर्णन और उनके लिए 'वेश्याओ के पिस्सू'[1] एवं 'समाज के कीड़े' शब्दो का प्रयोग जिस घृणा को व्यक्त करता है वह निर्वैयक्तिक ही होगी, इसमे सन्देह है।

६—द्वितीय विश्वयुद्ध किन्ही कारणो से हुआ हो किन्तु भारतवर्ष को यह आशा थी कि इसी समाप्ति पर उसे भी स्वतन्त्रता प्राप्त होगी। उसके भीषण रूप से किसी देश की जनता अप्रभावित नही रह सकी थी। यहाँ उसकी भयंकरता का वर्णन करते हुए नए प्रभात का आलंकारिक वर्णन अनेक कवियों ने किया किन्तु समाज की रूपरेखा

१. अंचल : 'तुम' : हंस, अप्रैल, १९४१

केवल पन्त की कविताओ मे मिलती है। उन्होने जिस नूतन मानव की कल्पना की है उसकी व्यावहारिकता पर सन्देह हो सकता है पर सच्चाई पर नही।

७—बगाल का अकाल एक दूसरी विशेष घटना थी जिसने कवियो का ध्यान आकर्षित किया। उसके वर्णन मे भी सामाजिक विषमता की चेतना बराबर बनी रही।

८—नारी चित्रण इस युग का सबसे दुर्बल पक्ष है। छायावादी काव्य ने नारी को भोग्या की स्थिति से उठाकर 'सहचरी' 'प्राण' तथा 'देवी' पर प्रतिष्ठित किया। किन्तु यह आदर काव्य क्षेत्र तक ही सीमित रहा। व्यवहार मे वह सर्वभोग्या की स्थिति की ओर बढती गई। कवियों की दृष्टि इस ओर भी गई। यहाँ भी हम देखते है कि कटाक्ष धनिक वर्ग पर ही किया गया।

९—एक क्षीण धारा छायावाद युग की अतिशय कल्पनाशीलता का विरोध करती हुई भी बही।

मुख्यतः प्रगतिवादी साहित्य पूँजीपति और सर्वहारा[1] तथा उनके अन्य रूपो के द्वन्द्व के चित्रण मे ही प्रयत्नशील रहा।

प्रबन्धगत वस्तु से वस्तु—

वहीं पर मैली शैया
धानी चुनरी बिछाए लेटी नारी
घायल चील–सी
अधनंगी अज्ञात
किसी श्रमजीवी की अभिशाप
चूसता फिर निचोरता सूखे स्तन
भूखा शिशु।

*

जब आता था मजदूर
भूखा किन्तु मुफलिस मौन
खोले एक हाहाकार
जैसे युग जुम्बिश में हिला देगा
सृष्टि का शोषकों का सत्ता भार
प्रलय का ज्वालागिरि साकार
आता मूक कातर दीन

---

१. रमण : 'बुर्जुआ' : हस, जून, १९४२

देखता भूखी पड़ी उसकी छबीली नार
फाकों से घिरी कमज़ोर दुबली
नव प्रसूता थी शिथिल निस्पन्द
वह बच्चा सलोना
टूटते तरु-सा उसी के बिन्दु का इतिहास
वासना का यह प्रथम पग चिह्न
बन रहा सति कुत्ते के
पागल स्यार-सा उन्मत्त हो
बैठा वही गरदन उठाए ।[1]

मजदूरो के कठिन तथा दयनीय जीवन का यह अत्यन्त विषद वर्णन है। मिल में यंत्रो से जूझने का नीरस कार्य, घर मे स्नेहहीन वातावरण। एक ओर यत्रो की गडगड़ाहट दूसरी ओर भूखे बालक की चीत्कार तथा रुग्णा पत्नी की कराह। उसके जीवन मे एक कोने से दूसरे कोने तक हाहाकार है। यही इस प्रबन्ध का व्यग्य है। यद्यपि बीच बीच मे लक्षणा तथा अलकारो की सहायता भी ली गई है किन्तु पूरे प्रबन्ध मे उनका निर्वाह न होने के कारण से वस्तु से वस्तु-ध्वनि है। कवि का उद्देश्य उक्त वर्ग की ओर हमारा ध्यान आकर्षित करना है।

केदारनाथ अग्रवाल की 'मजदूर'[2] तथा 'अचल' की 'मजदूर की अंधी लड़की'[3] कवितायें भी इसी वर्ग की दयनीय स्थिति ध्वनित करती है—

इस ओर पड़ी खानाबदोश
मेहनतकश मानव की पाँते
फुटपाथों की चट्टानों पर
जो काट रहीं अपनी रातें।
रक्षित है लाज लँगोटी पर
है कण्ठ बोलते घरर घरर
आ रही असह दुर्गन्ध पसीने और
चीथड़ो से झर – झर।
कुछ दमा तपेदिक से बेदम
कुछ खाँस रहे है पड़े पड़े
सम्पत्ति फटी मिर्जई और
अधजली बीड़ियों के टुकड़े।

१. अंचल : दोपहर की बात से . हंस, जुलाई अगस्त १९३९
२. हस . सितम्बर १९४२
३. हंस : अक्तूबर १९४१

पैदा कर माँ ने जीवन में
समझा था कुछ उजियाला होगा
कितनी मनुहार दुलारों से
ललुआ कह कर पाला होगा।
सोई है उनकी आशायें
कंकड़ पत्थर पर आज विवश।[1]

इस प्रबन्ध की ध्वनि खानाबदोश जाति की निर्धनता नही मानव मानव में समता का व्यवहार न करनेवाले प्रासाद निवासियो का अत्याचार है। बचपन मे सब को समान रूप से माता का प्यार मिलता है। प्रत्येक सन्तान कुल-दीपक की लौ लिये है। भेद-भाव से उत्पन्न दु.ख के दिन बडे होने पर आते है। भयकर विषमता बडे होने पर दिखाई पडती है—

साँझ हो गई घर को आया दिन भर का ऊबा ऊबा
एक उबासी ले करवट ली सुख सपनों में जा पहुँचा।
गीत सुनूँ कोयल बुलबुल के प्रीति करूँ तो जंगल से
मन बहलाऊँ पेड़ों नीचे देख देख छाया-छल के
हो मानुष की गन्ध न बन में हों न यहाँ के दु ख कलेस
है इतनी सी चाह हमारी कहाँ मिलेगा पर वह देश।
ऐसा देश दिखाओ जिसमें हो न मोह फाँसी फन्दा
दिल ऐसा खुश खुश हो जैसे पूरनमासी का चन्दा
रोटी की खातिर बनना हो नहीं किसी का मुझे गुलाम
ताँबे के मैले टुकड़ों पर हो न काम से कोई काम
है इतनी सी चाह हमारी पूरी कर मेरे ईश्वर
एकाकी हूँ मेहनतकश हूँ और किराये का है घर।[2]

अर्थ की चक्की मे पिस कर मध्यम वर्ग जिस दयनीय स्थिति में जा पहुँचा है वही इस कविता का व्यंग्य है। दिन भर आफिस मे साहब की डॉट डपट और रात को छोटी सी कोठरी की घुटन। सुबह से शाम तक की मेहनत करके वह जितना कमा पाता है वह अकेले उसी के लिए पर्याप्त नही होता, शादी करे तो किस बूते पर। काम वह पूरे से ज्यादा करता है लेकिन बदले मे मिलता बहुत कम है। वह स्वय को किसी दास से बेहतर नही समझता। कहते है दास प्रथा समाप्त हो गई है। हाँ, दासो का क्रय-विक्रय समाप्त हो गया है, बिना वेतन के गुलाम नही मिलते। पर

---

१. शिवमगल सिंह सुमन: प्रगति अंक : हंस, फरवरी मार्च—१९४३
२. नरेन्द्र शर्मा : मिट्टी और फूल : पृ० ५१

भाड़े की गुलामी करते है जो स्वेच्छा से दासत्व ग्रहण करते है। इसलिए कभी क्रान्ति नही करते, कर नही सकते। आधुनिक सभ्यता पर यह कितना तीखा कटाक्ष है।

रात है
आधी रात
काली रात
खून पिये काली रात
मानव का खून पिये
कैसी मतवाली रात।
कितने कटे
कितने मरे
कितनों का खून बहा
फिर भी तो प्यासी रात
मौत की काली रात।
रात है आधी रात।
आग की लहरें लपटती है
शोले भड़कते है
बिजलियाँ तड़पती है
रात धधक उठती है
खून की लपटें आकाश तक फेंकतीं
खून के शोले—
भभक बुझ जाती हैं
छोड़तीं अन्धकार धुआँ ज़हर
सारा अवसन्न जगत
काँपता साँय साँय
काँपता तूफान
सहसा फट पड़ता है
वज्र का ठहाका। और
पृथ्वी की छाती फट जाती है
फूटती दरारें हैं
मुंह बाये खोहों में—
आदमी को खाने को।[१]

---

१. त्रिभुवननाथ : हस, जनवरी १९४३

सम्पूर्ण कविता की 'व्यापार' वस्तु से भयंकर युद्ध 'घटना' वस्तु व्यग्य है। बीच बीच मे अलकारो का प्रयोग हुआ है किन्तु आरम्भ से अन्त तक उनमे से किसी का निर्वाह नही हुआ है। अनेक प्रयोगवादी कविताओ की कमी है कि उनमे साग रूपक, अन्योक्ति अथवा समासोक्ति जैसे अलकारो का सफल निर्वाह नहीं हो पाया है।

फासिस्ट जर्मनी की साम्राज्य विस्तार की इच्छा की भयकर युद्ध मे परिणति तथा साम्यवादी देशों का उसका सफलतापूर्वक प्रतिकार कर नये युग के प्रतिष्ठापन की सामूहिक चेतना अनेक कविताओ—'यूरोप और एशिया'[१] 'नील लहरो के पार'[२] 'बुलावा'[३] 'लाल रूस के प्रति'[४]—मे मिलती है। इसी के साथ भारतीय स्वतंत्रता संग्राम की पवित्रता तथा अनिवार्यता भी कवियो के सामने थी। गोपीरमण रावत की 'मनुहार की बेला नही'[५] कविता का व्यग्य यही है कि जन्मभूमि से हमारे सम्बन्ध को सर्वोपरि स्थान मिलना चाहिए। उसके स्वातत्र्य सग्राम मे भाग लेना सब कर्तव्यो मे परम है। शिवमगल सिंह सुमन के काव्य सग्रहों की अनेक कविताएँ इसी आशय से लिखी गई है।

भूख...
अनाज...
मुनाफाखोर
अनाज चोर का
छिपा सा निर्जन मे
अंधेरा बाजार ...
जिसके चारों ओर गवरमेंट—
ककरीले रुपये लिये दान समितियाँ—
भूखी लाशों से दूर
सूने सूने खिचड़ी रसोइयो वाले—
हम तुम वे।[६]

बंगाल का अकाल दैवी प्रकोप नही था। उसके लिए सरकार और पूंजीपति दोनो उत्तरदायी है। अकाल की ओर सकेत करते हुए कवि ने समाज के ठेकेदारो की

१. निरंजन : हंस, सितम्बर ४३
२. नरेन्द्र : हंस, अगस्त ४२
३. नरेन्द्र : हंस, अगस्त १९४२
४. अंचल : हंस, सितम्बर १९४२
५ हस : हंस, सितम्बर १९४२
६ शमशेर बहादुर सिंह · कलकत्ते की सड़को पर : हस, सितम्बर ४३

स्वार्थपरता का परिचय दिया है। उनको प्रश्रय देनेवाला विदेशी शासन देश को कितनी हानि पहुँचा रहा है यही इस कविता का व्यग्य है। सुमन[१] नरेन्द्र शर्मा[२] तथा बच्चन[३] ने अकाल पर लिखी कविताओ मे उसकी भीषणता दर्शाने का ही अधिक प्रयत्न किया है।

अर्थ व्यवस्था के आधार पर वर्ग, त्याग नही, सुखोपभोग के उद्देश्य से, बने है। इस प्रकार सम्पूर्ण समाज पतन की ओर जा रहा है। इन परिस्थितियो को पैदा करने-वाले समाज के कलंक है। शमशेर बहादुर सिह की 'मिट्टी की राख'[४] उदयशंकर भट्ट की 'बन्द करो द्वार'[५] रमण की 'बुर्जुआ'[६] और अंचल की 'तुम'[७] शीर्षक कवितायें इसी वस्तु को ध्वनित करती हैं।

प्रगतिवाद में नारी चित्रण मुख्यतः उद्बोधनात्मक रहा। इसमे पन्त जितने सयमित रह सके अन्य कवि नही। पन्त की 'नारी'[८] 'नर की छाया'[९] 'स्त्री'[१०] कविताओं मे एक ओर उसकी दलित स्थिति का सकेत है दूसरी ओर समाज मे उसके महत्त्व को प्रतिष्ठित करते हुए उसकी मुक्ति के लिए आन्दोलन है। किन्तु जब केदारनाथ अग्रवाल 'नारी से' समाज मे पुरुष के साथ कन्धे से कन्धा भिडा कर चलने के लिए कहते है तो इसका प्रारम्भ शरीर के अनावृत करने से होता है। समाज के यथातथ्य वर्णन मे इन्होने तथा कवि अचल ने मनुष्य के यौन सबधो पर जितना लिखा उतना शायद किसी अन्य पहलू पर लिखा हो।

नूतन मानवता के कवि पन्त धनी है। स्वर्ण किरण, स्वर्ण धूलि तथा उत्तरा संग्रह उसकी झाँकियो से भरे पडे है। ऐसी कविताओ का ध्वन्यर्थ एक ही है—अन्तस् और बाह्य आकार मे एकता मानव सस्कृति को उन्नति की चरमावस्था तक पहुँचा सकती है। सस्कृति का यही स्वरूप है।

---

१. हस : अक्तूबर १९४३
२. हंसमाला : पृ० ३३
३. बंगाल का अकाल
४. हंस : अप्रैल ४२
५. हस : अप्रैल मई ४२
६. हंस : जून ४२
७. हंस : अप्रैल ४१
८. युगवाणी : पृ० ६४
९. वही : पृ० ६६
१०. ग्राम्या : पृ० ८२

प्रबन्धगत वस्तु से अलंकार-ध्वनि—

कुहरे का घट लुढ़का, फूटा
ऊषा का घूँघट लाल हुआ,
गोरी गर्वीली बदली का—
आँचल रंजित नभ-भाल हुआ।
हो गया क्षितिज का लाल बदन
प्राची लाली को रही पहन,
मिट गए निशाचर तारक-गन
दानव-दल-तम के मूर्छित मन।
निकलेगा अब बालार्क अरुण
फहरेगा कर में किरण-केतु,
अम्बर से भू तक लाली का
बाँधेगा अद्‌भुत नवल सेतु!
उस नीलाम्बर की दया-द्रवित
चेतनता लाली की ममता
धरती का दुःख करुणा लेगी
देगी भर अपना बल क्षमता।
पर तुम चिर-दग्ध दुखी मानव
हे पृथ्वी-सुत! युग के वैभव
अपने अन्तर की आग उगल
कर दो धरती का मुख उज्ज्वल।
तब सूर्योदय होगा निश्चित
मन की मेदिनि पर सुख संचित,
उज्ज्वल होगी जीवन - पूर्वा
भीजेगी सुख की नव-दूर्वा।[1]

कविता का शीर्षक है 'सूर्योदय'। प्राकृतिक सूर्योदय के वर्णन मे कवि ने अलंकारों का प्रयोग किया है किन्तु कोई भी प्रबन्धगत नही है। प्राकृतिक सूर्योदय से पृथ्वी-पुत्र का दुःख दूर नही होता। वह तभी सुखी होगा जब उसके अन्तर की अग्नि प्रकट होगी। अत प्राकृतिक सूर्योदय उसके लिए सूर्योदय नहीं। उसका सच्चा सूर्योदय है सुखी जीवन का प्रारम्भ। इस व्याख्या से अपह्नुति अलंकार की व्यजना सिद्ध होती है।

---

१. अनिलकुमार : नयासाहित्य : फरवरी १९५१

प्रबन्धगत अलंकार से वस्तु-ध्वनि—

जल उठे हैं तन बदन से
क्रोध में शिव के नयन से
खा गये निशि का अँधेरा
हो गया खूनी सबेरा।
जग उठे मुर्दे बेचारे
बन गए जीवित अंगारे।
रो रहे थे मुँह छिपाए
आज खूनी रंग लाए।[1]

कविता का शीर्षक है 'कोयले'। कोयले अपने कालेपन के कारण ही हीन समझे जाते है। किन्तु जब वे जलते है तो शिव के नयन रूपी अन्धकार रूपी अधर्म का नाश कर देते है। यहाँ कोयले दलित वर्ग, निम्न श्रेणी का प्रतीक है। सर्वहारा वर्ग जब जागता है तो ससार से अन्याय अत्याचार का नाश होता है नए युग का आरम्भ होता है। साहित्य की सामजिक पृष्ठभूमि से स्पष्ट है कि कविता का सम्बन्ध भारतवर्ष की जन-जागृति से है जो प्रस्तुत 'कोयले' अप्रस्तुत है। अप्रस्तुत से प्रस्तुत की ओर सकेत करने के कारण अन्योक्ति अलकार सिद्ध है। अभिप्राय है—'किसान और मजदूर जाग गए हैं। अब ससार का अत्याचारो से मुक्त होने का समय आ गया है।' सक्षेप मे प्रबन्ध से भारत का अभ्युत्थान रूप 'विचार' वस्तु ध्वनि है।

नरेन्द्र शर्मा की 'पलाश वन' 'मिट्टी और फूल' कविताएँ भी इसी शैली मे लिखी गई हैं। केदारनाथ अग्रवाल ने 'काग्रेसी माँग'[2] मे किंचिच् इसी शैली में तत्कालीन राजनैतिक परिस्थिति पर कटाक्ष किया है। भाव और विचार आकर्षक ढग से प्रस्तुत करने का यह निराला ही प्रकार है।

संलक्ष्यक्रम रस-ध्वनि—

पदगत अलंकार से भाव-ध्वनि—

उद्वेलित अन्तर में झंझ चली लपट बाहर को दौड़ी
एक व्यक्ति की आग सभी को बनी प्रभंजन ने गति मोड़ी।[3]

झझा के उद्वेलन और लपट आवेश का प्रतीक है। इनके माध्यम से कवि युगीन जन-आक्रोश के भाव को व्यजित कर रहा है। सामाजिक पृष्ठभूमि पर ही इसकी व्याख्या करने पर भाव हृदयगम होता है। इसलिए सलक्ष्यक्रम है।

---

१. केदारनाथ अग्रवाल : हस, अगस्त ४३
२. हंस : मई १९४६
३. शिवमंगल सिंह सुमन : विश्वास बढ़ता ही गया : पृ० ८०

वाक्यगत वस्तु से भाव-ध्वनि—

मेरे युग में हाय मिट गई
नर-पशु के अन्तर की रेखा
मानव-श्वान एक टुकड़े पर
टूट रहे वह दिन भी देखा।[1]

सम्पूर्ण वाक्य से विषाद भाव ध्वनि है। किन्तु इसका माध्यम है वस्तु ध्वनि। मानव-श्वान के एक ही टुकडे पर टूटने से भीषण अकाल व्यग्य है जिससे विषाद की ध्वनि मिलती है। वह मानव जो विवेक के बल पर पशुओं से ऊपर उठा है आज भूख के मारे फिर से उसी श्रेणी मे जा पहुँचा है। मानव के इस पतन पर कवि को अत्यधिक विषाद है जो अन्तिम पक्ति से पुष्ट होता है।

कवि प्रौढ़ोक्ति सिद्ध

पदगत वस्तु से वस्तु-ध्वनि—

यदि कहीं तुम्हारे पलक जाल मे छिप सकता मै पल भर को
हलकी कस्तूरी की सुगन्ध—लेता उसाँस जो पल भर को
देता बिखेर सब दोष-रोष मैं अपने और परायों के
मैं नयन मूँद अलका नगरी के स्वप्न देखता पल भर को।[2]

अलका नगरी कवि प्रसिद्धि के अनुसार कुबेर की नगरी है। धन धान्य से पूर्ण और सब प्रकार से सुखी। कवि का कथन है कि प्रेयसी के अलक जाल मे छिपने से वह अलकापुरी के स्वप्न देख सकता था। तात्पर्य यह कि बालों की हलकी कस्तूरी गन्ध उसे इतना मदमस्त कर देती कि संसार के राग द्वेष भूल कर क्षण भर के लिए वह परम आनन्द को प्राप्त कर लेता। ध्वनि यह कि यदि ससार मे प्रेयसी का स्नेह (निकट सम्पर्क जिसकी सूचना देता है) मिल जाय तो और किसी वस्तु की आकांक्षा नहीं रह जाती।

पदगत अलंकार से वस्तु-ध्वनि—

दिन दिन निष्प्रभ होता जाता तक्षक मण्डल
स्वर्णिम गरुड़ से उद्‌भासित है उदयाचल।
— — — —
मच गई स्वर्ण-अमरीका में भारी हलचल
चिन्तित कुबेर के दल-बल अब हो उठे विकल।[3]

---

१. शिवमंगल सिंह सुमन . विश्वास बढ़ता ही गया : पृ० ८१
२. नरेन्द्र शर्मा : मिट्टी और फूल : पृ० २१
३. नागार्जुन : नया साहित्य . नवम्बर १९५०

तक्षक सर्व साहित्य परम्परा से सिद्ध वस्तु है। राजा परीक्षित उसी के काटने से मरे थे। तात्पर्य यह कि तक्षक ऐसा भयकर सर्प है जिसका काटा हुआ व्यक्ति बचता नही। उपनिवेशवाद की नीति अपनानेवाले साम्राज्यो को कवि तक्षक मण्डल कहता है। अत कविप्रौढोक्ति सिद्ध पदगत रूपकातिशयोक्ति अलकार है। इसी प्रकार गरुड और कुबेर मे भी रूपकातिशयोक्ति अलकार है। अर्थ है अमरीका आदि देशो क विदेशो मे प्रभाव कम होता जा रहा है। विदेशी बाजार के हाथ से निकल जाने के कारण वहाँ के पूँजीपति अत्यन्त चिन्तित हो उठे है। एशिया का नवजागरण इन पक्तियो की ध्वनि है।

वाक्यगत वस्तु से वस्तु-ध्वनि—

कण कण सिहर उठे
अणु अण ने सहस्राक्ष अम्बर को ताका
शेषनाग फूत्कार उठे
साँसों से निःसृत अग्नि शलाका।[1]

ये पक्तियाँ 'आज देश की मिट्टी बोल रही है' शीर्षक कविता से ली गई है। इतने दिनो से मिट्टी पददलित होती आ रही थी। आज उसी ने प्रतिकार किया है। फलस्वरूप कण कण कम्पायमान हो उठा है। शेषनाग भी उस आघात को सहन न कर सकने के कारण फूकार मार रहा है। यहाँ 'मिट्टी' यद्यपि प्रतीकात्मक प्रयोग है तथापि उससे शेषनाग की कवि प्रौढौक्तिसिद्ध मे कोई अन्तर नही आया है। सामान्य अर्थ होगा धरती मिट्टी को प्रतिकार करता देखकर शेषनाग भी उसकी सहायता के लिए फूत्कार उठा है। इससे प्रतिकार का न्यायसंगत होना सिद्ध है। अर्थात् जब न्याय सगत कार्य किया जाता है तो वह दिनोदिन शक्ति-सग्रह करता जाता है। ध्वन्यर्थ है— अग्रेजो के लिए देश की जन-जागृति को रोक पाना असम्भव है।

बड़ी आततायी होती है इकिलाब की ज्वाला
एक बार बस पूरी हो ले बलिदानों की माला
बड़े बड़े साम्राज्य क्षणों में फिर तो गारत होते
राज अटारी के छज्जे मुण्डों की माल पिरोते।
रुकी छिन्नमस्ता कब-चामुण्डा ने पेट टटोला ?
एक बार फिर अन्यायी का राज सिंहासन डोला।[2]

उक्त पक्तियो का सम्बन्ध भी देश की स्वतत्रता से है। क्रान्ति मे कितनी जनहानि होगी कोई इसकी कलपना नही कर सका। 'राज अटारी पर मुण्डो की माल

---

१. शिवमगल सिंह सुमन : विश्वास बढ़ता ही गया : पृ० ४०
२. अंचल : हस, सितम्बर ४६

पिरोया जाना', 'छिन्न मस्ता का न रुकना' 'और चामुण्डा का पेट न टटोलना' सब कवि प्रौढोक्ति है जिनसे असख्य व्यक्तियो की मृत्यु तथा तज्जनित क्रान्ति की भीषणता व्यग्य है।

प्रबन्धगत अलंकार से वस्तु—

हंसमाला चल बुलाता है तुझे फिर मानसर
शून्य है तेरे लिए मधुमास के नभ की डगर।
— — — — —
बहुत दिन लोहित रहा नभ बहुत दिन थी अवनि हतप्रभ
शुभ्र पंखों की छटा भी देख लें अब नारि-नर।
हंसमाला . .
पक्ष अँधियारा जगत का जब मनुज अघ में निरत था
हो चुका नि शेष फैला फिर गगन मे शुक्ल पर।
हसमाला [1]

भारतीय सस्कृति मे हस विवेकी व्यक्ति का प्रतीक है। सयुग-सभ्यता मे श्वेत वर्ण शान्ति का प्रतीक होने के कारण हंस शान्ति के दूत के रूप मे ग्रहण किया गया है। उक्त पक्तियाँ द्वितीय विश्वयुद्ध की समाप्ति पर लिखी गई है। प्रबन्ध से युद्ध-समाप्ति पर सर्वत्र शान्ति-सौख्य स्थापित होने की आशा रूप वस्तु व्यग्य है।

संलक्ष्यक्रम रस-ध्वनि

प्रबन्धगत अलंकार से भाव-ध्वनि—

निगल गई पच्छिम में रवि को नागिन-सी या साथि तेरी
उगल रही फुफकार मारकर भर भादों की रैन अँधेरी
छिटक गये हैं झाग दीखते जो तारे दो चार री।[2]

विरहावस्था मे अन्धकारमयी रात्रि को नागिन के रूप में देखना पुरानी परम्परा है। सूर की गोपियो ने शुक्ल पक्ष को डस लेने के बाद उलटी हुई नागिन माना है। इन पक्तियो मे पहले रात्रि की काली भयकर नागिन से तुलना है। तत्पश्चात् उसके अन्य व्यापारो को भिन्न भिन्न रूपो मे देखा है। अतः उपमा से पुष्ट अपह्नुति अलकार सिद्ध होता है। परम्परागत साधनो से यहाँ विरह व्यग्य है। बिना परम्परा की व्याख्या के भाव स्पष्ट नही होता है। इसलिए सलक्ष्यक्रम ध्वनि है।

---

१ नरेन्द्र शर्मा : हसमाला : पृ० ११
२. नरेन्द्र शर्मा : मिट्टी और फूल : पृ० ५५

प्रबन्ध काव्य

लक्षणामूला ध्वनि

पदगत अर्थान्तर सक्रमित वाच्य—

राजपूत हूँ राजपूत, छाती
उत्तान करूँगा अब
मातृभूमि बलिवेदी पर
अपना बलिदान करूँगा अब।[1]

भाला मान्ना का कथन है। सर्वविदित है कि वह राजपूत है तब फिर इसकी घोषणा करने का क्या लाभ। स्पष्ट है कि मुख्यार्थ का बाध न होते हुए भी तात्पर्यार्थ बाधित है। उसका उद्देश्य एक मात्र अपनी जाति उद्घोषित करना न होकर उसकी विशेषता जतलाना है। ध्वनि है—मै मृत्यु भीरु नही हूँ। राणा प्रताप की रक्षा के लिये स्वय मृत्यु का वरण करूँगा।

उसको सेवा तुमको सुकीर्ति प्यारी है
तुम ठकुरानी हो वह केवल नारी है।[2]

कर्ण कुन्ती की राधा से तुलना कर रहा है। राधा को केवल नारी कहने से नारी के आदर्श गुणो—सेवा ममता की ओर सकेत है। ध्वनि है—जिस नारी ने नि.स्वार्थ भाव से मुझे ममता दी और मेरी सेवा की, वास्तव मे वही मेरी माँ है। तुम ठकुरानी हो किन्तु पूर्णरूपेण नारी नही। वह और चाहे कुछ न हो नारी अवश्य है।

पदगत अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य—

मै नाम गोत्र से हीन दीन खोटा हूँ
सारथी-पुत्र हूँ मनुज बड़ा छोटा हूँ
ठकुरानी क्या लेकर तुम मुझे करोगी
मल को पवित्र गोदी में कहाँ धरोगी।[3]

महाभारत आरम्भ होने के पहले कुन्ती कर्ण के पास पहुँच उसके जन्म की कथा सुना यह याचना करती है कि तू फिर मेरी गोदी मे आ जा। उत्तर में कर्ण कहता है—'जिस बालक को पाप समझकर तुमने त्याग दिया था उसे ही अपना कर अपनी

---

१. श्यामनारायण पांडे : हल्दी घाटी : पृ० १५
२. दिनकर : रश्मिरथी : पृ० ८४
३ वही : पृ० ८३

गोदी क्यो अपवित्र करना चाहती हो।' यहाँ 'पवित्र' पद वस्तुत अपवित्र का अर्थ देता है। कौमार्यावस्था मे कर्ण का जन्म वास्तव मे कुन्ती की गोद को अपवित्र ठहराना है। इसी पाप के कारण वह कर्ण को अब तक पुत्र न कह सकी। कर्ण को त्याग कर कुन्ती ने एक और पाप किया—कुमारी जीवन मे गर्भधारण और एक जीवन को मृत्यु-मुख मे ढकेल देना। अतः कुन्ती की महाअपवित्रता की व्यजना 'पवित्र' शब्द से हो रही है।

इसी प्रकार 'ठकुरानी' शब्द है। अर्थात् तुम कहलाती तो ठकुरानी हो पर वास्तव मे सूत पत्नी राधा से भी गई बीती हो।

द्वितीय पक्ति के 'सारथी-पुत्र' पद का निम्न श्रेणी के व्यक्ति के अर्थ मे सक्रमण हो गया है। सारथी पुत्र के नाम से तो कर्ण विख्यात है ही तब उसकी घोषणा करने की आवश्यकता? वह प्रथम पक्ति के समर्थन स्वरूप आया है।

रश्मिरथी मे ही विपरीत लक्षणा का एक और सुन्दर उदाहरण है। निम्न पक्तियो—

उलटे मुझको असहाय छोड़कर जल मे
तुम लौट गई इज्ज़त के बड़े महल में।[1]

मे 'इज्जत के बडे महल' समस्त पद से व्यग्य है कि इन महलो मे जितना व्यभिचार और अनाचार होता है उतना झोपड़ियो मे नही। इन बड़े लोगो की झूठी मर्यादा को मै खूब समझता हूँ। अन्तर केवल इतना है झोपड़ी की जरा सी भूल चारो तरफ फैल जाती है और महलों का बडे से बडा कलंक भी छिपा रहता है। कर्ण को असहाय छोडकर जाने के कार्य की सगति 'इज्जत के बडे महल' का विपरीत अर्थ लेने पर ही बैठती है।

दम तोड़े तड़प - तड़प कर
मृदु चरणो की काशी में।[2]

जौहर करने के पूर्व रानी पद्मिनी शुक-युग्म पिजरे से मुक्त कर देती है। किंतु वे इधर उधर न उड़कर उसी के चरणो मे प्राण दे देते है। कवि का कथन है कि रानी के चरणो मे मरकर शुक-युग्म को मुक्ति मिल गई। काशी की पवित्रता की व्यजना इस धारणा से हो जाती है। लोग यह चाहते हैं कम से कम उनकी अस्थियाँ काशी मे अवश्य बहायी जाँय। इससे उनकी मृतात्मा को सद्गति मिलेगी। रानी तन-मन से कितनी पवित्र थी इसी के लिए कवि 'चरणो की काशी' पद का प्रयोग

१. दिनकर : रश्मिरथी
२ श्यामनारायण पाण्डेय : जौहर : पृ० १८३

करता है। 'काशी' अपने सामान्य अर्थ को पूर्णतया त्याग कर केवल पवित्रता का अर्थ दे रहा है।

वाक्यगत अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य—

कण चमक रहे हीरों से
रजनी थी दूध - नहाई ।[१]

शुक्ल-पक्ष की व्यजना के लिए रजनी को 'दूध-नहाई' कहा गया है। 'दूध नहाई' के दो अर्थ हो सकते हैं। पवित्र या श्वेत। यहाँ रजनी की पवित्रता से अर्थ की सगति नही बैठती। जैसे दूध श्वेत होता है उसी प्रकार रजनी उजियाली थी। यही अर्थ प्रथम पक्ति को सिद्ध कर सकता है। इस तरह दूध से नहाने का अर्थ स्वयं मे अत्यन्त तिरस्कृत होकर केवल श्वेत का अर्थ देता हुआ शुक्ल पक्ष मे भी प्रधानतः पूर्णमासी की ध्वनि दे रहा है।

असंलक्ष्यक्रम रस-ध्वनि—

पद प्रकाश्य—

अब जाओ तुम कर्ण कृपा करके मुझको निःसंग करो
देखो मत यों सजल दृष्टि से व्रत मेरा मत भंग करो ।[२]

यह जान लेने पर कि उनका शिष्य और कोई नही सूत-पुत्र कर्ण ही है। परशुराम अत्यन्त क्रुद्ध हो गए। पर जिसे पुत्रवत् स्नेह से शिक्षा दी उसके प्रति कठोर भी कैसे हो। इसलिए अन्य कोई शाप न देकर ब्रह्मास्त्र विद्या की स्मृति हर लेते है। इसका भी उन्हे बडा दुःख है क्योकि कर्ण ने अपने सेवा बल से उनके मन को जीत लिया था। अतः उन्हे डर है कि कर्ण उनके पास कुछ देर और खड़ा रहा तो उसे 'निराश देखकर छाती कही न फट जाय' या 'पिघलकर वाणी नही उलट जाए।' कर्ण पर कठोर होने और अपनी ही विद्या का हरण कर लेने का उन्हे दु.ख है। इसीलिए वे चाहते है कि कर्ण उनके पास मे शीघ्र चला जाए। 'कृपा करके' समस्त पद उनके अत्यन्त दैन्य, जो शोक का सचारी होकर आया है, को व्यक्त करता है। पृष्ठभूमि पर देखने से भाव की तीव्रता का ज्ञान होता है।

पदांश प्रकाश्य—

जा भूल द्वेष के जहर क्रोध के विष को
रे कर्ण समर में अब मारेगा किसको ।[३]

---

१. दिनकर : रश्मिरथी : पृ० ६७
२. वही : पृ० २४
३. वही : पृ० ८१

कुन्ती कर्ण से पाण्डवो की प्राण-भिक्षा माँगने आई है। उसका अनुरोध है कि कर्ण द्वेष भाव भूलकर उनके अग्रज का स्थान ग्रहण करे। इस तरह कुन्ती को एक और पुत्र तथा शेष के प्राण दोनो साथ साथ मिल जायेगे। अनुरोध की चरमता 'रे' पदाश से विशेष व्यग्य है।

वाक्य प्रकाश्य—

हे पृथ्वी तुम फट जाओ
सीता-सी में छिप जाऊँ
हे अम्बर टूट गिरो तुम
मै दबकर ही मिट जाऊँ।[1]

नारी का सुन्दर रूप उसका गुण है किन्तु पतिव्रता नारी के लिए यह दु:ख की बात होगी यदि उसी कारण उसके पति पर सकट आए। पद्मिनी के रूप के कारण ही रत्नसिंह को अलाउद्दीन का बन्दी बनना पड़ा। पतिव्रता नारी चाहती है कि पति के सब दुखो को वह स्वय झेल ले। यहाँ वह स्वय पति क्या सम्पूर्ण राज्य के सकट का कारण बन गई है। इसी से उसे ग्लानि है। ग्लानि के कारण उसे अपने कक्ष से निकलने का साहस भी नही होता। उदाहरण के दोनो वाक्य अलग अलग उसकी अत्यधिक ग्लानि की व्यजना कर रहे है।

एक नर की भुज प्रलम्बित
घेर करतीं शक्ति
एक नारी रुद्ध करती
घर्ष होने मुक्त।

मौन शैलों से कभी वह विकल उसका नाद
लड़खड़ाता सा गुंजाता पुरुष का उन्माद
और नर का लुप्त यौवन आज उसको छोड़
वासना का वेग अपना अब न सकता तोड़

नग्न नारी नग्न नर है
प्रकृति के वह जन्तु
सिंह सिंही से परस्पर
घर्षमय है किन्तु।

विकल नारी मुक्त होने कर रही आक्रन्द
शक्ति नर की बाँध उसको पतितकर निर्बन्ध

---

१. श्यामनारायण पाण्डेय : जौहर : पृ० ७०

लो अचानक एक सूखी बेलि से गल बद्ध
शंख नारी हाथ में आया हुई सन्नद्ध

फूँक उसमें श्वाँस
उसने हरहराया शब्द
जो गुफा को भेद
कानन में गुंजा उन्मत्त

दूर एक अहेर करता विकट नर के कान—
में प्रतिध्वनि शब्द करता, विकल करता प्राण
कूद कर चट्टान से वह दौड़ता सावेग
औ' गुफा के द्वार पर अब ठिठकता देख

विकल नारी भूमि पर थी
और नर विकराल
छाँह सा पाषाण की
उस पर झुका तत्काल

एक पल में ही अहेरी का उठा वह हाथ
दण्ड उसका वेग से कर उठा घोर प्रहार
घोर हाहाकार करता गिर गया आतंक
रक्त की धारा बही लेकर तड़पता रंग

और भू पर गिरी नारी
के सुमांसल हाथ
उठ गए उल्लास से
स्वागत् भरे मृदु लास

वह अहेरी हँस उठा था उमड़ तन से लग्न
और क्षण भर में हुए वह वासना में मग्न
देर तक किलकारियाँ वह नारि की स्वच्छंद
तृप्त नर हुंकार से भरतीं नया-सा रंग।[1]

'मेधावी' प्रबन्ध काव्य के इस अश के पूर्वार्ध मे वीर और उत्तरार्द्ध मे शृगार रस की व्यंजना हुई है। प्रथम भाग मे उत्साह भाव के दो आश्रय हैं। एक नारी दूसरा उसका प्रिय। वीरता यहाँ सयुग क्षेत्र मे ही व्यंजित हुई है।

---

१. रांगेय राघव : मेधावी : पृ० १००

नारी पक्ष मे आततायी नर आलम्बन विभाव है। नर का उसको घेरना बाँधना और नीचे गिरा देना उचित एव पर्याप्त उद्दीपन विभाव है। नारी का मुक्ति के लिए सघर्ष विकल निनांद अनुभाव हैं। 'मिही' पर से उसकी उग्रता 'शंख फूंकने से' धृति और प्रिय के प्रेम पर आस्थाजन्य गर्व सचारी भाव है।

नारी के प्रिय के पक्ष मे भी आततायी नर ही आलम्बन विभाव है। आततायी उसकी प्रेमिका पर बलत्ककार कर रहा है इसलिए नर पक्ष का उत्साह भाव रति से पुष्ट है। रक्षा के लिए पुकार के सकेत स्वरूप शख-ध्वनि उद्दीपन विभाव है। आगे चलकर प्रेमिका का असहायावस्था मे नीचे गिरा होना आततायी का उस पर झुके होना भी उद्दीपन ही है। चट्टान पर से दौडते हुए आना एव घोर दण्ड प्रहार अनुभाव है। प्रेमिका के सकट का ध्यान कर शका, द्वार पर ठिठकने से वितर्क और प्रहार से क्रोध सचारी भाव है। इन सब तत्वों से पुष्ट ओज भाव रस रूप मे व्यग्य है।

उत्तरार्द्ध मे नर और नारी परस्पर आलम्बन विभाव है फिर भी नारी पक्ष मे ही रति भाव की व्यजना अधिक है। उद्दीपन विभाव के दो प्रकार है। १—आलम्बन गत, जैसे, वेष-भूषा कटाक्ष आदि। २—बाह्य—जैसे, चाँदनी रात, एकान्त आदि।

प्रस्तुत प्रबन्ध मे जिस परिस्थिति में आलम्बन और आश्रय का बर्णन है उसको देखते हुए बाह्य उद्दीपन नगण्य है। अतः आलम्बनगत उद्दीपन—आततायी के नाश द्वारा तृप्त यौवन की अभिव्यक्ति—हँसी—ही मुख्य है। नारी का हाथ उठाकर प्रिय का स्वागत करना किलकारियाँ मारना और प्रिय के शरीर से लिपट जाना अनुभाव हैं। हर्ष सचारी भाव है। इस तरह प्रबन्ध मे पूर्ण पुष्ट सभोग शृंगार की ध्वनि है।

देख सवारों को चिनगारी
रोम रोम से लगी निकलने।
दोनों आँखें लाल हो गईं
लगी क्रोध से काया जलने॥

भौंहें कुटिल कमान हो गईं
पलकें उठीं उतान हो गईं
गोरा की असि दीप्त भुजायें
फडकीं काल समान हो गईं।

प्रलय मेघ सा गरज म्यान से
एक प्रखर तलवार निकाली
साथ-साथ हुंकृति के उसने
गोहुवन-सी फुफकार निकाली।

और दूसरे ही क्षण अरि के
हय पर कूद सवार हो गया
अश्वारोही गिरा धरा पर
जीवन के उस पार हो गया।[1]

उपर्युक्त पक्तियो मे वीर-रस व्यग्य है। शत्रु पक्ष मुसलमानो की सेना आलम्बन विभाव है। उसका चारो ओर से घिर आना उद्दीपन विभाव है। क्रोध जो वाच्य भी हो गया है, तथा गर्व सचारी हैं। आँखे लाल होना और भुजाओ का फडकना सात्विक अनुभाव है। भौहो का कुटिल होना, गर्जन, तलवार निकालना और शत्रु के अश्व पर चढकर उसे गिरा देना कायिक अनुभाव है। इन सबकी सहायता से ओज भाव वीर रस मे परिणत हो गया है। वीर रस के लिए जौहर प्रबन्ध काव्य की सम्पूर्ण दसवी चिनगारी द्रष्टव्य है। करुण और वीभत्स रस हल्दीघाटी के क्रमश. त्रयोदश और चतुर्दश सर्ग मे व्यग्य है। आश्चर्य भाव की व्यजना रश्मिरथी के तृतीय सर्ग मे कृष्ण के विराट् रूप प्रदर्शन के प्रसग मे हुई है।

वर्ण प्रकाश्य—

डग–डग–डग–डग रण के डके
मारू के साथ भयद बाजे
टप–टप–टप घोड़े कूद पड़े
कट कट मतग के रद बाजे।[2]

इन पक्तियो मे सघोष तथा अघोष की मैत्री द्वारा उत्साह भाव की व्यजना का प्रयास है। इस भाव की व्यजना मे लगभग सभी स्थलो पर यह शैली अपनायी जाती है।

रसाभास—

दु:ख के उठे विषम उद्गार
सोच सोच अपना अपकार
लगा सिसकने मान अपार
थर थर कॉप उठा दरबार
*   *   *
कहकर रोने लगा अपार
विकल हो रहा था दरबार

१. श्यामनारायण पाण्डेय : जौहर पृ० १०९
२. श्यामनारायण पाण्डेय : हल्दी घाटी : पृ० १२१

रोते ही बोला – 'सरकार
असहनीय मेरा अपकार '।[1]

मानसिंह जैसे वीर का अपमान के कारण रोना करुण रस का उपयुक्त विषय नही है यद्यपि सिसकना, रोना और दीन वाणी बोलना अनुभाव, स्मृति, ग्लानि और विषाद सचारी रस की प्रभूत सामग्री उपस्थित है किन्तु उक्त अनौचित्य के कारण उसकी प्रतीति शुद्ध रूप से हो नही पाती है । अत इसे हम करुण रसाभास का स्थल मानते है ।

भगवतीचरण वर्मा का तारा गीति नाट्य[2] रसाभास एव भावाभास का सुन्दर उदाहरण है । अपने गुरु बृहस्पति की पत्नी तारा के प्रति चन्द्रमा का रति भाव अनुचित है । जहाँ जहाँ यह भाव परिपक्व हुआ है वहाँ रसाभास आर शेष स्थलो पर भावाभास है ।

भाव ध्वनि—

क्या वर्ताव सोचता हूँ मैं इसके साथ करूँगा
इस प्रचण्डतम धूमकेतु का कैसे तेज हरूँगा ।
शिष्य बनाऊँगा न कर्ण को यह निश्चित है बात
रखना ध्यान विकट प्रतिभट का पर तू भी हे तात ।[3]

कर्ण की वीरता से प्रभावित होकर गुरु द्रोणाचार्य अपने परम प्रिय शिष्य पार्थ से ये वचन कह रहे हैं । उनकी इच्छा थी कि अर्जुन ही सर्वश्रेष्ठ धनुर्धारी बने । अत. कर्ण के हस्त लाघव को देखकर उनमे और अर्जुन में असूया भाव जागना स्वाभाविक ही था । उद्धरण के पूर्व उसका वर्णन हो चुका है । इन पक्तियो मे पहले वितर्क फिर चिन्ता और अन्त मे शका ध्वनित है ।

असलक्ष्यक्रम रस–ध्वनि से वस्तु–व्यंजना—

इज्जत धनवानो की है क्या
निर्धन का कुछ मान नहीं
निर्धन का अपमान भला क्या
निर्धन का अपमान नही ?
***　　*　　***
चरवाहे निर्धन है तो क्या
प्यारा उनको मान नहीं ?

---

१. श्यामनारायण पाण्डेय : हल्दी घाटी : पृ० ८१

२. मधुकण . पृ० २६

३. दिनकर : रश्मिरथी : पृ० ९

संकट मे हो मान रहे तब
जीवन का कुछ ध्यान नही ।
*   *   *
धनी और निर्धन मे कैसा
प्यार कहो कैसी उल्फत ?
उसका मन बहलावा है औ
इसकी जाती है इज्जत ।[१]

अपनी प्रेयसी लहराँ को अनवर के चगुल मे फँसते देखकर सादिक का खून खौल उठा। उसी क्रोध मे उसने दोनो को छुरा भोक दिया। उन्हे मरा समझकर वह स्वय पुलिस चौकी मे पहुँच कर इस घटना की सूचना देता है। क्रोध स्थायी भाव है। अनुभाव है छुरा भोकना और पुलिस चौकी मे आकर अमीरो के काले कारनामो को उघाडना। सादिक के उपर्युक्त वाक्यो से उसका क्रोध व्यग्य है किन्तु उसी क्रोध मे वह युग का बहुत बडा सत्य भी कह जाता है। इस सत्य की व्यंजना करना ही कवि का अभीष्ट है।

संलक्ष्यक्रम ध्वनि

शब्द–शक्ति उद्भव अलंकार–ध्वनि—

सुनकर ललकार सती की
सुन सुनकर गोरा तर्जन
चौंके सैनिक दरबारी
सुन–सुनकर बादल गर्जन ।[२]

'बादल' पद मे श्लेष है। यह बादल बादल और घन दोनो के लिए आया है। व्यग्य है बादल घन–सा गरज रहा था। गर्जन वह सामान्य धर्म है जो दोनो की ध्वनि मे है। इस तरह पदगत उपमा अलकार–ध्वनि है।

अर्थ-शक्ति-उद्भव स्वतःसम्भवी

वाक्यगत वस्तु से वस्तु-ध्वनि—

किया परिश्रम रात-दिवस दो
कौर मिले सन्तुष्ट हुए।
सुख के साधन जमींदार के
किन्तु और कुछ पुष्ट हुए।[३]

---

१. उपेन्द्रनाथ अश्क : बरगद की बेटी : पृ० १००–१०१

२. श्यामनारायण पाण्डेय : जौहर : पृ० ७८

३. उपेन्द्रनाथ अश्क : बरगद की बेटी · पृ० ६२

कवि निर्धन और धनिकवर्ग की प्रकृति बतलाना चाहता है। किसान दिन-रात मेहनत करते है फिर भी उन्हें क्या मिलता है—दो समय रूखी सूखी रोटी। किसी तरह पेट भर जाय बस इतने से ही वे सन्तुष्ट हो जाते है। किन्तु जमीदार बिना श्रम किये सब आवश्यकताओं के पूरा हो जाने पर भी अधिक से अधिक सुखोपभोग की इच्छा करता चलता है। उसमे सन्तोष नाम की वस्तु नही। इसके अतिरिक्त यह क्या विषमता है कि मेहनत करे एक और उस पर मौज उड़ाये दूसरा। इसी विषमता को साम्यवादी नही सह सकता है। जमीदार पूँजीपति वर्ग का है और किसान श्रमिक वर्ग के है। आज की आर्थिक व्यवस्था मे इन दोनो के बीच कितनी बडी खाई है जो दिन पर दिन चौडी होती चली जा रही है यही उपर्युक्त वाक्य की ध्वनि है। यहाँ 'घटना' वस्तु से 'विचार' वस्तु व्यंजना है। निम्न पक्तियो में भी इसी ओर सकेत है।

थी ज़मीन इन खेतिहरों की
स्वामी वह कहलाते थे
औ स्वामी थे वे बैठे
जूतों में सुख पाते थे।[1]

समाज के सच्चे उत्पादनकर्ता का आदर न करना उसके श्रम को अस्वीकार करना आज की सामाजिक व्यवस्था का सबसे बड़ा दोष है। यही पाप क्रान्ति को आमन्त्रित करता है। यहाँ भी 'घटना' वस्तु से 'विचार' वस्तु ध्वनि है।

त्राण घुमक्कड़ चरवाहो को
टोली जिसमें पा जाए
औ चाहे तो जिसके नीचे
सेना एक समा जाए।[2]

उक्त दोनो वाक्य बरगद को सम्बोधित कर कहे गये हैं। कवि दो सम्भावित घटनाओ से उसकी विशालता व्यजित करना चाहता है। धूप या वर्षा से बचने के लिए चाहे तो चरवाहों की टोली पूरी की पूरी उसके नीचे आ जाय चाहे पूरी एक सेना। दूसरा वाक्य अधिक शक्ति-सम्पन्न है। दोनो वाक्यों से अलग-अलग 'पदार्थ' वस्तु ध्वनित है।

और अब
तीव्र हर्ष-निनाद उठकर पाण्डवों के शिविर से
घूमता फिरता गहन कुरुक्षेत्र की मृत-भूमि में।

---

१. उपेन्द्रनाथ अश्क : बरगद की बेटी : पृ० १०५
२. उपेन्द्रनाथ अश्क : बरगद की बेटी : पृ० ४५

लड़खड़ाता सा हवा पर एक स्वर निस्सार-सा
लौट जाता था भटककर पाण्डवों के पास ही ।[1]

महाभारत के पश्चात् की स्थिति का कवि स्वय वर्णन कर रहा है। कौरव पक्ष के सर्वनाश की ओर इगित करना उसका अभीष्ट है। विजयी पाण्डव हर्ष-निनाद करते हैं किन्तु उसको सुननेवाले केवल पाण्डव ही हैं। निनाद-व्यर्थ ही चारों ओर घूम फिरकर पाण्डवो के पास ही लौट जाता है। व्यंग्य है जिनको सुनाने के लिए यह हर्ष ध्वनि की गई थी वे सदा के लिये सो गये। अतिम दो पक्तियों के सम्पूर्ण वाक्य से प्राप्त होने के कारण ध्वनि वाक्यगत है। 'व्यापार' से 'घटना' ध्वनि का यह उदाहरण है।

वाक्यगत अलंकार से वस्तु-ध्वनि—

क्षण देर न की तन कर मारा
अरि कहने लगा न भाला है
यह गेहुअन करइत काला है
यह महाकाल मतवाला है ।[2]

उपमेय मे निषेधपूर्वक उपमान का अभेद आरोपित करने से अपह्नुति अलकार है। महाराणा प्रताप के भाले की भयंकरता रूप 'धर्म' वस्तु ध्वनि है। मानसिंह समझता है कि यह भाला नही है निश्चय ही काल गेहुँअन साँप या साक्षात् महाकाल है जिससे बचना असंभव है। अर्थात् जिस पर यह भाला गिरा वह आज तक जीवित नहीं बचा।

पहली वर्षा में मही भीगती जैसे
भींगता रहा कुछ काल कर्ण भी वैसे ।[3]

इन पक्तियो मे वाक्यर्थोमा अलकार सिद्ध है। ग्रीष्म से तपी पृथ्वी पहली वर्षा में जिस तृप्ति का अनुभव करती है उसी तृप्ति का अनुभव कर्ण ने किया। वह भी संसार के अपमान घृणा से सताया हुआ था। यहाँ सामान्य धर्म है किसी वस्तु का प्रथम बार घटना और तज्जन्य आनन्द। अन्य पाण्डवो को भी कुन्ती का स्नेह मिलता था किन्तु निरादृत, माँ से बिछुड़े हुए कर्ण को इस स्नेह मे जो अलौकिक तृप्ति मिली वह उन्हें क्या मिलती होगी। इसी तथ्य विशेष की ओर अलकार द्वारा सकेत है। इसी प्रकार अलंकार से वस्तु के यद्यपि अनेक उदाहरण मिलते है तथापि उनके काव्य का विलक्षण सौन्दर्य न होने के कारण छोड़ दिये गये हैं। बहुधा परम्परागत

---

१. दिनकर : कुरुक्षेत्र : पृ० १२
२. श्यामनारायण पाण्डेय : हल्दी घाटी : पृ० १४१
३. दिनकर : रश्मिरथी : पृ० ९७

शैली मे ही उपमानों को रख दिया जाता है। वस्तु से अलंकार और अलकार से वस्तु ध्वनि दोनों स्थलों पर हमने देखा है कि स्थल विशेष अपनी रूढ़ियों से अभी भी मुक्त नहीं हो पाए हैं।

प्रबन्धगत संलक्ष्यक्रम अलंकार से भाव-ध्वनि—

गिरि की चोटी पर चढ़कर
किरणें निहारतीं लाशें
जिनमें कुछ तो मुर्दे थे
कुछ की चलती थीं साँसें।

वे देख देख कर उनको
मुरझाती जातीं पल पल
होता था स्वर्णिम नभ पर
पक्षी क्रन्दन का कल कल।

मुख छिपा लिया सूरज ने
जब रोक न सका रुलाई
सावन की अंधी रजनी
वारिद मिस रोती आई।[1]

कविनिबद्धवक्तृप्रौढ़ोक्तिसिद्ध

पदगत वस्तु से वस्तु-ध्वनि—

यह हलचल यह क्रान्ति अशुभ वह समय था
जब देखा था तुम्हें कहाँ ले चलोगी
अरे रक्त-रंजित मतवाले नेत्र ये
और शिथिल यह देह रूप के भार से।[2]

चन्द्रमा की यह उक्ति गुरुपत्नी तारा के प्रति है। चन्द्रमा तारा के सौन्दर्य से अधिक उसके यौवन्न से प्रभावित हुआ है। यौवन की ध्वनि दो पदो से होती है— 'रक्त-रंजित-नेत्र' और 'शिथिल देह'। दोनों से तारा का उद्दाम यौवन व्यंग्य है।

वाक्यगत अलंकार से वस्तु—

तारा गुरुपत्नी तारा तुम कौन हो
धूम रहित तुम अग्नि-शिखा की ज्वाल हो।[3]

---

१. श्यामनारायण पाण्डेय : हल्दी घाटी : पृ० १४४
२. भगवती चरण वर्मा : मधुकण : पृ० ६५
३. वही : पृ० ६२

ये पक्तियाँ चन्द्रमा की ही उक्ति है। तारा के विलक्षण सौन्दर्य से अभिभूत होकर उसकी वासना जाग उठती है। विरह-अग्नि मे स्वय जलने के कारण तारा की अग्नि-शिखा से तुलना की गई है। अग्नि-शिखा भी ऐसी जो धूम-रहित हैं। तारा उपमेय है। धूम-रहित अग्निशिखा की ज्वाल उपमान है। उपमान का उपमेय पर अभेद आरोपण होने से रूपक अलकार है जिससे चन्द्रमा की वासना व्यग्य है।

> अभी हवा को भी दौड़ाकर
> धर लूँ घरकर मार गिराऊँ।
> पर्वत-सिन्धु सहित पृथ्वी को
> अपने कर पर आज उठाऊँ।[1]

अलाउद्दीन इस अतिशयोक्ति पूर्ण कथन से अपना पराक्रम दर्शाना चाहता है। अत: अलंकार से उसकी असीम शक्ति व्यग्य है।

उपसहार—छायावाद युग की तुलना मे प्रगतिवाद युग अधिक विचार प्रधान रहा। देशव्यापी जन-जागृति मे कवियो का कोमल भावो के सागर मे ही डूबना उतराना सम्भव भी नही था। हाँ, यह अवश्य था कि विचार एक ही दिशा में अग्रसर हुए। भारतेन्दु और भारतेन्दु मण्डल ने अपने सामने जो आदर्श रखा था उसकी ओर सजग प्रयास इस युग मे सबसे अधिक हुआ।

तुलनात्मक अध्ययन की दृष्टि से प्रगतिवादी भाषा शुद्ध छायावादी भाषा की अपेक्षा अधिक सरल और जन-भाषा के निकट रही। मुहावरो का प्रयोग पर्याप्त मात्रा मे मिलता है। फलस्वरूप वाक्यगत लक्षणा के स्थल अधिक मिलते है।

भाव-विवेचन की दृष्टि से अधिकतर ओज भाव को ही प्रश्रय मिला। कारण स्पष्ट है। क्रान्ति के युग मे प्रेम की पुकार करनेवाले कम ही होते है। ओज के साथ साथ भय तथा जुगुप्सा की भी यथावसर व्यजना हुई है। सचारियो मे अधिकांश का सबध विप्रलम्भ से है। शृंगार के अभाव मे उनकी अभिव्यक्ति भी नही के बराबर हुई है। बहुधा कविता का भाव युग की पृष्ठभूमि पर स्पष्ट होता है। भाव-व्यंजना के कुछ निश्चित प्रकार बँध गए थे। छायावादी काव्य यद्यपि शृंगार प्रधान था किन्तु उसमें कवि की दृष्टि बडी व्यापक हो गई थी। अन्तर्मुखी वृत्ति मन के प्रत्येक कोने में झाँक आई थी। उसने नारी का स्थान निश्चित किया। संसार के सुख-दु:ख नित्यता अनित्यता को समझा था और कुछ शाश्वत वस्तुएँ दीं। किन्तु प्रगतिवादी काव्य की दृष्टि अन्त: और वाह्य संग्राम, पूँजीवाद, विदेशी शासन और फासिज्म के साथ लड़ी जानेवाली लडाइयों तक ही सीमित हो गई। शाश्वत समस्याओं पर ध्यान नही के बराबर गया।

---

१. श्यामनारायण पाण्डेय : जौहर : पृ० ५१

वस्तु-व्यजना मे इस युग की प्रवृत्ति प्रबन्धगत अलकार से वस्तु की ओर अधिक रही। युग.की प्रवृत्तियों के विवेचन मे कहा जा चुका है कि प्रगतिवादी भाषा को अलकारों के बोझ तले दबा देने के पक्ष मे नही थे। ठोस बात कहने के लिए आडम्बर की आवश्यकता नही। वैसे भी 'विचार' देने के उन्माद मे अलकारो की छटा दिखाने का समय कहाँ था। किन्तु यह निश्चित है कि शब्द-चयन पर प्रगतिवादियो ने छायावादियो की अपेक्षा कम ध्यान दिया। भाषा की स्वाभाविकता मे भी उसका एक स्तर बना रहना चाहिये जिसके अभाव मे उसकी व्यजना की भी हानि हुई है। अधिकतर अभिधा से काम लिया गया। सम्पूर्ण प्रबन्ध में व्यंजना-प्रधान वाक्यों का गठन बहुत कम है। प्रबन्धगत अलकारो मे केवल अन्योक्ति पर बल दिया गया किन्तु उसका भी पूर्ण निर्वाह् बहुत थोडे से कवि कर पाए हैं।

कुल मिलाकर प्रगतिवाद की ध्वन्यात्मकता पूर्व युगीन काव्य की अपेक्षा सीमित और बँधी बँधायी शैली मे मिलती है।



नवम् अध्याय

प्रयोगवाद युग : भाव पक्ष

प्रगतिवाद की ऐतिहासिक चेतना अधिकाश में विदेशी साम्यवादी भावना से प्रभावित थी। अनेक बार तो उसके साहित्यिक होने मे भी सन्देह होता था। युगीन परिस्थितियो मे उसने चाहे जिस लाभ को लोभ दिखाया हो एवं हित सम्पादन किया हो किन्तु शुद्ध साहित्य के क्षेत्र मे उसे संकुचित मनोवृत्ति ही कहा जायगा। किसी दृष्टिकोण को लेकर साहित्य-सृजन करना और उसका कनस्तर पीटना दोनों अलग-अलग बाते है। लाल सेना और लाल सबेरे के विषय को छोड़कर अन्य सभी विषयो की उपेक्षा करना साहित्यिक प्रगति के लक्षण नही है। इसके अतिरिक्त प्रगतिवादियो ने जो शैली अपनाई वह अपने स्वभाव में इतनी शुष्क थी कि उसका प्रभाव इने गिने सम्प्रदाय विशेष के लोगो पर ही पडता। यही कारण है कि कुछ प्रगतिवादी शीघ्र ही दूसरी ओर मुड गए। उन्हे अपने खोखलेपन का आभास समय रहते हो गया। कुछ पुनः छायावादी युग की ओर लौट आए। साथ ही कुछ वाह्य कारणों ने भी कवियों को आकर्षित किया और इस प्रकार छायावाद और प्रगतिवाद की विरासत लेकर हिन्दी मे एक नई धारा चल पड़ी[1] जिसे पहले प्रयोगवाद और बाद मे नई कविता की सज्ञा से अभिहित किया गया।

सन् १९४३ में 'तार सप्तक' के प्रकाशन के साथ ही प्रयोगवादी कविता-धारा का आरम्भ माना जाता है। श्री अज्ञेय ने इसका सम्पादन मुख्य रूप से उन्ही कवियो को जनता के सम्मुख उपस्थित करने के लिए किया था जो प्रगतिवादी प्रभाव से भिन्न रचना कर रहे थे।[2] इसका अर्थ यह हुआ कि ऐसी कविता सन् ४३ के पहले से ही लिखी जानी शुरू हो गई थी। कितना पहले शुरू हुई थी यह निश्चयपूर्वक नही कहा जा सकता। कवि पन्त की धारणा है कि 'हिन्दी मे प्रयोगशील कविता छायावाद काल से ही लिखी जाने लगी थी। प्रसाद जी ने 'प्रलय की छाया',

---

१. डॉ० हरदेव बाहरी : हिन्दी में काव्य शैलियों का विकास : पृ० २३७

२. यद्यपि इसमें डॉ० रामविलास शर्मा जैसे व्यक्ति भी सम्मिलित किये गये थे जो सिद्धान्ततः साम्यवादी थे और है। पता नहीं वे अपने को प्रयोगशील मानने को कैसे तैयार हो गए।

'वरुणा की कछार' आदि लिखकर वस्तु तथा छन्द सम्बन्धी नये प्रयोग आरम्भ कर दिये थे। निराला जी ने मुक्त छन्द के अनेक रूप तथा शैलियाँ प्रस्तुत कर उसे निखारा ...।'[1] वयोवृद्ध विद्वान् कवि के मन्तव्य से पूर्ण सहानुभूति रखते हुए भी हम उससे असहमत है। प्रतीत होता है कि उन्होंने प्रयोगशील और प्रयोगवादी कविता को एक समझ लिया है। ठीक ऐसा ही भ्रम लोगो को प्रगतिशील और प्रगतिवादी कविता के सम्बन्ध मे भी हुआ था। इसी भ्रम में पडकर कुछ पन्त के पल्लव को ही सबसे बडा और सबसे पहला प्रयोगवादी सग्रह मान बैठे है क्योकि उसमे छन्द सम्बन्धी अनेक प्रयोग हुए है। हम इस धारा का आविर्भाव 'तार सप्तक' के प्रकाशन के तीन चार वर्ष पूर्व से ही मानते है।[2]

श्री अज्ञेय के ही सम्पादकत्व मे 'दूसरा तार सप्तक' और 'तीसरा तार सप्तक' सन् १९५१ और सन् १९५९ मे क्रमशः प्रकाशित हुए। इसी बीच डॉ० जगदीश गुप्त ने सन् १९५४ मे 'नयी कविता' शीर्षक से उपर्युक्त धारा के अन्तर्गत आनेवाली कविताओ का संग्रह अपने सपादकत्व मे प्रकाशित कराया जिसके १९५९ तक चार अक प्रकाशित हो चुके है। सन् ४७ मे आरम्भ हुई 'प्रतीक' पत्रिका के अको मे भी लगातार इस प्रकार की रचनायें प्रकाशित होती रही। यद्यपि इन बीस वर्षों के काल मे कविता के शिल्प और वस्तु मे काफी परिवर्तन हुआ है किन्तु मूल मे एक ही सिद्धान्त को लेकर चलने के कारण इन संग्रहों तथा पत्रिकाओं के कवियो को एक ही वर्ग में रखा है।

प्रयोगवादी कविता को कविता मानने के सम्बन्ध मे जितना विवाद उठा उतना ही इसके नाम के सम्बन्ध मे भी उठा। 'तार सप्तक' की भूमिका मे अज्ञेय ने सग्रहीत कविताओ की विशेषतायें बतलाते हुए उनकी प्रयोगशीलता पर बहुत बल दिया और प्रयोग को विकास का आवश्यक चरण माना। स्वयं कवियो को 'नयी राहो के अन्वेषी' के रूप मे ग्रहण किया। यही से आलोचको ने प्रयोगवादी नाम उठा लिया।[3]

चीज बहुत कुछ अशो मे नयी थी जो कुछ आचार्यों के गले नही उतरी। उन्होने इसे बैठे बिठाले का धधा,[4] एक रचना विलास और नकली साहियित्यक सिक्का[5] और न जाने क्या क्या कहा। कुछ बेचारे इस भीषण प्रहार से घबराकर दिशा बदल

---

१. प्रयोगशील कविता : प्रतीक, जून १९५, पृ० १७
२. डॉ० नामवर सिंह : हिन्दी काव्य की प्रवृत्तियाँ : पृ० ४६
३. वही : पृ० ४३
४. आचार्य नन्ददुलारे बाजपेयी : नया साहित्य नये प्रश्न : पृ० २१
५. पंचानन मिश्र : प्रयोगवाद : एक रचना विलास : अवन्तिका, जनवरी, १९५३ : पृ० ९०

बैठे और कुछ ने बडे साहस से (सभवतः चुनौती के लिए ही) प्रयोग को ही अपना साध्य माना।[१] नई धारा की बढती हुई बदनामी को देखते हुए इसके कुछ वकीलों ने इसे नयी कविता नाम देना अधिक उचित समझा। इसके लिए सबसे पहले उन्होने प्रयोग विशेषण पर दिये गए अत्यधिक बल पर आघात किया। बात सच थी। प्रयोग किस युग मे नही होते। वस्तुतः प्रयोग द्वारा विकास का नया मार्ग खोलने पर ही कोई कविता धारा अपने अस्तित्व की घोषणा करती है। पक्की लीक से हटना ही उसके अस्तित्व को बनाए भी रखता है। तो क्या हम कबीर को भी प्रयोगवादी कहे? यह असम्भव है। अत स्पष्ट है कि प्रयोग का कोई 'वाद' नही हो सकता क्योंकि प्रयोग स्वय मे इष्ट नही है।[२] नई कविता का उद्देश्य विश्व के नूतन परिवर्तनो को वाणी देना है। उसका प्रेरणा स्रोत मानव-भूमि ही हो सकता है।[३] जिस दिन प्रयोग 'वाद' के बन्धन मे बँध जायगा उस दिन कविता टेकनीक मात्र रह जायगी क्योकि प्रयोग टेकनीक के क्षेत्र मे ही हो सकते है सवेदना के क्षेत्र मे नही।[४] ऐसे व्यक्तियो ने नवीनता के आग्रह से 'नयी कविता' सज्ञा को अधिक उपयुक्त समझा।

अब कुछ आचार्यो ने इसमे अतिव्याप्ति दोष खोज निकाला।[५] वस्तुत. इसमें उनका कोई दोष नही था क्योकि 'अज्ञेय ग्रुप' के बाहर निश्चय ही कुछ ऐसे कवि रचना कर रहे थे और कर रहे है जो नया दृष्टिकोण रखते हुए भी तथाकथित प्रयोगवाद से भिन्न है। इनमे से कुछ को तो बलपूर्वक सप्त महारथियो की पक्तियो मे खड़ा किया गया है। काव्य-सग्रहो का नाम 'नयी कविता' रखा जाने लगा जिनमे नये और पुराने खेवे के कवि साथ साथ आ गए है। पुराने खेवे के कवियो को या तो शायद इसलिए कि सम्भवतः आचार्यगण इन्ही से आतकित होकर विरोध करना छोड़ दे या यह सिद्ध करने के लिए कि युग को निश्चय ही 'नयी कविता' की आवश्यकता है नही तो ये पुराने पेड़ भी क्यो नई कोपले धारण करते।

धीरे धीरे नयेपन का मोह छूटने लगा। कवि और आलोचक यह अनुभव करने लगे कि नये पुराने का भेद व्यर्थ है। कुछ भी नया होने से पक्तियाँ कविता नही हो जाती और पुरातनता का निर्मोह उसे काव्य के क्षेत्र से बहिष्कृत नही करता। इसलिए क्यो न 'कवितायें सन्—नाम' दिया जाय।

---

१. (उद्धृत) केसरी कुमार : नयी कविता, सम्पादक—विश्वम्भर मानव : पृ० १७५

२. डॉ० नामवर सिंह : हिन्दी काव्य की प्रवृत्तियाँ : पृ० ४५

३. सुमित्रानन्दन पन्त : नयी कविता, १—सम्पादक, जगदीश गुप्त : पृ० ३

४. सिद्धिनाथ कुमार : कविता-प्रयोगशील । लीक, अक्तूबर ५१ पृ० ६३

५ डॉ० देवराज : नयी कविता, २—सम्पादक, जगदीश गुप्त : पृ० ७

हमारे विचार से न प्रयोगवादियों को बदनामी से घबराने की आवश्यकता है और न आलोचकों को उसमे अव्याप्ति दोष ढूँढने की आवश्यकता है। यह शब्द अब नई कविता के लिए इतना व्यापक हो गया है कि उसको विशिष्ट प्रकार की रचनाओं के लिए ही सुरक्षित रखना ठीक नही है। यहाँ निश्चय ही हम तंत्र प्रधान कविताओं की वकालत नही कर रहे है। शब्दकोष में चाहे जो अर्थ हो किन्तु व्यवहार मे उसकी अपनी सीमा होती है। अतः यहाँ भी कोश के 'प्रयोग' और साहित्य के 'प्रयोग' को भिन्न कर देखना होगा। हमारे विचार से यह शब्द उन सभी प्रकार की कविताओं के लिए प्रयुक्त हो सकता है जिन्होने अनावश्यक रूढियों को तोड़कर, मार्क्सवादी दर्शन के घेरे से निकलकर साहित्य को नयी दृष्टि दी है और परम्परा का विकास किया है। केवल अज्ञेय ग्रुप की कविताओं को ही नई धारा का प्रतिनिधि मानना उचित नही है।

छायावादी युग के बाद हिन्दी साहित्य पर दो विदेशी चिन्तको, मार्क्स और फ्रायड का विशेष प्रभाव पड़ा। प्रथम की चर्चा प्रगतिवाद युग के अन्तर्गत हो चुकी है। ऐतिहासिक कालक्रम मे इसका प्रथम आना स्वाभाविक था क्योकि राजनैतिक और सामाजिक क्षेत्रो मे इसकी भूमि सन् '३० में तैयार हो चुकी थी। फ्रायड का प्रभाव राजनैतिक एव सामाजिक आन्दोलनों में प्रवेश न पा सकने के कारण केवल बुद्धिजीवियो तक ही सीमित रहा और उसका प्रसार भी धीरे धीरे हुआ।

फायड मनुष्य को गहराई से समझने के लिए उसे समाज से विच्छिन्न करके देखता है। वह उसके समस्त व्यवहारो के मूल में प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष रूप से यौन-भावना ही समझता है। उसके मत से साहित्य मे भी व्यक्ति जितना महत्त्वपूर्ण है उतना समाज नही। साहित्य मे यौन-विचार से प्रभावित मनोविश्लेषण यही से आरम्भ होता है। इस धारणा ने प्रतिपाद्य वस्तु के रूप को भी प्रभावित किया।

शैली के परिवर्तन में पश्चिम के आलोचकों (जैसे, हरबर्ट रीड) तथा कवियो (जैसे, टी० एस० इलियट) के सिद्धान्त उत्तरदायी हैं।

हरबर्ट रीड का अतिवस्तुवाद (सुपररियलिज्म) कला क्षेत्र मे एक नई क्रान्ति लेकर आया। इसने अभिव्यक्ति के समस्त प्राचीन विधानों को अस्वीकार करते हुए मस्तिष्क मे असंस्कृत अवस्था मे सचित उपकरणो की अभिव्यक्ति को ही कविता का कार्य माना।[1] इस 'वाद' के अनुसार कवि मन की अचेतनावस्था मे प्रवेश कर उसके असम्बद्ध विकारों और रुक्ष सवेदनों की ज्यों की त्यो अभिव्यक्ति करे। इस प्रकार अतिवास्तविकता से समन्वय स्थापित करने के कारण ही यह 'अतिवस्तुवाद' कहलाया। अब तक कलाकार इन असम्बद्ध उपकरणों को सुन्दर ढंग से सजाकर प्रस्तुत करता

---

१. शिवदान सिंह चौहान : प्रगतिवाद : पृ० ९३

रहा था । हम इस प्रकार की अभिव्यक्ति के इतने अभ्यस्त हो गए है कि जब वे प्रकृत रूप में उपस्थित होते है तो बड़े अजीब लगते है । कभी कभी तो उनमे परस्पर सम्बन्ध ही दृष्टिगोचर नही होता किन्तु कृति के निर्माण काल मे कलाकार के चेतन और अचेतन भाव मन का विश्लेषण करते ही उनका नवीन सम्बन्ध समझ मे आ आता है । प्रयोगवादी धारा के प्रवर्तक अपनी कविताओ के सही सही मूल्यांकन के लिए आलोचको से आशा भी यही रखते है कि इनके अन्तरग अध्ययन द्वारा गुण-दोष विवेचन तक ही आलोचना सीमित नही रहनी चाहिये । रचना से आगे बढ़कर रचयिता के मन को परखने की भी आवश्यकता है जो परिवृत्ति से उसका सम्बन्ध, यथार्थ के प्रति उसका रवैया तथा प्रतिक्रिया को जानकर ही हो सकती है ।[1]

नयी कविता के प्रवर्तको में एड्गर एलन पो का महत्त्वपूर्ण स्थान है । उसके सिद्धान्तो से प्रेरणा लेकर १९ वी शती के नवम दशक मे फ्रास मे प्रतीकवादी आन्दोलन चला, जो रहा तो थोड़े ही दिन किन्तु कविता-इतिहास मे अपनी अमिट छाप छोड़ गया । प्रतीकवादियो के हर क्षेत्र मे निजी विचार थे । समस्त प्रतीकवाद युग मे रहस्यवाद का सूक्ष्म किन्तु प्रबल स्वर मिलता है । वे गोचर सृष्टि को वास्तविक शाश्वत सृष्टि का मिथ्या रूप मानते थे जिसमे दु.ख निराशा, धोखा ही मिलता है । स्वभावतः मिथ्या रूप जगत् से प्रेरित उनकी रचनाओ मे 'केवल दुर्बलताओ, नैराश्यपूर्ण विभ्रमों, गुनाहो तथा कुत्सित चेष्टाओं का वर्णन ही अधिक मिलता है ।' इसी परम्परा में आगे चलकर टी० एस० इलियट और एज़रा पाउड हुए जो हिन्दी प्रयोगवादियो के प्रेरणा स्रोत बने । ये विशुद्ध कविता के अनुयायी हैं । इनके मत से कविता की दो मुख्य विशेषतायें है—संक्षिप्तता और गद्यवत् पक्तियो की अनुपस्थिति ।[2] पुराने और रूढ़िवादी कवि अर्थ की अन्विति के लिए या कविता को साधारण पाठक के भी समझने योग्य बनाने के लिए मध्यस्थ पदों एवं पंक्तियों का प्रयोग करते थे । इनका कविता के प्रभाव या सौन्दर्य बोध से कोई सम्बन्ध नही होता । इन्हे हटा देने पर कविता का अनावश्यक कलेवर भी कम हो जायगा और उसका विशुद्ध रूप भी उभर आएगा । हाँ, यह अवश्य है कि उस दशा मे वह सामान्य पाठक की समझ के बाहर की चीज़ हो जायगी । कविता के विभिन्न पदों तथा पक्तियों के बीच कल्पनात्मक सम्बन्ध जोड़ना थोड़े से प्रतिभासम्पन्न व्यक्तियो के बस की बात है ।

हिन्दी की प्रयोगवादी कविता पर उपर्युक्त विदेशी प्रभाव अग्रेज़ी जाननेवाले तथा कुछ नया चमत्कार दिखाने की हविस रखनेवाले कवियो के माध्यम से आया । यह कहना कि सभी प्रयोगवादी अग्रेज़ी के विद्यार्थी रहे और उन पर इसका सीधा

---

१. अज्ञेय : आधुनिक हिन्दी साहित्य : पृ० ४१

२. कैलाश बिहारी सहाय : कविता और गद्य : अवन्तिका, अगस्त १९५५ : पृ० ८५१

प्रभाव पड़ा, गलत होगा। पर साथ ही यह कहना भी ग़लत होगा कि यह धारा बतौर फैशन के ही आगे बढी। कोई भी विदेशी प्रभाव तब तक जड नही पकड सकता जब तक यहाँ भी उसके अनुकूल भूमि न तैयार हो जाय।

पूँजीवादी आर्थिक व्यवस्था ने उत्पादन का लाभ थोड़े से लोगों के अधिकार मे देकर जन साधारण के लिए जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति एक समस्या बना दी। अन्न वस्त्र की कमी ने जीवन के मूल्यो मे गहरा परिवर्तन कर दिया जिसका सबसे अधिक प्रभाव मध्यम वर्ग पर पडा। निम्न वर्ग एक तो अशिक्षित होने के कारण से उस पर विचार करने में असमर्थ था, दूसरे परिवार के सभी सदस्यों के धनोपार्जन करने और प्रतिष्ठा के वाह्याडम्बरो का खर्च न होने से धनाभाव का अनुभव नही करता था। इसके विपरित मध्यम वर्ग में कमानेवाला एक और खानेवाला पूरा परिवार, ऊपर से सफेदपोशी की शान—यह चक्की का निचला पाट था। ऊपरी पाट मँहगी और टैक्स था। दोनों के बीच यह वर्ग बुरी तरह पिस गया और पिस रहा है।

विज्ञान की नित्य प्रति की प्रगति में लगभग सभी धार्मिक आस्थाएँ डगमगा रही थी। यह दशा बुद्धिजीवी चेतन वर्ग की थी। समाज का एक बड़ा वर्ग अब भी रूढ़िवादी था जो हर नये क़दम को भय से देखता था। इस रूप मे अत्यधिक रूढ़िवादिता और नई चेतना का सघर्ष हो रहा था। नई मान्यताओं को स्थापित करने के सभी प्रयत्न समाज के ऊपरी पूँजीवादी ढाँचे के पुराने और मज़बूत होने से असफल हो रहे थे। अतः जनता मे एक ओर निराशा, दूसरी ओर घोर व्यक्तिवादिता प्रकट होने लगी थी। नई ज़िन्दगी के लिए छटपटाहट थी किन्तु वह कैसी हो कैसे प्राप्त हो इसका कोई निश्चित उत्तर न था।

मध्यम वर्ग मे शिक्षा के साथ साथ साहित्य का प्रसार हो रहा था किन्तु छायावादी कविता तत्कालीन जीवन से असम्बद्ध होने के कारण से अरुचिकर लगती थी और प्रगतिवादी नीरस। लोगों ने महसूस किया कि कविता ऐसी हो जिसमे कलात्मकता के साथ साथ जीवन की उष्णता हो और जो जीवन को उसकी सम्पूर्णता मे घेर ले।

पाश्चात्य साहित्य के सम्पर्क से कवि सम्बन्धी 'माघपन' की धारणा समाप्त हो गई थी एक क्लर्क और मजदूर भी कविता कर सकता है। अतः उसकी कविता मे निश्चय ही राजमहल के राग-रग के स्थान पर गली कूचों का वर्णन होगा। उसका सौन्दर्य बोध भी भिन्न प्रकार का होगा। परम्परामुक्त कवि जिस वस्तु को अब तक उपेक्षित करता चला आया था उसी मे उसे विशेष सौन्दर्य के दर्शन होते है। यह स्वाभाविक भी था। जो वस्तुएँ उसके चारों ओर फैली हुई है उन्हें छोड़कर काल्पनिक रंगीन विषयों को वह कैसे ग्रहण करे।

ऋषि दृष्टि ही उन्हें साहित्य-क्षेत्र मे भी समता रखने की प्रेरणा देती रहती। इन सबके ऊपर कवि में एक प्रचण्ड अह के दर्शन होते है जो सभी विरोधो का साहस-पूर्वक सामना करता है। यह अहं ससार की सबसे बडी शक्ति को ललकारता है। यदि कही झुकता है तो केवल जीवन के सहज सत्य के सामने।[1] हमारे विचार से मध्यम वर्ग के प्रत्येक सदस्य मे तीव्र अह विकसित हो रहा है। युगो युगो से पदाक्रान्त व्यक्तित्व अत्याचार की सीमा का अतिक्रमण करने पर जब क्रान्ति का उद्‌गाता बन बैठता है तो किसी प्रकार का बन्धन नही मानता। अहं की वही स्फीत अभिव्यक्ति नई धारा मे मिलती है।

इन सबके बावजूद भी यह मानना पड़ेगा कि स्वस्थ साहित्य के निर्माण के लिए जिस भावुक हृदय की आवश्यकता होती है वह प्रयोगवादियों मे से बहुत कम के पास दिखाई पड़ता है यदि हो तो साहित्य मे उसके दर्शन नही होते। सर्वत्र एक कुण्ठा, अनस्थिरता और अनुशासन की कमी दिखाई देती है।

* * *

हमारा विश्वास है कि प्रयोगवादी कविता की जितनी वकालत हुई है उतनी शायद ही किसी युग की कविता की हुई हो और वह भी कवियो द्वारा। हाल यह है कि कविता होती है दस पक्तियों की और उसे कविता सिद्ध करने के लिए लिखे जाते हैं दस पृष्ठ। खण्डन-मण्डन की ओर ध्यान न देकर कविगण केवल उच्च साहित्य के सृजन का प्रयास करते रहते तो अच्छा होता। यहाँ हम केवल उन्ही कविताओ के आधार पर इस नये चरण का विश्लेषण प्रस्तुत करते है जो प्रगति की ओर है।

प्रगतिवाद के पूर्व तक काव्यक्षेत्र मे जनवादी भावना का स्वर अत्यन्त क्षीण और कभी कभी सुनाई पड़ता था। भावना और परिवेश ये दो किनारे हैं जिनके बीच कविता धारा कभी एक को कभी दूसरे को स्पर्श करती हुई बहती रहती है।[2] कभी ऐसा भी हुआ कि कल्पना की उड़ान मे परिवेश पूरी तरह आँखों से ओझल हो गया। ऐसे युग कविता के ह्रास के रहे है। प्रगतिवाद मे परिवेश पर इतना ध्यान दिया गया कि भावना झूठी हो गई। दोनो किनारो को समान रूप से आप्लावित कर बहनेवाली कविता-धारा उसके बाद आई। उसमे एक ओर मार्क्स, फ्रायड और डार्विन की महान् चिन्ता-परम्परा व्यक्त हुई है और दूसरी ओर दैनन्दिन जीवन का तिक्त

---

१. डॉ० जगदीश गुप्त : नयी कविता, अंक दो,—सम्पादक—डॉ० जगदीश गुप्त : पृ० २८

२. विजयदेव नारायण साही : नयी कविता, अंक १—सम्पादक—डॉ० जगदीश गुप्त : पृ० ८

अनुभव। परम्परा और निजी अनुभव के आधार पर आज का कवि सहज सत्य को अधिक सरलता एव बल से पकड पाता है।

यह सहज सत्य क्या है ?

नए मनुष्य के अस्तित्व और उसके व्यक्तिगत सघर्ष की सफलता में विश्वास। सामान्य मनुष्य को आज जितनी प्रतिष्ठा और महत्त्व मिलता है उतना पहले कभी नही मिला था। इसके साथ मनुष्य समाज के सामूहिक विनाश और निर्माण का प्रश्न आज जितना उग्र और स्पष्ट है पहले कभी नही था। सक्रमणशील युग में इतिहास इतना शीघ्र बदल रहा है कि किसी एक मूल्य या मान्यता को पकड़े रहकर लक्ष्य तक नही पहुँचा जा सकता। नयी कविता मे समय समय पर दिखाई पडनेवाले अन्तर्विरोधो का यही कारण है। समाज के अनेक पहलुओ में से कोई उसे रुलाता है, कोई हँसाता, कोई आशा बँधाता है, कोई निराश करता है, कोई उसकी सदाशयता मे आस्था दिलाता है, कोई अनास्था। इनमे से किसे वह सत्य समझे किसे झूठ ? कुल मिलाकर वह सबको ग्रहण कर लेता है। इसी से उसमे कभी 'इन सबके प्रति मखौल, कभी क्रोध, कभी शाप, कभी दम्भ और अहं का विस्फोट, कभी शोक-भरी आह, कभी मरण की भावना, कभी आत्म भर्त्सना, कभी किसी दैवी शक्ति के प्रति प्रणति, कभी अपनी प्रिया का क्षण भर ध्यान, कभी यौन परिकल्पना और कभी घोर उच्छृंखलता का आवेग[1] दिखाई पड़ता है।

इस युग की सबसे बड़ी देन नये नये विषयों को काव्य क्षेत्र की परिधि में ले आने की रही है। 'तार-सप्तक' में प्रकाशित कविताओ के शीर्षकों—'कुतुब के खण्डहर', 'गेहूँ की सोच', 'एसोसियेशंस', 'चूडी का टुकड़ा'—में ही नही कवियों के अपने सग्रहो मे भी 'सन्नाटा' और 'दैनिक' जैसे अति तुच्छ लगनेवाले विषयों पर कविता मिलती है। आज के कवियों को विषयों की खोज नही करनी पड़ती क्योकि मुख्य वस्तु सत्य है विषय नही। इस बात का विचार ही व्यर्थ है कि अमुक विषय जनता को रुचिकर प्रतीत होगा या अमुक से उसका नैतिक स्तर ऊँचा उठेगा कविता का उद्देश्य मानव जीवन को उसकी पूर्णता मे अभिव्यक्ति है। अत· नगण्य से नगण्य वस्तु भी जीवन की विराट् पृष्ठभूमि पर अपना स्वतत्र महत्त्व रखती है। 'चूड़ी का टुकड़ा' ससार की तुच्छ वस्तु है किन्तु विरही उसी दर्पण मे जीवन के कितने ही हर्ष विषाद के चित्रों को प्रतिबिम्बित देखकर भाव मग्न हो जाता है। वह उसके जीवन का सत्य है। इसी से मिलते जुलते सत्य दूसरो के जीवन में भी हो सकते है। अत: विशिष्ट वर्ग के व्यक्तियों पर उक्त कविता अभीष्ट प्रभाव उत्पन्न करने में समर्थ

१. डॉ० नामवर सिंह : हिन्दी काव्य की प्रवृत्तियाँ : पृ० ४७

होगी। कवि के लिए इतना ही पर्याप्त है। आज उसका मुख्य उद्देश्य रस-निष्पत्ति न होकर भाव-प्रेषणीयता रह गया है।

नए कवियों की उपर्युक्त दलीले सिद्धान्त रूप मे चाहे कितनी ही सुन्दर क्यो न हों व्यावहारिक जीवन मे उनसे किसी महान् सत्य की प्राप्ति सभव नही है। मानव मस्तिष्क की उत्तम कृति कविता को मकडी के जाले मे फँसाकर खण्ड खण्ड कर देना किसी दृष्टि से श्रेयस्कर नही कहा जा सकता। वादग्रस्त अनेक कविताओ मे पूरी कविता बहुत से जुडे हुए खण्ड चित्रों का समूह होती है। स्वप कवियो ने इस तथ्य को स्वीकार करते हुए उसके कारणो पर भी प्रकाश डाला है। कहते हैं, "एक ओर प्रकट होने के लिए बेचैन यथार्थ उसकी क्षमता को चुनौती देता है। यहाँ तक कि कभी कभी उस चुनौती को ग्रहण करने के दौरान मे, कडीशड साहित्यिक रिफ्लेक्सेज़ बीच मे आकर उसके हृदय मे आत्म विश्वास की हानि की घटना घटित कर देते है। मेरी अनगिनत कविताएँ इस घटना से खण्डित होकर इधर उधर बिखरी पड़ी है।"[1] कवि लक्ष्मीकात वर्मा ने लिखा, " इस मन.स्थिति के एक छोर पर व्यापक जीवन के तिक्त अनुभवो के प्रतिमान है और दूसरे छोर पर बौद्धिक जाग-रुकता है जो जीवन के खुरदुरेपन, नीरस बेतरतीब, अस्त व्यस्त प्रतिमानो को भी एक सौन्दर्यानुभूति प्रदान करना चाहती है। परिणामस्वरूप आज की नयी कविता मे उसकी कल्पना और बिम्ब भावना मे अधूरे चित्र, अस्त व्यस्त रग, टूटे विश्रृखल भाव उस सौन्दर्य बोध को बौद्धिक और आत्मानुभूति के स्तर पर अर्थ देना चाहते है।"[2] यह भी कहा गया कि मनुष्य जैसे जटिल प्राणी की अनुभूतियाँ सरल कैसे हो सकती है? ससार जटिल है, मानव-मन मे उसकी प्रतिक्रिया उलझी हुई है अत. अभिव्यक्ति भी खण्डित है। पहले कह आए है कि प्रयोगवादी कवि का उद्देश्य अपने भीतरी जगत् को ज्यो का त्यों कविताबद्ध कर देना है। विचार जिस शृखला मे मन में उठते हैं उसी श्रृंखला में शब्दबद्ध होते चलते है।[3] उनमे अर्थ की अन्विति सिद्ध करने वाली पक्तियों या पदों को भी जोड़ने की आवश्यकता वह नही समझता।

---

१. गजानन माधव मुक्तिबोध : काव्य की रचना प्रक्रिया : नयी कविता, ४—सम्पादक डॉ० जगदीश गुप्त : पृ० २८
२. नयी कविता : मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि : नयी कविता, २—सम्पादक डॉ० जगदीश गुप्त : पृ० २०
३. ··· हव अंशांकन है सामाजिक परिपार्श्व में व्यक्ति की मानसिक प्रभाव-क्रिया, वेदना-सवेदना, प्रगति-अ-गति आदि का बिम्ब चित्रण। इन्हीं नाना-भाव-विचार-संवेदना-मिश्रित 'विशेषों को' ज्यों का त्यों व्यक्त करने के कारण एक बार अपनी कविताओं को चित्रकला से एक शब्द उधार लेकर 'इम्प्रेश-निस्ट' अथवा 'बिम्बवादी' शब्द 'बिम्बवादी' शब्द से मैने विशेषित किया था।
—प्रभाकर माचवे : तार सप्तक : पृ० ५०

ऊपर जो बात सिद्धान्त रूप मे कही गई है व्यवहार मे ठीक वैसी नही उतरती। कवि बहुधा कल्पना कर लेता है कि उसकी अनुभूतियाँ उलझी हुई है, मनुष्य काम वासनाओ का पुतला है।[१] ये वासनाये बड़े विचित्र रूप में स्वयं को प्रकट करती है। इनके मूल रूप को मनोविज्ञान के गम्भीर सिद्धान्तों द्वारा ही समझा जा सकता है।[२] अनुभूतियो की जटिलता जहाँ अनिवार्य रूप से आए उससे किसी को शिकायत नही हो सकती किन्तु उसका आरोपण अवश्य ही आपत्तिजनक है।

कला पक्ष

इसी से सम्बन्धित अभिव्यक्ति के माध्यम-भाषा, अलंकारछन्द आदि का प्रश्न है। सच तो यह है कि भाव से अधिक प्रयोगवादी भाषा का विरोध हुआ। छायावादी काव्य मे भाषा की इकाइयाँ अपरिचित नही थी किन्तु यहाँ नयेपन की शुरुआत ही वहाँ से होती थी। शब्द को नये अर्थ से विभूषित करने तक तो गनीमत थी पर जब उलटे-सीधे, छोटे-बड़े टाइप, विराम चिन्ह, बिन्दु, आड़ी-तिरछी रेखा सभी पर अर्थ प्रेषणीयता का बोझ लाद दिया तो बात अवश्य विचारणीय हो गई। भाषा की दुरूहता की पैरवी करते हुए इसके समर्थको ने लिखा, 'यह उसी का दुस्तर कर्तव्य है कि संक्रान्तिकालीन सघर्ष और ध्वस को छाती पर झेलकर नये युग की आस्था और उसके विश्वास को जन्म दे। फिर इस बदलती हुई परिस्थिति के अनुकूल अपनी अभिव्यक्ति के माध्यम को खोजना भी कवि के लिए अनिवार्य हो उठा है।'[३] बहुधा इसकी सारी ज़िम्मेदारी समाज की वर्तमान स्थिति पर ही थोपी जाती है। समाज अनेक वर्गो मे बँट गया है। ज्ञान के क्षेत्र में भी विशेषीकरण (स्पेशियलाइजेशन)

---

१ आधुनिक युग का व्यक्ति यौन वर्जनाओं का पुंज है। उसके जीवन का एक पक्ष है उसकी सामाजिक रूढ़ि की लम्बी परम्परा, जो परिस्थितियों के परिवर्तनों के साथ विकसित नहीं हुई, और दूसरा पक्ष है स्थिति परिवर्तन की असाधारण तीव्रगति जिसके साथ रूढ़ि का विकास असम्भव है। इस विपर्यास का परिणाम है कि आज के मानव का मन यौन-परिकल्पनाओं से लदा हुआ है और वे कल्पनायें सब दमित और कुण्ठित है। उसकी सौन्दर्य चेतना भी इससे आक्रान्त है। उसके सब उपमा यौन प्रतीकार्थ रखते है।

—अज्ञेय : तार सप्तक : पृ० ७६

२. प्रकाशचन्द्र गुप्त : आधुनिक साहित्य का मानवीय दृष्टिकोण : अवन्तिका, फरवरी ५४ : पृ० ४४

३. डॉ० रघुवंश : नयी कविता का सामाजिक परिवेश : नयी कविता, २—सं० जगदीश गुप्त : पृ० १२

की प्रथा चल निकली है। फलत एक वर्ग से सम्बन्धित रचना दूसरे वर्ग के लिए अपरिचित होगी ही। इससे कलाकार का कार्य और भी कठिन हो गया है। वर्गो मे विभक्त सत्य को समग्रता मे व्यक्त करने के लिए कवि नये-नये प्रयोगो द्वारा भाषा एव अभिव्यक्ति को सशक्त बनाता है।[1] शब्दो का नूतन सन्दर्भो मे प्रयोग यदि इस मान्यता का परिणाम हो तो हमे कोई आपत्ति नही किन्तु किसी भी शब्द से कोई भी अर्थ और खडी पडी रेखाओ मे भी अर्थ व्यजना भरने के प्रयत्न मे कवि असफल ही रहा है। हम इसे भाषा का व्यक्तिगत प्रयोग कहते है। यही उसकी दुरूहता के लिए अधिक उत्तरदायी भी है। प्रयोगवादियो ने स्वय भी इसे स्वीकार किया है।

इस पर दूसरे दृष्टिकोण से भी विचार करे। कहा जा चुका है कि ये कवि अपनी दूसरी ही दुनिया मे रहते थे। वास्तविक जगत् की परवाह उन्होने बहुत कम की। वर्ग-विभाजन के साथ न सत्य विभाजित होता है न भाषा। भाषा का वर्गगत प्रयोग सिर्फ कहने की बात है। ज्ञान के विशेषीकरण की तुक पर साहित्य मे भी भाषा का विशेषीकरण एक मूर्खतापूर्ण बात है। वर्ग विभाजन परस्पर विचार विनिमय के लिए एक सरल भाषा को जन्म देता है न कि दुरूह भाषा को। कुछ नवीन कर दिखाने की झोक ही भाषा के व्यक्तिगत प्रयोग का कारण है। यह सर्वस्वीकृत सत्य है कि भाषा सामूहिक जीवन की देन है तब उसके सामूहिक मूल्य को नष्ट कर देना कहाँ तक युक्ति सगत है। श्री भगवतीचरण वर्मा की यह धारणा है कि प्रयोगवादी कविता मुख्यत शैली प्रधान कविता रही है बहुत कुछ अशो मे सत्य है।[2] हमे तो ऐसा लगता है कि साधना के अभाव मे पुराने शब्दो के आवरण को फाडकर नया अर्थ निकालने मे कवियो ने बल प्रयोग किया है जिससे भाषा मे अस्त-व्यस्तता फैल गई।

बहुधा यह सुनने को मिलता है कि प्रयोगवादी कविता शुष्क हो गई है। रस को तो ये लोग मानते ही नही। ध्वनि के पुराने उपायो को भी काम में नही लाते। तुक मिलाकर सगीत तत्त्व से किचित् मन-रजन के पक्ष में भी ये नही है। किसी प्रतीक के द्वारा गम्भीर सत्य का उद्घाटन यदि लक्ष्य नही होता तो केवल बिम्बो को सँवारने मे ही इनके कवि कर्म की इति श्री हो जाती है। बिम्ब ग्रहण कराने की पद्धति एकदम नई है। चूँकि अभी तक प्रयोग द्वारा वे बिम्ब हमारे हृदय के अधिक निकट नही आ पाए है इसलिए विचित्र लगते है। हम अभी भी परम्परागत चित्रो

---

१. कृष्णबिहारी मिश्र आधुनिक हिन्दी में प्रयोगवाद . अवन्तिका, जून ५५ : पृ० ६२४

२. प्रयोगशील कविता : एक परिसवाद—प्रतीक, जून ५१ : पृ० २८

मे ही रस लेने के अभ्यस्त है। टेसू के फूलो का, कोयल के कूकने का और होली का वर्णन हो तो हम बिना प्रयास कह देते है कि यह बसन्त ऋतु का वर्णन है। किन्तु उसका वर्णन निम्न शब्दों में—

कोई छ: बजे सुबह सुबह गरम पानी से नहायी हो
खिली हुई हवा आई, फिरकी सी आई चली गयी
ऐसे फुटफाथ पर चलते चलते मैने जाना, कि बसंत आया।[1]

मे होता है तो हम चौक उठते है। पर किसी बडे शहर के बीचोबीच जिन्दगी गुजार देनेवाले से कोई पूछे कि उसने कभी कोयल को कूकते सुना है या टेसू के फूल देखे है ? उत्तर मिलेगा नही। उसका अनुभव उक्त उदाहरण के निकट होने से इसी मे सवेदनशीलता मिलेगी। यहाँ सम्भव है कि किसी भावना से समाज के बहुत थोडे व्यक्तियो का तादात्म्य हो सके और एक व्यक्ति की सवेदनाओ को उभारनेवाली कविता भी कविता कहलाएगी किन्तु इसी आधार पर हर प्रयोग को सार्थक सिद्ध करने की चेष्टा करना ठीक नही होगा। देखना यह है कि कवि कविता मे कितना ईमानदार रहा है। नरेश मेहता की 'वेदना निग्रह रस' नवीन तत्र की दृष्टि से पूर्ण और 'रस वस्तु' से लबालब भरी होने पर भी सब कालो मे सब व्यक्तियो के लिए नीरस रहेगी। इसी प्रकार 'तार सप्तक' की अनेक कविताओ मे बुद्धि-प्रक्रिया द्वारा नये अर्थ भरने की चेष्टा मे भावना का अचल एक दम छूट गया है। दूसरी और तीसरे सप्तक मे क्रमशः कवियो ने इस भूल को सुधारने का प्रयत्न किया है।

प्रयोगवाद युग : कलापक्ष

भाषा की दुरूहता का एक अन्य महत्त्वपूर्ण कारण है अपरिचित सन्दर्भो का प्रयोग। जनता के सामान्य वर्ग से यह आशा रखना कि वह विज्ञान (स्पेशियलाइज्ड नालेज) के पारिभाषिक शब्दो, अपनी तथा अन्य भाषाओ के ऐतिहासिक शब्दो को जाने और उनके प्रकाश मे कविता के गूढ व्यग्य पर विजय प्राप्त करे, दुराशा मात्र है। यदि यही आशा कवियो से की जाय तो बगलें झाँकने लगेंगे। इधर हमने देखा है गद्य और पद्य दोनो मे अग्रेजी के पौराणिक आख्यानो तथा क्लासिकल साहित्य के पात्रों को अधिक स्थान मिल रहा है। साहित्यकारो को नन्दनवन से अधिक 'ईडन' में अर्थ व्यजना दिखाई पडती है, अवनीन्द्रनाथ ठाकुर के स्थान पर बैनगाग और गोगिन अधिक निकट लगते है। स्वय को प्रयोगवादी न समझनेवालो की दृष्टि अपेक्षाकृत साफ है। वे भारतीय ग्रामो की ओर मुडे, हर कही दिखाई देनेवाले प्राकृतिक दृश्यों मे रमे।

---

१. (उद्धृत) हिन्दी में प्रयोगवाद : पाटल, जनवरी १९५४ : पृ०७३

शब्द संचय की दृष्टि से इन कवियो ने पर्याप्त उदारता बरती है। सस्कृत, अग्रेजी, तथा उर्दू के प्रचलित शब्द तो लिये ही प्रादेशिक शब्दो का भी प्रचुर मात्रा मे प्रयोग किया। इनमे अक्सर वे मिलते है जो मूल रूप मे साहित्यिक है किन्तु अपभ्रंश रूप मे ग्राम्य। जैसे, बिस, बिलान, परबत, अमरित आदि। इन शब्दो पर दृष्टि पड़ते ही एक विचित्र-सा अपनापा जाग उठता है।

शिल्प मे अप्रस्तुत योजना का महत्त्वपूर्ण स्थान है। प्रगतिवाद युग से ही भाषा की अभिधाशक्ति पर बल देने की चर्चा शुरू हो गई थी। अलकारो का भार कम होने लगा था। इस युग मे अधिकतर साम्यमूलक अलकारों का ही प्रयोग हुआ है किन्तु उनमे साम्य का आधार अनेक स्थलो पर इतना सूक्ष्म हो गया है कि कहने भर को ही है। यह छायावाद युग का शेषांश है। हमे प्रयोगवादी शिल्प विधान के मूल में छायावादीतत्र की सूक्ष्म गति परिलक्षित होती है। प्रगतिवाद से प्रेरित सामाजिक विषमता को व्यजित करनेवाली रचनाओं को छोडकर अधिकाशत. श्रृंगारी भावना से प्रत्यक्ष-अप्रत्क्ष रूप से आक्रान्त है तथा धर्मवीर भारती की 'तुम्हारे चरण', 'फिरोजी होठ', 'गुनाहो का गीत' कविताओ मे तो लगता है जैसे फिर से शृगार काल अविकसिन अवस्था मे उभर आया है। इनकी अप्रस्तुत योजना मे वासना को उभारने के सभी उपकरण उपस्थित है। किन्तु जहाँ वस्तु व्यजना नई पद्धति का आधार लेकर आई है वहाँ अत्यन्त चमत्कारी है। जैसे भारती के निम्न मुक्तक की पहली और अन्तिम पक्तियो मे :—

रख दिये तुमने नज़र मे बादलों को साथ कर,
आज माथे पर सरल संगीत से निर्मित अधर,
आरती के दीपकों की झिलमिलाती छाँह में
बाँसुरी रखी हुई ज्यों भागवत के पृष्ठ पर।

नवीन उपमानो का पक्ष लेते हुए श्री अज्ञेय ने लिखा है, 'कभी बासन अधिक घिसने से मुलम्मा छूट जाता है।'[1] प्राचीन उपमान अत्यधिक प्रयोग मे आने से सौन्दर्यहीन हो गए है। प्रियतमा को चम्पे की कली या तारिका की अपेक्षा हवा में लहराती बाजरे की कलगी कहना उसे अधिक अच्छा लगता है। कोयले की खान मे काम करनेवाली काली मज़दूरनी-सी काली रात कहने मे उसे अधिक आनन्द आता है।

नये उपमानो को ग्रहण करने का विरोध हम नही करते। नवीन अर्थ व्यजना के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है किन्तु यह विचार भी उतना ही आवश्यक है कि कौन सी वस्तु उपमान बनने के योग्य है। उपमान पहले से उठी भावना को और

---

१. हरी घास पर क्षण भर . पृ० ५७

स्पष्ट और तीव्र करता है। वर्षो के जन सम्पर्क के बाद उसमें यह गुण आता है और जब तक यह सम्पर्क रहेगा उसकी भाव व्यजना मे कमी न आएगी। कोयल की कूक, बहुत दिनो तक वाणी का उपमान बनी रही किन्तु बम्बई जैसे शहर मे जहाँ कौओ की काँव काँव के सिवा और कुछ सुनने को नही मिलता, जहाँ कोयल चिड़ियाघर मे ही देखी जा सकती है, यह उपमान व्यर्थ हो जाता है। फिल्मी जगत की नायिका मे तुलना करने पर शायद भावना अधिक स्पष्ट हो। तात्पर्य यह कि अज्ञेय जी की 'बाजरे की कलगी' भी जन सम्पर्क से दूर होने के कारण उपमान बनने के योग्य नही है। जो बाजरे तक को न जानते हो वे उसकी कलगी को क्या पहचानेंगे।

उपमेय और उपमान में आकार का साम्य सबसे स्थूल है। गद्य मे इसका प्रयोग अपरिचित वस्तु का बिम्ब ग्रहण कराने के लिए होता है और पद्य मे आकार-सौन्दर्य पर बल देने के लिए। अत· आकार-साम्यमूलक उपमानो मे उपमान उपमेय से अधिक सरस होना ही चाहिये। प्रयोगवादी कविता सर्वस्वीकृत सुन्दर वस्तु मे ही सौन्दर्य नही देखती, बेढगी और कुरूप वस्तु मे भी देखती है। अत· वहाँ सदैव उपमान की सरसता की बात नही उठती फिर भी वस्तु का अधिक व्यापक होना आवश्यक है। पर यहाँ ऐसे उपमानों की लडी की लडी मिलेगी जो व्यापक होने तो दूर रहे समझाने पर भी कठिनता से समझ मे आते है। 'दिल के जामिन के लिए एक और जामिन चाहिए' वाली कहावत पूरी तरह चरितार्थ होती है। लगता है कवि अपनी बहुज्ञता प्रदर्शित कर रहा है कविता नही लिख रहा है। मदन वात्स्यायन की 'नयी परकीया' से कुछ पक्तियाँ द्रष्टव्य है :—

> **बैंगन जैसा**
> **चिकना, चमकता, काला और कसा हुआ,**
> **सर्वत्र एक सा,**
> **उसका छोटा सा लम्ब-गोल मुँह,**
> **एक अकेली बात सा सक्षिप्त है।**
> **दोहे सा, श्लोक सा, सवैया सा, शेर सा,**
> **कोटेशन सा, एपीग्रेम सा,**
> **सूत्र सा, फ़ारमूला सा,**

श्री निराला के कुकुरमुत्ता मे इसकी और भी विकट शृ खला के दर्शन होते है। इस प्रवृत्ति का मूल भी छायावादी काल मे पन्त की 'छाया' और 'बादल' जैसी कविताओ से स्पष्ट लक्षित होता है। कुल मिलाकर प्रयोगवाद ने ऐसे बहुत कम उपमान दिये जो साहित्यिक भी हो।

इस कडी का अन्तिम विचारणीय विषय छन्द है। लगता है इस युग मे मुक्त छन्द के अतिरिक्त और कोई छन्द कवियो को भाया ही नही। विषय के अनुरूप होने के कारण इसका ग्रहण उचित है किन्तु मात्र नयेपन के लिये इसका आग्रह अनुचित। श्री गिरिजाकुमार माथुर ने अपने छन्द–विधान के सम्बन्ध मे कुछ लिखा है। उन्ही के शब्दो मे, "मुक्त छन्द मे अधिकतर मैंने विरामान्त (एन्ड स्टाप) पक्तियाँ नही रखी। धारावाहिक (रन–आन) ही रखी हैं। आगत पक्ति के आरम्भ मे विगत पंक्ति की ध्वनि सम सगीत उत्पन्न करने के लिए वर्तमान रहने दी है। क्योकि इसके बिना ध्वनि सामजस्य (सिम्पैथेटिक वाइब्रेशन) उत्पन्न नही हो पाता। इसके आगे मुक्त छन्द की निर्माण पद्धति पर प्रकाश डालते हुए लिखते है–मुक्त छन्द का मैने सम्पूर्ण विधान रचा है। मुक्त छन्द को दो भागो मे विभक्त किया है, वर्णिक और मात्रिक तथा इनके रूपान्तर वर्णिक मे कवित्त के विरामो को उनके रूपान्तर सहित लेकर चला हूँ। यह आवश्यक नही रखा कि कवित्त के पूर्ण विरामो पर पक्ति समाप्त हो, किन्तु अर्ध–विराम भी अशुद्ध माने है, जब तक वे अनुच्चरित वर्ण (अनएक्सेचुएटेड सिलेबुल) पर समाप्त न होकर उच्चरित (एक्सेचुएटेड) पर समाप्त हो। इस भाँति कवित्त के विरामो को लेकर कितने ही प्रकार की मुक्त छन्द की पक्तियाँ निर्मित की है। सवैये के विरामो पर स्थित एक नये प्रकार का बहुत सगीतमय मुक्त छन्द लिखा है (आज हैं केसर रग रँगे)। एक कविता मे एक ही प्रकार का मुक्त छन्द प्रयुक्त होना आवश्यक समझता हूँ। यदि उच्चरित वर्ण–विन्यास (सिलेबुल) से पक्ति आरम्भ हुई हो तो समस्त पक्तियाँ उच्चरित से ही प्रारम्भ होनी चाहिये। विरामान्त पंक्तियो मे यह नियम अनिवार्य कर दिया है। धारावाहिनी पक्तियो में भी प्रथम पक्ति का अर्ध–विराम द्वितीय पक्ति मे लेने का नियम रखा है। पक्तियों के विरामो की ध्वनि–मात्राये पूर्णतः सम एव शुद्ध होना आवश्यक समझता हूँ।"[1]

इतना बड़ा उद्धरण देने की आवश्यकता इसलिए पडी ताकि जो लोग यह समझते है कि मुक्त छन्द का कोई नियम नही वे अपने भ्रम का निवारण कर ले। हम उक्त नियमो से सहमत नही भी हो सकते है किन्तु किसी न किसी नियम का पालन करना अनिवार्य है। नियम का पालन करते समय दोष का रह जाना क्षम्य है किन्तु अनियमितता अपराध है।

कुछ आचार्य कवियो के अनुसार अर्थ की लय ही कविता को कविता सिद्ध करने के लिए पर्याप्त है।[2] यह सत्य है कि ऐसी अनेक कविताये मिलेगी जो एक ही पक्ति

१. तार सप्तक : पृ० ४० व ४१

२. डॉ० जगदीश गुप्त नयी कविता-अर्थ की लय : नयी कविता, ३, सं०—जगदीश गुप्त : पृ०

मे लिखते चले जाने पर गद्य–काव्य सी लगेगी (यद्यपि इस सज्ञा को भी उनके रचयिता सहर्ष स्वीकार करेंगे क्योकि इसमे भी काव्य शब्द प्रयुक्त हुआ है) या केवल गद्य–सी। तब पक्तियो को तोड तोड कर लिखने का क्या उद्देश्य ? शायद यह कि पाठक को अर्थ ग्रहण मे आसानी हो। एक विचारक का निष्कर्ष है कि जहाँ तक 'फार्म' का सम्बन्ध है, इस कविता तथा गद्य मे कोई अन्तर नही रह जाता। उनके मत से भावावेगमय वस्तु ही पक्तियो को काव्यत्मकता प्रदान करती है।[1]

क्या हम इन आचार्यो से पूछ सकते है कि लय के बिना कौन सी कृति साहित्य की परिधि मे आ सकती है। किसी भी रचना को साहित्यिक महत्त्व प्रदान करने के लिए अर्थ की लय पहली शर्त है। भारतीय काव्य शास्त्र के अनुसार साहित्य की सभी विधाये दृश्य अथवा श्रव्य काव्य है। तब कविता और साहित्य की अन्य विधाओ को विभक्त करनेवाली सीमा–रेखा यह नही हो सकती। इस प्रकार भावावेगमय वस्तु को धारण करने के कारण से गद्य की पक्तियाँ भी गद्य–काव्य की सज्ञा पा जाती है। गद्य काव्य मे गद्य कविता की ऊँचाई तक उठता है। कविता गद्य के धरातल पर नही आती। यदि आज की कविता 'फार्म' मे गद्य से भिन्न नही है तब उसे कविता न कहकर गद्य–काव्य ही क्यो न कहा जाय। जब पद्य मे लिखी भावावेगमय पक्तियाँ कविता और गद्य मे लिखी पक्तियाँ उपन्यास निबन्ध कही जाने लगी तब अर्थ की लय के अतिरिक्त कोई और तत्त्व ही सामने रहा होगा। यह और कुछ नही सगीत तत्त्व था। साहित्य ने भिन्न भिन्न कलाओ से उपकरण जुटाए है। सगीत से उसने नाद–सगति (Composition of the Sounds) ली। मुक्त छन्द के प्रवाह मे नाद–सगति वर्णिक और मात्रिक छन्दो से भिन्न है किन्तु है अवश्य। इस कला मे असमर्थ कवि ही यह कहते सुने जाते है कि कविता श्रव्य काव्य नही है। डॉ० जगदीश गुप्त लिखते है, "कविता को केवल शब्द–लय के सहारे पढनेवाला बहुत कुछ खो देता है। इसके विपरीत सही पाठ–विधि उसके सूक्ष्म भावो तथा साकेतिक अर्थो को उभारने में काफी सहायक होती है।[2] यहाँ केवल 'शब्द' पद को हटा कर फिर पढे तो उन्हे अपने अर्थ की लय के ढिढोरे की निरर्थकता का ज्ञान स्वयमेव हो जायगा। 'अर्थ की लय' और 'भावावेगमय वस्तु' की वैसाखी के सहारे पगु मुक्त छन्द किसी भी दशा में नही चल सकता।

* * *

प्रयोगवादी कविताओ की आलोचना पर दृष्टिपात कर हम इस प्रसग को

---

१. रामस्वरूप चतुर्वेदी : कविता तथा गद्य–कविता : नयी कविता, २, सं०–जगदीश गुप्त : पृ० २२

२. नयी कविता --३ सं० जगदीश गुप्त : पृ० १०५

समाप्त करते हैं। मात्र विरोध करनेवालों का यह प्रयास रहा है कि वे इसके लिए केवल उन्ही कविताओ को छाँटें जो कविता के क्षेत्र से निष्कासित है। जैसे, 'अगर कही मैं तोता होता' 'हवा चली' या 'ब्रह्म मुहूर्त'। इसमे आधा दोष सग्रह के सम्पादको का है जिन्होने 'किंचित् कविता' अन्तर्गत इन्हें रखा। क्या कविता भी किंचित् होती है? तब तो उसके अनेक स्तर हो जायँगे। कविता के पूर्ण विकास के लिए जिस स्वतत्रता की आवश्यकता है वह कवियो को प्राप्त है किन्तु उसके दुरुपयोग से सम्पादकगण रक्षा करे।

विभिन्न ध्वनियों की सोदाहरण व्याख्या

प्रयोगवाद ने हर क्षेत्र में जिस स्वतंत्रता की घोषणा की उससे उत्साहित होकर अनेक शुद्ध गद्य-लेखक भी कविता की ओर आकर्षित हुए। किन्तु यह धारा युग की अनिवार्य आवश्यकता थी इसका ऐतिहासिक महत्त्व है इस पर पूर्व पृष्ठो मे विचार हो चुका है। इसका सबसे बड़ा प्रमाण यही है कि छायावाद और प्रगतिवाद के लब्ध प्रतिष्ठ कवियो ने भी अपनी रचनाओ द्वारा इसका समर्थन किया। पन्त की 'आवाजद' 'कावे' 'सोनजुही' 'आह यह धरती कितना देती है' 'कौए' 'बतखे मेढक' शीर्षक कविताएँ निराला की 'कुकुरमुत्ता' कविता और 'नये पत्ते' काव्य-संग्रह तथा दिनकर का 'सीपी और शंख' काव्य-सग्रह इस नयी चेतना से ही ओतप्रोत है। अन्य धारा मे बहनेवाले कवियो का भी इस धारा मे सम्मिलित होना यह सिद्ध करता है कि उन्होने युग परिवर्तन को लक्षित कर स्वय को भी उसके अनुरूप ढालने का प्रयत्न किया। छायावादी और प्रगतिवादी कवियो के बीच आ गई दीवार एकाएक ढह गई। अतः इस युग की कविताओं को चुनते समय कृति की प्रकृति पर ही अधिक ध्यान दिया गया है। प्रगतिवाद युग मे भी इसका विचार किया गया था पर वहाँ कार्य अपेक्षाकृत सरल था। कवि स्वय चाहे जिस सिद्धान्त का माननेवाला हो हमने देखा यह है कि कृति किस चेतना से अनुप्राणित है। क्षण जीवी 'मूडो' को अभिव्यक्ति देनेवाली कविताओ पर अन्य कोई नियम लागू नही हो सकता। इसीलिए अन्य युगों के विपरीत यहाँ हमको 'गीति-काव्य' के स्थान पर 'विविध-काव्य' शीर्षक देना पड़ रहा है। इसके अन्तर्गत मुक्तक गीति और पद्य-निबन्ध सबका समावेश किया गया है। प्रबन्ध-काव्य का विभाग अलग ही रहा।

विविध-काव्य में ध्वनि विवेचन

लक्षणामूला ध्वनि

पदगत अर्थान्तर संक्रमित वाच्य—

कर फैलाने से जो मिलता
इन्द्रासन सुख-स्वर्ग अमरता

खण्डहर भी तो एक बार उसके वैभव पर मुस्काता है
नर होकर कर फैलाता है ।[1]

अन्तिम पक्ति मे 'नर' सम्बोधन व्यजनागर्भित है । मुख्यार्थ का स्वत· बाध नही है किन्तु वक्ता (कवि) के अभिप्राय मे बाध है । प्रत्यक्ष खडे पुरुष को नर कहने का विशेष कारण होना ही चाहिये । यहाँ 'नर' पर सामान्य अर्थ को छोड़कर पुरुषार्थी कर्मठ, नारी सुलभ दुर्लभता का विरोधी तथा साहसी के अर्थ मे सक्रमित हो गया है । इस नवीन अर्थ के साथ ही शेष वाक्य की अर्थ-सगति बैठती है । ध्वनि है—अपने पुरुषार्थ के बल पर प्राप्त धन से ही व्यक्ति का सम्मान होता है भीख माँगकर नर की काया को लज्जित मत कर ।

तुम थे नही ।
सिर्फ माटी की मूरत
क्या
माटी की मूरत थी ।[2]

कविता का शीर्षक एकलव्य है । लक्ष्यबेध मे पारंगत एकलव्य के पास जब द्रोणाचार्य गुरुदक्षिणा स्वरूप दाहिने हाथ का अँगूठा माँगने पहुँचते है तो उसे बड़ा आश्चर्य होता है । द्रोणाचार्य द्वारा निराश लौटा दिये जाने पर एकलव्य उनकी मिट्टी की मूर्ति को आगे रखकर अभ्यास करता था । मूर्ति क्या एक मिट्टी का लोदा रहा होगा किन्तु उसकी भक्ति भावना इतनी प्रबल थी कि उसको उसी मे साक्षात् गुरु के दर्शन होते थे । जो न केवल अकर्मण्य भाव से एक स्थान पर स्थिर रहते हुए अपितु क्रियाशील होकर शिक्षा भी देते थे । वह अपना सर्वस्व मूर्ति के आगे समर्पित कर चुका था । अत द्रोणाचार्य द्वारा गुरुदक्षिणा की माँग अवश्य ही दुखदायी घटना थी । वह सोचता है 'क्या वह मिट्टी की मूर्ति सचमुच मिट्टी की मूर्ति ही थी जो मेरे बलिदान को न समझ सकी ।' 'माटी की मूरत' समस्त पद के प्रथम प्रयोग के पूर्व 'सिर्फ' 'शब्द उसके अर्थ को 'निष्प्राणता' 'तुच्छता' 'व्यर्थता' आदि गुणो मे सीमित कर देता है । कहावत है भैस के आगे बीन बजाये भैस खडी पगुराय ।' वही दशा एकलव्य की हो गई । जिसे सब कुछ अर्पित किया वही उससे अनभिज्ञ रहा । ध्वनि है कि क्या मेरा अब तक का समस्त त्याग निष्ठा सब व्यर्थ रहा इससे एकलव्य का खेद व्यजित होने के कारण से यह भाव-ध्वनि का भी उदाहरण है ।

पदगत अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य—

प्राणों पर ज्वालागिरि पलकों पर सिन्धु लदा
सिर चकराता छाती पर सौ मन पत्थर है ।

---

१. नीरज : लहर पुकारे : पृ० ३९
२ कीर्ति चौधरी तीसरा सप्तक : पृ० ८५

मत इन्हें हटाओ रहने दो मै कहता हूँ
हल्का होने से भारी होना बेहतर है।[1]

उदाहरण की प्रथम दो पक्तियो से 'ज्वाला गिरि' 'सिन्धु' और 'सौ मन का पत्थर' पदो मे लक्षणा की सहायता से चमत्कार उत्पन्न हो गया है। कवि जीवन की सार्थकता के लिए दुःखमय जीवन का वरण करता है। वह विरही नही है वरन् दूसरे के दु.ख से दुखी है। ज्वालागिरि की प्रचण्ड अग्नि ठोस से ठोस पदार्थ को भी पिघला देती है किन्तु बाहर से कुछ पता नही लगता। अतः ज्वालागिरि का अर्थ हुआ इतना प्रबल दुःख कि दृढ से दृढ व्यक्ति को भी करुणा विगलित कर दे। दूसरे पद मे पलकों का सम्बन्ध सिन्धु से है। सिन्धु विपुल जल-राशि के लिए प्रसिद्ध है। चाहे उसमे से कितना ही जल उलीचा जाय वह रिक्त होनेवाला नही। अत: पलको पर सिन्धु का तात्पर्य है अश्रुओं के निरन्तर बहते रहने पर भी आँखो का पानी सूखने वाला नही है। इस वाक्य का सौन्दर्य इस बात मे है कि पलके सिन्धु के लिए सीमा बन गई है। अर्थात् दुःख के आवेग मे आँसू उमड़ते तो है पर व्यक्ति उन्हे गिरने नही देता। ये पलको मे ही उलझकर रह जाते है। दोनो पदो से कवि की अत्यन्त सहनशीलता व्यग्य है।

दूसरी पक्ति मे भी 'सौ मन पत्थर' मे मुख्यार्थ वाध से लक्षणा का विषय है। वैसे 'सौ मन' पद मे भी लक्षणा है। इसका आशय यह नही कि सौ मन तुला तुलाया है। जैसे हजार कहने से अगणित का बोध होता है उसी प्रकार सौ मन कहने से बहुत भारी पीस डालनेवाले भार का बोध होता है। उक्त प्रयोग 'छाती पर भार होना,' 'छाती पर पत्थर होना' आदि प्रयोगो का रूपान्तर है जिनमे चिन्ता-भार की ध्वनि मिलती है। अत. यहाँ अर्थ होगा दूसरो के अकल्पनीय दुखो का चिन्ता भार। इससे भी कवि की अत्यन्त सहनशीलता व्यग्य है—

ओ मेरे अफ़सर
तुम्हारी एक लाइन ने मेरे जीवन की कविता को
निरर्थक कर दिया
बीच जिन्दगी में मै एकाएक विधवा हो गया।[2]

अन्तिम पक्ति मे 'विधवा' पद लक्षणा का नवीन प्रयोग है। 'सरकारी कारखाने के कर्मचारी की चिन्ता' शीर्षक कविता का कथ्य है 'अफसर एक कर्मचारी को निकाल देता है सरकारी कारखाने से निकले व्यक्ति को देश मे कही काम नही मिल सकता।

---

१. श्री हरि : नयी कविता, अक १ : सम्पादक . जगदीश गुप्त : पृ० ५७
२. मदन वात्स्यायन . तीसरा सप्तक

प्रायवेट कम्पनियाँ भी उसको काम देने मे हिचकती है। इसका अर्थ हुआ अब उसका शेष जीवन बेकारी मे कष्टो मे बीतेगा। ऐसे जीवन को सर्वतिरस्कृतावस्था को वह 'विधवा' पद से व्यजित करता है। पुरुष विधवा नही हो सकता दूसरे इसका सम्बन्ध मरने से है न कि काम छूटने से। अतः अभिधेयार्थ का बाध स्पष्ट है। पति की मृत्यु से स्त्री के कष्टमय जीवन का कारण है उसका बेसहारा हो जाना। पति एक प्रकार से उसका भाग्य है, सहारा है, समाज में प्रतिष्ठा का साधन है। कष्ट की सबसे बड़ी बात यह है कि हिन्दू स्त्री दूसरा विवाह नही कर सकती। परिणामस्वरूप उसका शेष जीवन दु खो मे ही बीतता है। ठीक यही दशा सरकारी कारखाने से निकले कर्मचारी की हो जाती है। नौकरी उसके जीवन का सहारा है, समाज मे प्रतिष्ठा का साधन है। इस प्रकार 'विधवा' शब्द 'वि—धव' अर्थ को पूर्णतया त्याग कर आश्रय हीनता का अर्थ देता है जिससे कर्मचारी का शेष अन्धकारमय जीवन व्यग्य है।

सभी जगह
जो शास्ता है जो बागडोर थामे है उसकी दीठ मंद है—
आँखों पर चढ़ा हुआ मोटा चश्मा जो
प्रायः धूमिल भी होता है।[1]

पूर्व उदाहरणो की भाँति यहाँ भी 'मन्द दीठ' 'मोटा चश्मा' और 'धूमिल' की लाक्षणिकता तात्पर्यार्थ—बाध से सिद्ध होता है। शास्ता की दृष्टि वास्तव मे मन्द हो वह दूसरी बात है किन्तु यह इतिहास का उदाहरण नही है। मन्द दृष्टिवाला अधिक दूर तक नही देख सकता। दृष्टि जितनी मन्द होगी चश्मा उतना ही मोटा होगा और यदि वह भी धूमिल हो तो बात जहाँ की तहाँ रह जाती है। इसके अतिरिक्त मन्द दृष्टिवाला बिना चश्मे के असहाय हो जाता है। शास्ता का ऐसी स्थिति मे होने का मतलब है करोड़ों लोगों के जीवन का आपत्ति मे पड़ जाना। लाक्षणिक पदो के आधार पर पंक्तियों का अर्थ होगा—'सभी जगह शासन की बागडोर सँभालनेवाला। व्यक्ति मन्द बुद्धि है। वह राज कार्य दूसरो की सहायता से चलाता है। ये सहायक भी स्वार्थ भावना से स्पष्ट नही देख पाते, सही सही मूल्याकन नही कर पाते। अपक्तियो में आज के स्वार्थी शास्ताओ के हाथ मे जनता का अन्धकार पूर्ण भविष्य व्यग्य है।

उठा निराला उन काले मेघों का स्वामी
बोला — "कोई बात नहीं है
बड़े बड़ों ने हार दिया है कन्धा यदि तो

---

१. अज्ञेय : अरी ओ करुणा प्रभामय : पृ० ३६

मेरे ही कन्धों पर होगा
अपने युग का गंगावतरण।[1]

निराला जी की प्रशस्ति मे लिखी गई इन पंक्तियो में उनका युगप्रवर्तनकारी रूप व्यग्य है। गगावतरण एक पौराणिक आख्यान है। उसकी पुनरावृत्ति नही हो सकती। मुख्यार्थ बाधित होने से लक्षणा का विषय है। गगावतरण मर्त्यलोक के कल्याण हेतु था किन्तु उसके प्रबल वेग को सँभाले कौन। इसकी शक्ति एक मात्र शिव मे थी। नए युग मे नयी कविता के भाव और शिल्प विधान का रचनात्मक कार्य द्वारा समर्थन करने का साहस सबसे पहले निराला ने दिखलाया। सभी कठोर आलोचनाओं के आघात को सहकर उन्होने नये कवियो का मार्ग प्रशस्त किया। भावी पीढी का कल्याण करने के कारण निराला शिव के समान हुए। 'गगावतरण' पद पौराणिक आख्यान के सन्दर्भ को पूर्णतया त्यागकर कल्याणकारी धारा के प्रवहमान होने के अर्थ में नई कविता से सम्बद्ध हो गया। पदगत लक्ष्यार्थ की सहायता से निराला का साहसिक एव युग प्रवर्तनकारी रूप व्यग्य है।

वाक्यगत अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य—

ओ मेरे अफसर
तुम सरकारी अफसर हो तुम्हारा काटा पानी नहीं
माँगता
कानून की दरार से तुमने गोली चलाई
और मुझे चुपचाप सुला दिया
अपने फाइलों के जंगल में ले जाकर
तुमने मुझे क़त्ल कर दिया।[2]

'सरकारी कारखाने के कर्मचारी की चिन्ता' शीर्षक कविता की चर्चा कर आए है। इसमें कुछ बडे सुन्दर मुहावरो का प्रयोग हुआ है। प्रयोगवादी कविता की यह अपनी विशेषता है। मैथिलीशरण गुप्त आदि ने भी मुहावरो का प्रयोग किया है किन्तु उर्दू शब्दावली का हिन्दी सस्करण तैयार करने मे मुहावरों का सारा सौन्दर्य नष्ट कर दिया है। इधर उनके शुद्ध रूप की रक्षा हुई है। किसी जहरीले साँप की भयकरता का वर्णन करते समय कहा जाता है कि उसका काटा पानी नही माँगता फौरन मर जाता है। अफसर के साथ इस मुहावरे का सम्बन्ध जोडने से मुख्यार्थ का पूर्ण बाध है। लक्ष्यार्थ है—अफसर तुम जिसको निकालते हो उसकी कही सुनवायी

---

१. **धर्ममवीर भारती : ठन्डा लोहा : पृ० ५५**
२. **मदन वात्स्यायन : तीसरा सप्तक : पृ० १६३**

नही होती। संसार की कोई शक्ति उसकी आजीविका रूपी प्राण शक्ति नही लौटा सकती। इससे आजकल के अफसरों की क्रूर नीति व्यग्य है।

'चुपचाप सुला देना' तात्पर्यार्थ बाध से मुहावरा बना है। इसमे मरनेवाले की असमर्थता और घात की निश्चयात्मकता लक्ष्यार्थ है। यहाँ उसका अर्थ है 'तुम्हारी कलम से मेरे आजीविका रूपी प्राणो का हरण हुआ है। मैं किसी से अपील भी नही कर सका। अब भी मैं किसी से कुछ नही कह सकता। उस पर कौन विश्वास करेगा। अन्तिम पक्ति का लक्ष्यार्थ है—'मैं बेकार हो गया हूँ।' सब वाक्यो से कुल मिलाकर मध्यम वर्ग की दयनीय स्थिति व्यग्य है।

सखि फागुन क्या आया बन पर हलद चढ़ गई।[1]

विवाह के कुछ दिन पहले वर-वधू के शरीर पर हल्दी और तेलमला जाता है। वैज्ञानिक कारण चाहे कुछ हो या न पर सामान्य धारणा यही है कि इससे शरीर की कान्ति बढ जाती है वर-वधू सुन्दर लगने लगते हैं। विवाह निकट है इसके सकेत मात्र के रूप मे ही इसका महत्व रह गया है। 'हल्दी लगना या चढना' वाक्य अब यही अर्थ देता है। 'वन पर हलद चढ गई' वाक्य मे वन की समस्त वनस्पति को वधू मानना पडेगा। वनस्पति जैसी वस्तु पर हलद नही चढ सकती। हलदी चढने से शरीर पीला हो जाता है। पीलेपन की कान्ति से शरीर सोने जैसा दमकने लगता है। इन्ही सब बातो का वनराजि का आरोप हुआ है। चारों ओर नए नए अंकुर फूट निकले है। फूल खिले हुए है उनमे बहुत से पीले वर्ण के भी होगे इससे बन पर नयी कान्ति आ जाने का आभास मिलता है। चारों ओर हर्षमय वातावरण है। ऐसा लगता है मानों वन में विवाहोत्सव मनाया जा रहा हो। सम्पूर्ण पक्ति से वसन्तागम की सूचना ध्वनित होती है।

तुम्हारे पापा और ताऊ ने
उन रेशम के गुच्छों को
चाँद के चेहरे को
कलेजे के टुकडों को
अपने भद्दे काले कठोर बूटों से
ठोकर मार मार कर
पटक पटक कर चुप कराया।[2]

कविता का शीर्षक है नये साल पर।' इसके पूर्वाद्ध में कवि सेनाओं के उल्लास पूर्ण प्रयाण का वर्णन करता है। उत्तरार्द्ध में उनके नृशंस कर्मों की वीभत्सता का।

१. नरेश मेहता : नयी कविता : अंक १ : स०—जगदीशगुप्त : पृ० ३६
२. हरिमोहन : वही पृ० ७४

उदाहरण के कुछ वाक्यों मे परस्पर विरोध स्पष्ट है। कोमल बच्चों को ठोकर मार मार कर पटक-पटक कर चुप कराना असंगत है। अतः चुप कराने में अर्थ बाध है। लक्षणा से चुप कराने का अर्थ होगा हमेशा के लिए चुप कर दिया मार डाला। इससे सेनाओ के विजित देशों पर अत्याचार और वृहत्तर अर्थ मे युद्ध-सभ्यता की हीनता ध्वनित है। युद्ध के माध्यम से राज्य-विस्तार किसी देश की उन्नति नही सास्कृतिक अवनति का द्योतक है।

प्यास जीवन की तड़प थक कर कहीं सो जायगी।[1]

कवि कमल को सम्बोधित कर कहता है कि पंक से विच्छिन्न होकर ऊपर उठकर कमल अधिक दिनो तक जीवित नहीं रह सकता। शीघ्र ही उसका विकास रुक जायगा और तब प्रकृति की अन्य शक्तियाँ भी उसे योग देना बन्द कर देंगी। अंग्रेजी काव्यशास्त्रानुसार यहाँ विशेषण विपर्यय अलंकार होगा। इसमे विशेष्य का विशेषण ऐसे विशेष्य से सम्बद्ध किया जाता है जिसमें वह गुण कभी नही हो सकता। दोनो का सम्बन्ध लक्षणा से ही सिद्ध हो सकता है। तड़प थक कर सो जाने का गुण जीवन की प्यास पर आरोपित है। पुष्प मे जीवन की प्यास प्रतीकात्मक है। सो जाने पर मनुष्य की प्रगतिशील क्रियायें एक हो जाती हैं। अतः पुष्प के सम्बन्ध मे अर्थ होगा—उसके विकास की सब क्रियाये रुक जायँगी। इससे उसके भावी ह्रास, मृत्यु की ध्वनि मिलती है।

अभिधामूला असंलक्ष्यक्रम ध्वनि

प्रगतिवाद-युग के अध्याय में इसी प्रसंग की चर्चा मे स्पष्ट कर आए है कि अनेक कविताओं की भाव व्यजना के लिए तत्कालीन सामाजिक राजनैतिक तथा अन्य परिस्थितियो को पृष्ठभूमि मे रखना आवश्यक है। प्रयोगवादी धारा मे वृत्ति के अन्तर्मुखी हो जाने से यह पृष्ठभूमि कई खण्डों में विभक्त हो गई। व्यक्तिवादी कविता के स्वर को व्यक्तित्व की आधार-भूमि पर ही समझा जा सकता है। आरोपित हो या स्वाभाविक व्यक्तित्व उलझा हुआ अवश्य है। इसमे उकताहट, टीस, खीझ, आक्रोश, दया, करुणा सभी कुछ है जो बहुधा एक साथ अभिव्यक्त होने के लिए दबाव डालते है। ऐसी कवितायें कम मिलेगी जिनमे आद्योपान्त एक ही 'मूड' व्यक्त हुआ हो।

रस-ध्वनि के लिए विभाव अनुभाव सचारी आदि सब उपकरणो के वर्णन की प्रथा बहुत पहले उठ चुकी थी भाव-ध्वनि के स्वरूप मे भी निश्चित परिवर्तन आ

---

१. विष्णुस्वरूप : वही : पृ० ५१

गया। इस परिवर्तन की ओर पूर्व पृष्ठो मे सकेत किया जा चुका है किन्तु वहाँ उसके अभिव्यक्ति पक्ष को ही हमने लिया था क्योकि उस समय तक भी अनुभूति के स्रोत बाहर थे। अनुभूति के उपकरणो की सूक्ष्म और आन्तरिक स्थिति ने भाव के अनुभूति पक्ष मे भी परिवर्तन उपस्थित कर दिया। कल्पना मे ही किसी के प्रति अनुराग या द्वेष-भाव अनुभव करने की क्रिया ने भावो को विचित्र स्वरूप दिया।

प्रयोगवादी कविता की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि बहुत कम कवियो ने उधार खाते से अपना कोष भरने का प्रयत्न किया। प्रत्येक भाव स्थूल या सूक्ष्म पर कवि की अपनी छाप है। इस धारा की सबसे बडी शर्त भी यही है कि कवि अपने मन की चेतना के सभी सत्यो मे गहरा उतरे और अनुभूतियो को मूल रूप मे उपस्थित करने का प्रयत्न किया। अपने तई इतनी अधिक निष्कपटता बहुत कम युगों मे बरती गई। यही कारण है कि प्रत्येक मन स्थिति को अकित करने के प्रयत्न मे अनेक ऐसे भाव मिले है जिनका न नामकरण हुआ है न सरलता से हो सकता है। उनका मूल चाहे जहाँ रहा हो किन्तु समाज में उनके अस्तित्व को अस्वीकार नही किया जा सकता। धर्मवीर भारती की 'डोले का गीत' ऐसी ही रचना है।

भारतीय समाज मे परकीया नायिका का चाहे मान न रहा हो, रस-प्रसंग मे भी रज्जनित भाव आभास मात्र ही रह जाता है किन्तु साहित्य मे इसके वर्णन की कमी नही है। शृगार रस के आधे उदाहरण इसी को लेकर लिखे गए है। लोकगीतो मे भी इसके पर्याप्त उदाहरण मिलते है। उर्दू शायरो का यार कुछ भिन्न विशेषता लिए परकीया नायिका ही है।

'डोले के गीत' मे हमे फारसी परम्परा का प्रभाव परिलक्षित होता है। भारतीय साहित्य मे नायिका का विरह ही अकित हुआ है जब कि फारसी परम्परा मे नायक के विरह वर्णन पर ही बल दिया गया है। इधर विदेशी प्रभाव से एक प्रथासी चल पडी है कि प्रेम तो करना पर विवाह से कन्नी काट जाना। यह कल्पना करना कि प्रेमिका का विवाह किसी दूसरे से हो जाय। विवाह के पश्चात् सच्चा प्रेम वह पूर्व प्रेमी से ही करती चली जाय किन्तु अपनी मनःस्थिति कभी प्रकट न होने दे। सिनेमा के कथानको ने इस सयोग को अधिक प्रश्रय दिया। इसमे कवि का कौन सा भाव व्यक्त होता है कहना कठिन है। शायद यह प्रेम काव्य और त्याग का मिश्रण है।

विचारणीय युग की कविता मे भाव की नवीन अभिव्यक्ति का एक और कारण है—रागात्मक तत्त्व को बौद्धिक माध्यम से व्यक्त करने का प्रयत्न। विषय और काव्यानुभूति के बीच बुद्धिगत सम्बन्ध पाठक को भी विचार करने के लिए बाध्य

करता है। एकाएक उसके हृदय का स्पर्श नही करता। प्रयोगवादी कवि पाठको से यही आशा करते है तथा इसी को लक्ष्य कर काव्य-रचना करते है।[1]

प्रकाशक तत्त्वों के दृष्टिकोण से वर्ण-प्रकाश्य ध्वनि का नितान्त अभाव है। मुख्य बात यह कि आज का कवि सिद्धांत को पूरी तरह भूलकर काव्य-रचना करने बैठता है। कवियो पर काव्य-शास्त्र का नही स्वय कविता का प्रभाव है। इसलिए कुछ ध्वनियों का प्रायः अभाव है। कुछ तो येन केन प्रकारेण चमत्कार मात्र उत्पन्न करना चाहते है। कुछ तंत्र के गोरख धन्धे को छोडकर एक भाव की अभिव्यक्ति के लिए पूरे प्रबन्ध की अपेक्षा रखते है। यह प्रबन्ध पद्य-निबध भी विचार के भार से इतना बोझिल होता है कि रसात्मकता का कही पता ही नही चलता। वर्ण प्रकाश्य ध्वनि शुद्ध रूप से असलक्ष्यक्रम होती है। तब भला बौद्धिक कविता से उसका मेल कैसे बैठता। दूसरे जिन नानाविध भावो की व्यजना प्रयोगवाद मे हुई है उनके लिए किसी निश्चित वर्ण की प्रधानता की वकालत नही की जा सकती। स्थायी भावों में विशेषतः रति उत्साह और क्रोध ही वर्ण-चयन की अपेक्षा रखते हैं। इनके संचारियों पर भी यह नियम लागू हो सकता है किन्तु स्वतंत्र भावो की अभिव्यक्ति मे अर्थ और रचना पर ही निर्भर रहना पड़ता है।

पद प्रकाश्य—

ओ काल देव।

पर मैं जो निष्कासित हूँ
प्रताड़ित हूँ
घृण्य हूँ
क्या करूँगा इनका ?[2]

नचिकेता अपने पिता द्वारा प्रताड़ित होकर यमराज के पास पहुँचता है। पिता यदि प्रसन्नता से भेजते तो और बात थी किन्तु उन्होने 'तुझे यम को दूंगा' क्रोध मे कहा था। पिता के प्यार से वचित होने का दुःख ही उसे अपने विषय में उक्त

---

१. आज के युग में बुद्धिजीवी मनुष्य के लिए यह सम्भव नहीं है कि वह यथार्थ की उपेक्षा कर दे या संवेग से पराजित सौन्दर्यबोध से पूरी तरह अपना समझौता कर ले। उसे अब ऐसे सौन्दर्यबोध की अपेक्षा होने लगी है जिसमें उसकी भावात्मक सत्ता के साथ साथ उसके बौद्धिक व्यक्तित्व का भी सन्तुलित समावेश हो...विचार संयुक्त भावाभिव्यक्ति द्वारा मानव व्यक्तित्व के प्रति अधिक आत्म-विश्वास उत्पन्न हो यही आज की कविता का वास्तविक लक्ष्य है।

—जगदीश गुप्त : नयी कविता अंक ३ सं०—जगदीशगुप्त : पृ० ५

२. मलयज : नयी कविता

विशेषणो के प्रयोग के लिए बाध्य करता है। 'निष्कासित' और 'प्रताड़ित' पदो से भी 'दैन्य' भाव का किंचित् सकेत मिलता है किन्तु 'घृण्य' पद ही उसकी पूर्ण व्यंजना मे समर्थ है भाव पदार्थ के ग्रहण के साथ ही प्रकाशित होता है इसलिए असलक्ष्यक्रम ध्वनि का विषय है।

वर्ण प्रकाश्य—

मृग-जल से छल-छल कर पल छिन
विकल कराह रहा प्यासा मन
बरसो घन बन मदिर मगन मन मुस्काए जीवन तृण तृण में
अब तो ले लो प्राण ! शरण में।[1]

साधक अपनी दीन अवस्था का वर्णन करने के पश्चात् आराध्य से विनय करता है कि अब मुझे शरण मे ले लो। विनय के वाक्य मे 'तो' पद्यांश दीनता की उस चरमता की ओर सकेत करता है जब और दुख सहने की शक्ति नही रह जाती। बिना उसके दैन्य की व्यजना असम्भव थी।

तृप्ति में आकण्ठ उमड़ी डूबती थी मृगशिरा जब
आग छाती में दबाए भी रहा मैं देवता तब
तुम पिपासा की बुझन का एक क्षण दे दो न मुझको
एक कण दे दो न मुझको।[2]

जीवन की अतृप्ति-अग्नि मे कवि झुलस गया है। जितना वह सह सकता था सहा। जलन असह्य हो जाने पर देवता से एक क्षण के लिए तृप्ति प्रदान करने का अनुरोध करता है। 'एक क्षण' की पृष्ठभूमि मे 'न' पदाश से अत्यधिक विनम्रता एवं दीनता व्यग्य है। 'न' पदाश की ध्वनि का प्रकाशक है। इसका प्रमाण यही है कि इसको हटा देने से आजकल भिखारियो जैसी दान की अधिकार भावना झलकने लगती है। अनुरोध में अधिकार नही दाता की कृपा-दृष्टि पर आस्था प्रकट होती है।

वाक्य प्रकाश्य—

कड़ा करके जी कमर कस चल पड़ा था उस दिवस अम्लान
वंचितों के स्वत्व संगर मे चढ़ाने एक निज का दान।[3]

पहली पक्ति मे धृति संचारी भाव है। अधिकार-वचितो द्वारा किये जानेवाले युद्ध मे योग देना न्याय कर्म है। जहाँ विवेक पूर्ण कर्म से बल का प्रदर्शन हो वहाँ

---

१. **नीरज : लहर पुकारे : पृ० १७**
२. **अंचल : कविताएँ—१९५७ : सं०—सुरेन्द्र चतुर्वेदी—रामबहादुर मुक्त : पृ० १**
३. **भारत भूषण अग्रवाल : तार सप्तक : सं०—अज्ञेय : पृ० ३५**

उत्साह भाव होता है। युद्ध की भयकरता किसी को निराश अनुत्साहित भी कर सकती है। ऐसे अवसर पर फिर से धैर्य धारण करना 'धृति' है। युद्ध हो रहा है। 'जी कडा करने' से मन की पहले की अस्थिरता 'अम्लान' से कार्य के न्यायपूर्ण होने से विश्वास और 'कमर कसने' से कार्य करने की क्षमता का बोध होता है। इस तरह सपूर्ण पक्ति मे 'धृति' भाव की ध्वनि है। पहले से युद्ध के वातावरण के कारण उत्साह स्थायीभाव तथा उक्त भाव संचारी कहलाएगा।

हो न जिसकी साँझ ऐसा प्राण कोई भोर दे दो
फिर पड़े मुड़ना न ऐसा पंथ का बस छोर दे दो
रोज़ और जाने के नियम से थक गया हूँ
क्यों न अपने पास ही थोड़ा सदा को ठौर दे दो।[1]

ससार मे चाहे सुख हो चाहे दुख उसे भोगने के लिए जन्म और मरण के दुख भोगने ही पडते है। बार बार ससार मे आने जाने के कष्टो से कवि की आत्मा दुखी हो गई है। दुख का एक कारण यह भी है कि जितनी देर आत्मा शरीर के पिंजरे मे रहती है वह अपने प्रिय से दूर भी रहती है। इसलिए उसका अनुरोध है कि परमात्मा उसे मुक्ति दे दे। ससार से विमुखता व्यग्य होने से 'निर्वेद' भाव ध्वनित है।

सुनकर कानी का दिल हिल गया
काँपे कुल अंग
दायीं आँख से
आँसू भी बह चले माँ के दुःख से।[2]

कविता का कथ्य अत्यन्त सक्षिप्त है। कानी अपनी माँ को किसी से यह कहते सुन लेती है कि कानी होने से उसका विवाह कैसे हो सकता है? भविष्य की आशका से कानी काँप उठी और असमर्थता से आँसू बह चले। दोनों के मिश्रण से 'दैन्य' भाव व्यग्य है। भाव किसी एक पद या पदाश से न होकर सम्पूर्ण वाक्य से प्रकाश्य है।

आज है अचरज यही अत्यन्त
उस महा आरम्भ का हा क्षुद्र ऐसा अन्त।
दूर है मजिल अभी मेरी बड़ी ही दूर
किन्तु मैं तो बीच में ही आज थक कर चूर
गिर पड़ा हूँ राह पर।[3]

---

१. नीरव : सीप : पृ० ७
२. निराला : नये पत्ते : पृ० १०
३. भारतभूषण अग्रवाल : तार सप्तक : सं०—अज्ञेय : पृ० ३५

मानसिक व्यथा और शारीरिक रोग आदि के कारण उत्पन्न दुर्बलता ग्लानि कहलाती है। इसके अनुभाव है—विवर्णता अगो की शिथिलता और आँखो से चौध आना। सर्वत्र इन अनुभावो की व्यजना नही हो सकती। केवल वाणी से भी कोई मन की दुर्बलता व्यक्त कर सकता है। किसी आदर्श को प्राप्त करने मे असमर्थ होकर भी इस भाव की अनुभूति हो सकती है। उक्त उदाहरण मे 'मजिल' पद उद्देश्य के लिए प्रयुक्त हुआ है। थककर चूर हो जाने से मानसिक श्रम से व्यथा और राह पर गिर पडने से निष्क्रियता की अवस्था वर्णित है। इस तरह अन्तिम तीनो पक्तियो मे वाक्य प्रकाश्य ग्लानि भाव ध्वनि है।

प्रबन्ध प्रकाश्य—

फागुन की शाम

घाट के रास्ते
उस बँसवट से
एक पीली सी चिड़िया
उसका कुछ अच्छा सा नाम है
मुझे पुकारे।
ताना मारे
भर आएँ आँखड़ियाँ।
उन्मन ये फागुन की शाम है।

घाट सी सीढ़ी तोड़ फोड़ कर बन-तुलसा उग आई
झुरमुट से छन जल पर पड़ती सूरज की परछाँयीं
तोता-पंखी किरनों में हिलती बाँसों की टहनी
यहीं बैठ कहती थी तुमसे सब कहनी अनकहनी
आज खा गया बछड़ा माँ की रामायन की पोथी।
अच्छा अब जाने दो मुझको घर में कितना काम है।
इस सीढ़ी पर यहीं जहाँ पर लगी हुई है काई
फिसल पड़ी थी मैं फिर बाँहों में कितनी शरमाई
यहीं न तुमने उस दिन तोड़ दिया था मेरा कंगन
यहाँ न आऊँगी अब जाने क्या करने लगता मन।
लेकिन तब तो कभी न हममें तुममें पल भर बनती।
तुम कहते थे जिसे छाँह है मैं कहती थी घाम है।
अब तो नींद निगोड़ी सपनों सपनों भटकी डोले
कभी कभी तो बड़े सकारे कोयल ऐसे बोले

ज्यों सोते में किसी विषैली नागन ने हो काटा
मेरे संग संग अक्सर चौंक चौंक उठता सन्नाटा
पर फिर भी कुछ कभी न जाहिर करती हूँ इस डर से
कहीं न कोई कह दे कुछ ये ऋतु इतनी बदनाम है।
ये फागुन की शाम है।[1]

इन पक्तियो मे जिस प्रेम का वर्णन है वह साहचर्य जन्य है, ठीक वही जो गोपियो का कृष्ण के साथ था। अत. इसमे अनौचित्य नही माना जा सकता। यदि कोई कहे कि विवाह के पूर्व स्त्री पुरुष का प्रेम ही अनुचित है तो वह मनुष्य के सहज स्वभाव का अपमान करता है। आचार्य शुक्ल ने पूर्वानुराग की चर्चा मे प्रत्यक्ष दर्शन का भी उल्लेख किया है किन्तु उनका तात्पर्य अनेक वर्षो के साहचर्य से नही है। हमारे विचार से साहचर्य पूर्वानुराग का जितना स्वाभाविक और उचित कारण है उतना दर्शन नही हो सकता। क्षणिक दर्शन से हृदय की समस्त वृत्तियाँ प्रभावित नही हो सकती। हाँ सौन्दर्य आदि से वासना जागृति हो तो हो।

इस कविता की नायिका और कृष्ण भक्त कवियो की गोपियो मे विरह की केवल अभिव्यक्ति का अन्तर है अनुभूति का नही। गोपियो को खुलकर अपने विरह प्रदर्शन का साहस इसलिए भी हो गया था क्योकि वे समूह मे थी। परस्पर दु.ख बाँट लेती थी। यदि अकेली राधा की यह दशा होती तो उसके विरह का क्या रूप होता नही कहा जा सकता। दूसरे भक्ति का रग चढ जाने के कारण हम उसकी अधिक आलोचना नही कर सकते। आधुनिक विरहिणी यदि आँसुओ से गाँव को बहा नही देती, हर समय प्रियतम का नाम रटती नही रहती, उन्माद की दशा मे नायक का वेष नही धारण कर लेती तो उसके प्रेम मे न्यूनता नही समझनी चाहिये।

उक्त पक्तियो मे शृगार रस का विप्रलम्भ पक्ष व्यग्य है। नायक आलम्बन विभाव है। अनेक वर्षो के सहचरण के कारण 'रति' स्थायी भाव है। घाट के रास्ते पर पड़नेवाले बसवट की पीली चिडिया को देखना और उसका बोलना, घाट की टूटी फूटी दशा और सुबह सुबह कोयल का बोलना उद्दीपन विभाव है। 'यही' पद से विशेषत: प्रकट स्मृति (स्मृति सचारी के दो स्थल है—हिलती बाँसो की टहनी को देखकर कहनी अनकहनी बातो की स्मृति आई और काई लगी सीढी को देखकर पूर्व स्पर्श के सुख एव स्नेह मे होने वाले लड़ाई झगडो की स्मृति) चिडियो के बोलने पर आँखे भर आने से 'दैन्य' 'यहाँ न आऊँगी से विषाद (विषाद का कारण यह है कि कंगन टूटने जैसी साधारण बात पर मैं उनसे लड़ पडी थी शायद इसी कारण

---

१. धर्मवीर भारती : ठण्डा लोहा : पृ० २०

नायक रूठ गया हो) कोयल के बोल को सुन व्याकुलता अनुभव करने से व्याधि और उन्माद सचारी भाव व्यग्य है। अनुभाव है आँसू बहाना, नीद न आना, कभी पलक लगना भी तो कोयल की बोली सुनते ही चौक चौक उठना। इस तरह विभाव अनुभाव और सचारियो द्वारा पुष्ट होकर रतिभाव विप्रलभ श्रृगार मे पुष्ट हो गया है।

रचना प्रकाश्य—

घहरता हिमवान से यह प्रलय-पारावार
उमड़ा है।
अरे हिमवान उतरा है
प्रलय लेकर।
कि आया अन्त दुनिया का—
धरा धँसती।
क़हर है।
गगन का यह तरगायित विमंथित क्रोध
नियति का क्षोभ उच्छृ खल विघूर्णित
रौर प्रलयकर विनाशी गति
ज़हर का रंग मटमैला।
न कोई माँ न कोई बाप
अराजकता। अंधेरा।
आर्तनाद।[1]

ध्वनि की रचना प्रकाश्यता में वैदर्भी आदि रीति अथवा सघटना के समास पर विचार किया जाता है। व्यजन ध्वनियो की परस्पर सम्मिलित ध्वनि भी अपना अलग अलग प्रभाव डालती है। वर्ण प्रकाश्य ध्वनि में वर्णों की अलग अलग ध्वनियो का विचार किया जाता है और सामासिक पदावली मे उनके सम्मिलित प्रभाव का। यहाँ पर भी देश काल और पात्र का विचार अनिवार्य है। भाव के आलम्बन के स्वतन्त्र वर्णन मे सामान्यतः परम्परागत सघटनो का प्रयोग होता है।

आधुनिक युग मे समास के उक्त भेद ही समाप्त हो गये है और व्यजन ध्वनियो के उक्त चमत्कार की प्रथा भी समाप्त हो गई है। बुद्धि प्रधान पाठक व्यंजन के स्थूल सौन्दर्य से उतना चमत्कृत नही होता। उसे लगता है जैसे कवि उसकी भावुकता का अनुचित लाभ उठा रहा है। वह और गहरे पैठकर स्वरों के सूक्ष्म सामंजस्य से उत्पन्न अर्थ मे सहायक प्रभाव को प्राप्त करना चाहता है।

---

१. मदन वात्स्यायन : तीसरा सप्तक : सं०—अज्ञेय : पृ० १७२

प्रस्तुत उदाहरण मे बाढ का वर्णन करते हुए नदी के चौड़े हो गये पाट के विस्तार का बोध कराने के लिए प्रथम पक्ति मे अनेक स्वर-ध्वनियो का समावेश है। पूर्वार्ध की अन्तिम दो पक्तियो मे स्वर-ध्वनि और व्यजन-ध्वनि के मेल से कगारो के ढहने की भयकरता व्यक्त है। उत्तरार्द्ध की प्रथम दो पक्तियो मे द्वित्व वर्ण के प्रयोग 'ओ-अ' तथा 'उ-अ' के मिश्रण से भयकर तरगो के आघात का आभास मिलता है। अन्तिम तीन पक्तियो मे फिर स्वर-ध्वनियो द्वारा व्यवस्था के विश्रृखलित होकर फैल जाने का आभास है। इन सबका समवेत स्वर आर्तनाद मे डूबकर भयानक रस की निष्पत्ति करता है।

यहाँ 'न कोई माँ न कोई बाप' और 'आर्तनाद' द्वारा अनुभावो का वर्णन है धरा का धँसना, पानी का घहराना, गगन का गरजना आदि उद्दीपन विभाव भी रस-निष्पत्ति मे सहायक है किन्तु इन सबके ऊपर रचना की विशिष्टता ही भाव को पुष्ट करने मे अधिक सहायक हुई है।

दिव्य अतिथि वह मनुज देह धर
आया फिर से मर्त्य बन अमर।
देखो देखो आँखे भर
कैसा रहस्यमय ईश्वर
देखो हे आँखें भर
कैसा सुन्दर ईश्वर।[1]

इन पक्तियों मे कवि के अपने भाव की ही व्यजना हुई है। धर्म मे आस्थावान कवि पन्त मनुज की अमरता मे भी विश्वास करते है। मनुज ईश्वर का प्रतिरूप है अत· उसका मूल स्वभाव ईश्वर का स्वभाव ही है। मानव योनि मे परमात्मा के प्रत्यक्ष दर्शन बालक मे होते है। उसके जन्म पर मानवात्मा के दिव्य दर्शन कर कवि को अत्यन्त हर्ष हुआ है। भावावेग मे विशेषत: हर्ष और आश्चर्य मे शब्द की पुनरावृत्ति होती है। इन पक्तियों में 'देखो' पद की आवृत्ति से सचमुच ऐसा लगता है मानों कवि आनन्द विभोर होकर दूसरो को दिव्य दर्शन करने के लिए बुला रहा है।

वर्ण प्रकाश्य—

बादल घेर घेर मत बरस कि मेरे लाज बसन डूबे
रह रह काँपे हिया हवा में खुले खेत मे धान
आँखों में परदेसी काँपे, रोम रोम मे बान
याद का बाँध उठा है टूट कि विरह के ये छन डूबे।[2]

---

१. पन्त : स्वर्ण किरण : पृ० ९६
२. रामदरस मिश्र : कवितायें—१९५७। सं० सुरेन्द्र चतुर्वेदी—रामबहादुर सिंह मुक्त : पृ० ७१

इन पक्तियो मे रति भाव की व्यजना करनेवाले अनेक वाक्य हैं। ध्यान देने की बात है कि रचना और वर्ण प्रकाश्य ध्वनियो में मात्र समास और वर्ण ही व्यंग्यार्थ को प्रकाशित नही करते। पदार्थ की सहायता अवश्य लेनी पडती है। समास तथा वर्ण की महत्ता भाव को विशेष रूप से ग्रहण कराने मे सहायक होने में है। यहाँ अन्य उपकरणो के रहते हुए भी 'बसन', 'बान' और 'छन' पदो मे 'न' वर्ण की कोमलता से रति भाव की विशेष प्रतीति होती है।

ब्रजभाषा शृगार और डिगल वीररस के अधिक उपयुक्त कहने से उनमें बहुधा प्रयुक्त होनेवाले वर्णो की प्रकृति की ओर ही सकेत होता है। 'ण' के स्थान पर 'न' का प्रयोग ब्रजभाषा की प्रकृति है। उसकी यह विशेषता आधुनिक कवियो ने शृंगारिक वर्णनो मे ली। इसके अतिरिक्त लोकगीतो की धुन पर ग्राम्य वातावरण पैदा करने के लिए लिखे गए गीतो और कविताओ मे भी ऐसे प्रयोग मिलते है। कवि भवानी प्रसाद मिश्र की यह अपनी विशेषना है।

(क) भाव-ध्वनि—उद्बुद्धमात्र स्थायी भाव—

नही तेरे चरणों में

कानन का सौन्दर्य लूट कर,
सुमन इकट्ठे करके,
धो सुरभित नीहार कणों से—
आँचल में मै भर के,
देव! आऊँगा तेरे द्वार!
किन्तु नहीं तेरे चरणों में दूँगा वह उपहार!
खड़ा रहूँगा तेरे आगे
क्षण भर मैं चुपका सा,
लख कर मेरे कुसुम जगेगी—
तेरे उर मे आशा,
देव! आऊँगा तेरे द्वार!
किन्तु नहीं . .
तोड़ मरोड़ फूल अपने में
पथ में बिखराऊँगा,
पैरों से फिर कुचल उन्हें, मैं
पलट चला जाऊँगा!
देव! आऊँगा तेरे द्वार!
किन्तु नहीं. . . .
क्यों? मैने भी तेरे हाथों

सदा यही पाया है –
सदा मुझे जो प्रिय था उसको
तूने ठुकराया है ।
देव ! आऊँगा तेरे द्वार !
किन्तु नही
शायद आँखे भर आये–
आँचल से मुख ढक लूँगा
आँखों में, उर में, क्या है, यह
तुम्हें न दिखने दूँगा !
देव आऊँगा तेरे द्वार ! [1]

आचार्यो के मतानुसार किसी प्रकार का अनौचित्य रसाभास या भावाभास का का कारण है । क्रोध का आलम्बन गुरु अथवा कोई अन्य मान्य व्यक्ति होने से क्रोध भावाभास अथवा रौद्र रसाभास होगा । ससार मे देव से परम मान्य व्यक्तित्व और किसका होगा । प्रस्तुत उदाहरण मे स्वय कवि क्रोध का आश्रय है । 'देव' आलम्बन विभाव है । उसका अब तक का व्यवहार याद कर क्रोध उद्दीप्त होता है अत: स्मृति सचारी है । अर्पण करने के लिये लाए गए फूलो का तोडना–मरोडना बिखेरना और अन्त मे पाँवो तले रौंद कर लौट जाना अनुभाव है । भाव की पुष्टि के लिए पूर्ण सामग्री उपस्थित होने पर भी सब क्रियाएँ भविष्य कालिक होने से उद्बुद्ध मात्र क्रोध स्थायी की प्रतीति होती है । अन्त मे पाश्चात्ताप के वर्णन से भी रस परिपाक मे बाधा पडती है । किन्तु काव्य–शास्त्र की परम्परागत मान्यतानुसार आलम्बनगत अनौचित्य होने से यह उदाहरण क्रोध भावाभास का होगा ।

यदि चर्चा को यही समाप्त कर दिया जाय तो आधुनिक कविता के प्रति अन्याय होगा । इसकी कुछ चर्चा पूर्व पृष्ठो मे हो चुकी है । प्रश्न है कि क्या आज भी अनौचित्य की पुरानी परिभाषा ही बनी रहेगी ? पहले राजा ईश्वर का प्रतिनिधि समझा जाता था अब राजाओं का अस्तित्व ही नही है । प्रकृति के जिन तत्त्वो को अब तक 'देवता' समझकर पूजा जाता था वे जड पदार्थ बन गए है । यहाँ तक कि स्वय ईश्वर की स्थिति बड़ी डाँवाडोल है । वर्षो तक एक समय आधा पेट खाकर जीनेवाला व्यक्ति यदि ईश्वर की सत्ता को अस्वीकार कर समाज की अर्थमूलक व्याख्या करता है तो इसमे अश्चर्य क्या ? आज ईश्वर को चुनौती देना न भयप्रद बात है न अपराध । व्यक्तिवादी भावना व्यक्ति को सर्वोपरि मान देती है । हमारे विचार से आज अनौचित्य का विचार कारण को विशेष आधार मानकर होना

---

१. अज्ञेय : इत्यलम् : पृ० २५

चाहिए न कि आलम्बन को। जीवन भर ससार की घृणा लाछना तथा प्रताडना सहने के बाद भी यदि व्यक्ति ईश्वर को ललकारने से घबराता रहे तो उसकी महत्ता का पता कहाँ लगेगा ?

भाव के अनौचित्य का दूसरा आधार उसकी अभिव्यक्ति का प्रकार है। पुरुष छोटे लडके को क्रोध मे छड़ी से भी मार सकता है पर उसके बडे हो जाने पर डाँटना ही काफी होगा और पत्नी से जरा गम्भीर होकर ही बात करने पर क्रोध का पता लग जायगा। इसी प्रकार पुत्र पिता पर नाराज होने पर घर से निकल जाने की धमकी दे तो क्रोध की पूर्ण अभिव्यक्ति समझनी चाहिये। अतः अभिव्यक्ति की दृष्टि से भी उक्त उदाहरण के अनौचित्य की परीक्षा करे। 'देवता' के प्रति कवि की पूज्य भावना पूर्णतया लुप्त नही हुई है किन्तु वह यह भी प्रकट कर देना चाहता है कि देवता भक्त की हर इच्छा को ठुकराकर भी यह आशा न करे भक्त उसका कोप भाजन बनने के डर से पूजा करता चला ही जायगा। फूलो को पाँव तले रौद कर और बिना पूजा किये ही लौट जाकर औचित्य की सीमा का उल्लघन किये बिना ही कवि ने अपना क्रोध व्यक्त कर दिया है। वह मूर्ति को तोड़ने फोडने की बात करता तो अवश्य अनौचित्य समझा जाता।

इन्ही सब कारणो से उक्त उदाहरण मे हम क्रोध भाव व्यग्य मानते है न कि भावाभास।

हमारी धारणा है कि उन कविताओं मे भावाभास माना जाना चाहिये जिनमे कवि अपनी प्रिया को आलम्बन मानकर अनेक प्रकार की शृंगारिक चेष्टाओं का वर्णन करता है किन्तु आलम्बन का कोई निश्चित स्वरूप सामने नहीं आ पाता। कभी प्रिया इतने विराट् रूप मे सामने आती है कि उसकी कल्पना भी नहीं हो सकती। इसी कारण कविता हृदय को गुदगुदा कर रह जाती है भाव-मग्न नही कर कर पाती। कवि अचल द्वारा रचित 'आज बरसते बादल दिन काटे न कटे।'[१] शीर्षक कविता उदाहरण स्वरूप ली जा सकती है। छायावादी शैली से प्रभावित अनेक कविताओ मे रस या भाव का आभास मात्र मिलता है। इसका कारण है आलम्बन की काल्पनिकता। यदि वह सत्य भी है तो कल्पना से इतना सूक्ष्म तथा आदर्श बना दिया जाता है कि धरती की मासलता नष्ट हो जाती है। कवि दिनकर की 'सात कवच'[२] कविता भी इसी कोटि मे आती है। इसका कथ्य है अपनी प्रिया मोहिनी के यात्रा पर जाने के पहले कवि उसको चुम्बनों का कवच पहिनाता है ताकि वह कही भी जाय सुरक्षित रहे। सभोग शृगार के सभी उपकरण प्रस्तुत हैं। मोहिनी

---

१. वर्षान्त के बादल : पृ० ७६

२. सीपी और शंख : पृ० ४५

आलम्बन विभाव है। अन्तिम रात्रि उद्दीपन विभाव है, भविष्य के प्रति 'आशंका' संचारी है और कवि का व्याकुल होकर सब अगो को चूमते जाना काँपना अनुभाव है। किन्तु मोहिनी क्या है? चुम्बनो का कवच कैसे उसकी रक्षा करेगा? ये सब प्रश्न भाव के सहज शुद्ध परिपाक मे बाधक है।

क— प्रधानतया व्यंजित संचारी भाव —

चूड़ी का टुकड़ा

आज अचानक सूनी सी संध्या में
जब मै यों ही मैले कपड़े देख रहा था
किसी काम मे जी बहलाने
एक सिल्क के कुर्ते की सिलवट में लिपटा
गिरा रेशमी चूड़ी का छोटा सा टुकड़ा
उन गोरी कलाइयों में जो तुम पहिने थीं
रंग-भरी उस मिलन-रात में
मै वैसा का वैसा ही रह गया सोचता
पिछली बातें
दूज-कोर-के उस टुकड़े पर
तिरने लगीं तुम्हारी सब लज्जित तस्बीरे
सेज सुनहली
कसे हुए बन्धन में चूड़ी का झर जाना
निकल गई सपने जैसी वे रातें
याद दिलाने रहा सुहाग-भरा यह टुकड़ा।[1]

कवि स्वय भाव का आश्रय और उसकी पत्नी आलम्बन है। क्षण भर के लिए यहाँ स्मृति से पुष्ट शृगार रस का आभास होता है। किन्तु कविता के आरम्भ मे कवि की उदासी विरहजन्य ही मानने का कोई प्रमाण नही है। इसके कई कारण—अकेला पन, भावी चिन्ता, कार्य मे असफलता—हो सकते हैं। चूड़ी के टुकड़े को देखकर अतीत जीवन की स्मृति मे मग्न हो जाना उस टुकडे के माध्यम से पति-पत्नी के अगाध स्नेह की ओर सकेत है। उसके आगे यदि अभिलाषा चिन्ता उद्वेग आदि का भी सकेत होता है तो रस की अवस्था मानी जा सकती थी। अतः यहाँ स्मृति ही प्रधानतया व्यंजित है।

---

१. **गिरिजाकुमार माथुर : तार सप्तक : सं० अज्ञेय : पृ० ४२**

पीके फूटे आज प्यार के पानी बरसा री !
हरियाली छा गई हमारे सावन सरसा री !

* * *

फिसली सी पगडन्डी खिसली आँख लजीली री
इन्द्रधनुष रंग रँगी आज मैं सहज रँगीली री
रुनझुन बिछिया आज हिला-डुल मेरी बेनी री
ऊँचे ऊँचे पेंग हिंडोला सरग-नसेनी री
और सखी सुन मोर विजन बन दीखे घर सा री ![1]

यह हर्ष भाव-ध्वनि का उदाहरण है। यहाँ हर्ष का वातावरण तैयार किया गया है। हास्य का कोई आलम्बन नही है। हर्ष मन की स्वाभाविक वृत्ति की उन्मुक्त अभिव्यक्ति है। आचार्यो ने अभिलषित वस्तु की प्राप्ति से उत्पन्न सुख को हर्ष कहा है। अभिलषित वस्तुओं की गणना मे देवता पति गुरु स्वामी की प्रसन्नता प्रिय समागम इच्छित वस्तु की प्राप्ति दुर्लभ धन का लाभ और पुत्र-जन्म आदि की गणना की है। उपर्युक्त व्यग्य हर्ष अभीष्ट वस्तु की प्राप्ति की कोटि के अन्तर्गत आएगा। इसका तर्क होगा—ग्रीष्म की भयकरता से व्याकुल वर्षा की इच्छा रखना। किन्तु इससे वर्षा के स्वाभाविक सौन्दर्य का महत्त्व नही रहता। इस ऋतु का वातावरण ही हर्ष को उद्‌बुद्ध करनेवाला है। अतः यह प्रधानतया व्यजित संचारी भाव का उदाहरण है।

एक टक घूर रहीं मुझको बस दीवारें
जी करता उन पर जा यह मत्था दे मारें
चिल्ला कर गूँजों से पत्थर को थर्रा दें
घेरी खामोशी की दीवारें बिखरा दें।
इन मुर्दा महलों की मीनारें हिल जाएँ
इन रोगी ख्यालों की सीमाएँ घुल जाएँ
अन्दर से बाहर आ सदियों की कुठाएँ
बहुत बड़े जीवन की हलचल से मिल जाएँ।[2]

आधुनिक युग मे नये से नये विषयो को आलम्बन बनाया जा रहा है, जिसका यह एक सुन्दर उदाहरण है। निन्दा या अपमान द्वारा प्रेरित 'इसका क्या कर डालूँ' वाली चित्तवृत्ति उग्रता है। क्रोध ही अपनी प्रचण्डता के अभाव मे उग्रता कहलाता

---

१. भवानीप्रसाद मिश्र : दूसरा सप्तक : सं०—अज्ञेय : पृ० १७
२. कुँवर नारायण : तीसरा सप्तक : सं०—अज्ञेय : पृ० २४२

है। यह शास्त्रीय विधान है। इसके कारण भी क्रोध के कारणों की तुलना में साधारण होते है। प्रचण्डता के और कम होने से मौन, अथवा कटु भाषण में अभिव्यक्त होनेवाला भाव अमर्ष है। यो कहे अमर्ष क्रोध की कोमलावस्था है।

हमारे विचार से इन सबकी व्यवस्था देश काल और पात्रानुसार होनी चाहिये। आचार्यो ने भावाद्बोधन के कारणो पर ही विचार किया आश्रय की परिस्थिति पर नही। जो अधिक महत्त्वपूर्ण है। भाव की आन्तरिक स्थिति मे कोई परिवर्तन हुए बिना भी आश्रय की पात्रता उसकी अभिव्यक्ति मे महान अन्तर उपस्थित कर देती है। बात यह है कि आचार्यो ने पात्रो के निश्चित वर्ग कर दिये थे। सभी नाटको के पात्र उन वर्गो के अन्तर्गत आ जाने से भाव-व्यजना मे कोई अन्तर नही आता था। सीधे जीवन से संवेदनाओं को लेकर साहित्य मे अभिव्यक्ति देनेवालो पर सिद्धान्त ज्यों का त्यों लागू नही होता। मध्य युग मे भी जब जीवन अपेक्षाकृत कम जटिल था यदि निन्दा अपमान आदि साधारण अपराधो से उत्पन्न बदला लेने की भावना को उग्रता कहेगे तो इसी बात पर क्षत्रियो के वश के वश नष्ट हो जाने पर भी लड़ते चले जाने की भावना को क्या कहेगे?

उपर्युक्त पक्तियो मे कवि अपने चारों ओर बिखरी उदासी ख़ामोशी तथा नीरस वातावरण से परेशान है। समस्त छायावाद और प्रगतिवाद में लगता है जैसे किसी ने उसे कैद कर दिया हो। उसका जी करता है जोर से चिल्ला पडे और ख़ामोशी की दीवारे टूट जाँय। यहाँ भी आश्रय के मन की भावना है—इस अन्तस् को जकड देनेवाले वातावरण का क्या कर डाले? अतः इन पक्तियो का व्यग्य 'उग्रता' भाव है।

मदन वात्स्यायन की 'स्वस्ति मेरी बेटी'[1] कविता वात्सल्य भाव की सुन्दर रचना है। समस्त छायावाद और प्रगतिवाद मे लगता है वात्सल्यभाव शून्य हो गया है। (हाँ सुभद्रा कुमारी चौहान ने इस ओर अवश्य स्तुत्य प्रयास किया है।) नई धारा की यह देन विशेष महत्त्व रखती है। इसी विषय पर श्री वशीधर पडा की एक रचना उल्लेनीय है।

सूना घर

बोलो तो क्यों चुप हो
ओ अखबारो
फटी किताबो
पड़े खिलौनो
कन्घे के नन्हें से टुकड़ो

---

१. तीसरा सप्तक : पृ० १४१

टूटे शीशो
रेशम के पतले कटपीसो
क्यों चुप हो
कुछ डोलो तो
अरी रबर की भोली गुड्डो
ओ तस्वीरो
बरतन - भाँडो
कागज़ पत्तो
खुन खुन करती नैनमटक्को
बाहर निकलो
जाकर खेलो
दौड़ लगाओ
झगड़ा लाओ
कामकाज से मुझे हटाओ
मार के भागो
मोटर से मुझको घबराओ
क्यों बैठी हो
चलो न बाहर
शोर मचाओ
सिर के ऊपर छत उठाओ
अरी शीशियो
ढक्कन ढूंढ़ो
नहीं उठोगी
सब कुछ जहाँ तहाँ है
कोई तनिक न हिलता
क्योंकि गई है गीता-सूता
मामा के घर ।[1]

बाल बच्चो के चले जाने पर उनसे सम्बन्धित प्रत्येक वस्तु उनकी याद दिलाती है। दीवारो पर वे ही कोयले के निशान बाल बच्चो के चले जाने पर जिन पर कभी उन्हे मारा था अब दिखाई पड़ते ही उदास बना देते है। यहाँ स्मृति से पुष्ट वात्सल्य रस व्यग्य है। जीवन की साधारण से साधारण घटना पर भी दृष्टिपात करनेवाले

१. अप्रकाशित

कवि हृदय पर इन् अमर क्षणों की छाप न पडे ऐसा कैसे हो सकता है। ऐसी कविताओं का महत्त्व यही है कि सन्तान के प्रति लिखी जाने के कारण ये मानवीय संवेदनाओ के प्रति ईमानदार है। इसी प्रकार देश आदि अन्य आलम्बनो को लेकर इस युग में 'यादो' की बाढ सी आ गई है।

नयी अभिव्यजना प्रणाली मे अज्ञेय द्वारा रचित आत्म समर्पण भाव के लिये 'यह दीप अकेला'[1], खीझ के लिए 'सबेरे सबेरे'[2], उत्साह के लिए 'जनाह्वान'[3]; श्रीमती कीर्ति चौधरी की 'अनुपस्थिति'[4] उदासी के लिए, स्मृति तथा उत्साह के लिए भवानी प्रसाद मिश्र की 'घर की याद'[5] और 'आशागीत'[6]; निर्वेद के लिए राजेन्द्र यादव कृत 'एक मनः स्थिति'[7] तथा जुगुप्सा एव भय के अनेक चित्रो के लिए हरि मोहन की 'नये साल पर'[8] कविताएँ उल्लेखनीय हैं।

(ख) भावाभास—

> **पूछते हैं मेघ "क्या बसन्त आ गया?"**
> **हँस रहा समीर "वह छली भुला गया!"**
> **किन्तु मस्त कोंपलें सलज्ज सोचतीं—**
> **हमें कौन स्नेह-स्पर्श कर जगा गया?**
> **वही ऋतुराज आ गया।**[9]

जड़ प्रकृति मे चेतना का आरोप कर परस्पर प्रेम सम्बन्ध स्थापित करना छायावाद युग की परम्परा है। उसी का अनुसरण करते हुए कवि ने इन पक्तियों मे वसन्त ऋतु मे कोपलों के विकसित होने का आलकारिक वर्णन किया है। वसन्तागम पर चतुर्दिक वातावरण कुछ का कुछ हो जाता है। कोपलो का अब तक लुप्त रहना उनकी निद्रावस्था थी। प्रकट होना जाग्रतावस्था है। प्रश्न है उनको जगाया किसने? कोपलो ने नीद मे भी उस स्नेह स्पर्श को पहिचान लिया है। 'वही' पद

---

१. बावरा अहेरी : पृ० ६२
२. हरी घास पर क्षण भर : पृ० ३९
३. तार सप्तक : सं० अज्ञेय : पृ० ७७
४. तीसरा सप्तक : स० अज्ञेय : पृ० ९२
५. गीत फरोश : पृ० १३८
६. वही पृ० १३१
७. नयी कविता—३. सं० जगदीश गुप्त : पृ० ६५
८. नयी कविता १ · सं०—डॉ० जगदीश गुप्त : पृ० ६५
९. अज्ञेय : अरी ओ करुणा प्रभामय . पृ० ५८

से सयोग शृगार को पुष्ट करनेवाला हर्ष भाव ध्वनित है। किन्तु कोपलो तथा वसन्त ऋतु के निरिन्द्रिय होने से यह भावाभास के अन्तर्गत जाएगा। यहाँ 'सलज्ज' पद से कोपलो की लाली भी व्यग्य है। अतः यह कविप्रौढोक्तिसिद्ध पदगत वस्तु से वस्तु-ध्वनि का उदाहरण भी है।

कितनी तीखी धूप पड़ रही, मै मार्ग, किसी का हो न सका
मै घर बनकर रह नहीं सका, मै ताप किसी का खो न सका
यह तपी धूप उड़ती जाती कुछ सूखे पत्ते लिए हुए
मै मार्ग शोक भी रख न सका पत्थर की छाती दिए हुए।[1]

इन पक्तियों मे भी मार्ग निरिन्द्रिय होने के कारण से उसमे प्रदर्शित हर भाव आरोपित होगा। इस बात को पाठक नही भूल सकता कि मार्ग स्वय मे जड़ है। मार्ग किसी को आश्रय नही दे सकता। किसी की थकान नही मिटा सकता। छाती पत्थर की होने के नाते हृदय मे शोक तक नही रख सकता। उसे यही दुःख है इसी की ग्लानि है। सब उपकरण होते हुए भी आश्रय की निष्प्राणता के कारण भाव का आभास मात्र मिलता है।

अर्थ-शक्ति प्रकाश्य

अभिधामूला संलक्ष्यक्रम ध्वनि स्वतः सम्भवी

पदगत वस्तु से वस्तु-ध्वनि—

बादल चले जा रहे
भरे भरे पोखर तालों में काँप रही उजली परछाहीं
धान बिदा दे रहे स्तब्ध क्षण भर छाँहों को दे गलबाँहीं
प्रीति पिला परदेशी चले
रहे नयना मतवारे—
बादल चले जा रहे।[2]

वर्षा ऋतु के बाद का चित्र है। पानी से भरे बादल अब रिक्त हो लौटे चले जा रहे है। भरे भरे पोखर और ताल इसके प्रमाण है कि इससे पूर्व खूब वर्षा हो चुकी है। उनमे पड़नेवाली उजली परछाँही बादलो की ही है। 'उजली' पद से वर्षा ऋतु के बाद के सफेद बादलो का अर्थ प्राप्त होता है। इसी प्रकार 'क्षण भर' पद व्यंजक है। धान छाँहों को गलबाँही दे रहे है यह पर्यायोक्त अलकार द्वारा बादलो की धान के खेतो पर पड़नेवाली परछाँही का वर्णन है। 'क्षण भर' पद यह संकेत करता है

---

१. भवानी प्रसाद मिश्र : गीत फरोश : पृ० १५
२. रामदरस मिश्र : नयी कविताएँ ३. सं० डॉ० जगदीश गुप्त : पृ० ६९

कि बादल हल्के होने के कारण जल्दी जल्दी उड़े चले जा रहे हैं। इस प्रकार दोनो पदो मे 'रूप' एव 'व्यापार' वस्तु से शरद ऋतु के बादल 'पदार्थ' वस्तु व्यग्य है जिससे शरद ऋतु व्यग्य है।

वह ईश्वर है
वह ज्ञाता है
दानवता से रौंदे जाते मनुष्यता का प्रतिनिधि है
वह कलाकार जो गाता है
जो केवल गाता है।[1]

कविता का शीर्षक है 'कवि गाता है' सम्पूर्ण कविता आधुनिक कवियो के एक विशिष्ट वर्ग, जो सेठो के आश्रय मे पलता है, पर छीटा है। इसका कथ्य है—कही राजा साहब या नेता या सरकारी अफसर आते है। उनके स्वागत मे किसी सेठ के घर दावत होती है। वही कवि महोदय को भी बुलाया जाता है। आशा की जाती है कि अन्य मनोरजक कार्यक्रमो के बीच वे भी एक कविता के सस्वर पाठ द्वारा मनोरजन करें। समाज की यह धारणा कि कवि दलित वर्ग का प्रतिनिधित्व करने वाला है और कहाँ वह मनोरजन करता है जनता को रौदनेवालों का। उसके व्यक्तित्व मे दिखाई देनेवाले इस विरोधाभास को कवि इन पक्तियों में सुलझाता है। कवि अब ऐसा कलाकार रह गया है जो केवल गाता है। यहाँ 'केवल' पद विशेष अर्थ व्यंजक है। कविता में सगीत का गुण आरम्भ से ही विद्यमान है। किन्तु मूलत. वह अर्थ प्रधान है सगीत प्रधान नही। कविता मे रस-निष्पत्ति अर्थ सम्भवा है। किन्तु नेता, राजा साहब या सरकारी आफिसर जो मनोरंजनार्थ कविता सुनते है उसके अर्थ को न समझते हुए कहने के ढग में आनन्द लेते है। इसके अतिरिक्त कवि भी 'उन्हे' सुनाने के लिए ठकुरसुहाती बात ही लिखता है। उनके अत्याचारों के विरुद्ध उठनेवाली आवाज़ वहाँ स्थान नही पाती। तात्पर्य यह कि ऐसे कवि की कविता मे नाजुक खयाली होती है जनता की आवाज़ नही। कवि अपने उत्तरदायित्व को भूल जाता है। वह कवि न रहकर मिरासी हो गया है। यह सब जनता की हीन दशा की ओर सकेत है जिसकी व्यंजना 'केवल' पद कर रहा है।

अब हम व्यजना की नव्य पद्धति का उल्लेख करते हैं। इसकी परम्परा निश्चित रूप से विदेशी है। डॉ० जगदीश गुप्त ने 'थाह' शीर्षक कविता का आरम्भ यो किया है—

अंधेरा घुप्
ताल का तट चुप्

---

१. नेमिचन्द्र : तार सप्तक : सं० अज्ञेय : पृ० २५

एक कंकड़ डुप् !
दूसरा डुप् !!
तीसरा डुप् !!![१]

'धुप अधेरा' ताल के आस पास घना जगल, 'चुप' वहाँ की निर्जनता और तीनो 'डुप्' पद ताल का बहुत गहरा होना व्यजित करते है। 'डुप' पद से वहाँ की गहरी नीरवता भी व्यग्य है। इस भाँति स्थान विशेष का वातावरण इन पक्तियो में ध्वनित है। यही इनका लक्ष्य है।

यह वास्तव मे जापानी कवि बाशो की कविता 'ताल' का अनुवाद मात्र है। श्री अज्ञेय ने इसका अनुवाद यों किया है—

ताल पुराना
कूदा दादुर
— गुडुप।[२]

कविवर रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने इस जापानी कविता की आलोचना मे लिखा है—'बस अधिक की ज़रूरत नही जापानी पाठक का मन आँखों से भरा है। पुराना तालाब बहुत दिनों से परित्यक्त है अतएव निस्तब्ध अंधकार है। उसी मे एक मेढक उछलता है। उसकी आवाज सुनाई दे जाती है। सुनाई दे गई इसी से समझा जा सकता है कि तालाब मे कैसी निस्तब्ध नीरवता है। इस पुराने तालाब का चित्र किस प्रकार मन मे खीच लेना होगा इसी की ओर कवि ने इशारा कर दिया बस। इससे अधिक अनावश्यक है।'[३] श्री अज्ञेय ने 'अरी ओ करुणा प्रभामय' में जापानी कविताओं के ऐसे अनेक प्रयोगो का अनुवाद किया है।

वातावरण ध्वनित करने की यह पद्धति यद्यपि नयी है तथापि इसमे वस्तु-ग्रहण के पश्चात् भी कोई आनन्द नही मिलता। आचार्यों ने वस्तु-ध्वनि को भी श्रेष्ठ काव्य में इसलिए स्थान दिया है क्योकि उसके चमत्कार मे भी मन रंजन की पूर्ण क्षमता होती है। यदि उसमें यह न हो तो वह ध्वनि का विषय हो ही नहीं सकता।

पदगत अलकार से वस्तु-ध्वनि—

संध्या-सी हँसी, सुबह से मन
सूरज से रंग, किरन से तन,

---

१ शब्द दंश : पृ० ३५

२ अरी ओ करुणा प्रभामय : पृ० १०६

३ हज़ारी प्रसाद द्विवेदी की व्याख्यान माला 'साहित्य का मर्म' से उद्धृत : पृ० २३

ये उज्ज्वल मिट्टी के नीचे
ये कोमल मिट्टी के नीचे।[1]

लुप्तोपमाओ की एक लडी सी बाँधते जाना छायावादी शैली का प्रभाव है। इसका चरम रूप वहाँ देखने में आता है जहाँ एक ही धर्म के लिए अनेक उपमानों की योजना होती है। प्रस्तुत पंक्ति का विषय बालक है। श्मशान की मिट्टी मे वे बालक भी दबे पडे है जिनके तन और मन दिव्य थे। हँसी उपमेय, सध्या उपमान और 'सी' वाचक है। धर्म लुप्त होने से पाठक अपनी कल्पना से उसकी पूर्ति करता है। सध्या सी सबको अपने रंग मे रग लेनेवाली, सबको आकर्षित कर लेनेवाली। सुबह-सा सौम्य प्रेम की उष्णता मात्र लिए मन। सूरज सा उजला रग और किरन सा कोमल तन। इस प्रकार उक्त पक्तियो की व्याख्या करने पर उनका सौन्दर्य स्पष्ट होगा।

ऐसे प्रसगो मे अनेक बार ऐसा भी होता है कि समस्त कोमल उपमान इक्ट्ठा रख दिये जाते है जिनका लक्ष्य कोमल प्रभाव उत्पन्न करने के सिवाय और कुछ नही होता। उक्त पक्तियो मे हंसी और तन के लिए लाए गए उपमानों मे प्रभाव साम्य पर भी ध्यान दिया गया है। सध्या या किरन को देखकर जैसे हम बिना कुछ पाये भी प्रसन्न हो जाते है। वह आनन्द निःस्वार्थ है शुद्ध है। उसी प्रकार बालक को या उसकी हँसी देखने से प्राप्त आनन्द भी शुद्ध होता है। इस तरह यह अलंकारों से 'रूप' एवं 'धर्म' वस्तु ध्वनि का उदाहरण सिद्ध होता है।

कुछ उपमानो का धर्म उपमेय को देखते हुए बदलता रहता है। 'किरन' ऐसा ही उपमान है। ऊपर यह कोमलता का अर्थ देता है किन्तु प्रयोग विशेषानुसार वह पतलापन, सफेदी, लाली, चमक आदि के लिए भी आ सकता है। जैसे—

गुलाबी नख
किरन की डोर – सी चूड़ी।[2]

मे किरन चूड़ी के पतलेपन के साथ साथ लाल रग की ध्वनि भी देती है।

उम्र सलोनी ठिठके सुमन विकास–सी
मेघ दबे उजियाले के आभास – सी।[3]

पुराने उपमानों को नये ढग से सजाने पर जो सौन्दर्य उभरता है यह उसका एक विशिष्ट उदाहरण है। कन्या के लिए कली और युवती के लिए पुष्प का प्रयोग

---

१. भवानी प्रसाद मिश्र : गीतफरोश : पृ० ६४
२ राजेन्द्र यादव : आवाज़ तेरी है : पृ० २४
३. गिरिजा कुमार माथुर : धूप के धन : पृ० १२६

गीत जिस भाव को लेकर लिखा जाता है उसका आभास प्रथम पक्ति मे ही मिल जाता है। बीच की पक्तियो मे उसका पल्लवन होता है। सम्पूर्ण प्रभाव को पूर्णता (फिनिशिंग टच) प्रदान करने के लिए अन्तिम पक्ति अत्यन्त सशक्त होती है। वह गीत की एक कड़ी होते हुए भी शेष से बहुत भिन्न होती है। यो कहे उसमे समस्त गीत का सार सम्पुटित होकर व्यक्त होता है। प्रथम पक्ति से टक्कर लेनेवाली अन्तिम पक्ति ही होती है। मतला और मकता इन्ही दो स्तम्भो पर गजल की पूरी थूनी टिकी होती है। अत ध्वन्यर्थ हुआ – जीवन मे जो मिठास लौटी है वह अब तक के जीवन के सम्पूर्ण सार को लेकर आई है।

नोन-तेल लकड़ी की फिक्र में लगे घुन-से
मकड़ी के जाल-से कोल्हू के बैल-से।
मकाँ नहीं रहने को, फिर भी ये धुन से
गन्दे अँधियारे और बदबू भरे दड़बों मे
जनते है बच्चे।[1]

प्रयोगवादी कवि की अप्रस्तुत योजना का क्षेत्र कितना विशाल है ये पक्तियाँ स्पष्ट कर देती है। निम्न वर्ग के व्यक्तियों की मनःस्थिति का यह विशद् चित्र है। ये दिन-रात शरीर की मात्र आवश्यकताओ को जुटाने मे ही लगे रहते है। ससार मे क्या हो रहा है इसकी उन्हे कोई खबर नही। इनके तीन सौ पैंसठ दिनो मे से थोड़ा सा समय भी परमार्थ मे नही लगता। इस अति की ओर सकेत करनेवाले कवि ने तीन उपमान रखे है—"घुन" 'मकड़ी का जाला'[2] और 'कोल्हू का बैल'। घुन और बैल दोनो ही निम्न श्रेणी के जन्तु है। नोन-तेल-लकडी की चिन्ता मे रहनेवाले व्यक्ति केवल आकार से ही मनुष्य है कर्म से पशुओ और कीड़ो की श्रेणी मे जाते है। इन अलकारो से इस वर्ग के व्यक्तियो का हीन जीवन व्यग्य है।

वाक्यगत वस्तु से वस्तु-ध्वनि—

हरे भरे है खेत
मगर खलिहान नही
बहुत महतो का मान
मगर दो मुट्ठी धान नहीं।[3]

---

१. प्रभाकर माचवे : तार सप्तक : स०—अज्ञेय : पृ० ५६
२. हमारे विचार से 'मकड़ी का जाला 'दोषपूर्ण प्रयोग है क्योंकि सचेतन वस्तु मकड़ी है न कि उसका जाला।
३. अज्ञेय · अरी ओ करुणा प्रभामय : पृ० ४१

यह केवल चार पक्तियो की ही कविता है जिसे मुक्तक भी कहा जा सकता है। गाँव के महतो अपनी वश परम्परा की प्रतिष्ठा के बल पर अब भी सम्मानित व्यक्ति समझे जाते है किन्तु उसमे मात्र आडम्बर रह गया है। व्यवहार मे उनसे कोई रियायत नही बरती जाती। इसका प्रत्यक्ष उदाहरण देते हुए कवि कहता है कि महतो के पास खेत हैं उनमें अन्न भी उगता है किन्तु फसल खड़ी बिक जाती है। गाँव में प्रतिष्ठित होने पर भी घर मे दो मुट्ठी अन्न नही है। इस विरोधाभास का स्पष्टीकरण यों है—

कुल की प्रतिष्ठा बनाए रखने के लिए महतो को हर 'कारज' में काफी रूपया खर्च करना पड़ता है। दूसरी ओर सम्मिलित कुटुम्ब के टूटने से जमीन बँट गई है। परिणामस्वरूप आय कम हो गई व्यय उतना ही रहा। प्रतिष्ठा के लिए साहू जी से उधार लिया जो सूद दर सूद बढ़ते कई गुना हो गया है। अत. फसल के मौक़े पर साहु जी खड़ी फसल खरीद लेते है। जमीदार कारिंदा भी खेत पर से लगान वसूल कर ले जाता है। नेगी भी वही आकर अपना भाग बँटा ले जाते है। अन्त मे महतो के पास ऐसा कुछ भी नही बचता जिसके लिए खलिहान बनाने की आवश्यकता हो। हरे-भरे खेत होने पर भी खलिहान न होने का यही कारण है। इससे महतो वर्ग की जर्जर दशा व्यंग्य है।

मृनालों सी मुलायम बाँह ने सीखी नहीं उलझन।[1]

यह मुग्धा नायिका का वर्णन है। नायिका की वाहों ने किसी को वाहों में भर लेना नहीं सीखा है। नायिका वर्ग मे आ जाने के कारण पात्र बालिका नहीं है कि उस पर अनभिज्ञता का आरोप लगाया जा सके। दूसरा कारण लज्जाधिक्य हो सकता है। कवि का अभीष्ट अर्थ यही है। अंगी के लिए अंग का प्रयोग करने के कारण यह यद्यपि लक्षणा का विषय भी है किन्तु ध्वनि का सौन्दर्य मुख्यार्थ बाध जन्य नही है। इसीलिए हम इसे अभिधामूला अर्थ-शक्ति-उद्भव ध्वनि मानने के पक्ष मे है। व्यग्य है नायिका की मुग्धावस्था।

रात में जब छा चुका खंडहर तिमिर में
तिमिर खंडहर मे
घूमते उस काँपती-सी वायु के स्वर में
अकेले गीत।[2]

पहले वातावरण से ध्वनित होने की चर्चा कर आए है। इसी से मिलती जुलती यह चाक्षुष चित्र-ध्वनि है। अन्धकार का सब वस्तुओ को घेर लेना एक साधारण घटना

---

१. धर्मवीर भारती : दूसरा सप्तक : स०-अज्ञेय : पृ० १८४
२. गजानन मुक्तिबोध : तार सप्तक : सं०-अज्ञेय : पृ० १९

है। उसी को चमत्कारी ढग से प्रस्तुत किया गया है। खंडहर तिमिर में समा गया और तिमिर खडहर में समा गया दोनों एक हो गए। दृश्य को दूसरे शब्दो में वर्णित नही किया जा सकता।

'दया कीजिए जेंटिलमैन .... .'
और लगेगा झूठा जिसके सर का दर्द
क्योंकि अभ्यास नहीं है अभी उसे सच के अभिनय का।[1]

'महानगर : रात' शीर्षक रचना से उद्धृत इन पक्तियो मे आधुनिक सभ्यता पर कटाक्ष किया गया है। आडम्बरपूर्ण ससार की कुछ ऐसी प्रथा हो गई है कि सच बात झूठ लगती है और विशेष ढग से कहा गया झूठ सच समझा जाता है। जनता दिखावे को देखने की इतनी अभ्यस्त होगई है कि सच की पहिचान ही खो गई है उधर भिखारिन को ऐसे अभिनय का अभ्यास नही है कि उसकी हीनता सच प्रतीत हो। सच सच जान पड़े इसके लिए भी अभिनय की विशेष शिक्षा की आवश्यकता है। इससे आधुनिक सभ्यता की अभिनयात्मक प्रवृत्ति, बनावटीपन व्यग्य है। आडम्बर को सच समझकर प्रश्रय देनेवाली और सत्य को झूठ समझनेवाली इस सस्कृति को सस्कृति क्यों कहा जाय ? कवि सर्वेश्वर दयाल सक्सेना की "सौन्दर्य बोध" कविता की निम्न पक्तियाँ भी इसी अर्थ को ध्वनित करती है—

आज की दुनिया में
विवशता,
भूख,
मृत्यु,
सब सजाने के बाद ही
पहचानी जा सकती है।[2]

सभ्यता के अप्राकृतिक आचार–विचार पर इससे बड़ा व्यग्य और क्या हो सकता है।

सिनेमा की एक कड़ी गुनगुनाती हुई
पानी मिला दूध, मुन्नी नाच-नाच पीने लगी।[3]

जीवन की आवश्यकताओ का स्वरूप इतना बदल गया है कि नयी पीढी को उसकी परख ही नही रही है। पहली पक्ति भारतीय समाज पर फिल्मी जगत की

---

१. अज्ञेय : नयी कविता ३ : सं०-डॉ० जगदीश गुप्त : पृ० ९९
२. नयी कविता ३ · सं०-डॉ० जगदीश गुप्त : पृ०८६
३. श्रीराम वर्मा . नयी कविता ४ सं०-डॉ० जगदीश गुप्त :पृ० ११०

गहरी छाप ध्वनित करती है। सब प्रकार के ज्ञान से हीन बच्चे भी फिल्मी गीतों का ज्ञान अवश्य रखते है। और उनको दुहराने मे शान समझते है। माँ-बाप सुन-सुन कर प्रसन्न होते है। दूसरी पक्ति मे मध्यम और निम्न वर्ग की मजबूरियाँ व्यग्य है। मुन्नी को दूध पीने का शौक है। माँ-बाप उसे पर्याप्त दूध नही दे पाते लेकिन बच्ची का मन रखना भी जरूरी है। एक ओर वात्सल्य दूसरी ओर अर्थाभाव। दोनो का समाधान वे दूध मे पानी मिलाकर देते है। उधर बच्ची ने कभी शुद्ध दूध पिया ही नही है इसलिए पानी मिले दूध को पीकर ही प्रसन्न हो गई है। इस तरह दोनो वाक्य अलग अलग भारत के नैतिक और आर्थिक स्तर को ध्वनित कर रहे है।

पदगत वस्तु से अलकार-ध्वनि—

युद्ध ठना मोती की लड़ियों से
दूबों के पानी का[1]

दूब पर बिखरी ओस-बूँदे मोतियो सी चमक रही है। इसी को 'व्यापार' वस्तु के माध्यम से कवि कहता है। कवि यह मानने के लिए तैयार नही है कि ओस कण, उपमेय, मोतियो, उपमान, से कम चमकीले हैं। उपमान उपमेय से श्रेष्ठ नही है इस लिए प्रतीप अलंकार व्यंग्य हुआ। दोनो मे समानता का भाव व्यक्त करने वाला 'युद्ध' पद है। युद्ध समान व्यक्तियों मे ही छिड़ सकता है। जब दोनो में से कोई भी झुकने के लिए तैयार न हो।

मीत की मुसकान के आलोक में
कट जाय यदि मेरा सफर
तो क्यों हो अपेक्षित देवताओ की नज़र?[2]

मनुष्य देवताओ की कृपा का आकाक्षी इसीलिए होता है ताकि उसका जीवन सुखपूर्वक कट जाय। इसके लिए न जाने कितनी साधना करता है। यदि वही काम किसी और के द्वारा सरलता से हो सके तो देवताओं की आराधना कौन करे? कवि कहता है कि मेरे सुहृद की कृपा-दृष्टि देवताओ की कृपा-दृष्टि के समान ही सुख-दायिनी है किन्तु विशेषता यह है कि वह बिना साधना के ही प्राप्त हो जाती है। उपमेय अपनी इस विशेषता के कारण उपमान से श्रेष्ठ है, इससे व्यतिरेक अलकार सिद्ध है।

वाक्यगत अलंकार से अलंकार-ध्वनि—

पति सेवा रत साँझ

---

१. माखनलाल चतुर्वेदी : वेणु लो गूँजे धरा : पृ० ३
२. डॉ० देवराज : उर्वशी ने कहा : पृ० ५६

उचकता देख पराया चाँद
लजा कर ओट हो गई ।[1]

उषा, सध्या का वैदिककालीन आलकारिक वर्णन इस युग मे पुनर्जीवित हुआ है। पर सभी कविताओ मे यह वर्णन सौन्दर्यपूर्ण ही हुआ हो सो बात नही है। मदन वात्स्यायन ने इसे कभी 'पूरब की डायन' कभी 'उषा देवता' तो कभी 'रोशनी की बेटी' के रूप मे देखा है।[2] मलयज सुबह को आकाश रूप गाय दुहने वाला ग्वाला समझते है।[3] गिरिजाकुमार माथुर धूप के स्थान पर उजले ऊन का शाल पहने नायिका देखते है।[4]

उपर्युक्त पक्तियो मे सध्या एक पतिपरायणा नारी के रूप मे उपस्थित होती है। सध्या सूर्यरूपी पति की सेवा कर रही है। सदा का धृष्ट पाप बुद्धि चाँद उलक कर उसके सौन्दर्य को देखने लगा। पराए पुरुष द्वारा देखे जाने पर नायिका लज्जित होकर छिप गई। प्रस्तुत के कथन द्वारा अप्रस्तुत की ओर सकेत समासोक्ति अलकार है। उसके तीन प्रकारो मे से यह दूसरा प्रकार है जिसमे गुण या क्रिया साम्य के आधार पर अप्रस्तुत का आभास होता है। यहाँ चाँद के प्रतिनायक और साँझ में पतिव्रता का आरोप क्रिया के आधार पर है। प्रस्तुत विषय है—साँझ का रक्तिम वर्ण, पूर्णिमा के चन्द्र का उदित होना और रात्रि का आगमन। सध्या समय के गत्यात्मक सौन्दर्य का इस प्रकार वर्णन हुआ है कि हमारे सम्मुख नायिका नायक और प्रतिनायक की क्रियाओं का चित्र भी उपस्थित हो जाता है।

किन्तु अभीष्ट अर्थ इतना ही नही है, कवि वस्तुतः सध्या की लाली की ओर ही हमारा ध्यान आकृष्ट करना चाहता है। सीधे-सीधे यो न कहकर कि यह लाली किसी कुलशीला नायिका के गालो पर आई अरुणिमा के समान है वह समासोक्ति का आश्रय लेता है। सामान्यतः नायिका के आरक्त कपोल उपमेय और सध्या उपमान बनते हैं। यहाँ इसका उल्टा हुआ है। सध्या की लाली कपोलो की अरुणिमा के समान अभीष्ट होने से प्रथम प्रतीप व्यग्य है। अतएव यह समासोक्ति अलंकार से प्रतीप अलकार-ध्वनि का उदाहरण सिद्ध होता है।

वाक्यगत अलंकार से वस्तु-ध्वनि—

मेरे
उनके मन का भी तो

---

१. अज्ञेय : अरी ओ करुणा प्रभामय . पृ० ६७

२. 'उषा-स्तवन' : तीसरा सप्तक : सं०—अज्ञेय : पृ० १२९

३. नयी कविता ४ : सं०—डॉ० जगदीश गुप्त : पृ० ६६

४. धूप के धान : पृ० ७२

दुर्दैव बस यही हाल हुआ—
हम मिले
और यों बिछड़ गए,
जैसे मिल कट जाते पतंग ।[1]

लेखक अपने और अपने मित्र के क्षण भर मिलन और फिर सदैव के लिए बिछोह की व्यजना के लिए वाक्यार्थोपमा की सहायता लेता है। दो उड़ती हुई पतगे कट कर एक दूसरे से इतनी दूर जा पड़ती है कि फिर मिलना असम्भव हो जाता है। इससे ससार का यह शाश्वत नियम कि आजीवन कोई साथ नही देता व्यग्य है।

देखकर तुमको न छूने की पिपासा शान्त होती
कूल को पाकर निकट विह्वल लहर उद्भ्रांत होती ।[2]

इसका सामान्य अर्थ होगा—प्रिया को देखकर उसे छूने की इच्छा और बलवती हो जाती है। प्रेमी सोचता है यदि इतना निकट आने पर भी स्पर्श सुख नही पा सका तो कब पाऊँगा। दूसरे शब्दों मे दर्शन की इच्छा को और बल मिलता है। अपनी इसी व्याकुलता को स्पष्ट करने के लिए कवि उदाहरण देता है—किनारे के समीप पहुँचकर लहर और अधिक पागल हो जाती है। जहाँ दो वाक्यों मे आए हुए उपमेय और उपमान के धर्मो का बिम्ब प्रतिबिम्ब भाव हो वहाँ 'दृष्टान्तालंकार' कहा गया है। यहाँ 'पिपासा शान्त न होना' और 'उद्भ्रान्त होना' दोनो मे बिम्ब प्रतिबिम्ब भाव है। व्यंग्यार्थ है—प्रिये जब तुमने दर्शन दिये है तो थोड़ी कृपा और करो कि इतने निकट आ जाओ कि तुम्हे स्पर्श कर सकूँ।

अब तक जो चुप थी देह
ज़रा मुस्कुराई

*

ऐसी मुस्कान कि जैसे
चाँदनी छाई

*

ज्यों शून्य गगन सहसा धरती बन जाए
बे शक्ल हवा रसवती कली हो जाए

---

१. कृष्णचन्द्र : प्रतीक : अप्रैल-मई १९५१

२. अंचल : वर्षान्त के बादल : पृ० ८४

मधु ध्यान प्रिया का स्वयं प्रिया बन जाए
तस्वीर फ्रेम से उतरे चलकर आए
*　　*　　*
उत्तर में फिर आवाज़ देह की बोली
सब रचना कला-सृष्टि की सिहरी डोली
*　　*　　*
हो गई वनस्पति सुमनवती अलबेली
धरती सिहरी ज्यों उरजो हुई नवेली ।[1]

'देह की आवाज़' कविता के इस अश मे प्रभाव साम्य के आधार पर नियोजित उपमानो की अत्यन्त सुन्दर शृखला निबद्ध है। उपमेय दो है—देह की 'मुस्कान' और देह की 'आवाज़'। मुस्कान की तुलना मे सर्व प्रथम 'चाँदनी' उपमान है। दोनो के बीच 'शुभ्रता' 'स्निग्धता' साधारण धर्म अव्यक्त है। उसके बाद की चारो पक्तियों मे 'चमत्कार की प्रधानता' साधारण धर्म है जिसके आधार पर वे मुस्कान की तुलना मे आए है। जैसे शून्य गगन का सहसा धरती बन जाना जितनी आश्चर्यजनक और समस्त चित्तवृत्तियो को आकर्षित करनेवाली घटना हो सकती है। उतनी ही मोहमयी देह की मुसकान थी। इसी तरह बेशक्ल हवा का रसवती हो जाना, प्रिया के ध्यान का साक्षात् प्रिया हो जाना और तस्वीर का फ्रेम से उतरकर चले आना आदि उदाहरण भी मोहमयी माया के गुण के आधार पर ही मुसकान की तुलना कर सकते है। प्रथम विशिष्ट उपमान रूप वाक्य के लिए शेष विशिष्ट उपमान रूप वाक्य आने से वाक्यार्थोपमा अलंकार है। इससे मुसकान की विलक्षणता ध्वनित है।

'देह की 'आवाज' भी उतनी ही चमत्कारपूर्ण है क्योकि उसे सुनकर भी समस्त सृष्टि सिहर उठी है। वनस्पति 'सुमनवती' (युवाकाल को प्राप्त) हो गई है। नाना प्रकार की वनस्पतियो का उग आना ही धरती की सिहरन है। इस सिहरन के लिए कवि उपमान वाक्य 'उरजो हुई नवेली' की योजना करता है। युवावस्था को प्राप्त नायिका जैसे उरोजो के स्पर्श से रोमांचित हो उठती है उसी प्रकार सुमनवती वनस्पति मे नये नये अकुर फूट निकले है। यहाँ सिहरी साधारण धर्म होने से उपमा अलकार है। इन वाक्यो से प्राप्त ध्वन्यर्थ है—संसार का सबसे बडा चमत्कार देह है। ससार की सारी रगीनी उसी में है।

प्रबन्धगत ध्वनि—

प्रयोगवाद युग मे काव्य के विषयों मे जितना विस्तार हुआ उतना पहले कभी नहीं हुआ था। इसके दो कारण थे—(१) छायावादी और प्रगतिवादी विषय इतने

१. धूप के धान : पृ० १२०-१२१

पुराने नही हो गए थे कि कवियो का उनके प्रति मोह न रहता और (२) नये विषयो पर कविता लिख सौन्दर्य बोध के नवीन स्तरो की घोषणा करना। पुराने विषयो को ग्रहण करने का एक कारण और भी था—हर वस्तु को देखने का नवीन बुद्धिवादी दृष्टिकोण।

कविता पार्थिव धरातल पर तो पहले ही उतर आई थी किन्तु दृष्टिकोण संकुचित होने के कारण विस्तार नहीं पा सकी थी इस युग मे उसे विस्तार तो मिला किन्तु कही कही वह अनावश्यक हो गया। चूँकि कविता लिखनी है इसलिए कभी कुछ नही मिला तो भदेस को ही चुन लिया। शहरी जीवन से उकताए हुए गॉवो की ओर चले या सम्भवत. देश भक्ति की ज्यादा झोक मे आकर 'भारत माता ग्राम वासिनी' से प्रेरणा ली हो। कुछ अपनी मजबूरियो और नगपने को ही दिखाने मे शान समझते रहे। शेष बुद्धि के हथकण्डे दिखाना चाहते थे। इन सभी क्षेत्रो मे सच्ची कविता के साथ साथ कविता के नाम पर तुकबन्दियाँ और मज़ाक हुआ है। 'अगर कही मैं तोता होता' और 'ब्रह्ममुहूर्त'किंचित् कवितायें नही मूर्खता का प्रदर्शन हैं।

विवेचनार्थ इस धारा की रचनाये निम्न वर्गों मे विभाजित की जा सकती है:-

१—**प्रकृति वर्णन**—इसयुग मे प्रकृति वर्णन पर सर्वाधिक रचनाएँ मिलती है। ग्रीष्म वर्षा शरद उषा दुपहर सध्या रात्रि सभी ऋतुओं और कालों का वर्णन है तो भी पंत जैसा पावस का बिम्बग्राही और गत्यात्मक चित्र कही देखने को नही मिलता। लक्ष्मीकांत वर्मा की 'बौनों की गठरी' प्रयागनारायण की 'नयी बरसात' गिरिजा कुमार माथुर की 'सावन के बादल' सभी में वस्तुपरक चित्र के स्थान पर एक चामत्कारिक निबन्धात्मकता मिलती है। हाँ गिरिजाकुमार माथुर ने संगीत के बल पर इसकी बौद्धिकता अवश्य कम की है। प्रकृति चित्रों मे पात्रो की योजना एक नवीन प्रयोग अवश्य है किन्तु उससे चित्र की एकता अवश्य टूट जाती है। इस दिशा मे रामदरस मिश्र की 'बादल चले जा रहे' अधिक सफल है। सम्भव है कवियों का शुद्ध चित्र देने का उद्देश्य ही न रहा हो। पर्यवेक्षण की प्रतिक्रियाओ को सजाकर ही ऋतुचित्र बनाना इस युग की परम्परा है। यह नवीन दृष्टिकोण के परिणामस्वरूप सामने आई। तो भी परम्परया और स्वतः सम्भवी सुन्दर उपमेय के लिए प्रसिद्ध कुरूप वस्तु उपमान स्वरूप ले आना (जैसे उषा के लिए डायन का प्रयोग) सामान्य पाठक मे सौन्दर्य बोध नही जगा सकता। कविता विशिष्ट वर्ग के लिए ही लिखी गई हो तो बात दूसरी है।

इन कवियों पर जहाँ यह आरोप सत्य है कि इन्होंने अधिकांश खण्ड चित्र दिये है वहाँ ये इस श्रेय के अधिकारी भी है कि इन्होने सभी पहलुओं से प्रकृति-निरीक्षण किया है।

२—**समाज के सामान्य व्यक्ति का उपेक्षित जीवन एव तज्जनित कुण्ठाओं तथा मजबूरियों का आत्मपरक शैली में वर्णन**—प्राचीन काल से अब तक चली आती हुई सामन्तवादी तथा साम्राज्यवादी शासन प्रणाली मे सामान्य व्यक्ति का कोई महत्त्व नही था — लोकतत्र ने सर्वप्रथम उसी का महत्त्व प्रतिष्ठित किया। यह सिद्धान्त क्रिया रूप मे चाहे बहुत कम परिणत हुआ हो किन्तु समाज मे यह चेतना तो जागी कि सामान्य व्यक्ति कितना महत्त्वपूर्ण है।

युग युग की उपेक्षा से सामान्य व्यक्ति कुण्ठाग्रस्त हो गया है। सदा से जिसकी योजनाएँ असफल होती आ रही हों, सपने कुचले जा रहे हो वह निश्चित ही स्वय को दीन-हीन अनुभव करेगा और साथ ही विद्रोही भी बन जायगा। आँवे की भाँति हृदय की अपार अग्नि–राशि को प्रकट भले न होने दे किन्तु उससे मुक्ति नही पा सकता। अधिकतर मध्यम वर्ग इस स्थिति मे है। सम्पन्न वर्ग पहले से सशक्त है निम्न वर्ग को राजकीय रक्षा प्राप्त हो गई है। रह गया है मध्मय वर्ग जो त्रिशकु की भाँति दोनो ओर के लाभो से वचित है। कवियों के लिए यह वर्ग बचपन से जाना पहिचाना है। यही कारण है कि कविताओं मे इसकी बड़ी व्यापक व्यजना हुई है। कोई भी विषय हो प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से इसी ओर सकेत करता मिलेगा। प्रधानत इसकी अभिव्यक्ति करनेवालो मे डॉ० जगदीश गुप्त, कुँवर नारायण, सर्वेश्वर दयाल सक्सेना, मलयज और प्रयागनारायण त्रिपाठी है।

मध्यम वर्ग मे क्लर्क जीवन आकर्षण का केन्द्र बना है। प्रतीत होता है कवियो के मन मे क्लर्क और मध्यम वर्ग मिलकर एक हो गए है। बैंको मे क्लर्क, सरकारी आफिसो मे क्लर्क, निजी कम्पनियो मे क्लर्क — क्लर्को का एक जाल सा बिछ गया है। कोई गली मुहल्ला इनसे खाली नही है। उनके दयनीय जीवन का चित्र कवियो ने बड़े उत्साह से खीचा है। देवराज की 'क्लर्क' अनन्त कुमार पाषाण की 'बम्बई का क्लर्क' मलयज की 'तीस दिन की थाती' श्रीराम वर्मा की 'गन्दी गली की सुबह' और लक्ष्मी कान्त वर्मा की 'ठन्डा स्टोव' 'चाय का टिन और शराब की बोतल' शीर्षक रचनाये ऐसी ही है।

३. **निम्न वर्ग के प्रति सहानुभूति**—यह प्रवृत्ति प्रगतिवादी धारा से आई है। अज्ञेय ने 'महानगर : रात' और विष्णु स्वरूप ने 'पंक का सौन्दर्य' रचनाओ मे यथार्थ-वादी और प्रतीकात्मक शैली द्वारा इस धारा को आगे बढाया है।

४. **सामान्यजन के प्रति आकर्षण**—मानव की सहज श्रेष्ठता के प्रति आस्था तथा उसके उज्ज्वल भविष्य की आशा नयी धारा के प्रगतिशील चरण रहे है। यहाँ आकर फिर कवियो का ध्यान सामान्य जन की ओर गया। ऐसी कविताओ में पराजितों को जीवन का रहस्य समझाकर फिर से उत्साहित करने के भाव आए हैं।

रघुवीर सहाय की 'वह जो बार बार मरता है' भारती की 'थके हुए कलाकार से' कुँवर नारायण की 'पगडण्डी' और विजय देवनारायण साही की 'हिमालय के आँसू' तथा 'और पथ बाँकुरे' इसी प्रकार की रचनाये है। मनुष्य की सहन-शक्ति का अन्त नही है। अन्त मे वही उसे विजय प्रदान करती है। ऐसा इन कवियो का विश्वास है।

५—जीवन के शाश्वत नियमों तथा सत्यों का अन्वेषण—इन कविताओ को प्राचीन दर्शन शास्त्र की परम्परा मे नही समझना चाहिए। प्रकृति के सहज नियमो पर कवि की अन्तर्भेदिनी दृष्टि पडी है जो गम्भीर चिन्तन नही सूक्ष्म पर्यवेक्षण का परिणाम है। इसके बीज भारतीय समाज मे बहुत पहले से विद्यमान है। गिरिजा-कुमार माथुर की 'पहिये' श्याम मोहन श्रीवास्तव की 'परिवर्तन' तथा श्रीकान्त वर्मा की 'आस्था की प्रतिध्वनियाँ' रचनायें जीवन को उसकी समग्रता मे ग्रहण करने की प्रेरणा देती है। एक काल अथवा देश मे घटी घटना के आधार पर सार्वकालिक अथवा सार्वदेशिक नियम नही बन सकते। इसी के अन्तर्गत हम उन कविताओ को भी लेते है जिनमे सचमुच ही दर्शन शास्त्र की गुत्थियाँ सुलझाई गई है। श्रीराम शर्मा की 'बाह्य मन की विदा' कुँवर नारायण की 'प्रश्नाहता' तथा 'प्रश्न का विस्तार' एव प्रयागनारायण त्रिपाठी की तीसरे सप्तक की अनेक कविताओ का विषय यही है।

६—यह सिद्ध सत्य है कि नयी धारा मे सर्व व्यापक विद्रोह की भावना रही है। उसकी तीव्रता तीन रूपो मे दिखाई देती है। (१) धर्म के परम्परागत स्वरूप मे अनास्था (२) संसार की पार्थिवता को समझना और उसके प्रति मोह तथा (३) नवजागरण का आह्वान।

प्रथम के पीछे युग की वैज्ञानिक दृष्टि है जो प्रत्येक घटना मे कार्य कारण सम्बन्ध का ठोस आधार खोजती है। जिस प्रभु के भक्तों मे निन्यानबे प्रतिशत ढोंगी मिलें उसकी दीन दयालुता मे विश्वास कैसे हो? भारती ने 'तीन पूजा गीत' और प्रयागनारायण त्रिपाठी ने 'प्रभु की खोज मे' यह प्रश्न उठाया है।

द्वितीय का कारण पश्चिम का भौतिकवाद-मानवतावाद है। काफी दूर तक कवियों की काम भावना—विराट् अर्थ मे—ने भी इसमे सहयोग दिया है। विचार करने पर यही सिद्ध होता भी है कि संसार के सभी व्यापार देह को केन्द्र मान कर ही होते हैं। देह का केन्द्र भले ही आत्मा हो। गिरिजाकुमार माथुर ने 'देह की आवाज़' और अज्ञेय ने 'देह वल्ली' शीर्षक कविताओ मे मन और देह के सम्बन्ध पर इस नये पहलू से विचार किया है।

तृतीय विषय की परम्परा बडी पुरानी है किन्तु इस युग में विश्व भर की सामाजिक एवं राजनैतिक परिस्थितियाँ ऐसी बदली कि कवियो का ध्यान इस पर

अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण से विचार करने की ओर गया। यह जागरण किसी एक जाति अथवा एक राष्ट्र का न होकर सम्पूर्ण मानव जाति का है। 'वसुधैव कुटुम्बकम्' का सिद्धान्त जितना व्यापक आज हुआ है शायद पहले कभी नही हुआ था। जनार्दन मुक्तिदूत की 'मणि रथ', रघुवीर सहाय की 'तोडो तोडो तोडो', गिरिजाकुमार माथुर की 'एशिया का जागरण' कविताएँ युग की सकुचित सीमाओ को तोडने की व्याकुलता स्पष्ट करती है।

७—**व्यंग्य**—यद्यपि इसका कोई निश्चित विषय नही हो सकता तथापि इसके भी दो स्पष्ट विभाजन दिखाई पडते है। पहले के अन्तर्गत निराला की 'रानी और कानी', 'मास्को डायलाग्स', 'राजे ने अपनी रखवाली की', 'गर्म पकौड़ी', 'छलाँग मारता चला गया' आदि रचनाएँ आती है, जिनमे समाज-व्यवस्था वर्ण-व्यवस्था और अविचारपूर्ण राजनैतिक दलबन्दियो पर कटाक्ष है। दूसरे मे हरिमोहन की 'नये साल पर', सर्वेश्वर दयाल सक्सेना की 'कलाकार और सिपाही' तथा 'पीस पेगोडा', भारत भूषण अग्रवाल की 'कार्टूनो का जुलूस' तथा शिवकुटी लाल वर्मा की 'युद्ध का मुसाहब' कविताएँ आती है जिनमे आधुनिक युग की युद्ध-संस्कृति पर कटाक्ष किया गया है। आज के बडे बडे राष्ट्र शान्ति शान्ति जितने जोर से चिल्लाते है भीतर भीतर उतने ही ज़ोर-शोर से लड़ाई की तैयारियाँ करते है।

८—**अपनी कविता की वकालत**—प्रयोगवादी कविता के तीव्र विरोध ने कवियों को एक और विषय दिया—अपनी कविता की वकालत।[1] यद्यपि यह कार्य गद्य मे किया जाना चाहिए था, और किया भी गया, पर उतने ही से उन्हे सतोष नही हुआ। अपनी रचनाओं को वास्तव मे कविता जतलाने के लिए कुछ ने अपनी रचना प्रक्रिया पर भी पद्य मे प्रकाश डाला।[2] डॉ० जगदीश गुप्त ने इनमे से कुछ रचनाओ को 'किंचित् कविता' स्तम्भ के अन्तर्गत अलग से रखा है। हमारे विचार से ये कविता ही नही है।

९—**तुच्छ से तुच्छ विषय**—अपनी बात को पुष्ट करने के लिए तथा नये सौन्दर्यबोध को व्यापक धरातल पर लाने के लिए इन कवियो ने तुच्छ से तुच्छ विषय को भी कविता का विषय बनाया। इनका सिद्धान्त था—कोई भी वस्तु लो अपने रग मे रँग डालो। ऐसी कविताओ मे विषय से अधिक तत्र हमे आकर्षित करता है। सर्वेश्वर दयाल सक्सेना की 'खाली समय मे', 'लिपटा रजाई मे' और मदन वात्स्यायन की 'चक्के

---

१. इस सम्बन्ध में अजित कुमार की 'कवियों का विद्रोह' अज्ञेय की 'नयी कविता : एक सम्भाव्य भूमिका' तथा 'कलगी बाजरे की' और भारती की 'निवेदन' कवितायें द्रष्टव्य हैं।

२. कुँवरनारायण की 'ये पंक्तियाँ मेरे निकट' कविता

के पीछे चक्केवाली' कवि-सम्मेलनीय कविताएँ है जो तब सुनाई जाती है जब जनता उखड़ रही हो। इन्हे भी हम कविता की सीमा के बाहर रखते है।

१०—रागात्मक सम्बन्ध तथा मनः स्थितियाँ—इस युग के कवि की रागात्मक सम्बन्ध की सीमाएँ बहुत विस्तृत है। इसकी परम्परा छायावादी युग से चली आ रही थी। इसमे शृंगार काल की गन्ध थी। प्रयोगवादियो ने उसे परिवार की सीमाओ से घिरा हुआ अनुभव किया। इस युग मे विरह का दु ख देनेवाली कोई नायिका नही उसके छः छ· बच्चो की माँ, उसकी पत्नी, है। कवि को उदास बनानेवाले उसके बच्चो, मित्रो की अनुपस्थिति है न कि प्रेमिका द्वारा प्रणय प्रस्ताव ठुकरा दिया जाना। इन कविताओं में घरेलू वातावरण के प्रति एक विचित्र मोह मिलता है। हम समझते है सामान्य पाठक को ये छायावादी कविता की अपेक्षा अधिक स्पर्श करती है। मदन वात्स्यायन की 'स्वस्ति मेरी बेटी', कीर्ति चौधरी की 'अनुपस्थिति' और 'बरसते है मेघ झर झर' रचनाये इसी दृष्टि से प्रभावशालिनी है।

मन. स्थितियाँ यद्यपि मन के रागात्मक सम्बन्ध से अलग वस्तु नही है किन्तु कुछ कविताओ मे कवि का ध्यान बाह्य जगत् से अलग मन के कोनों मे झाँकने के प्रयत्न की ओर ही मिलता है। इसीलिए इनके अलग से निर्देशन की आवश्यकता हुई। कुँवरनारायण ने 'खामोशी : हलचल', 'खामोश धडकने' आदि बहुत सी ऐसी कविताएँ लिखी है। अज्ञेय इन मन:स्थितियो को घटना या चित्र का सहारा लेकर अधिक सहज रूप मे व्यक्त करते है—जैसे, 'सबेरे सबेरे' मे।

११—कुछ नए विषय—इस वर्ग में हम उन विषयो को लेते है जो युग की नयी परिस्थितियों से उत्पन्न हुए। हर युग मे विषय दो प्रकार के होते है—१—पुराने जिन पर नये दृष्टिकोण से विचार होता है और २—नये जिन पर प्रचलित पद्धति से विचार होता है। युग की परिस्थितियो से तात्पर्य भौतिक और मानसिक दोनों से है, क्योकि दोनों परस्पर की क्रिया-प्रतिक्रिया से परिवर्तित होते चलते है। मदन वात्स्यायन की 'सरकारी कारखाने मे कर्मचारी की चिन्ता', गिरिजाकुमार माथुर की 'पन्द्रह अगस्त' ऐसी कविताएँ है जिनके सम्बन्ध मे पहले के कवियो को कल्पना भी नही हो सकती थी।

१२—विविध विषय—अन्तिम वर्ग मे सामयिक तथा विविध विषय आते है। 'मिथिला की बाढ' 'जनवरी छब्बीस', 'सायकाल', 'निराला के प्रति' सामयिक कविताएँ हैं। विविध मे वातावरण के बिम्बवत् चित्र रुबाइयाँ चतुष्पदियाँ तथा अन्य लघु कवितायें आती हैं जिनमे क्षणिक विचार या फिर व्यक्ति वैचित्र्य को अभिव्यक्ति देने का मोह है।

अन्त मे हम कहेंगे कि ये विषय उन नये मार्गों की ओर संकेत करते हैं जो हमें

और विस्तृत क्षेत्र की ओर ले जानेवाले है। इन दिशाओ मे और अधिक प्रगति तथा अन्वेषण की आवश्यकता है।

यहाँ प्रबन्धगत ध्वनियो के कुछ विशिष्ट उदाहरण दिये जा रहे है।

प्रबन्धगत वस्तु से वस्तु-ध्वनि—

लीडर का निर्माता

सजा है
रेशम के पर्दों से ड्राइंग रूम
सोडे से, फिनील से,
और गरम पानी से
धुल रहे बाथरूम।
टावल रुँए का हाथ
लांड्री-धुला गोरा
कोठी से निकल रहा बेरा।
चपरासी कसे बेल्ट
सेक्रेटरी लिए डायरी
गेट पर कार खड़ी
लोगों को इन्तज़ार
कौन आ रहा ?
लीडर आ रहा !
कौन है जा रहा ?
सड़ी है गली टपरे-सी
टपरा सड़ा है घूरे-सा
बम्बा है पानी का
घर से बहुत दूर !
टूटे घड़े हाथ में
काई चढ़े
निकल रही छपकली-सी
लड़की दरवाज़े से
गली का पिल्ला बन
फिर रहा बच्चा
लिए ख़ाली बोतल
मट्टी के तेल की !

कूड़े से भरी गाड़ी
खड़ी है गली के बीच
भंगी का इन्तज़ार
गंदगी का संसार !
जिसमें है बोल रहा
मौत के सिग्नल-सा
भोंपू दूर मील का
भूखा ही !
कौन आ रहा ?
लीडर का निर्माता ![1]

सामान्य व्यक्ति समाज के ढाँचे की नीव है। उसे कोई नही जानता। किसी को उसकी चिन्ता नही। सर्व सुख-साधन युक्त उसका लीडर है। किन्तु लीडर भी उसके बारे मे कुछ नही जानता। अपने पेट को काट काट कर, परिवार भर के सुखो का होम कर सामान्य व्यक्ति लीडर को ऊँचा उठाता है। उसके सुख के लिए स्वय कष्ट झेलता है। क्यो ? ताकि लीडर देश भर के स्तर को ऊँचा उठाने की योजना बना सके। योजनाएँ बनती भी है किन्तु उनका लाभ उठाता है केवल लीडर और उसका निर्माता अपनी फटी पुरानी दशा मे पड़ा रह जाता है। पूंजीवादी समाजव्यवस्था की यह घोर विडम्बना उपर्युक्त प्रबन्ध से ध्वनित है। आशा यह की जाती है कि लीडर के निर्माता को अधिक श्रेय आदर तथा सुख मिले किन्तु होता ठीक इसके विपरीत है।

'शाम की धूप' से कुछ अंश

और सड़कों पै लौटता है शोर
तीसरे पहर के सुनसान को तोड़
कंकरीटों पै धूल भरे
गूँजते अनमिली आवाज के साथ
जो मिली ध्वनि से है ज्यादा मीठी
घण्टियाँ बज रही हैं रिक्शो की
बीसियों साइकिलों की पाँतें
कैरियर, टोकरी या हैंडिल मे
कुछ के खाली कटोरदान बंधे
कुछ में है फाइलें हर छिन सूखी

---

१. शकुन्त माथुर : दूसरा सप्तक : सं०—अज्ञेय : पृ० ५०

जो न कभी खत्म हुई दफ्तर में
है ज़रा कम ही टोकरी ऐसी
जिनमें आते है मौसमी फूल-फल
या कि फूटपाथ पर बिकती चीजे
मूँगफलियाँ, गरी, केले, अमरूद
या डलब रोटी केक, 'बन', बिस्कुट
'चीज' टिन-फ्रूट, सिरप या सिरके
ऐसी किस्मत की टोकरी कम हैं।
वर्ना अक्सर ये है खाली आती
बहुत हुआ तो इश्तिहार नई पिक्चर का
या सुबह का मुड़ा हुआ अखबार
या कोई सस्ती सी कहानी की किताब
जो किसी दोस्त ने ख़रीदी थी
ये ही किस्मत मे है इस टोकरी के।[1]

क्लर्क के जीवन का कितना सच्चा चित्र है। किसी भी बडे शहर की मुख्य सड़क पर शाम को यह दृश्य दिखाई पड सकता है। कवि ने कैरियर और टोकरियो के वर्णन से ही उनकी आर्थिक स्थिति की व्यजना की है। आफिस मे खत्म हुई न हुई फाइलें घर आ रही है। इससे उन पर अधिक कार्य भार का परिचय मिलता है। आफिस का काम घर मे भी करने पर उन्हे इतना वेतन नही मिलता कि मौसमी फल या फुटपाथ की चीजे, जो सस्ती होती है, तक खरीद सके। इससे उनके निम्न आर्थिक स्तर की व्यजना हुई है।

अन्तिम अश से उनकी रुचि तथा मानसिक स्तर का ज्ञान होता है। आज का बुद्धिवादी और कुछ पढे न पढ़े अखबार अवश्य पढता है। इसके अतिरिक्त उधार लिए सस्ते उपन्यास तथा कहानी सग्रह इनकी प्रिय पठनीय पुस्तके है। इससे या तो यह अर्थ निकालें कि आफिस मे कड़े मानसिक श्रम के पश्चात् किसी गम्भीर विषय को पढने की शक्ति ही नही रहती अथवा यह की फिल्मो और सस्ते साहित्य ने उनकी रुचि इतनी दूषित कर दी है कि उच्च साहित्य पढ़ने की इच्छा ही नही होती। कुछ कुछ अशो मे दोनो ही बाते सत्य है। इस भाँति उक्त प्रबन्ध मे क्लर्क जीवन के अन्तः और बाह्य दोनो पहलुओ की व्यजना हुई है।

---

१. गिरिजाकुमार माथुर : धूप के धान : पृ० ४५

कलाकार और सिपाही

वे तो पागल थे—
जो सत्य, शिव, सुन्दर की खोज में
अपने अपने सपने लिए
नदियों पहाड़ों बियाबानों सुनसानों में,
फटे हाल, भूखे प्यासे,
टकराते फिरते थे,
अपने से जूझते थे,
आत्मा की आज्ञा पर
मानवता के लिए
शिलाएँ चट्टानें पर्वत काट काट कर
मूर्तियाँ मन्दिर और गुफ़ायें बनाते थे।
किन्तु ऐ दोस्त !
इनको मै क्या कहूँ,
जो मौत की खोज में
अपनी अपनी बन्दूकें, मशीनगनें लिए हुए,
नदियो पहाड़ों बियाबानों सुनसानो मे
फटे हाल भूखे प्यासे
दूसरों की आज्ञा पर
चन्द पैसों के वास्ते—
शिलाएँ, चटटानें पर्वत काट काट कर
रसद हथियार एम्बुलेंस मुर्दागाड़ियों
के लिए
सड़कें बनाते है।
वे तो पागल थे—
पर इनको क्या कहूँ ?[1]

दो कालों की तुलना करते हुए सयुग-संस्कृति पर कटाक्ष है। एक बार फौज का एक दस्ता कन्धे पर बन्दूकें रखे मार्च करता हुआ जा रहा था। किसी ने उसके चाल की प्रशंसा की, किसी ने पोशाक की। किसी को अपने देश के सैनिक बल पर गर्व हुआ। एक ने कहा— मनुष्य अपनी शानदार मौत को कितनी शान से कन्धे पर उठाये लिए जा रहा है। विज्ञान का प्रत्येक आविष्कार उन्नति का एक चरण है

१. सर्वेश्वर दयाल सक्सेना : नयी कविता २ : सं०—डॉ० जगदीश गुप्त : पृ० ३९

किन्तु बहुधा उसका परिणाम निकलता है अब तक के रचनात्मक कार्य का ध्वस। आज किसी को मुडेर पर सुन्दर नक्काशी करवाते देख लोग कहते है—बेवकूफ है जो इतना पैसा खर्च कर रहा है। सीधी सीधी दीवार बनवा देता। ये ही व्यक्ति बड़े गर्व से कहते है—हमारा लडका फौज में कप्तान है। अमुक युद्ध मे इतने व्यक्तियों को मारने के उपलक्ष्य मे उसे अमुक चक्र मिला है। जिस व्यक्ति से यह आशा की जाती है कि वह अपने बच्चो को प्यार करे, पत्नी को प्यार करे, उसी से यह आशा की जाती है कि दुश्मनों के बच्चों को ठोकर मारकर हमेशा के लिए सुला दे और स्त्रियो को सगीनो के ऊपर उठा ले।

सत्य शिव और सुन्दर की खोज करनेवाली सस्कृति अब तक जीवित है। उसने दूसरी संस्कृतियो को भी जीवित रखा है किन्तु मौत की खोज मे भटकनेवाली सस्कृति दूसरो के साथ साथ स्वय नष्ट हो जायगी। जंगलो मे गुफाएँ बनानेवाले कलाकार पागल नही थे। ये सिपाही पागल है जो थोड़े पैसो के लिए दूसरो के अनमोल प्राणो को हर लेते है। मनुष्य कितना नीचे गिर गया है। समाज—व्यवस्था अर्थ के ढाँचे मे कितनी बेडौल हो गई है। स्वार्थ ने मनुष्य को पशु से भी नीचे गिरा दिया है। यही इस प्रबन्ध का व्यग्य है। भवानी प्रसाद मिश्र की 'दैनिक'[1] कविता भी इसी वस्तु की काव्यात्मक अभिव्यक्ति है।

'बीसवी शताब्दि के एक कवि की समाधि पर' का कुछ अंश

यह है समाधि
बीसवीं सदी के उस कवि की
देखो, था भला नाम उसका,
जिसके कुछ गीत
अरे वह बुड्ढा गाता था

* * *

नही याद आता
था अजब नाम उसका
—जाने भी दो
कवि तक का नाम
कौन ऐसा जो याद करे,
है किसे फालतू समय

१. गीतफरोश : पृ० ५२

कि जो बरबाद करे
फिर उस युग के कवि !
दर्द दर्द जिनकी कविता
गोधूली की थी महज़ गर्द
जिनकी कविता ।[1]

यह ऐसा विषय है जो बीसवी शताब्दी की परिस्थितियो से उत्पन्न हुआ है। पहले का कवि, यदि भक्त न होता, तो किसी छोटे मोटे राज्य मे आश्रय पा ही जाता था। जनता मे भी कविता का समादर था। अब न राजा है न जनता मे ही कविता का आदर है। लोग कवियो को परजीवी से कम नही और कविता को बैठे बिठाले के काम से अधिक नही समझते। प्रस्तुत पक्तियो मे युग की यही मनोवृत्ति व्यग्य है। समाज का सामान्य व्यक्ति कवि, जिसे समाज का प्रतिनिधि समझा जाता था, की मृत्यु पर इतना भी दु:ख प्रकट नही करता जितना किसी चीज के खो जाने पर होता है। कवि के ही दीन जीवन को व्यजित करनेवाली भवानी प्रसाद मिश्र की 'गीत फरोश' कविता अत्यन्त मार्मिक है।

इसके ठीक विपरीत कवि दिनकर की 'कवि की मृत्यु'[2] कविता है। मानव और मानवेतर प्रकृति द्वारा कवि को श्रद्धाजलि अर्पित करवाने के बाद कवि ने उसे तारो के बीच बैठा दिया है। उसका कहना है कि पृथ्वी की शोभा केवल कवि की उपस्थिति से है। कवि समाज का कितना प्रतिष्ठित अंग है तथा अन्य व्यक्तियो की तुलना मे कितनी ऊँचाई पर है यही कविता का व्यग्य विषय है।

अलकार से वस्तु - ध्वनि—

ठूँठ

ठूँठ यह है आज !
गई इसकी लाज
गया है सकल साज !
अब यह बसन्त से होता नहीं अधीर,
पल्लवित झुकता नहीं अब यह धनुष-सा,
कुसुम से काम के चलते नहीं हैं तीर,
छाँह में बैठते नहीं पथिक आह भर,

---

१. सर्वेश्वर दयाल सक्सेना : प्रतीक : अक्तूबर १९५१

२. नील कुसुम : पृ० ३२

झरते नहीं यहाँ दो प्राणियों के नयन-नीर,
केवल वृद्ध विहग एक बैठता कुछ याद कर ![1]

आधुनिक कविता मे ऐसे अनेक स्थल मिलेगे जहाँ यह पता लगाना कठिन हो जाता है कि यह अन्योक्ति है समासोक्ति है अथवा वस्तु का यथातथ्य वर्णन। पाठक के सम्मुख वह परिस्थिति भी रहे जब वह कविता लिखी गई थी तो शायद इसका निश्चय करने मे सरलता हो। पश्चिम से आई साहित्य के बहिरग अध्ययन की पद्धति इसी कमी को पूरा करती है। दूसरे, लघु कविताएँ किसी प्रबन्ध काव्य का अश न होने से प्रसंग की सहायता भी नही ली जा सकती। तीसरे, वर्णन इतना विषद होता है कि उसके स्वतन्त्र चित्राकन मे भी सन्देह नही किया जा सकता। हमारे विचार से अन्योक्ति मे इतना विशद वर्णन नही हो सकता। यदि हो भी तो प्रत्येक अग का भिन्नार्थ होना आवश्यक है। ऐसा नही हो सकता कि कुछ स्वतन्त्र हो तथा कुछ प्रस्तुत की ओर सकेत करे। समासोक्ति मे इसकी थोड़ी बहुत छूट रहती है।

प्रस्तुत पक्तियो मे समासोक्ति की कुछ झलक मिलती है। ठूँठ एक वृद्ध व्यक्ति की ओर सकेत करता है। वृद्ध हो जाने से उसका सासारिक वैभव समाप्त हो गया है। नवयुवको को उसका साथ पसन्द नही है। उसके जैसा कोई वृद्ध ही उसके पास आता है।

हम इसे अन्योक्ति के स्थान पर समासोक्ति इसलिए समझते है क्योकि इसके प्रस्तुत वर्णन मे जिस चित्रमयता के दर्शन होते है उसके अप्रस्तुत मे नही होते। प्रबन्ध से ससार की ससरणशीलता रूप 'विचार' वस्तु व्यग्य है। अपने अपने समय मे सब सुन्दर होते है। 'समै समै सुन्दर सबै रूप कुरूप न कोय'। समय बीत जाने पर वे ससार के किसी काम नही आ सकते इसलिए ससार उनकी उपेक्षा करता है।

इसी से मिलते जुलते अर्थ को ध्वनित करनेवाली रचना 'पक का सौन्दर्य'[2] है। पंकज सौन्दर्य के अहंकार मे भरकर पक से अलग हो जाता है किन्तु अलग होते ही उसके जीवन का ह्रास होने लगता है। नाना परिस्थितियों के आघातो को झेलता हुआ वह झर जाता है। अन्त मे पक ही उसे गोद मे लेकर नये जीवन का वरदान देता है। सकेत है—'समाज का उच्च वर्ग निम्न वर्ग मे से ही उठता है। ऊपर उठ आने पर उसी से घृणा करने लगता है। निम्न वर्ग से असम्पृक्त होने से उसका ह्रास होने लगता है। अन्त मे फिर निम्न वर्ग में मिल जाता है जहाँ उसे प्रतिदान में घृणा नहीं नया जीवन मिलता है।

१. निराला : अनामिका : पृ० १३९
२. विष्णु स्वरूप : नयी कविता १ : सं० – डॉ० जगदीश गुप्त : पृ० ५०

ध्वनि यह है कि वाह्य रूप अथवा रंग से किसी को तुच्छ समझने की भूल नही करनी चाहिए। बहुधा ये तुच्छ वस्तुएं ही वस्तुत: महान होती है।

आँवाँ

नही मुझे तपने दो
धीमी आँच की सुलगती फाँक तले
शुष्क तृण पातों के बीच
जलने दो।
साँझ की वह रेती कितनी उदास है
एक मुट्ठी राख औ
एक बूँद आँसू से पुता हुआ
श्मशान का सन्नाटा
'क्या कोई पास है SS ?'
की कुण्ठा की एक लकीर
एक उसाँस.........
उबकाई...............
धुएँ से घुटी हुई एक यतीम लाश है।
...हाँ वह मै ही हूँ
मुंह में जलती हुई अग्नि डाल
छोड़ गया है वह
जिसने कभी यत्न से सँवारा था मुझे
पर कृतघ्न नहीं हूँ मै
मेरी ईंट ईंट उसके नये घर की दीवार बन
दुआ देगी...............
मुझे सूखे तृण पातों के बीच जलने दो।[1]

प्रस्तुत कविता मे आँवाँ स्पष्ट ही अन्योक्ति का कार्य कर रहा है। हम जानते है कि कवि आँवें के सौन्दर्य या सहन शक्ति पर नही रीझ सकता। (यद्यपि धैर्य धन गदहे की प्रशसा करने और चप्पलो की पटापट मे घण्टियो के मधुर स्वर की प्रतीति कर रीझनेवालो की कमी नही है।) आँवे के माध्यम से कवि अपने मन की घुटन ही व्यक्त कर रहा है। यह ताप परमात्मा का दिया हुआ है इसलिए वरदान समझ-कर ग्रहण करता है। ताप इतना अधिक नही है कि क्षण भर मे जीवननष्ट हो जाय। हल्के हल्के ताप मे उसे बहुत देर तक सुलगना होगा। यह कष्ट वह इस विश्वास पर

---

१. मलयज : नयी कविता ४ : सं०—डॉ० जगदीश गुप्त : पृ० ५६

सह रहा है कि इसका परिणाम सुन्दर निकलेगा स्वयं जलकर वह किसी के काम आ सकेगा। ध्वन्यर्थ है—"तपे हुए प्राणी से ही वह स्वर निकलता है जो युग युगान्तरो तक प्रवचित मानवता का कल्याण करता है।" अग्नि मे तपकर सोना कुन्दन बन जाता है। भगवान जिसे ऊँचा उठाना चाहते है उसी को कृपा कर दुःख देते है। अत: मनुष्य को कभी दुःख के कारण दैव के प्रतिकूल नही होना चाहिये।

श्रीयुत बच्चन की 'चोटी की बर्फ'[1] अन्योक्ति पद्धति पर एक अन्य सुन्दर रचना है। इसमे कवि का कथ्य हैं कि चोटी की बर्फ स्वय को चाहे कितनी ही स्वच्छ और उच्च क्यो न समझे किन्तु वह सकलक मिट्टी के रगों और महक की तुलना में श्रेष्ठ नही हो सकती। यदि बर्फ की चोटी की बर्फ भी धरती का हास बनना चाहे तो उसे गलकर नीचे आना पड़ेगा।

यहाँ चोटी की बर्फ ऐसे व्यक्ति का प्रतीक है जो अपने परिवार अथवा अन्य बाह्य विशेष अधिकारो के बल पर कोई गुण न होते हुए भी स्वय को बड़ा ऊँचा समझता है। वास्तव मे जीवन सौन्दर्य प्राप्त करने के लिए अह भाव छोड़ना पडेगा। साधारण जन समाज मे मिलना पड़ेगा। व्यग्य है ससार का वास्तविक सौन्दर्य सामान्य वर्ग से असम्पृक्त होकर नही मिल सकता। जीवन का अप्राकृतिक आन्तरिक सौन्दर्य इसी वर्ग के बीच से फटता है।

कवि श्री निराला की 'कुकुरमुत्ता' शीर्षक रचना भी इसी पद्धति पर लिखी गई है जिसमें पूँजीपति और सर्वहारा वर्ग की तुलना की गई है। गुलाब देखने में सुन्दर लगता है धरती से ऊँचाई पर रहता है काँटो से रक्षित और माली द्वारा सेवित है। पर इतना कोमल कि एक दिन ठीक से देखभाल न की जाय तो मुरझा जाय। इसके विपरीत कुकुरमुत्ता किसी के लगाये नही लगता किसी से सेवा नही करवाता। तोड़नेवाले को काँटा नही चुभता और पृथ्वी से निकट सम्बन्धित है। पूँजीपति वर्ग सर्वहारा वर्ग की कमाई खाता है। उसकी आवश्यकताये छीनकर ऐश्वर्य भोगता है और उसी पर रोब गाँठता है। सर्वहारा वर्ग अपनी मेहनत की कमाई खाता है। जिस का उससे सम्पर्क होता है उसकी भलाई करता है और बिना किसी को गिराये ऊपर उठता है। उसका जीवन कृत्रिमता से दूर और प्रकृति के सहज रस से आपूरित है। क्रान्ति की सर्वभक्षी लपटो में एक वही शेष रहता है।

कवि इस प्रबन्ध मे प्रथम आधुनिक समाज में वर्ग—व्यवस्था की व्यजनाकर भविष्य मे सर्वहारा वर्ग की विजय की ओर सकेत करते हैं क्योंकि वही श्रेष्ठ है।

---

१. बुद्ध और नाचघर : पृ० १५४

संलक्ष्यक्रमवाक्यगत अलंकार से भाव-ध्वनि—

भँवरों की पाँते उतर उतर
कानों मे झुक झुक गुन गुन कर
हैं पूछ रही क्या बात सखी ?
उन्मन पलकों की कोरों में क्यो दबी ढकी बरसात सखी ?[1]

यहाँ नायिका की विरह दशा व्यग्य है। विरहिणी के केश अस्त व्यस्त हैं। कुछ लटे कानो पर भी झुक आई है। लटो के लिए भ्रमर-पंक्ति उपमान के प्रयोग से रूपकातिशयोक्ति अलंकार है भ्रमर पंक्ति का उतरकर कानो में कुछ कहने से निर्बन्ध केश-राशि की ओर सकेत है जिससे नायिका की व्याकुल दशा व्यग्य है।

अन्तिम पंक्ति मे भी 'बरसात' उपमान के प्रयोग से रूपकातिशयोक्ति अलकार सिद्ध है। अविरल अश्रुधारा, जो उपमेय है, पलकों की कोरों मे झलक रही है। अर्थात् यद्यपि नायिका अभी रो नही रही है तथापि लगता है जरा सी बात पूछने पर रो पडेगी और जब आँसू बहने शुरू होगे तो बरसात की तरह उन्हे रोकना असम्भव हो जायगा। इस तरह दोनों वाक्यो से रति भाव की वियोग दशा व्यग्य है।

कवि प्रौढ़ोक्तिसिद्ध

पदगत वस्तु से वस्तु-ध्वनि—

हम अरुण रक्त के तरुण विचारों के है हम घूर्णित झंझा
यम को दिये चुनौती लड़ा रहे सब नियमों से पंजा

* * *

हम धरती के पुत्र कृषक हम युग-युग के शापित होरी
टोड़ी बच्चों को हम खूब समझते है हम है बार्डोली।[2]

दूसरी पक्ति का 'यम' कवि प्रौढोक्तिसिद्ध पात्र है। उसको भी ललकार कर कवि ने भारतीय नवयुवको के अदम्य उत्साह की व्यंजना की है।

तीसरी पक्ति का 'होरी' पात्र भी कल्पित है। गोदान का नायक होरी आजीवन ईमानदारी से कार्य करता रहा दूसरो की भलाई मे सर्वस्व होमता रहा किन्तु अन्त मे उसे मिला क्या ? उपेक्षा। उसे उपमान स्वरूप ग्रहण कर कवि ने रूपक अलकार द्वारा व्यजित किया है "हम सदैव दूसरों के हित लिए अपना दान करते चले आए हैं बदले मे हमे मिली है प्रताडना तथा लाछना किन्तु दूसरो के हम पर हजार जुल्म ढाने पर भी हम न्याय के पथ से हटनेवाले नही"।

---

१. धर्मवीर भारती · दूसरा सप्तक : सं०-डॉ० जगदीश गुप्त : पृ० १९०
२. प्रभाकर माचवे : अनुक्षण पृ० ६७

कवि निबद्धवक्तृप्रौढ़ोक्तिसिद्ध

प्रबन्धगत वस्तु से वस्तु–ध्वनि—

मास्को डायेलाग्स

मेरे नये मित्र है श्रीयुत गिडवानी जी,
बहुत बड़े सोश्यलिस्ट,
'मास्को डायेलाग्स' लेकर आये है मिलने।
मुस्कराकर कहा 'यह मास्को डायेलाग्स है
सुभाष बाबू ने इसे जेल में मँगाया था
भेंट किया था मुझको सब थे पहाड़ पर।
३५ तक मुश्किल से पिछड़े इस मुल्क मे
दो प्रतियाँ आई थीं।"
फिर कहा "वक्त नहीं मिलता है
बड़े भाई साहब का बँगला बन रहा है
देखभाल करता हूँ।"
फिर कहा "मेरे समाज में बड़े बड़े आदमी है
एक–से है एक मूर्ख
उनको फँसाना है
ऐसे कोई साला एक धेला नहीं देने का।
उपन्यास लिखा है
जरा देख दीजिये।
अगर कहीं छप जाय
तो प्रभाव पड़ जाय उल्लू के पट्ठों पर
मनमाना रुपया फिर ले लूँ इन लोगों से
नये किसी बँगले में एक प्रेस खोल दूँ
आप भी वहीं चलें
चैन की वंशी बजे।"
श्रीगणेश मिला –
"पृय असनेहमयी स्यामा मुझे प्रम है।"
इसको फिर रख दिया देखा
"मास्को डायेलाग्स"
देखा गिडवानी को।[1]

---

१. निराला : नये पत्ते : पृ० १८

यह भारतवर्ष के उस वर्ग पर व्यग्य है जो पढा लिखा कम है विश्व–नीति के सबध मे भी कुछ नही जानता किन्तु जनता मे फैली इस धारणा से लाभ उठाना चाहता है कि साम्यवादियो का अध्ययन गहरा होता है। अपढ जनता पर साम्यवाद के नाम पर स्वार्थ का जाल फेकना चाहता है। गिडवानी जी सुभाष बाबू से सम्बन्ध जोडकर एक ओर यह जतलाना चाहते है कि वे क्रान्तिकारी दल के है दूसरी ओर प्रेम पुराण छपवाना चाहते है और वह भी इसलिए नही कि वह छपने योग्य है वरन् प्रतियाँ भेंटकर रुपया वसूल करना चाहते है। उनके पास अध्ययन की पूँजी कितनी है यह श्रीगणेश से ही पता लग जाता है जो सम्पूर्ण कविता के व्यग्य को भी स्पष्ट कर देता है।

'घोडो के पेट मे बहुतो को आना पड़ा',[१] 'राजे ने अपनी रखवाली की'[२] 'दगा की'[३] 'छलाँग मारता चला गया'[४] 'पहली वर्षगाँठ',[५] 'दो बीघा जमीन'[६] कविताये भी इसी कोटि के व्यग्य है।

प्रबन्ध काव्य

लक्षणामूला ध्वनि—

पदगत अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य—अभी मृत्ति को देख स्वर्ग को भी ईर्ष्या होती है।[७]

यहाँ मृत्ति धरती के अर्थ मे प्रयुक्त होता है। धरती आश्रय आश्रयी भाव से मनुष्यो का अर्थ दे रही है। इसी प्रकार स्वर्ग देवताओ का अर्थ दे रहा है। प्रसगानुकूल प्रथम दृष्टिपात मे यद्यपि धरती का सौन्दर्य व्यग्य है। चाँदनी रात मे अप्सरायें पृथ्वी पर उतरी है इसलिए न कि धरती स्वर्ग से सुन्दर है। ध्यान देने पर इसका अभीष्ट अर्थ दूसरा ही दिखाई पड़ता है। उर्वशी और पुरूरवा का प्रेम इस प्रबन्ध का कथ्य है। उर्वशी अप्सरा थी और पुरुरवा धरती के राजा। उर्वशी को स्वर्ग मे कोई देवता इतना सुन्दर नही दिखाई पड़ा जितना एक मर्त्य प्राणी। वह सदैव के लिए उसके साथ रहने को तैयार थी। उपर्युक्त पक्ति मे भावी की इसी घटना की ध्वनि है।

---

१. वही : पृ० २२
२. वही : पृ० २४
३. वही : पृ० २८
४. वही : पृ० ८५
५. **दिनकर : नीम के पत्ते : पृ० १७**
६. **दिनकर : धूपछाँह : पृ० २९**
७. **दिनकर : उर्वशी : पृ० १०**

वाक्यगत अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य—

··· · अभी देखते ही इसको
मर गई और मानो जी गई हूँ फिर मैं।[1]

गौराग महाप्रभु को देखकर एक बारबनिता का हृदय अपने कुकर्मो पर पाश्चात्ताप करने लगता है। वह तत्काल उनके पाद पद्मो पर जो गिरती है। उसी समय वह अपनी सखी से उक्त वाक्य कहती है। 'मर जाने' और 'जी जाने' दोनो मे मुख्यार्थ का बाध है क्योकि वह न मरी है न फिर जी उठी है। मृत्यु एक जीवन का अन्त है और जन्म नये जीवन का आरम्भ अतः लक्ष्यार्थ है गौराग के दर्शन से मेरे पापमय जीवन का अन्त हो गया है। ध्वनि है – हे सखी ! तू मेरे लिए पाश्चात्ताप मत कर। यह प्रसन्नता की बात है कि मेरे दुख के दिन समाप्त हुए और सुख के दिन आ गए है। मेरा सौभाग्य है कि मै पापो से मुक्त हुई।

अभिधामूला असलक्ष्यक्रम रस-ध्वनि

वाक्य प्रकाश्य—

एकलव्य के कौशल को देखकर अन्य पाण्डवो सहित अर्जुन उसके आश्रम मे जाता है। अर्जुन को अपनी आर्य जाति तथा राजपुत्र होने का अभिमान है। यह जानकर भी कि एकलव्य द्रोणाचार्य को ही अपना गुरु मानता है अर्जुन उसे 'ऐ एकलव्य'[2] कह कर सम्बोधित करता है जिससे उसके गर्व की व्यजना होती है। इसमे 'ऐ' भाव-व्यंजना मे विशेष समर्थ है।

वाक्य प्रकाश्य—

महाराज ने देख उर्वशी को अधीर अकुला कर
बाँहों में भर लिया दौड़ गोदी में उसे उठाकर।[3]

पुरुरवा और उर्वशी के प्रेम के पूर्वराग की स्थिति का वर्णन हो चुका है। यहाँ उसी सस्कार को उद्बुद्ध किया गया है। उर्वशी आलम्बन विभाव, हर्ष तथा आवेग[4] सचारी है। दौड़कर बाँहो मे धर लेना गोद मे उठा लेना अनुभाव है। इस तरह एक ही वाक्य मे सभोग शृगार की पूर्ण व्यजना हो गई है।

' · ···· ··· ···मै ऐसा तृण हूँ।
आपके चरण से यदि मिट भी जाऊँगा,

---

१. मैथिलीशरण गुप्त : विष्णुप्रिया : पृ० १०३
२. डॉ० रामकुमार वर्मा : एकलव्य : पृ० २८३
३. दिनकर . उर्वशी : पृ० ३९
४. साहित्य दर्पणकार आवेग हर्षजन्य भी मानते हैं।

तो बना सकूँगा, प्रभु ! ऐसी पथ-रेखा मैं
जिसे देख साधक चलेंगे गन्तव्य पर
धन्य भाग्य ! . . .. '[१]

भगवद्विषयक रति से मिलती-जुलती गुरु विषयक रति होती है। सामान्यत. यह श्रद्धा सज्ञा से अभिहित है। एकलव्य गुरु द्रोणाचार्य को मन ही मन गुरु मान बैठता है। उनके चरणो पर झुका हुआ वह अपनी श्रद्धा को ही अभिव्यक्ति दे रहा है। गुरु के सम्मुख वह स्वय को तिनके के समान समझता है जो रौदे जाने के अर्थ ही बना है किन्तु स्वय नष्ट होकर भी किसी का मार्ग दर्शक बन जाता है। गुरु के चरणों मे मिट जाने मे भी उसे अपना गौरव दिखाई पडता है क्योकि प्रत्येक व्यक्ति को गुरु भी तो नही मिलता है। योग्य गुरु मिलना सौभाग्य की बात है। एकलव्य सब कुछ सहने को तैयार है यदि द्रोणाचार्य उसे चरणो मे स्थान देने के लिए तैयार हो जायँ। 'धन्य भाग्य' पद से गुरु चरणों का गौरव प्रकट है। जिससे प्रेरित उक्त वाक्य उसकी अगाध गुरुभक्ति को ध्वनित कर रहा है।

दुर्योधन सुनो !
सुनो, द्रोण सुनो !
मैं यह तुम्हारा अश्वत्थामा
कायर अश्वत्थामा
शेष हूँ अभी तक।[२]

इन पक्तियो का 'कायर' पद 'दैन्य' भाव की व्यजना कर रहा है। पिता की मृत्यु पर अपना धनुष तोड़-मरोड देने के कारण अश्वत्थामा एक सीमा तक बलहीन हो गया। अब वह किसके बल पर प्रतिशोध लेगा। पिता की मृत्यु का प्रतिशोध लिये बिना ही उसने शस्त्र त्याग दिया। मन की दुर्बलता से आज वह अत्यन्त दीन हो उठा है। वीर के लिए 'कायर' शब्द सुनना भी पाप है फिर स्वय के लिए प्रयुक्त करना तो नितान्त असम्भव है। वीरता का बाना पहननेवाला व्यक्ति यदि अपने लिए इस अपशब्द का प्रयोग करे तो उसका दैन्य किस सीमा पर पहुँच गया होगा यह कल्पनातीत है। वीर कायर कहलाने की अपेक्षा मरना श्रेयस्कर समझता है। अश्वत्थामा को दु.ख इसी बात का है कि पिता का बध करनेवाले के प्राण लिये बिना ही उसने शस्त्र कैसे त्याग दिया और अब तक जीवित किसलिए है। 'कायर' पद उसकी गहरी वेदना जन्य 'दैन्य' को ध्वनित कर रहा है।

अलि, आ रहे हैं वे बता, मै अब क्या करूँ ?[३]

---

१. डॉ० रामकुमार वर्मा . एकलव्य : पृ० ११८
२. धर्मवीर भारती : अंधा युग : पृ० ३५
३. मैथिलीशरण गुप्त : विष्णुप्रिया . पृ० ११०

सन्यासी हो जाने के बाद गौराग प्रभु एक दिन अपने नगर मे लौटते है। उस समाचार को पाकर ही उनकी पत्नी विष्णुप्रिया हर्ष विह्वल हो जाती है। कुछ समझ मे नही आता वह कैसे उनका स्वागत करेगी ? क्या कुछ उनसे कहेगी ? यह विमूढता की अवस्था हर्षजन्य है जिसकी व्यजना उक्त वाक्य से हो रही है।

प्रबन्ध प्रकाश्य—

दो, उर्वशी ! इसे मुझको दो, मै इसको पालूँगी।
यह आश्रम की ज्योति, इन्दु नन्हाँ इस पर्णकुटी का,
सखी ! तुम्हारा लाल हमारी आँखो का तारा है।
घुटनों के बल दौड़-दौड़ मेरा मुन्ना पकड़ेगा।
कभी हरिण के कान, कभी डैने कपोत-केकी के।
और खड़ा होकर चलते ही बड़ी रार रोपेगा
शशकों, गिलहरियों, प्लवंग-शिशुओं, कुरग छौनों से।

* * *

उर्वशी

उस बन्धन में तो अब केवल तन ही बँधा करेगा
प्राणों को तो यहीं तुम्हारे घर छोड़े जाती हूँ।[1]

सुकन्या के वाक्यो मे अभिलाष से पुष्ट और उर्वशी के वाक्य मे शुद्ध वात्सल्य-भाव की व्यजना हुई है। आधुनिक महाकाव्यो मे वात्सल्य-भाव के स्थल बहुत कम मिलते है। सहज होते हुए भी इसका चित्रण अत्यन्त कुशल लेखनी का कार्य है। उर्वशी का बालक 'आयु' आलम्बन विभाव तथा सुकन्या एवं उर्वशी आश्रय है। बालक की भावी कीडाओं की कल्पना मात्र ही वर्णित है। अत. वात्सल्य पुष्ट होकर रस मे परिणत नही हो सका है।

क—प्रधानतया व्यंजित संचारी भाव—

सच कहती हूँ कुछ और नहीं चाहती
देख सकूँ दूर से ही प्रतिदिन मैं तुम्हें।
तुम मत त्यागो घर मै इसे त्याग दूँ।
मायके रहूँगी सदा और कहाँ ठौर है
गगा स्नान करने को जब तुम आओगे
नित्य जाते आते तुम्हें देख लूंगी दूर से।[2]

---

१. दिनकर : उर्वशी : पृ० १२९-१३०

२. मैथिलीशरण गुप्त : विष्णुप्रिया : पृ० ४१

गौराग प्रभु अपनी पत्नी से गृह-त्याग की अनुमति माँगते है। भारतीय नारी के लिए पति के अतिरिक्त दूसरा कोई आश्रय नही। अपने आश्रय और प्रेमास्पद को यों जाते देखकर विष्णुप्रिया व्याकुल हो उठती है। वह स्वय सब कष्ट सहने को प्रस्तुत है यदि प्रतिदिन पति के दर्शन करती रह सके। अन्तिम वाक्यो से अत्यधिक दैन्य की व्यजना हो रही है।

प्रबन्ध प्रकाश्य—

पार्थ-मयी ध्वनि उठी जनता के मुख से
'यह कुन्ती-पुत्र है' 'यही मध्य पाण्डव है'
'यही इन्द्र-पुत्र है' 'यही है कुरु-रक्षक'
'यही अस्त्र-वीर है' 'कल मुझसे मिले थे ये'
'कितने धर्मात्मा और कितने शीलवान'![1]

रगागण मे पार्थ के प्रवेश करते ही जनता मे हर्ष की लहर दौड जाती है। उक्त वाक्यो मे प्रत्येक व्यक्ति पार्थ के सम्बन्ध मे अपनी जानकारी व्यक्त करता है और चाहता है कि अन्य भी उसकी (पार्थ की) प्रशसा करे। एक साथ कई व्यक्तियो का बोल उठना यह सिद्ध करता है कि पार्थ जनता के कितने प्रिय थे। प्रिय पात्र को देखते ही आश्रय का हर्षित हो उठना स्वाभाविक है। यहाँ कायिक अनुभाव द्वारा हर्ष की व्यजना हुई है।

कैसे कहूँ गुरु-दक्षिणा में एकलव्य का
दक्षिणांगुष्ठ लिया रक्त यह उसी का है।[2]

गुरु द्रोणाचार्य को वस्तुतः इस बात का दुःख है कि निरपराध एकलव्य को उनकी प्रतिज्ञा तथा अर्जुन की हठधर्मी के कारण अगूठा गँवाना पडा और इस प्रकार जो विद्या उसने इतने श्रम से सीखी थी वह व्यर्थ हो गई। वह सम्पूर्ण विषाद 'कैसे कहूँ' वाक्य से ध्वनित है।

जागर्ति स्वप्न जो लाई थे कृष्ण उसी मे तन्मय
'दुर्योधन तो शासक है निर्वासित दीन धनंजय।
वैभव-बल-सयुत कौरव विद्वेषी प्रलयंकर हैं।
मुट्ठी भर पाण्डव उनसे करने को उठे समर हैं।[3]

---

१. डॉ० रामकुमार वर्मा : एकलव्य : पृ० १०८

२. वही : पृ० ३०२

३. श्रीनाथ द्विवेदी : सारथी कृष्ण : पृ० १३

चिन्ता संचारी का लक्षण है कि चिन्तक के मन मे यह भाव उठे—मेरा क्या होगा ? ध्यान रहे जब यही बात अनिष्ट के सम्बन्ध में उठती है तो शका बन जाती हैं। यहाँ अनिष्ट की बात नही उठती क्योकि पाण्डव तो पहले से ही अधिकार-च्युत है। कृष्ण पाण्डवों के हितैषी परम मित्र है। अतः पाण्डवो की समस्या उनकी समस्या है। पाण्डव थोड़े है सत्ताहीन है फिर भी युद्ध के लिए तत्पर है। उनकी क्या दशा होगी जीतेगे या हारेगे यही कृष्ण की चिन्ता का विषय है।

चिन्ता का एक मुख्य कारण ऐश्वर्य से च्युत होना और इष्ट वस्तु का अपहरण है। पाण्डवो का न केवल राज्य अपितु द्रौपदी के चीर-हरण के रूप मे मान भी गया। अतः वितर्क साथ होने के कारण से यह चिन्ता भाव ही है।

ख—भाव शबलता—

तब सकोच भरी चितवन से
इन्दुमती ने पलक उठाए
नयन हुए अनुरक्त देखकर
अरुण लाज से फिर भर आए

कुसुमित अंग हुए रोमांचित
लाल हुआ गोरा चन्द्रानन
चरण रुके, झुक गये नयन फिर
मुग्ध हृदय का कर चित्रांकन।[1]

अज को देखकर स्वयवर मे आई हुई इन्दुमती की क्या दशा हुई उसी का वर्णन यहाँ हुआ है। 'रोमाच' पद से हर्ष 'मुख के अरुण' होने से लज्जा 'चरण रुके' से मति और 'झुक गये नयन' से सकोच—इन अनेक चित्तवृत्तियो की एक ही समय मे व्यजना होती है। अनेक भावो के मिलकर ध्वनित होने से यह भाव शबलता का उदाहरण है।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है रस का प्रथम सम्बन्ध दृश्य-काव्य से जुडा था। उसी को ध्यान में रखकर रस एवं भाव निरूपण हुआ था। जब इसका प्रवेश श्रव्य-काव्य मे भी हुआ तो अनेक कठिनाइयाँ सामने आई। उन्हे दूर करने के लिए श्रव्य-काव्य में भी प्रत्यक्ष अप्रत्यक्ष रूप से नियोजित पात्रो का आश्रय लिया जाने लगा। आधुनिक युग मे इस अप्राकृतिक अभिव्यक्ति (पात्र की योजना द्वारा) मे कोई रुचि नही है। फलतः भावोदय भावशान्ति भाव-सन्धि तथा भाव-शबलता के स्थल ही प्राय. लुप्त हो गये हैं। गीतो मे एक ही भाव का प्राधान्य होता है क्योकि एक गीत मे कवि की एक ही मन.स्थिति का प्रकाशन होता है। यदि एक मन.स्थिति चार-पाँच पंक्तियाँ

---

१. गिरिजाकुमार माथुर . धूप के धान : पृ० १४६

लिखने के बाद समाप्त हो गई तो गीत भी वही समाप्त हो जाता है। यही दशा अन्य छोटी छोटी कविताओ की है। इनमे लक्ष्मीकान्त वर्मा की 'आत्म-परिचय' रचना भाव-शबलता का सुन्दर उदाहरण है। इसमे एक साथ ही दैन्य, उग्रता, अमर्ष, उपेक्षा, ग्लानि आदि भावो का सम्मिश्रण हुआ है। मन स्थितियो पर ही अधिक बल देने के कारण इस युग मे लघु कविताओ का प्राधान्य है। मुक्तक पहले भी लिखे जाते थे और कई पक्तियो के होते थे। आज की छोटी कविता उनसे भी छोटी होती है किन्तु दोनो की रचना प्रक्रिया मे मौलिक अन्तर होता है।

अभिधामूला संलक्ष्यक्रम ध्वनि—

अर्थ—शक्ति—उद्‌भव—स्वत सम्भवी

वाक्यगत वस्तु से वस्तु-ध्वनि—

> **दायाँ पैर आगे कर प्रत्यालीढ़ मुद्रा में—**
> **फाड़ दिया व्याघ्र का उदर द्रुत गति से**
> **व्याघ्र की दहाड़ उत्तरार्द्ध मे कराह थी।**[1]

पाण्डु कुमार वन मे मृगयार्थ गये हुए है। यह अर्जुन के व्याघ्र के शिकार का वर्णन है। व्याघ्र के घर्षण से पार्थ का धनुष टूट गया तो उसने भल्लमुख-वाण से ही उसका पेट फाड दिया। अन्तिम पक्ति मे अर्जन की फुर्ती व्यग्य है। व्याघ्र दहाड़कर पार्थ पर टूटना ही चाहता था कि उसके पेट मे वाण घुस गया। दहाड पूरी हो भी न पाई थी कि उसका पेट फट गया जिसके परिणाम स्वरूप दहाड अन्त होते होते कराह मे बदल गई। दहाड के थोडे काल मे ही यह सब कुछ हो गया। इसी से कल्पना की जा सकती है कि पार्थ ने कितनी शीघ्रता की होगी। इस तरह 'घटना' से पराक्रम एवं स्फूर्ति 'धर्म' वस्तु व्यग्य है।

प्रबन्धगत वस्तु से वस्तु-ध्वनि—

इसके लिए एकलव्य प्रबन्ध-काव्य मे पाण्डु कुमारों के आखेट का प्रसग द्रष्टव्य है। इस प्रसंग मे कवि ने एक एक कुमार की मृगया का वर्णन कर यह सिद्ध किया है कि प्रत्येक कुमार धीर-वीर है। अतः वहाँ 'घटना' वस्तु से पराक्रम 'धर्म' वस्तु-ध्वनि है।

वाक्यगत अलंकार से वस्तु-ध्वनि—

> **तन्वंगी व्रतों से कृश हो गई थी और भी**
> **और परिधान भी मलिन-सा था उसका**

---

१. डॉ० रामकुमार वर्मा : एकलव्य : पृ० २४१

दीप्त-सी थी दीप-शिखा अंचल की ओट मे
किनवा बदली के बीच चन्द्रकला कोमला ।[1]

गौराग प्रभु के पावो पडती विष्णुप्रिया का वर्णन है । दु.ख तथा व्रत से वह कृशगात हो गई थी किन्तु कान्ति ज्यो की त्यो थी जो मलिन वस्त्रो मे से भी फूटी पड रही थी । वस्त्र उसे छिपाने मे असमर्थ थे । जैसे आँचल की ओट हो जाने पर भी दीप-शिखा का प्रकाश छन छन कर बाहर आता रहता है अथवा जिस प्रकार बदली आ जाने पर भी चन्द्रबिम्ब झलकता रहता है । उसी प्रकार विष्णुप्रिया के गात्र की चमक वस्त्रो मे छिप नही पा रही थी । दीप-शिखा तथा चन्द्रकला उपमान है । उपमेय मे उपमान की सम्भावना का वर्णन होने से उत्प्रेक्षा अलकार सिद्ध है । कान्ति के माध्यम से कवि विष्णुप्रिया की पवित्रता आत्मिक तेज की व्यजना करना चाहता है । अतः यहाँ उत्प्रेक्षा अलकार से 'रूप' वस्तु ध्वनि है । सम्पूर्ण वाक्य से प्रकाशित होने के कारण वाक्यगत है ।

संलक्ष्यक्रम-रस-ध्वनि—

घोर बन मे जाकर एकलव्य गुरु की मूर्ति स्थापित कर धनुर्विद्या का अभ्यास करता है । वहाँ कवि वर्णन करता है कि एकलव्य मूर्ति को सजीव समझकर लक्ष्य की प्रत्येक प्रेरणा को गुरु का सकेत ही समझता था । उसे हर स्थान पर गुरु के दर्शन और प्रत्येक शब्द गुरुवाणी प्रतीत होता था । इस प्रकार कवि उसकी असीम गुरु-भक्ति की व्यजना करता है जिसे भाव व्यजना के अन्तर्गत ही लिया जायगा । हमारे विचार से यह सलक्ष्यक्रम रस-ध्वनि का स्थल है ।

कवि प्रौढ़ोक्ति सिद्ध

पदगत अलंकार से वस्तु-ध्वनि—

द्रौपदी सम्राज्ञि, भूतल की शची, श्री सिद्धि ।[2]

'शची' कवि प्रौढोक्तिसिद्ध पात्र है । भूतल की शची कहने का अर्थ हुआ 'शची' को अपने सौन्दर्य का गर्व नही होना चाहिए क्योकि उतनी ही सुन्दर भूतल पर द्रौपदी है । द्रौपदी शची जैसी ही सुन्दर है इसलिए उसे भूतल की शची कहा जा सकता है । उपमेय और उपमान मे समता स्थापित हो जाने पर उपमान की श्रेष्ठता नहीं रह जाती। अत· प्रतीप अलकर सिद्ध होता है जिससे द्रौपदी का अनिन्द्य सुन्दरी होना ध्यग्य है ।

१· मैथिलीशरण गुप्त : विष्णुप्रिया : पृ० ११७

२. नरेन्द्र शर्मा : द्रौपदी : पृ० ३६

कविनिवद्धवक्तृप्रौढ़ोक्तिसिद्ध

वाक्यगत वस्तु से वस्तु-ध्वनि—

किसके शरण जाऊँ आज मै अभागिनी
मेरे प्राण माँग लो, प्रयाण ही न माँगो यों ।[1]

गौराग प्रभु अब अपनी पत्नी विष्णुप्रिया से सन्यास लेने के लिए प्रयाण की अनुमति माँगते हैं उसी समय वह उक्त वाक्य कहती है । उसका अभिप्राय है कि तुम यदि प्राण माँग लो तो वह देने मे प्रयाण की अनुमति की तुलना मे कुछ भी दु ख नही होगा । ध्वनि है—तुम्हारे चले जाने पर मैं जीवित नही रह पाऊँगी । इससे विष्णुप्रिया का रति भाव भी व्यग्य है । अतः यह सलक्ष्यक्रम भाव-ध्वनि का उदाहरण भी है ।

उषा मुझे दे जाती रोली
पशु - पक्षी देते प्रिय बोली
भाँति-भाँति के फूल-फलों से—
तरु भर देते मेरी झोली ।[2]

ये पंक्तियाँ सीता माता के मुख से कहलाई गई है । वनवासिनी सीता प्रकृति के अधिक निकट आकर प्रसन्नता का अनुभव करती है । उषा का रोली दे जाना, पशु-पक्षियो का बोली सिखाना और वृक्षों का फल प्रदान करना आदि से सीताजी का उनके प्रति स्नेह व्यग्य है । वे शेष प्रकृति से भी उतनी ही ममता रखती हैं जितनी मानव से । उक्त पंक्तियों मे उनका इस स्थिति से उन्मुक्त प्रकृति के बीच आने से उत्पन्न हर्ष भी व्यग्य है । इस तरह यह सलक्ष्यक्रम भाव-ध्वनि का उदाहरण भी बन जाता है ।

वाक्यगत अलंकार से अलकार-ध्वनि—

ये लोचन, जो किसी अन्य जग के नभ के दर्पण हैं,
ये कपोल, जिनकी द्युति में तैरती किरण ऊषा की ।[3]

यह पुरूरवा का कथन उर्वशी के प्रति है । आँखो की स्वच्छता तथा नीलिमा की व्यंजना के लिए कवि अपह्नुति अलंकार का आश्रय लेता है । ये लोचन नही वरन् दर्पण हैं । इसीलिए इनकी नीलिमा नभ की नीलिमा सी आकर्षक है । किन्तु इतने से ही कवि सन्तुष्ट नही हो जाता । इस जगत के नभ की नीलिमा भी उर्वशी के

---

१. मैथिलीशरण गुप्त : विष्णुप्रिया : पृ० ४३
२. सरस्वती कुमार 'दीपक' : लक्ष्मण रेखा : अप्रकाशित
३. दिनकर : उर्वशी : पृ० ९१

नेत्रो की तुलना मे तुच्छ है । अत. इन दर्पणो मे प्रतिबिम्बित नीलिमा किसी अन्य जग के नभ की है । इस तरह उपमेय की तुच्छता व्यग्य होने से अपन्हुनुति अलंकार से प्रतीप अलकार व्यग्य है ।

राज्य के भूखे युधिष्ठिर को बना जामात्र
खिलाया है खेल, दुहिता नहीं, दे विष-पात्र ।[1]

द्रौपदी के पाण्डवो से विवाह पर धृतराष्ट्र अत्यन्त प्रसन्न हुए । उनके राजधानी आने पर धृतराष्ट्र अपने पुत्र दुर्योधन से खुशियाँ मनाने को कहते है । उसी के प्रत्युत्तर मे दुर्योधन का यह कथन है । वह कहता है कि द्रुपद ने पाण्डवो को अपनी कन्या नही दी है बल्कि विष-पात्र दिया है । जिसका कभी भी हम पर प्रयोग हो सकता है । कुटिलता के कारण दुर्योधन सम्पूर्ण परिवार को विष समझता है इसी कारण द्रौपदी के लिए विषपात्र को उपमान स्वरूप समझता है । उपमेय की अस्वीकृति से अपह्नुति अलकार सिद्ध है इससे दुर्योधन का भयकर द्वेष व्यग्य है ।

किससे दूँ ? अर्जुन से या कि सुयोधन से ?
किन्तु दोनों हीन हुए दीखते है मुझको
जैसे भक्ति के समक्ष ज्ञान और कर्म है ।[2]

गुरु द्रोणाचार्य स्वप्न मे एकलव्य को देखकर इतने प्रभावित हुए कि उसके सामने राजपुत्र भी हीन दिखाई पडते है । उन्हे अर्जुन और दुर्योधन मे कर्म और ज्ञान तो दिखाई पडता है किन्तु भक्ति नही जब कि एकलव्य मे भक्ति ही इतनी है कि ज्ञान और कर्म उसकी तुलना मे ठहरते ही नही । यहाँ वाक्यार्थोपमा अलकार द्वारा एकलव्य की गुरु मे भक्ति की चरम सीमा ध्वनित है ।

यदि सम्पूर्ण प्रबन्ध काव्य को ध्यान मे रखकर विचार किया जाय तो उर्वशी मे 'विचार' रूप वस्तु ही ध्वनित है । इसका सकेत कवि ने भूमिका मे भी कर दिया है । तृतीय सर्ग मे जिस सिद्धान्त की व्याख्या हुई है सम्पूर्ण प्रबन्ध मे घटनाओं द्वारा उसकी व्यजना हुई है । इसी प्रकार सारथी कृष्ण मे स्थान स्थान पर महाभारत कालीन भारतीय सस्कृति की नवीन व्याख्या हुई है ।

उपसंहार—

प्रयोगवादी धारा मे गीतिकाव्य, पद्य-निबन्ध और प्रबन्ध काव्य मे से पद्य-निबन्धो की ओर कवियो का ध्यान अधिक गया है । पूर्व पृष्ठो मे उसकी प्रवृत्तियो के विश्लेषण मे स्पष्ट किया जा चुका है कि यह युग बुद्धि तत्त्व को प्रधानता को महत्त्व देता है ।

---

१. नरेन्द्र शर्मा : द्रौपदी : पृ० २६
२. डॉ० रामकुमार वर्मा : एकलव्य : पृ० २२१

काव्य के बुद्धि तत्त्व के मुख्य दो कार्य है-१-नये विषयो को चुनना तथा-२-पुराने की नवीन व्याख्या करना। प्रयोगवादी धारा प्रथम कार्य को अधिक सलग्नता से करती प्रतीत होती है। लगता है नये विषयो की बाढ आ गई है। प्रत्येक में भाव कम विचार की ध्वनि अधिक है। विचार का क्षेत्र भाव के क्षेत्र से अधिक विस्तृत होने के कारण कविताओ मे विविधता पर्याप्त मात्रा मे पायी जाती है। भाव-विश्लेषण की पद्धति बहुत अशो मे बँधी बँधाई होती है। यद्यपि इस क्षेत्र मे भी नयी कविता ने नयेपन का परिचय दिया तथापि इस ओर कवियो का ध्यान कम ही प्रतीत होता है। छायावाद युग में कवि मन की वीथियो मे भटकता रहता था। परिस्थितियाँ कुछ ऐसी थी कि वह परमात्मा और प्रियतमा से अपने सम्बन्ध को ही अनेक पहलुओ से देखता रह गया। प्रगतिवाद मे वह बहिर्मुखी हुआ किन्तु अपने को तथा पूँजी-पतियो को कोसने मे ही उसने कर्तव्य की इतिश्री समझ ली। दोनो की त्रुटियो को दूर करने की प्रतिज्ञा लेकर प्रयोगवाद आया किन्तु हम देखते है कि अभी वह प्रयोग के दायरे से बहुत कम आगे बढ पाया है।

नये उपमानो की खोज अब भी जारी है। यह एक ऐसा सूत्र है जो छायावाद प्रगतिवाद और प्रयोगवाद को एकता मे बाँधे हुए है। कुछ नये उपमान वस्तुत. ध्वनि मे नवीनता ले आए है। अप्रस्तुत योजना में एक बात बहुत खटकनेवाली है। कवि को पाठक की कल्पनाशक्ति पर बहुत कम भरोसा है। दूसरे प्रबन्धगत अलकारो की योजना नही के बराबर है। सांग रूपक जैसे चमत्कारी अलकारो की छटा बहुत कम देखने को मिलती है।

कुल साहित्य को देखते हुए शब्द की व्यजना शक्ति पर कवियो का बहुत कम ध्यान है। उतने ही अशो मे ध्वनि के स्थल भी कम हो गए है।



परिशिष्ट

संशयास्पद ध्वनि संकर—

> थूके मुझ पर त्रैलोक्य भले ही थूके
> जो कोई जो कह सके कहे क्यों चूके
> छीने न मातृपद किन्तु भरत का मुझसे
> हे राम दुहाई करूँ और क्या तुझसे ।[1]

कैकयी स्वकृत अनर्थो की स्मृति से पश्चात्ताप की अग्नि मे जल रही है । वह स्वीकार करती है कि यदि तीनो लोक मै भी मेरी भर्त्सना करे तो मे सहूँगी क्योकि मैने कर्म भी ऐसे किये है । इससे दैन्य भाव व्यग्य है । दीनता का एक कारण यह भी है कि कही लोग भरत से उसके मातृ सम्बन्ध को ही शका से न देखने लग जाँय । सब कुछ पुत्र के लिए गँवा दिया है । यदि उसे भी गँवा बैठेगी तो उसके पास क्या बचेगा । तात्पर्य यह कि पुत्र को लेकर मै ससार के समस्त अपमान को सहने के लिए तैयार हूँ । इससे वात्सल्य भाव व्यंग्य है । इन्ही पक्तियो से यह सलक्ष्यक्रम ध्वनि भी निकल रही है कि मैने दुनिया भर का चाहे जो अनिष्ट किया हो किन्तु पुत्र के हित को सदैव लक्ष्य मे रखा है । यहाँ असलक्ष्यक्रम तथा सलक्ष्यक्रम दोनो ध्वनियो के द्वारा कैकयी का भरत की माता बने रहने की अभिलाषा व्यक्त है । अत. यह उक्त ध्वनि का उदाहरण सिद्ध है ।

गुणीभूत व्यंग्य

हमारे प्रबन्ध का विषय ध्वनि काव्य है । अत व्यंग्यार्थ गौण के विषय हमारे क्षेत्र की सीमा के बाहर है । इसके अतिरिक्त गुणीभूति के भेदोपभेदो के शास्त्रीय आधार के पक्ष मे भी हम नही हैं । इस पर सैद्धान्तिक पक्ष मे विचार हो चुका है । यहाँ कुछ उदाहरण प्रसगत. दे रहे है ।

> बीती विभावरी जाग री ।
> अम्बर पनघट में डुबो रही—
> तारा—घट ऊषा नागरी ।[2]

---

१. मौथिलीशरण गुप्त : साकेत : पृ० २४९

१. प्रसाद : लहर : पृ० १९

काव्यशास्त्रियो के मत से यहाँ अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य गुणीभूत अगूढ व्यग्य है। 'बीती विभावरी और 'उषा' पदो से प्रात काल का समय अत्यन्त स्पष्ट हो गया है। अत: 'अम्बर पनघट मे डुबो रही ताराघट' के लक्ष्यार्थ मे कुछ गूढत्व रहा ही नही। किन्तु हम कहेगे कि उषा को नागरी नायिका का रूप देकर तारक-घट डुबोने की बात से पनघट का जो चित्र उभरता है वह स्वय मे ही इतना मधुर है कि प्रात.काल हो गया है इस तथ्य की ओर, जो मुख्य है, ध्यान ही नही जाता। इस प्रकार लक्ष्य गौण तथा आलकारिक वर्णन ही प्रधान होने से यह गुणीभूत व्यग्य का उदाहरण बन गया है।

झंझा की घोर झकोर चली
डालों को तोड़ मरोड़ चली
पेड़ों की जड़ टूटने लगी —
हिम्मत सबकी छूटने लगी
ऐसा प्रचण्ड तूफ़ान उठा
पर्वत का भी हिल प्राण उठा। [1]

इन पक्तियो मे कर्ण की तुलना तूफान से की गई है। भाव यह है कि जैसे तूफान मे बडे बडे पेड उखड जाते है पर्वत हिलने लगते है (यहाँ अतिशयोक्ति अलंकार का आश्रय लेना पडेगा) उसी प्रकार कर्ण के युद्ध के आगे सभी का साहस छूटने लगा। बडे बड़े रथी महारथी उसके सामने न टिक सके। यहाँ भी हम देखते है कि झझा के सुन्दर दृश्य के सामने युद्धभूमि का मानसिक चित्र नही उभर पाता। इसके अतिरिक्त 'हिम्मत सबकी छूटने लगी' वाक्य से दृश्य की पूर्णता भी खण्डित हो जाती है। इस अनौचित्य के बल पर भी यह गुणीभूत का विषय है।

है बिखेर देती वसुन्धरा
मोती सबके सोने पर
रबि बटोर लेता है उनको
सदा सबेरा होने पर। [2]

यहाँ 'वसुन्धरा' पद मे साभिप्रायत्व होने से परिकराकुर तथा मोती पद मे रूपकातिशयोक्ति अलकार है। इन दोनो अलकारो के अधार पर प्रात.कालीन व्यापार सिद्ध होता है। व्यग्य है रात्रि होने पर ओस गिरती है और प्रात·काल होने पर सूख जाती है। यह व्यापार इतना सामान्य है और इतने सामान्य ढंग से कहा गया है कि उसमें कुछ चमत्कार ही नही रह गया है। जो कुछ सौन्दर्य है केवल इसी मे कि

---

१. **दिनकर : रश्मिरथी : पृ० १२०**
२. **मैथिलीशरण गुप्त : पंचवटी : पृ० ८**

पृथ्वी का वसुन्धरा नाम उचित ही है क्योकि रात्रि होते ही वह अपने रत्न बिखेर देती है।

चित्र-काव्य—

चित्रकाव्य कविता नही केवल पद्य या तुकबन्दी मात्र है। सयोग से यदि कवि किंचित् कवितावादी हुआ तो उसे पद्य की सज्ञा भी नही मिल पायगी। कवि पन्त की निम्न कविता—

तरुवर की छायानुवाद सी
उपमा – सी भावुकता – सी
अविदित भावाकुल भाषा – सी
कटी छँटी नव कविता–सी।[1]

मे सब उपमान वृक्ष की छाया के लिए ही आए है। यहाँ अलकार ही अलकार है। व्यग्यार्थ कुछ नही है। यह अर्थ चित्र है। शब्द चित्रो का आलोच्यकाल मे अभाव है।

२६—भर्तृहरि : वाक्यपदीयम्, स०—साम्ब शिव शास्त्री १९३५ ।
२७—भामह : काव्यालकार, उद्यानवृत्ति सहित १९३४ ।
२८—भोजदेव : सरस्वती कण्ठाभरण, निर्णयसागर प्रति १९२५ ।
२९—महिम भट्ट : व्यक्ति विवेक, चौखम्भा सिरीज १९३६ ।
३०—मम्मट : काव्य प्रकाश, आनन्दाश्रम सस्कृत ग्रन्थावली दूसरी आवृति ।
३१— „ : „ आचार्य विश्वेश्वर की हिन्दी टीका सहित
३२—राजशेखर : काव्य-मीमाँसा, बड़ौदा संस्करण ।
३३—राजानक रूइयक : अलंकार सर्वस्व, समुद्रबन्ध की टीका सहित १९१५ ।
३४— „ : „ जयरथ की टीका-सहित १९३९ ।
३५—रामचन्द्र गुणचन्द्र : नाट्य, आचार्य विश्वेश्वर की टीका सहित १९६१ ।
३६—रुद्रट : काव्यालंकार, निर्णय सागर संस्करण । १९२८ ।
३७—वाग्भट् प्रथम : वाग्भटालंकार, द्वितीयावृत्ति,
३८—वाग्भट द्वितीय : काव्यानुशासन, १९१५ ।
३९—वामन : काव्यालकार सूत्र वृत्ति, कामधेनु टीका सहित १९०९ ।
४०—विद्याधर : एकावली, मल्लिनाथ कृत टीका सहित १९०३ ।
४१—विश्वनाथ : साहित्य दर्पण, चौखम्भा ग्रथ माला । १९२३ ।
४२—वैशेषिक दर्शन : हरिदास संस्कृत माला, १९२३ ।
४३—शबर : मीमाँसा दर्शनम्, जिल्द १ व २ । १९१० ।
४४—श्लोकवार्तिक व्याख्या : भट्टोम्बेक की टीका सहित, मद्रपुरी सस्करण
४५—हेमचन्द्र . काव्यानुशासन, निर्णय सागर प्रेस
४६—हेमचन्द्र : „ महावीर जैन विद्यालय सस्करण । १९३८

कन्नड़ ग्रन्थ

४७—नागवर्मा : काव्यावलोकनम्, मैसूर १८९८ ।
४८—नृपतुग : कविराजमार्ग, १९०३ ।

हिन्दी ग्रन्थ

४९—अंचल : वर्षान्त के बादल, १९५४ ।
५०— „ : विराम चिन्ह १९५७ ।
५१—अज्ञेय : बावरा अहेरी, प्रथमावृत्ति
५२—अज्ञेय : हरी घास पर क्षण भर प्रथमावृत्ति
५३— „ : अरी ओ करूणा प्रभामय १९५९ ।

५४—अज्ञेय : इत्यलम् १९४६ ।
५५— „(सम्पादक): आधुनिक हिन्दी साहित्य १९४० ।
५६— „ : तार-सप्तक, दूसरा सप्तक, तीसरा सप्तक ।
५७—उपेन्द्रनाथ अश्क: बर्गद की बेटी १९४९ ।
५८—कपिल द्विवेदी आचार्य : अर्थ विज्ञान और व्याकरण दर्शन १९५१ ।
५९—कृष्णानन्द पन्त-यज्ञदत्त शर्मा . आलोचना के सिद्धान्त, १९५१ ।
६०—केदारनाथ सिंह: कल्पना और छायावाद, प्रथम संस्करण ।
६१—केशवदास . कविप्रिया, सं०—लालाभगवानदीन ।
६२—गिरिजाकुमार माथुर . धूप के धान, द्वितीय संस्करण ।
६३—गुरूभक्त सिंह भक्त . नूरजहाँ, १३वी आवृत्ति ।
६४—गुलाब राय : सिद्धांत और अध्ययन, १९५५ ।
६५—गोपाल शरणसिंह : आधुनिक कवि-४ ।
६६—गोविन्द त्रिगुणायत : शास्त्रीय समीक्षा के सिद्धात, प्रथम संस्करण ।
६७—डॉ० जगदीश गुप्त : शब्द दंश, प्रथम संस्करण ।
६८— „ : नाँव के पाँव । प्रथम संस्करण
६९— „ (सम्पादक) : नयी कविता अक एक, दो, तीन, चार ।
७०—जयशंकर प्रसाद: झरना, आठवाँ संस्करण
७१— „ : आँसू, ग्यारहवाँ संस्करण
७२— „ . लहर, छठा „
७३— „ : कामायनी, दसवाँ „
७४— „ : प्रसाद संगीत, प्रथम संस्करण ।
७५— „ : काव्य-कला तथा अन्य निबन्ध, प्रथम संस्करण ।
७६—देव : शब्द रसायन, वि० सं० २०००
७७—डॉ० देवराज : उर्वशी ने कहा, प्रथम संस्करण
७८—डॉ० धर्मवीर

७९—डा० धर्मवीर भारती . अन्धा युग, प्रथम सस्करण
८०— ,, : प्रगतिवाद एक समीक्षा। प्रथम सस्करण ।
८१—डॉ० नगेन्द्र : हिन्दी ध्वन्यालोक तथा हिन्दी वक्रोक्ति जीवित की भूमिका।
८२— ,, : विचार और अनुभूति, द्वितीय आवृत्ति ।
८३—आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी : नया साहित्य नये प्रश्न । १९५५
८४— ,, : आधुनिक साहित्य द्वितीय सस्करण ।
८५—नरेन्द्र शर्मा : द्रौपदी, प्रथम सस्करण ।
८६— ,, : प्रवासी के गीत, चतुर्थ संस्करण ।
८७—पलाश वन : पलाशवन, प्रथम सस्करण ।
८८— ,, : मिट्टी और फूल, द्वितीय सस्करण ।
८९— ,, : हृसमाला, प्रथम सस्करण ।
९०—नामवर सिंह : छायावाद, प्रथम संस्करण ।
९१— ,, : हिन्दी काव्य की प्रवृत्तियाँ, प्रथम सस्करण ।
९२—निराला, सूर्यकान्त त्रिपाठी: प्रबन्ध प्रतिमा, वि० सं० १९५७ ।
९३— ,, : परिमल, सप्तमावृत्ति ।
९४— ,, · अनामिका, द्वितीय संस्करण ।
९५— ,, : अप्सरा, तृतीय सस्करण ।
९६— ,, : तुलसीदास, चतुर्थ ,,
९७— ,, · गीतिका, ,, ,,
९८— ,, नये पत्ते, १९४६ ।
९९— ,, · कुकुरमुत्ता, दूसरा संस्करण ।
१००— ,, : आराधना, प्रथम ,,
१०१— ,, : अर्चना, ,, ,,
१०२—नीरज : लहर पुकारे, प्रथम संस्करण
१०३— ,, : बादर बरस गयो, १९५८ ।
१०४— ,, : प्राणगीत, १९५७ ।
१०५— ,, : दो गीत, १९५८ ।
१०६—नीरव : सीप, १९६१ ।
१०७—डॉ० पुत्तूलाल शुक्ल : आधुनिक हिन्दी काव्य में छन्द योजना वि० सं० २०१४ ।

१०८–प्रभाकर माचवे : अनुक्षण, प्रथम संस्करण ।

१०९–प्रतापनारायण टंडन : हिन्दी साहित्यः पिछला दशक १९५७ ।

११०–बलदेव उपाध्याय : भारतीय साहित्य शास्त्र, प्रथम एव तृतीय खण्ड

१११—बच्चन : सोपान, प्रथम सस्करण ।

११२— ,, : निशा निमत्रण, सातवा सस्करण ।

११३— ,, · हलाहल, दूसरा सस्करण ।

११४— ,, : मिलन यामिनी, पहला सस्करण ।

११५—बच्चन · आकुल अन्तर, चौथा सस्करण ।

११६— ,, · बुद्ध और नाचघर, प्रथम संस्करण ।

११७— ,, . बगाल का काल, पांचवा

११८–बालकृष्ण शर्मा नवीन · क्वासि, १९५२ ।

११९–भगवती चरण वर्मा . मधुकरण, प्रथम सस्करण ।

१२०— ,, : मानव, प्रथम सस्करण ।

१२१—लाला भगवानदीन : अलंकार मंजूषा, आठवां सस्करण ।

१२२—डॉ० भगीरथ मिश्र : हिन्दी काव्य शास्त्र का इतिहास, वि० सं० २००५ ।

१२३—डॉ० ,, : काव्यशास्त्र, प्रथम सस्करण ।

१२४—भवानी प्रसाद मिश्र : गीत फरोश, प्रथम सस्करण ।

१२५—भानु कवि काव्य प्रभाकर, संवत् १९६६ ।

१२६—भिखारीदास : काव्य निर्णय, १९५६ ।

१२७–डॉ. भोलाशंकर व्यास : ध्वनि सम्प्रदाय और उसके सिद्धान्त, प्रथम खण्ड ।

१२८–डॉ, भोलानाथ : हिन्दी साहित्य १९५४ ।

१२९–महाबीरप्रसाद द्विवेदी : रसज्ञ रंजन, सातवां संस्करण ।

१३०–महादेवी वर्मा : क्षणदा, प्रथम संस्करण ।

१३१— ,, : अधुनिक कवि–१

१३२—महादेवी वर्मा : सांध्य गीत, चतुर्थ संस्करण ।
१३३— ,, : नीरजा, प्रथम सस्करण ।
१३४— ,, : नीहार, पंचम आवृत्ति ।
१३५— ,, : दीपशिखा, पंचम सस्करण ।
१३६—माखनलाल चतुर्वेदी : रेणुका की भूमिका, १९४४ ।
१३७— ,, : युगचरण, प्रथम संस्करण ।
१३८— ,, : हिमकिरीटिनी, तृतीय संस्करण ।
१४९— ,, : हिमतरंगिणी, द्वितीय ,,
१४०—मैथिलीशरण गुप्त . पचवटी, पैतालीसवा सस्करण ।
१४१— ,, : सिद्धराज, वि० स० २०१६ ।
१४२— ,, : यशोधरा, वि० २०१६ ।
१४३— ,, : साकेत, वि० सं० २०१४ ।
१४४— ,, . विष्णु प्रिया, तृतीय आवृत्ति ।
१४५—रागेय राघव : मेधावी १९४७ ।
१४६—राजेन्द्र यादव : आवाज़ तेरी है, १९६० ।
१४७—डॉ० रामकुमार वर्मा : कबीर का रहस्यवाद, प्रथम संस्करण ।
१४८— ,, · साहित्य शास्त्र, १९५६ ।
१४९— ,, : आधुनिक कवि, ३ ।
१५०— ,, . चित्रलेखा, चतुर्थ संस्करण ।
१५१— ,, : एकलव्य, प्रथम सस्करण ।
१५२—राम खेलावन पाण्डेय : काव्य और कल्पना प्रथम सस्करण ।
१५३—राम चन्द्र शुक्ल : चिन्तामणि भाग १, १९५० भाग—२, वि० सं०२०१० ।
१५४— ,, : रस-मीमांसा, द्वितीय सस्करण ।
१५५— ,, : हिन्दी साहित्य का इतिहास, छठा सस्करण ।
१५६—पं० राम दहिन मिश्र : काव्यालोक प्रथम उद्योत, प्रथम संस्करण ।
१५७— ,, : ,, द्वितीय उद्योत, द्वितीय सस्करण ।
१५८— ,, : काव्य मे अप्रस्तुत योजना, प्रथम संस्करण ।

१५९—रामधारीसिंह दिनकर : मिट्टी की ओर, तृतीय सस्करण ।
१६०— ,, : काव्य की भूमिका, प्रथम सस्करण ।
१६१— ,, रसवती, १९५५ ।
१६२— ,, . रेणुका, १९५६ ।
१६३— ,, . हुंकार, १९५५ ।
१६४— ,, द्वन्द्वगीत १९५४ ।
१६५— ,, सीपी और शख, १९५७ ।
१६६— ,, नील कुसुम, १९५६ ।
१६७— ,, : रश्मिरथी, १९५७ ।
१६८— ,, कुरुक्षेत्र, वि० स० २००३ ।
१६९— ,, उर्वशी, १९६१ ।
१७०—राम नरेश वर्मा वक्रोक्ति और अभिव्यंजना, प्रथम सस्करण ।
१७१—राम मूर्ति त्रिपाठी व्यजना और नवीन कविता
१७२—डॉ० राम यतन सिह भ्रमर अधुनिक कविता में रूप विधान, पाण्डुलिपि, शोधग्रंथ ।
१७३—राम विलास शर्मा. प्रगतिशील साहित्य की समस्याये, प्रथम संस्करण ।
१७४—लक्ष्मीकात वर्मा · नयी कविता के प्रतिमान, वि० स० २०१४ ।
१७५—लक्ष्मीनारायण : सुधाशु काव्य मे अभिव्यजनावाद, तृतीय संस्करण ।
१७६— ,, . जीवन के तत्त्व और काव्य के सिद्धान्त, १९४२ ।
१७७—ललिता प्रसाद . सुकुल साहित्य जिज्ञासा, १९५२ ।
१७८—विश्वनाथ प्रसाद : मिश्र वाङमय विमर्श वि० स० २००७ ।
१७९— ,, : हिन्दी का सामयिक साहित्य, वि० सं० २००८ ।
१८०—विश्वभर मानव महादेवी वर्मा, प्रथम सस्करण।
१८१—विश्वभर मानव (सम्पादक) नयी कविता ।
१८२—डॉ० शम्भू सिंह : छायावाद युग, प्रथम संस्करण ।
१८३—शान्तिप्रिय द्विवेदी: सामयिकी, द्वतीय संस्करण ।
१८४—शान्तिप्रिय द्विवेदी: साकल्य, प्रथम संस्करण ।
१८५—शिवदान सिंह : चौहान प्रगतिवाद, १९४६ ।

१८६—श्यामनारायण पाण्डेय : जौहर, तृतीय आवृत्ति।
१८७— ,, : हल्दीघाटी, १९५९।
१८८—श्याम सुन्दर दास भाषा विज्ञान, चतुर्थ सस्करण।
१८९— ,, : साहित्यालोचन, तृतीय ,,
१९०—डॉ० ससार चन्द हिन्दी काव्यमे अन्योक्ति, प्रथम सस्करण।
१९१—श्रीनाथ द्विवेदी . सारथी कृष्ण, प्रथम सस्करण।
१९२—आचार्य सीताराम चतुर्वेदी : भाषालोचन, प्रथम संस्करण।
१९३—डॉ० सुधीन्द्र . हिन्दी कविता मे युगान्तर, १९५७।
१९४—सुभद्राकुमारी चौहान . मुकुल, १९३०।
१९५—सुमित्रानन्दन पन्त. आधुनिक कवि—२।
१९६— ,, : वीणा, द्वितीय सस्करण।
१९७— ,, . ग्रन्थि, चतुर्थ ,,
१९८— ,, : पल्लव, छठा ,,
१९९— ,, : गुजन, नवा ,,
२००— ,, . युगान्त, द्वितीय ,,
२०१— ,, : ग्राम्या, ,, ,,
२०२— ,, युगवाणी चतुर्थ ,,
२०३— ,, स्वर्ण किरण. द्वितीय ,,
२०४— ,, : स्वर्ण धूलि, ,, ,,
२०५— ,, . उत्तरा, ,, ,,
२०६— ,, . वाणी प्रथम ,,
२०७— ,, : प्रतिमा द्वितीय ,,
२०८— ,, : रजत शिखर, प्रथम ,,
२०९— ,, : चिदम्बरा ,, ,,
२१०— ,, कला और बूढा चाँद, प्रथम संस्करण।
२११—सुमन, शिवमंगल सिंह : विश्वास बढ़ता ही गया। प्रथम संस्करण।
२१२— ,, : प्रलय सृजन, १९४४।
२१३— ,, : युग का मोल, १९४५।
२१४— ,, : पर आँखे नही भरी। प्रथम संस्करण।

२१५—सरस्वती
कुमार दीपक . लक्ष्मण रेखा, अप्रकाशित ।
२१६—सुरेन्द्र चतुर्वेदी–
रामबहादुर मुक्त
(सम्पादक) · कवितायें सन् १९५७ ।
२१७—सौमित्र : प्रगतिवाद, प्रथम सस्करण ।
२१८—आचार्य हजारी
प्रसाद द्विवेदी : साहित्य का मर्म, प्रथमावृत्ति ।
२१९— „ : हिन्दी साहित्य का इतिहास , प्रथम संस्करण ।
२२०—हरदेव बाहरी . हिन्दी की काव्यशैलियो का विकास १९५७ ।
२२१—हरद्वारी लाल
शर्मा . साहित्य और कला , प्रथमावृत्ति ।
२२२—हरद्वारी लाल
शर्मा : साहित्य मे सौन्दर्य तत्त्व, प्रथम सस्करण ।
२२३— „ . सौन्दर्य शास्त्र : प्रथम सस्करण ।
२२४—हरिऔध . रस–कलश, तृतीय सस्करण ।
२२५—हिन्दी काव्य की प्रवृत्तियां – राजकमल प्रकाशन
२२६—हिन्दी साहित्य कोष – ज्ञान मण्डल प्रकाशन ।

पत्रिकायें

१— हस : फरवरी १९३९ ।
२— „ : जुलाई–अगस्त १९३९ ।
३— „ . अक्तूवर १९४० ।
४— „ : अप्रैल १९४१ ।
५— „ : जून १९४१
६— „ : जून १९४२ ।
७— „ : अगस्त १९४२ ।
८— „ : अक्तूबर १९४२ ।
९— „ : दिसम्बर १९४२ ।
१०— „ : जनवरी १९४३ ।
११— „ : अगस्त १९४३ ।
१२— „ : अप्रैल १९४३ ।
१३— „ : सितम्बर १९४३ ।
१४— „ : अक्तूबर १९४३ ।

: जून १९४४।
: दिसम्बर १९४४।
: मई १९४६।
: सितम्बर १९४६।
: नवम्बर १९४६।
: वर्ष दो, अंक चौथा।
: मई, १९४९।
: जून १९४९।
: जुलाई १९४९।
: अक्तूबर १९५०।
: नवम्बर १९५०।
: जनवरी १९५१।
: फरवरी १९५१।
: मार्च १९५१।
: अप्रैल १९५१।
: मई १९५१।
: अगस्त ११५१।
: सितम्बर १९५१।
: अक्तूबर १९५९।
: जनवरी १९५४।
: मार्च १९५४।
: अप्रैल १९५१।
: मई १९५१।
: जून १९५१।
: जुलाई १९५१।
: अक्तूबर १९५१।
: जनवरी १९५३।
: फरवरी १९५४।
: जून १९५५।
: विशेषांक जनवरी १९५३।
: अक्तूबर १९५३।
: जनवरी १९५९

ENGLISH BOOKS

1. *Abercrombie, Laseelles* .. Principles of Literary Criticism 1958
2. ,, Poetry : Its Music and Pleasing 1939
3. ,, The Idea of Great Poetry, 1925.
4. *Agrawal, Padma* .. Symbolism and Psychological study, 1955.
5. *Aristotle* . Poetics (Tr. by Thomas Twining)
6. ,, Rhetorics (Tr. by John Henry Freese)
7. *Arthur, Symons* .. The Symbolist Movement in Literature, 1908.
8. *Aylmer Maude* .. Tolstoy on Art and Its Critics, 1925.
9. *Bradly, A.C.* .. Oxford Lectures on Poetry, 1914.
10. *Carlyle, Thomas* . The Hero as Poet and as a King.
11. *Carritt, E.F.* .. An Introduction to Aesthetics, 2nd Edition.
12. ,, .. What is Beauty, 1932.
13. ,, .. The Theory of Beauty, 4th Edition.
14. *Coleridge, S. T* . Select Prose and Poetry, 1955.
15. *Croce, Benedetto* .. Aesthetic, 1956.
16. *Dasgupts and De* .. A History of Sanskrit Literature : Classical Period, Vol. 1947.
17. *De, Sushil Kumar* .. Some Problems of Saskrit Poetics. 7959.
18. ,, Studies in the History of Sanskrit Poetics Vol. II, 1925.
19. ,, History of Sanskrit Poetics, Vol. I. 1923.
20. *Devasthali, G.V.* .. Mimansa, the Vakya Sastra of Ancient, India 1959.
21. *Dike, D.I.N.* .. The Early Beginning of Poetic in Rgveda MS. University of Bombay
22. *Drew, Elizabeth* .. Discovering Poetry, 1933.
23. *Eliot, T.S.* .. Points of View, 2nd Impression.
24. *Eliot, William (Editor)* Aestheties and Language, 1954.
25. *Freud, Sigmund* .. An Outline of Psycho Analysis, 1949.
26. *James, Machaye* .. The, Logic of Language, 1939.

27. *Jones, Edmund* D. *(Editor)* ··English Critical Essays, Vols. Ist II, 1947
28. *Hegel, G. W F.* ··The Philosophy of Fine Art, 1920.
29. *Henry, Sweet* ··The History of Language, 1920.
30. *Herbert Read* · Collected Essays in Lit. Criticism, 2nd Ed.
31. ,, · The Meaning of Art, 1956.
32. *Housman, A. E.* · Introductory Lecture, 1937.
33. *Hudson, W. H* · An Introduction to the study of Literature 1910
34. *Kane, P. V.* ··A History of Sanskrit Poetics, 1951.
35. *Krishnamoorty, K.* ··The Dhvanyaloka and Ist Critics, MS. University of Bombay, 1946.
36. *Prof. Kuppuswami, S.* ··Highways and Byways of Literary Criticism in Sanskrit. 1945.
37. *Lamborn, E.A. Greening* The Rudiments of Criticism, 2nd Edition.
38. *Leigh Hunt* ··Selected Essays. 1947.
39. *Lewis, C. D.* ··The Poetic Image. 1958.
40. *Morris Weitz. (Editor)* The Problems of Aesthetics, 1959.
41. *Pandey, K. C.* ·Comparative Aesthetics, Vols. I & II.
42. *Pater, Walter* ··Appreciations with an Essay on Style, 1931
43. *Pei Mario* ··The Story of Language, 1952.
44. *Phillip Boswood* ··Thought and Language, 1934.
45. *Phillips, M. Jones* ··English Critical Essays, Vol. III, 1947.
46. *Plato (Tr. by B. Jowett)* ·The Republic.
47. *Poe, E. A.* ··The Complete Poetical Works of E. A. Poe with three essays on Poetry, oxford Ed.
48. *Raghavan V.* ··Studies on some concepts of Alamkara Sastra 1942.
49. ,, ··Bhoja's Sringara Prakashi Vols. I, Part I & II 1940.
50. *Rakesha gupta* ··Psychological Studies in Rasa, .950.
51. *Reniero Gnoli* ··The Aesthetic Experience according to Abhinavagupta 1956.
52. *Richard, Albert Wilson* ··The Miraculous Birth of Language, 1941.
53. *Richards, I. A.* ··Principles of Literary Criticism, 10th Ed.
54. ,, ··Practical Criticism, 6th Edition.
55. *Richards and Ogden* ··The Meaning of Meaning, 1936.
56. *Sankaran, A.* ··Some Aspects of Literary Criticism or]

· Theory of Rasa and Dhvani, 1929.

57. *Santayna, George* ··The Sense of Beauty : 1955.

58. *Sapir, Edward* ··Selected writings of E. Sapir in Language culture and personality.

59. *Sartre, Jean Paul* ··What is Literature. 1950.

60. *Shelly P. B.* ··A Defence of Poetry.

61. *Sengupta, S. C.* ··Towards the Theory of Imagination, 1959.

62. *Stalin, J.* ·Anarchism or Socialism ? 1952.

63. *Tennyson* ··Fifty Poems, Pit Press Series.

64. *Tillyard, W. M W.* ·Poetry Direct and Obligue, 1956.

65. *Tolstoy, Leo (Tr. by Aylmer Maude)* ·What is Art and Essays on Art. 1929.

66. *Urban, Wilber Marshall* ··Language and Reality, 1939.

67. *Wordsworth, William* ·The Prelude, 1933.

68. ,, ··Poetry and Prose, 1921.

69. *Worsfold, W. Basil* ··Judgement in Literature 1951.

70. Manifesto of the Communist Party, 1959.